कामायनी
की
व्याख्यात्मक आलोचना

विश्वनाथलाल 'शैदा'

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी-१

प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉक्स नं० ७०, ज्ञानवापी, वाराणसी–१.

मुद्रक : मायापति प्रेस
मध्यमेश्वर, वाराणसी.

संस्करण : प्रथम
दिसम्बर : १९५९

मूल्य : आठ रुपये

कामायनी-कथा के एक मात्र व्यास

प्रसाद-साहित्य के मूर्धन्य विद्वान्

प्रो० पद्मनारायण जी आचार्य

को

सादर.....

—'*शैला*'

आमुख

ऋग्वेद १०–१५१ के मंत्र-द्रष्टा ऋषि का नाम "श्रद्धाकामायनी" है और ऋग्वेद मंत्र ८–२७–२ के मंत्र-द्रष्टा हैं "मनुर्वैवस्वत"। वैदिक साहित्य में ऋषियों के दो भेद हैं (१) देव्य ऋषि (२) श्रुति ऋषि। ऋक् १–१–२ में इन्हीं को क्रमशः "पूर्व" तथा "नूतन" ऋषि की संज्ञा दी गई है। कुछ लोगों का मत है कि वेदों में ऋषियों के जो नाम आये हैं वे व्यक्ति विशेष के बोधक नहीं है वरन् उनका सामान्य अर्थ में प्रयोग हुआ है। इस प्रकार जमदग्नि का 'आँख', वशिष्ठ का 'प्राण', विश्वकर्मन का 'वाक्' आदि अर्थ होता है। महर्षि जैमिनि का भी यही मत है। इस प्रकार मनु का अर्थ मन और श्रद्धा का अर्थ सत्य को धारण करने वाली शक्ति किया जाता है। महर्षि दयानन्द का भी यही मत है कि वेद में प्रयुक्त सभी शब्द यौगिक हैं, रूढ़ नहीं। इस प्रकार यह स्थिर होता है कि वेदों में इतिहास नहीं है। मैक्सम्यूलर का भी यही मत है कि वेदों में आये हुये शब्द ऋषियों के नाम नहीं है और उनका यह भी मत है कि प्रत्येक शब्द अपने धात्वर्थ का कुछ न कुछ प्रकाश करता है। कुछ लोगों का मत ठीक इसके विपरीत है। वेदों को अपौरुषेय मानने या न मानने में इस विषय को और भी गहन बना दिया है। जन सामान्य का इस गुत्थी से उलझना कल्याणकर नहीं!

किंतु जहाँ तक ब्राह्मणों का संबंध है यह निर्विवाद है कि वे वेदों के व्याख्यान ही नहीं वरन् इतिहास के अंग हैं, क्योंकि उनमें अनेक स्त्री, पुरुषों और राजा, रानियों के वृत्तान्त मिलते हैं। "कामायनी" के आमुख को पढ़ने से पता चलता है कि 'प्रसाद' के मतानुसार वेदों में इतिहास है। "आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष 'मनु' का इतिहास वेदों से लेकर पुराणों और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है;" आमुख का प्रारंभ इसी वाक्य से होता है। 'कामायनी' की आख्यायिका स्वयं प्रसाद के कथनानुसार एक ऐतिहासिक सत्य है। जब लेखक स्वयं उसे "रूपक" अथवा उपमिति नहीं मानता, हमें उसे अपने मतानुसार 'रूपक' के आधार पर समझने-समझाने का कोई अधिकार शेष नहीं रहता। चमत्कार के लिये "सांकेतिक अर्थ" करने में स्वयं "प्रसाद" को कोई आपत्ति नहीं है, जैसा उन्होंने आमुख में लिख भी दिया है। किंतु 'कामायनी' से उसकी ऐतिहासिकता छीनने में उनको आपत्ति है, यह 'कामायनी' के आमुख की अर्थ-व्यञ्जना से प्रकट है।

संस्कृत शब्दों में लाक्षणिक अर्थ-व्यञ्जना इतनी व्यापकता से सहवर्तमान है कि हम किसी भी पुस्तक को उपमिति होना सरलता से सिद्ध कर सकते हैं। रामचरित-मानस

का भी कुछ लोग ऐसा ही अर्थ लगाते हैं, जिससे "राम" की ऐतिहासिकता संदिग्ध हो जाती है। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रायः ऐसे नाम आये हैं जो गुण विशेष, भाव-विशेष के भी बोधक हैं और उससे सारे नाटक की अर्थ संगति बैठ जाती है किंतु हम इस प्रकार के प्रयत्नों को 'चमत्कार' की ही संज्ञा देते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह मत दृढ़ होता है कि 'कामायनी' जल-प्लावन की प्राचीन ऐतिहासिक घटना तथा उसके पश्चात् मनु द्वारा वर्तमान मानवीय संस्कृति के प्रतिष्ठापन की कथा है। प्रस्तुत व्याख्या इसी दृष्टिकोण से की गई है।

"कामायनी" के आमुख से यह भी पता चलता है कि "कामायनी" में जिस मनु का चरित्र अंकित है वे शतपथ ब्राह्मण के "श्राद्धदेव" मनु हैं जो वर्तमान मन्वन्तर के प्रवर्तक हैं। शतपथ ब्राह्मण में "श्रद्धा देवो वै मनुः" की बात मिलती है।

श्री मद्भागवत में :—

"ततो मनुः श्राद्धदेवं संज्ञायामास भारत
श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्। (९–१–११)

की बात आई है। [प्रसाद ने इसका भी उल्लेख कामायनी में किया है]। वहीं ९–१–१४ इस प्रकार है :—

"तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाच त
दुहित्रर्थमुपागम्य प्रणपेत्य पयोव्रता।"

ब्रह्मपुराण में पुत्र की इच्छा से वैवस्वत मनु द्वारा मैत्रावरुण याग रचने की बात आई है (सं. ब्र. कल्याण २८४)। महाभारत शांति पर्व में प्रजापति मनु द्वारा बृहस्पति को ज्ञान योग का उपदेश कराया गया है। रघुवंश महाकाव्य में भी :—

"वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव" (रघुवंश १–११)।

की बात मिलती है। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध २४ अध्याय में मत्स्यावतार की कथा आती है और वहाँ "वैवस्वत मनु" तथा "जलप्लावन" आदि का उल्लेख है। "मत्स्यपुराण" तो मत्स्यावतार की कथा ही है।

इस प्रकार वेदों से लेकर पुराणों तक 'मनु' की कथा परंपरा-प्राप्त है जिसका उल्लेख संस्कृत साहित्य में भी हुआ है।

"कामायनी" में मनु के पिता-माता का नाम नहीं मिलता। पुराणों में जहाँ मन्वन्तरों का वर्णन मिलता है वहीं वैवस्वत मनु को विवस्वान् तथा संज्ञा (विश्वकर्मन् की पुत्री) का पुत्र कहा गया है। विवस्वान् सूर्य का दूसरा नाम है। सूर्य को व्यक्ति विशेष न मानने पर पुनः मनु की ऐतिहासिकता पर संदेह उत्पन्न होता है। इसी संदेह को दूर करती हुई 'कामायनी' में निम्नांकित पंक्ति अवतरित हुई है :—

"देव न थे हम और न ये हैं"

इससे स्पष्ट है कि "प्रकृति के शक्ति चिह्न" रूपी सूर्य उस सूर्य से भिन्न थे जिनके पुत्र मनु हैं।)

विष्णु पुराण तृतीय अंश अध्याय १ में मन्वन्तरों का वर्णन करते हुये बताया गया है :—

"विवस्वतस्सुतो विप्र श्राद्ध देवो महाद्युतिः
मनुस्संवर्तते धीमान् साम्प्रतं सप्तमेऽन्तरे।"

(हे विप्र, इस समय इस सातवें मन्वन्तर में सूर्य के पुत्र महातेजस्वी और बुद्धिमान श्राद्ध देव मनु हैं)। यह मन्वन्तर वाराह कल्प में उपस्थित हुआ है (विष्णु पु० १-३-२८)

"कामायनी" सायणाचार्य के अनुसार ("कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका") काम की पुत्री है। ("कामायनी" में "प्रसाद" ने भी कामायनी को काम-रति की संतान माना है :—

"हम दोनों की संतान वही
कितनी सुन्दर भोली-भाली
रंगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलों की वह डाली"

इस संबंध में द्रष्टव्य है।)

भगवान रुद्र के एकादश रूप में 'मन्यु, मनु, महिनस्' का भी उल्लेख मिलता है। भगवान शिव को विश्वास तथा भवानी को श्रद्धा रूप में स्मरण करने की प्रथा है।

"भवानी शङ्करौ बन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ" (रामचरित मानस)

इसलिए कामायनी की कथा का परम साध्य 'शिवत्व' होना स्वाभाविक एवं युक्ति-संगत है। आदि पुरुष 'मनु' ने शिवत्व प्राप्त किया था ऐसा भगवान रुद्र के नाम मनु से सिद्ध भी है। पौराणिक जटिलताओं के सुलझाव की ओर न झुकते हुए इस स्थान पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि "कामायनी" वर्तमान मन्वन्तर के प्रवर्तक मनु की कथा है, जिसमें उनके शिवत्व प्राप्त करने की मनोरंजक इतिवृत्ति के साथ मानवता को विजयिनी बनाने का संदेश अंकित है।

मनु, मन्यु, महिनस् के नाम अन्य देशों की संस्कृति के इतिहास से भी सम्बन्धित हैं, इसका संकेत महादेवी वर्मा ने "कविप्रसाद—एक परिचय" की भूमिका में किया है। इससे 'मनु' की गाथा के प्राचीन एवं व्यापक होने का प्रमाण मिलता है।

मनु के समय में जल प्लावन हुआ था ऐसा "शतपथ ब्राह्मण" में वर्णित है। (उसी का छाया-अवतार पुराणों में भी है)। प्रसाद ने स्वयं उसका उल्लेख "आमुख" में किया है। जलप्लावन-पूर्व की देवी सृष्टि का लय हो गया, केवल मनु और श्रद्धा बच

गये। इन्हीं दोनों ने मानवी-सृष्टि चलाई। कामायनी की कथा का सूत्रपात इसी जलप्लावन की घटना से होता है।

मनुस्मृति अध्याय १, श्लोक ८० में बताया गया है कि मन्वन्तर, उत्पत्ति और प्रलय कितने हैं, उसकी कोई संख्या नहीं बता सकता। वह परमेष्ठी परमात्मा यह सब खेल की भाँति बार-बार करता है। मनुस्मृति १-५१-५४ में प्रलय तथा महाप्रलय का वर्णन मिलता है। विष्णु पुराण अंश १-२-६७ में एकार्णव का वर्णन है। विष्णु पुराण १-२-३४ में बताया गया है कि बीते हुए प्रलय में यह व्यक्त प्रपंच प्रकृति में स्थित था। इसलिये प्रपंच के इस प्रलय को प्राकृत प्रलय कहते हैं। प्राकृत प्रलय की अवस्था नैमित्तिक प्रलय से भिन्न है (विष्णु पुराण १-३-२२)। प्रलय काल की अवस्था का वर्णन विष्णु पुराण (१-२-२३) में द्रष्टव्य है। इस प्रकार विभिन्न पुराणों में प्रलयावस्था का उल्लेख मिलता है। श्री मद्भागवत ८-२४ में मत्स्यावतार, श्राद्धदेव मनु तथा जल-प्लावन की कथा शतपथ में वर्णित कथा से पर्याप्त साम्य रखती है। "कामायनी" की कथा "जल प्लावन" के वर्णन से ही प्रारम्भ होती है।

जल-प्लावन की कथा, नौका आदि का उल्लेख, कुरान, बाइबिल आदि के "नूह" की आख्यायिका से भी साम्य रखते हैं। पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में जल-प्लावन की विभिन्न कथाएँ प्रचलित हैं। नूह के अतिरिक्त Dencalion तथा Pynha की कथा भी जल-प्लावन से सम्बद्ध है। थिसैली के राजा-रानी की युगल मूर्ति ही जलप्लावन से बची। इस जल-प्लावन का कारण Zeus का क्रोध था। Utnapisption तथा Xius thros की कथा में भी जल-प्लावन का उल्लेख है।

किंतु जहाँ उपर्युक्त कथाओं में जल-प्लावन का कारण ईश्वर-का क्रोध बताया गया है वहीं कामायनी में जल-प्लावन का उपादान करुणाकर की करुणा ही है :—

"उनको देख कौन रोया यों
अंतरिक्ष में बैठ अधीर
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय
यह प्रालेय हलाहल नीर।"

जल-प्लावन की गाथा के साथ मत्स्यावतार की कथा भी संबद्ध है—

"मत्स्यो युगान्त समये मनुनोपलब्धः
क्षोणीमयो निखिल जीव निकाय केतः" (श्रीमद्भगवत २-७-१२)

आदि इस संबंधमें द्रष्टव्य है। 'कामायनी' की कथा में इसका भी उल्लेख मिलता है—

"महामत्स्य का एक चपेटा
दीन पोत का मरण रहा"

सृष्टि रचना के प्रारंभ में जल का उल्लेख प्रायः सभी ग्रंथों में मिलता है।

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः
किमासीद गहनं गभीरम्" (ऋ० १०-१२६-१)

में भी "गहन गभीर नीर" से ही सृष्टि के क्रम विकास की कहानी अवतरित हुई है। कामायनी का उपारंभ भी उसी पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित है।

"समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्यमिषतो वशी
सूर्याचंद्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्
दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्वः" (ऋ० ऋत सूक्त)

में बताया गया है कि "पानी समय या काल के प्रभाव से क्रमशः संसार के अनेक रूपों में परिवर्तित होता है।" वृहदारण्यकोपनिषद् में प्रलय के अनन्तर जल से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। "पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। वह मृत्यु से—प्रलय से—ही आवृत था। यह अशनाया से आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है। उसने मैं आत्मा से युक्त होऊं, ऐसा संकल्प किया। उसने अर्चन पूजन करते हुए आचरण किया। उसके अर्चन से सूक्ष्म जल उत्पन्न हुआ।" छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ६ के अनुसार 'मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाक् तेजोमय है।' इसी से जल का दूसरा नाम जीवन है। महोपनिषद्, नारद पुराण सभी में 'आप' तत्व को प्रधानता दी गई है:—

"आधारः सर्वभूतानां विष्णोरतुल तेजसः
तद्रूपाश्च ततो नाना आपस्ताः प्रणाम्यहम्"

कुमार सम्भव में भी :—

यदमोघमपान्तरुप्त वीजमजत्वया
अतश्चरारं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे (२-५)

की बात आई है।

मारकण्डेय पुराण में "आपा नारा इति प्रोक्ता" की बात भी इस सम्बन्ध में पठनीय है। प्रलयकाल का वर्णन रसकलस पृष्ठ ३४५ में द्रव्यष्ट है।

'कामामनी' के कथानक में उपर्युक्त सभी तत्वों का काव्यात्मक ढंग से समावेश हुआ है। माया तत्व के मर्मज्ञों का कहना है कि "ब्रह्म माया की निजी शक्ति है। जीव मात्र ही ब्रह्मरश्मि हैं, ब्रह्मकण हैं; इन्हें चित्कण भी कहते हैं। किंतु ये चित्कण माया विभाविनी माया शक्ति अथवा पृथक प्रकाशिनी मायाविनी प्रकृति के किसी एक भावांश कण द्वारा सम्पुटित हैं। चित्कण क्षेत्रज्ञ हैं, माया कण या प्रकृति कण (पुट) क्षेत्र है। इन दोनों के योग सूत्र से उत्पन्न होता है जीवन और प्राण। माया शक्ति से स्फुरित होकर सूक्ष्म से स्थूल भाव धारण करते जड़ प्रस्तर आदि में परिणत

हो जाती है इस भौतिक जगत का जो कण है उसी को महर्षियों ने अव्यक्त कहा है। वही सूक्ष्म नित्य एवं सदसत् स्वरूपा प्रकृति है।" सभी दर्शन प्रकृति की प्रधानता मानते हैं। "प्रधान स्थित्यैव" आदि सांख्य सूत्र २, एवं विष्णुपुराण १-२-३४ से ४६ तक इस संबंध में मननीय हैं।

कामायनी की प्राण-प्रतिष्ठा इसी दार्शनिक पृष्ठि भूमि में हुई है। 'हिमालय' भारतवर्ष का मुकुट है। अथर्वेद पृथ्वी सूक्त में

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनुमस्तु

की बात 'राष्ट्रचेतना' तथा 'जननी जन्मभूमि' की महत्ता से संबंधित है।

कुमार संभव में—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः
पूर्वापरौ तोयनिधोवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः

की बात मिलती है। हिमालय देवतात्मा होते हुए भारतीय राष्ट्रीयता का अंग वैदिक काल से ही है।

"मेरे नगपति मेरे विशाल
साकार दिव्य-गौरव विराट
पौरुष के पुञ्जीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिमकिरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल
मेरे नगपति मेरे विशाल"

में दिनकर ने जिस हिमवान की महिमा का वर्णन किया है उसी हिमालय की चोटी मत्स्यबंधन श्रृंग से कामायनी की कथा प्रारंभ होकर उसी हिमालय के कैलास शिखर पर समाप्त होती है। ऐसा कुछ यों ही तो हो नहीं गया! इसमें कवि कर्म का कोई रहस्य अवश्य है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका उद्देश्य केवल उस वातावरण की सृष्टि है जिससे प्राण-वायु प्राप्त किये बिना 'कामायनी' की पवन वृत्तियों में अवश्य ही दम घुटने लगेगा। पृथ्वी से ऊँचे उठना कोई सरल बात तो नहीं!—

"लौट चलो इस वात-चक्र से
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन में अड़ न सकूँगा!"

श्रीमद्भागवत में श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत में वर्ण्य विषयों का उल्लेख करते हुए बताया है कि—

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूत्तयः
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नावा नामिह लक्षणम्
वर्णयन्ति महात्मानाः श्रुतेनार्थेनचाञ्जसा"

[सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊत्ति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध तथा मुक्ति नव विषयों का वर्णन श्रुति, तात्पर्य तथा उन दोनों के अनुकूल अनुभव से महात्माओं ने केवल आश्रयतत्व का यथोचित रूप निश्चित करने के लिए किया है]। आश्रय तत्व परब्रह्म का ही तो दूसरा नाम है। यह आश्रय तत्व निराधार है। यह अपने ही आश्रय से ठहरा हुआ है। गुणों में क्षोभ तथा उससे पञ्चभूत तन्मात्रा आदि की सृष्टि सर्ग है। चराचर सृष्टियों का निर्माण विसर्ग है। सृष्टि को एक मर्यादा में स्थिर रखना ही स्थान है। भगवान का अनुग्रह ही पोषण है। मन्वन्तर के अधिपति जो भगवद्भक्ति और प्रजापालन रूप धर्म का अनुष्ठान करते हैं वही मन्वन्तर है। बन्धन में डालने वाली वासनाएँ ही ऊति के अन्तर्गत आती हैं। अवतार तथा भक्त गाथा ईशानुकथा है। जीव का अपना उपाधियों के साथ विलीन होना ही निरोध है। अपने वास्तविक स्वरूप का बोध ही मुक्ति है।

श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में "वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा' की बात आई है (श्रीमद्भागवत की कथा वेद और उपनिषद् के सार से बनी है)।

कामायनी पर विवेचनात्मक दृष्टि डालने पर पता चलता है कि कामायनी की सृष्टि में उपर्युक्त सभी तत्वांश वर्तमान हैं। काव्य का प्रारंभ निरोध से होकर उसका पर्यवसान आश्रियतत्व में किस भाँति होता है उसका दिग्दर्शन व्याख्या करते हुये हुआ है, उन्हें यहाँ दुहराना अनावश्यक है।

लौकिक काव्य में किञ्चित ही किसी अन्य पुस्तक का नाम लिया जा सके जिसका ताना-बाना आर्षग्रंथों के ताने-बाने से इतना साम्य रखता हो।

कामायनी के महाकाव्यत्व पर विद्वानों में मतैक्य नहीं! इसका कारण केवल यह है कि बहुधा विद्वान उसके कथानक को रूपक ही मानते हैं।

व्याख्या करते समय यथासंभव कामायनी के काव्य तत्वों की ओर निर्देश करने का प्रयत्न किया गया है किंतु उनका समवेत रूप कहीं भी नहीं दिया गया है, अतएव इस स्थान पर उन अंशो का संक्षिप्त समन्वय आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

पाश्चात्य के सम्पर्क ने आज की मान्यताओं को कुछ इतना बदल दिया है कि सामान्यतः अपने दृष्टिकोण के पोषण के लिये प्राचीन आचार्यों का नाम लेते हुये भय लगता है। किंतु प्रस्तुत व्याख्या में जिस दृष्टिकोण की स्थापना हुई है उसके लिये भारतीय परंपराओं और तत्संबंधी साहित्य का उल्लेख अनिवार्य है। अतएव सर्व प्रथम

हमें काव्य के उन मूलभूत सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है जिनकी सनातन गति में भारतीय समाज, संस्कृति एवं साहित्य अब तक पलते आये हैं।

"रसात्मकं वाक्यं काव्यं" की स्वर लहरी से परिचित यह भी जानते हैं कि भारतीय परंपरा 'रसो वै सः' की बात भी मानती है। इसका आस्वाद ब्रह्मास्वाद है। 'ब्रह्मास्वादे ब्रह्ममात्रं प्रकाशते, रसे तु विभावाद्यपीति भेदात् सादृश्यम्' की बात इस संबंध में मननीय है। रस का इतिहास वाक् का इतिहास है। भारतीय दर्शन में "वाग् वै सम्राट परमं ब्रह्म" की बात आई है। 'वाच ऋग रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः" (छान्दोग्यो)। उद्गीथ ही ओंकार है, प्रणव है। ऋचा कविता का ही दूसरा नाम है। जिनके अक्षर, पाद, समाप्ति नियत नियम के अनुसार होते हैं उन मंत्रों को ऋक् कहते हैं। उद्गीथ को ओंकार घोषित करने वाले वाणी को ऋचा तथा प्राण को साम कहते हैं। "वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे" तथा "विन्देय देवतां वाचमृत तामात्मनः कलाम्" आदि के विस्तार की ओर न झुकते हुए यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि समस्त विश्व प्रपञ्च वाक का ही विलास है। वाक् का निष्पंद ही कविता को जन्म देता है। नाद विन्दु की दार्शनिक व्याख्या इस संबंध में मननीय है। काव्य स्वर के आह्लादक तत्वों तथा प्राण की आनन्दानुभूति के समन्वय से बनता है। इसी समन्वय से माधुर्य तथा रस की क्रमशः सृष्टि होती है। इसी रस का दूसरा नाम 'आनन्द' है। कामायनी की परि-समाप्ति इसी आनन्दोपलब्धि की भूमि पर होती है :—

"समरस थे जड़ या चेतन
आनन्द अखण्ड घना था"

कामायनी में ही नहीं वरन् प्रसाद के समग्र साहित्य में "प्राचेतस्" की आनन्द साधना वर्तमान है। प्रसाद के आनन्दवादी दृष्टिकोण पर बहुधा विद्वानों ने लिखा है उन तत्वांशों को यहाँ दुहराना उपयुक्त नहीं।

आनन्द का काव्यात्मक रूप शांत रस है :—

"शमोऽस्य स्थायी, निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः सच शमो निरीहावस्थायाम् आनन्दः स्वात्मविश्रामदिति"

के अनुसार शांत रस का स्थायी भाव शम, संचारीभाव निर्वेद है। आत्म-विश्राम-प्रसूत सुख की प्राप्ति ही आनन्द है।

"कामायनी" में इसी शांत रस का परिपाक है और 'आनन्द' ही उसकी चरम सिद्धि है।

रसास्वाद की मीमांसा के साथ 'वासना' की मीमांसा संश्लिष्ट है। "सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत। निर्वासनास्तुरङ्गान्तः काष्ठ कुड्याश्मसन्निभाः" । वासना-युक्त सभ्यों को ही रसास्वाद होता है। वासनायें अनादि हैं। चित्त के आश्रय इनका संग्रह कर्मों से होता है। यही वासनायें संस्कारों में परिणत होकर आयु फल भोग का

कारण बनती है। संस्कारों के मूल में इसी वासना की कृति है। यही वासना 'रति' अथवा कामकी स्वकीया-शक्ति है। भगवान के एक से बहुत होने की कामना में भी यही वासना क्रीड़ा करती है :—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि रेतः प्रथमं यदासीत्

सतोबन्धुमसति निरविन्दम् हृदि प्रतिष्या कवयोमनीषा ॥ (ऋ० १०-१२६-४) भाव वासना रूप हैं। भाव विभाव संचारी भाव तथा उनसे सबंद्ध नवरस की मीमांसा का यहाँ स्थान नहीं, हाँ, इतना लिखना आवश्यक है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से ही रस की सृष्टि होती है।

"विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रस निष्पत्तिः"

किसी भी ग्रन्थ को 'महाकाव्य' की संज्ञा प्राप्त करने के पूर्व 'काव्य' की कसौटी पर खरा उतरना चाहिये। तुक, झंकार, माधुर्य, संगीत्मकता आदि सभी गुणों से पूर्ण जो काव्य स्थायी रस की सृष्टि में समर्थ नहीं होता उसे हम काव्य ही कैसे कर सकते हैं ! अतएव हम केवल उसी काव्य को काव्य मानने पर विवश हैं जिसकी गति 'प्राचेतस' (कवि) के क्षेत्र 'विज्ञानमय' तक ही सीमित न रह कर 'रसो वै सः' रूपी प्रचेता (ब्रह्म) के 'आनन्दमय' की अभिव्यक्तियों की सीमायें भी छूने में समर्थ हो।

इस दृष्टि से देखने पर हिन्दी साहित्य के अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवियों की कृतियाँ रद्दी के टोकरे में फेंकने योग्य होंगी, किन्तु 'कामायनी" आर्ष ग्रन्थों से होड़ लेती दिखाई पड़ेगी। क्योंकि कामायनी के शब्दों में वह शक्ति, उसके निर्माण में वह साधना, विद्यमान है जो भावों के संचरण को स्थायित्व प्रदान करने में समर्थ है। मानव की भूमिका में स्थित होकर मानव की समस्त वासनाओं की विभिन्न धाराओं को एकाकार करके आनन्द की अनुभूतियों से अभिसिक्त कराकर रसास्वाद कराने में कामायनी सफल है, ऐसा कहने में किसी प्रतिवाद का भय नहीं। कामायनी का पाठ करने वाले जानते हैं कि उसके काव्य रसास्वाद से पाठक आनन्दमय बन जाता है। आनन्द आत्मा का स्वरूप है, परमात्मा की प्रतिमा है। आनन्द और शान्ति में चोलीदामन का साथ है। कामायनी के अन्तिम ढाई सर्गों में शांति की मंदाकिनी बहती है; मर्मज्ञ इसका अनुभव करते हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कामायनी के महाकाव्यत्व के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इसी से इस संबंध में इस पर विस्तृत विवेचन वांछनीय है।

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में महाकाव्य के लक्षण बताते हुए लिखा है :—

"सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्
चतुर्वर्ग फलायत्तं चतुरोदात्त नायकम्

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदय — वर्णनैः
मन्त्रदूत — प्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि
अलंकृमसंक्षिप्तं रस भाव निरन्तरम्
सर्गैनति विस्तीर्णैः अव्यवृत्तैः सुसंधिभिः
सर्वत्र भिन्न वृत्तान्तैरुपेतं लोक रञ्जनम्
काव्यं कल्पान्तरस्थायी जायते सदलंकृति।"

अर्थात् महाकाव्य के निम्नाङ्कित अवयव हैं :—

(१) सर्गबद्धता (२) आशीर्वच, नमस्कार अथवा वस्तु निर्देश से प्रारंभ (३) ऐतिहासिकता, कथापरता, अथवा सदाश्रयत्व (४) चतुर्वर्गफल (५) प्रकृति चित्रण (६) उत्सव वर्णन (७) अभ्युदय चित्रण (८) अलंकृति (९) असंक्षिप्ति (१०) रसभाव की निरन्तरता (११) नाटकीय संधियाँ (१२) अव्यत्व (१३) भिन्न वृत्तता (१४) धीरोदात्त नायक (१५) लोक रञ्जन (१६) कल्पान्तर स्थायित्व।

साहित्य दर्पण में विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षणों का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

"सर्ग बन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः
एक वंश-भवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा
शृङ्गार वीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक-संधयः
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं-भवेत्
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तु निर्देश एव वा
एक वृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्य वृत्तकैः
नातिस्वल्पानीतिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्
संध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्त वासराः
संभोग विप्रलम्भौ च मुनिवर्ग पुराध्वराः
रण — प्रयाणोपयमन्त्र पुत्रोदयादयः
वर्णनीया यथा योगं साङ्गोपांग अमी इह
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्ग नाम तु"

साहित्य दर्पण ने दण्डी द्वारा दिये गये सभी लक्षण अधिक विस्तार के साथ दिये हैं, साथ ही निम्नाङ्कित गुण और निर्धारित किये हैं :—

(१) प्रत्येक सर्ग में भावी सर्ग की सूचना।

(२) नायक सुर या क्षत्रिय।

(३) प्रधान रस शांत, वीर या शृंगार।

(४) नामकरण नायक या कवि के नाम पर।

(५) प्रत्येक सर्ग का नामकरण वर्ण्य विषय के आधार पर।

उपर्युक्त लक्षणों में कुछ ऐसे हैं जिनका संबंध काव्य के शरीर से है और कुछ का उसकी आत्मा से। किंतु जिस प्रकार जीव-जीवन शरीर और आत्मा के योग का नाम है उसी प्रकार "वर्णानामर्थ संघानां रसानां छन्दसामपि" से ही काव्य का निर्माण होता है। अतएव हम इन दोनों रूपों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं कर सकते।

कामायनी के वाह्य कलेवर में प्रायः वे सभी लक्षण वर्तमान हैं जो उसे महाकाव्य के आसन पर बिठाने में समर्थ हैं।

"कामायनी" पन्द्रह सर्गों में विभक्त है। प्रत्येक सर्ग दूसरे सर्ग से इस प्रकार गुथा है कि प्रबंध के समन्वित प्रभाव में कहीं से कोई अन्तर नहीं पड़ता और न कथा शृंखला ही कहीं से टूटती हुई दिखाई पड़ती है।

"कामायनी" का नामकरण 'नायिका' के नाम पर हुआ है। कारण यह है कि काव्य में 'नायिका' के चरित्र-चित्रण पर ही विशेष ध्यान दिया गया है या यों कहिये कि काव्य में नायिका को ही प्रधानता दी गई है। कामायनी, "पूर्ण काम की प्रतिमा" है। उससे अवलंब प्राप्त करके मनु शिवत्व प्राप्त करने में सफल होते हैं। कामायनी धीरा नायिका है ही। 'कामायनी' का नायक सुर है और उसकी नायिका भी देव सर्ग की ही विभूति गन्धर्व कुलोद्भूता है। मनु का चित्रण "धीरोदात्त" के रूप में भी हुआ है। व्याख्या में इस ओर संकेत हुआ है।

कामायनी का आकार बड़ा तो नहीं किन्तु संक्षिप्त भी नहीं है। सर्ग भी प्रायः बराबर आकार के हैं।

प्रत्येक सर्ग का नामकरण भी वर्ण्य विषय के आधार पर हुआ है। काव्य का प्रधान रस शांत है।

प्रत्येक सर्ग में भावी सर्ग की भावात्मक सूचना भी है। चिंता सर्ग की समाप्ति "प्रलय निशा का होता प्रात" से होती है जो भावी सर्ग आशा की भूमिका उपस्थित करती है। इसी प्रकार आशा सर्ग की अंतिम पंक्तियों—

मैं भी भूल गया हूँ कुछ, हाँ,
स्मरण नहीं होता क्या था?

प्रेम वेदना भ्रांति या कि क्या ?
मन जिसमें सुख सोता था।
मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना
देख तुझे भी दूँगा तेरा
भाग, न उसे भुला देना

में भी श्रद्धा के मिलन तथा प्रेम की सृष्टि की सूचना विद्यमान है। व्याख्या करते समय इस ओर यथास्थान संकेत किया गया है।

प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द चलता है जो अन्त में नहीं बदलता। किंतु इस लक्षण को कोई प्रधानता साहित्य दर्पण ने भी नहीं दी है। क्योंकि उसने किसी एक सर्ग में अनेक छन्दों के प्रयोग की भी छूट दी है।

कथा वस्तु का आधार वैदिक होते हुये भी "कामायनी" में "लौकिक छन्दों" का प्रयोग हुआ है। लौकिक छंदों में भी मात्रिक छंदों का ही समावेश हुआ है। किञ्चित् ऐसा इसलिये हुआ कि कवि उसे 'देव-काव्य' बनाना नहीं चाहता था वरन् उसे मानवी स्तर पर ही रखने का पक्षपाती था।

"प्रियप्रवास" के संस्कृतगर्भित वर्णिक छन्दों को न अपना कर भी प्रसाद ने भारतीय संस्कृति की अलसाई चेतना को प्रबुद्ध करने वाले विस्मृत संस्कृत शब्दों के प्रयोग से कामायनी की भाषा को सुसंस्कृत बना दिया है। डाक्टर फतेह सिंह के शब्दों में, "प्रसाद जी ने हिन्दी को संस्कृत का सौष्ठव और गाम्भीर्य प्रदान किया है।"

भाव के अनुकूल भाषा तथा भाषा के अनुरूप भाव तथा भाव-भाषा से संगत अलंकार तो कामायनी में व्यापकता से विद्यमान हैं हां, लाक्षणिकता ध्वन्यात्मकता का 'कामायनी' में जिस प्रकार संनिवेश हुआ है, वह हिन्दी भाषा साहित्य में अभूतपूर्व है।

"रस-भाव निरंतरम्" की तो कामायनी में झाँकी सजी है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कामायनी में शांत रस की प्रधानता है। "शांत रस की कल्पना त्याग और विरागमय है। मनुष्यों को छोड़ कर अन्य प्राणियों में इसका अभाव है। मनुष्यों में भी इने-गिने लोगों में ही इसका यथार्थ विकास देखा जाता है। अंतर्जगत से इसका जितना संबंध है उतना वाह्य जगत से नहीं" (रसकलस की भूमिका पृष्ठ ९९)। इससे सिद्ध होता है कि 'शांत रस' मानव की विशेषता है।

"न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः"

में शांत रस के अवयवयों की ओर संकेत किया गया है। कामायनी की अंतिम पँक्तियां,

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था

चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था"

में इसी शांत रस की परिणति हुई है। "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्" आदि का उल्लेख आनन्द सर्ग की व्याख्या में किया गया है। समस्त द्वयता का तिरोभाव इसी आनंदानुभूति अथवा 'शांतरस' की उपलब्धि में होती है। शांत को छोड़ कर अन्य सभी रसों में द्वयता विद्यमान रहती है।

कामायनी में अन्य रसों का भी समावेश हुआ है किन्तु उनकी सृष्टि गौण रूप से 'शांतरस' की निष्पत्ति के लिए ही हुई है। रसों के विरोध से निर्वेद भाव की सृष्टि का कामायनी में किस प्रकार प्रयास हुआ है उसकी ओर स्थान-स्थान पर व्याख्या में संकेत किया गया है।

कामायनी का भाषा-संबंधी सबसे बड़ा गुण उसका समासबहुल शब्दाडम्बर पूर्ण न होना ही है। संहृति और अभिव्यञ्जना ने कामायनी के शब्दों में उनके निर्धारित अर्थ बोध से अधिक शक्ति भर दी है जिससे उन शब्दों से ऐसे अर्थ भी ध्वनित होते हैं जिनका प्रवहन शब्द-शक्ति से नहीं होता। शब्दगत भावों के यथार्थ ज्ञान के बिना ऐसा होना संभव नहीं।

अलंकारों में 'उपमा उत्प्रेक्षा' तो कामायनी में मणियों की भाँति जगमगाती दिखाई पड़ती है। उक्ति वैचित्र्य, चित्रात्मकता, रंग आदि में कामायनी अपनी समस्त मोहकता के साथ हैं।

रस-निरूपण के अतिरिक्त अब तक जो कुछ कहा गया है उसका संबंध काव्य-शरीर से है। किन्तु 'गिरा अर्थ' की अभिन्नता उपर्युक्त वर्णन को भी केवल काव्य शरीर संबंधी वर्णन कहने में हिचकती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, महाकाव्य का प्रारंभ आशीर्वच, नमस्क्रिया, वा वस्तु-निर्देश से होना चाहिये।

कामायनी की प्रारंभिक पक्तियाँ हैं:—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह
नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन ?

"अस्तुत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" से प्रारंभ होने वाले "कुमारसंभव" महाकाव्य की भाँति कामायनी का प्रारंभ भी "हिमगिरि" के स्मरण से होता है। स्मरण नवधा भक्ति का अंग है :—

"श्रवण कीर्तन वन्दन दासता
स्मरण आत्मनिवेदन अर्चना
सहित सख्य तथा पद सेवना
निगदिता नवधा प्रभु भक्ति है"

अतएव कामायनी में नमस्कार के अवयव वर्तमान हैं। हाँ, हिमगिरि के साथ 'देवतात्मा' का विशेषण सहवर्तमान नहीं किन्तु युगों की मान्यताओं ने 'हिमगिरि' शब्द में ही उस विशेषण को सन्निहित कर दिया है। भगवान शंकर की आठ प्रत्यक्ष मूर्तियों में हिम (जल) है। "अहिर्बुध्न्योऽष्टमूर्तिश्च गनारिश्च महानटः" की बात इस कथन का पोषक है।

"सोऽभिध्याय शरीरा त्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः
अप एव ससार्जादौ तासु बीजमवासृजत"

से भी प्रमाणित होता है कि जल भी भगवान शिव की मूर्ति है। अभिज्ञान शाकुन्तल में कविवर कालिदास ने शिव की आठों मूर्तियों का स्मरण किया है।

हिमगिरि का नाम लेते ही भारतीय मान्यताओं से प्रबुद्ध चेतना को शिव-पार्वती का भी ध्वन्यात्मक बोध हो जाता है। और 'एक पुरुष', एक तत्व में "एकं सत् विप्र बहुधा वदन्ति" की प्रतिछाया भी क्रीड़ा करती हुई दिखाई पड़ती है। व्याख्या करते समय इसकी विवृत्ति की गई है।

"एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन" में कामायनी के संदेश की ओर भी संकेत कर दिया गया है और 'प्रलयप्रवाह' के उल्लेख से कथा-वस्तु का निर्देश किया गया है। 'अभेद भावना' के प्रतिपादक "कामायनी-काव्य" का महानतम संदेश जिन पंक्तियों में मिलता है, वे हैं :—

"सब भेद भाव भुलवा कर
सुख दुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे 'यह मैं' हूँ
यह विश्व नीड़ बन जाता"

"कहो उसे जड़ या चेतन" से प्रारंभ होकर "कामायनी" "समरस थे जड़ या चेतन" पर समाप्त होती है। अतएव यह सिद्ध है कि कामायनी में 'वस्तु निर्देश' कई प्रकार से विद्यमान है। "भीगे नयनों" में करुणाकर की करुणा को द्रवित करने के भी तत्व सहवर्तमान है। 'आशीर्वच' का अभिप्राय और क्या है ?

जहाँ तक 'कामायनी' की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उस पर ऊपर विचार किया गया है। मनु-श्रद्धा की कथा अनेक हिन्दू ग्रन्थों में मिलती है। अतएव कामायनी की कथा को हम कथा-साहित्य से उद्भूत भी कह सकते हैं।

'कामायनी' की कथा को रूपक कह कर उससे उसकी ऐतिहासिकता छीनने वाले यह भूलते हैं कि 'ऐतिहासिकता' के न रहने पर भी कथानक का सदाश्रयत्व उसे महाकाव्य बनाने में समर्थ है।

'सदाश्रयत्व' चतुर्वर्ग से भी विलक्षण है। जगत की उत्पत्ति तथा प्रलय जिस तत्व से प्रकाशित होते हैं, उसे ही परंब्रह्म कहा गया है। यही परंब्रह्म श्रीमद्भागवत में वर्णित "आश्रयतत्व" है। अधिष्ठान को ही आश्रय कहते हैं। जो स्वयं निराधार रहते हुये भी दूसरे का आश्रय बन सके, वही 'सदाश्रय' है।

"निराधार हैं किंतु ठहरना
हम दोनों को आज यहीं हैं!"

रहस्य सर्ग की उपर्युक्त पंक्तियों से इस आश्रय तत्व का कुछ बोध होता है।

प्रबन्ध काव्य का सदाश्रयत्व भी इसी मीमांसा से संबद्ध है। सदाश्रयत्व वह व्यापक तत्व है जिसके आधार पर सारी कहानी कही जाती है। कथा से यदि उस अंश को निकाल लें तो कथा का रूप ही न बन सके। यही आश्रयत्व की पहिचान है। इस आश्रय को सद् होना चाहिये। सद् के अन्तर्गत सुन्दर, सुदृढ़, सत्य आदि सभी आते हैं। कामायनी में यह तत्व 'श्रद्धा' के रूप में विद्यमान है।

'दे अवलंब विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली'

में मनु को आश्रय देने वाली 'श्रद्धा' ही 'कामायनी' के सदाश्रयत्व की पीठिका है। श्रद्धा का रूप समझने के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि श्रद्धा आन्तरिक बोध को कहते हैं। "श्रद्धया सत्यमाप्यते" तथा 'श्रधते सत्ये श्रद्धाम' में सत्य पर दृढ़ रखने वाली, वस्तु का यथार्थ ज्ञान कराने वाली शक्ति को श्रद्धा कहा गया है। श्रद्धा का जैसा नाम है वैसा ही गुण भी है। नारी की निर्विकार मातृमूर्ति, नारी की शक्ति-स्वरूपिणी देव-मूर्ति से 'कामायनी' का अन्तर वाह्य सजा है।

'प्रेम' ही श्रद्धा की सृष्टि का मूल तत्व है :—

"यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति है प्रेम-कला
उसका संदेश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला"

इस से प्रवहन होता है कि कामायनी का संदेश 'प्रेम' है जिसकी सिद्धि श्रद्धा द्वारा निष्पन्न होती है। अतएव सात्विक प्रेम ही 'कामायनी' के कथानक का सदाश्रयत्व है।

हिंसा, अहंकार, द्वेष, कामुकता, दुर्व्यसन में फँसे मनु श्रद्धा का अवलंब प्राप्त कर शिवत्व प्राप्त करते हैं और विश्व-प्रेम के तत्वों के उपदेश में समर्थ होते हैं। प्रेम ही भारतीय संस्कृति का प्राण धन है।

"तुलसी या जग आय के, सबसे मिलिये धाय
नाँ जाने केहि भेस में, नारायण मिलि जायँ"

प्रेम उत्सर्ग शीला प्रवृतियों के जगाने की साधना है। इसमें स्थायित्व होता है। यही प्रेम एकनिष्ठ होकर समष्टि साधना का हेतुक उपस्थित करता है।

"निष्कामी है, प्रणय-शुचिता-मूर्ति है, सात्विकी है,
होती पूरी प्रमिति उसमें आत्म उत्सर्ग की है
निष्कामी है भव सुखद है और है विश्व प्रेमी
जो है भोगोपरत वह है सात्विकी-वृत्ति-शोभी"—प्रिय-प्रवास

'कामायनी' की श्रद्धा प्रेम, त्याग, तपस्या की प्रतिमा है।

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में
पीयूष स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में"

उपर्युक्त पंक्तियों में जिस नारी असि का वर्णन है वही श्रद्धा की सृष्टि में व्यापकता से विद्यमान है।

मनु! उसने तो कर दिया दान
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान
जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा में ज्योतिमान
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र
सौन्दर्य्य-जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र
तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके
'कुछ मेरा हो' यह राग-भाव संकुचित पूर्णता है अजान
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान ॥

इड़ा सर्ग का उपर्युक्त गीत प्रेम की शुद्ध तथा वक्र दोनों गलियों का परिचय देता है। निष्काम प्रेम सर्वस्वसमर्पण करके बदले में कुछ नहीं चाहता। 'ईशावास्य-मिदं सर्वं' का श्रद्धा के प्राणों में स्पन्दन है। मानवता की विजय चाहने वाली श्रद्धा "सर्वेभवन्ति सुखिना" के भारतीय आदर्श को पहचान कर ही "औरो को हँसते देखो, नुम!" का परामर्श देती है। और कहती है :—

"शक्ति के विद्युतकण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय"

इस प्रकार सदाश्रयत्व की पवित्र प्रवाहिका से कामायनी की कथा का कण-कण रस-सिक्त है।

चतुर्वर्ग मानव जीवन के पुरुषार्थों का समुच्चय है।

"धर्मार्थ काम मोक्षाणामुपदेश समन्वितम्
पूर्व वृत्त कथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते" (महाभारत)

के अनुसार चतुर्वर्ग अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष इतिहास का अङ्ग है। भारतीय संस्कृति तथा समाज का इतिहास सद्वृत्तियों का इतिहास है, जिसके मूल में आध्यात्मिकता विराजमान है। त्याग भोग का समन्वय इसी आध्यात्मिकता के सहारे होता है। धर्म भावना अनिष्टकारी काम और अर्थ की समृद्धियों (कायसंपदा) को अलौकिक एवं प्राणमय बना देती है। इसी मीमांसा से सम्बद्ध "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" की बात गीता में आई है। वासना को कितना ही बुरा क्यों न कह लो, यह मानव की स्वाभाविक भूख है :—

"नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान
चिर परिचित सा चाह रहा था
द्वंद सुखद करके अनुमान"

मनुस्मृति में काम के सम्बन्ध में यही बात आई है :—

"कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः

वहीं 'कामस्य क्रिया' की चर्चा करते हुए बताया गया है कि काम बिना कर्म सम्भव नहीं। विषयों में अनुकूलता ही 'काम' है। "श्रोत्रत्वक् जिह्वा घ्राणानात्मसंयुक्ते न मनसा अधिष्ठाता नां स्वेषु स्वेषु आनुकूल्यतः प्रवृतिः कामः" इस सम्बन्ध में मननीय है। यह काम मन के संकल्प से उत्पन्न होता है। इसी से इसे मनोज, मनोभव की संज्ञा दी जाती है। याज्ञवल्क्य से "सम्यक् संकल्पजा कामः" धर्म का अंग माना गया है। यह स्पर्श रूप रस गंध की कामना चिर अतृप्ति में डूबी होती है। काम बहुत खानेवाला है, काम का परिचय 'कामायनी' में निम्नांकित पंक्तियों में मिलता है:—

प्यासा हूं मैं अब भी प्यासा
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ

आया फिर भी वह चला गया
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ

यह काम भोक्ता है। वासना इसके लिए भोग्य उपस्थित करती है। यही 'वासना' 'रति' की सहचरी है :—

"जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही
अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अन्तर में उसकी चाह रही"

काम देव-सर्ग में असफल रहा क्योंकि उसने 'भोग' को ही जीवन माना। भोग विलास ने ही देव-सर्ग की विभूतियों को नष्ट-भ्रष्ट किया। मनु काम सर्ग में इसी देव-सर्ग के धर्म-विरुद्ध काम के संस्कारों से पीड़ित है—और वह

"पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श रूप रस गंध भरा"

को जीवन का उद्देश्य मानता है। काम उसे चेतावनी देता है। उससे अपना अनुभव दुहराता है। मानव की शीतल छाया में निज कृति का ऋण शोध करने की बात कहता है। श्रद्धा द्वारा प्रेम का संदेश सुनाने की बात करता है। मनु उस से पूछते हैं :—

"पथ कौन वहाँ पहुँचाता है ?
उस ज्योतिमती को देव ! कहो
कैसे कोई नर पाता है"

किन्तु उसके पाने का प्रयास नहीं करता। धर्म से अविरुद्ध काम-तत्व को वह समझ नहीं पाता। वह भूल जाता है कि 'परिणय' के सम्बन्ध सूत्र में पुत्र उत्पन्न करने के लिए बँधने का क्या महत्व है ? जीवन को पूर्णत्व प्राप्त कराने वाले धर्म से अविरुद्ध काम को न अपना कर, "पराचः कामाननुयन्ति वालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्" की प्रतिमूर्ति बना मनु-भोगों का दास बनता है और इस प्रकार बन्धन में फँसकर दुःख उठता है। महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है कि पतिव्रता धर्म से प्रजननेच्छा की पूर्ति करती है और पुत्र रूप अर्थ प्राप्त करती है। "धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं सेव्यते" भारत की प्राचीन मान्यता है। धर्म काम अर्थ एक साथ रहते हैं। अर्थ और काम की सिद्धि तभी होती है जब उसके पीछे धर्म का बल हो। नहीं तो सांसारिक जीवन तथा सांसारिक वैभव का स्थायी रूप देखने को ही नहीं मिलता। मनु धर्म निरपेक्ष अर्थ तथा काम की सिद्धि चाहता है। अपनी प्रेयासी श्रद्धा के साथ अत्याचार तो वह करता ही है अपनी प्रजा इड़ा के साथ भी कामान्ध अतिचार कर बैठता है, जिसका परिणाम विप्लव तथा ध्वंस होता है। देव सर्ग का नाश कामोपभोग से हुआ।

दूसरी ओर श्रद्धा धर्म अविरुद्ध काम अपना कर पति प्रीता बनकर अपना तथा मनु दोनों का उद्धार करती है। इस प्रकार प्रथम पुरुषार्थ 'काम' का सुन्दर चित्रण कामायनी में हुआ।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था का मूलाधार अपरिग्रह की ही भावना है। "शतहस्त: समाहर सहस्रहस्तः सकिंर" वैदिक मान्यता है। इस प्रकार आर्यों के अर्थ काम साधना के पीछे "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" का मनोभाव ही कार्य करता है। मनु का सारस्वत नगर का प्रजापति बन कर भोगों में लिप्त होना तथा देवताओं का मणिदीपों की दीप्ति में जगमगाती अर्थ-व्यवस्था का निर्माण अर्थ की झाँकी उपस्थित करता है। किन्तु दोनों के ही पीछे धर्म का बल न होने से उनका विनाश होता है। इस प्रकार अर्थ नामी दूसरे पुरुषार्थ का भी सजीव वर्णन कामायनी में है। धर्म का वर्णन भी बड़ी व्यापकता से कामायनी में हुआ है। "अहिंसा सत्यमस्तेयम शौचमिन्द्रिय-निग्रहः। दानं दया दम: शान्तिः सर्वेषां धर्म साधना" की प्रकृतियों से कामायनी के वरण-वरण, चरण-चरण अभिषिक्त हैं। "चोदना लक्षणार्थों धर्मः, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः, धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षित रक्षितः, यतो धर्मस्ततोजयः, धर्मस्तु नुगच्छतिः, आचारो परमः धर्मः" आदि के कण कामायनी में विद्यमान ही नहीं वरन् आनन्द सर्ग में वह समाज के साथ-साथ उन्हें लोकोत्तर आनन्द दिलाने के लिये साथ है। मोक्ष के पथ पर धर्मोत्सर्ग की बात भी वहीं आई है। इस प्रकार 'धर्म' नामी पुरुषार्थ की सिद्धि भी कामायनी में विद्यमान है। व्याख्या करते समय इनकी ओर संकेत किया गया है! ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास सभी आश्रमों का वर्णन कामायनी में है। राजा के धर्म, समाज के धर्म, व्यक्ति के धर्म, पति-पत्नी धर्म आदि सभी का समावेश यहाँ हुआ है। व्याख्या करते समय उनकी ओर भी इङ्गित हुआ है।

मोक्ष का स्वरूप अपने स्वरूप को पहिचानने के अतिरिक्त और क्या है? "सर्व खल्विदं ब्रह्म', 'आत्मवत सर्वभूतेषु" मोक्ष की ही साधना से सवंद्ध हैं। मनु आनन्द सर्ग में इसी की उपलब्धि करता है। कैवल्योपनिषद में जिस अवस्था का वर्णन है मनु उसे प्राप्त करते हैं। तुरीयातीत अवस्था के चित्रण में कामायनो 'मोक्ष' के परम साध्य रूप की झाँकी उपस्थित करती है। "ज्ञात्वा देवं सर्व पाप शाप हानि: क्षीणै: क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणि:" तथा "द्वितीयाद्वै भयं भवति" आदि का रंग पूर्ण चित्रण कामायनी में है। व्याख्या करते समय इन्हें स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार 'चतुर्वर्ग' का चित्रण कामायनी में हुआ है।

कालिदास की भाँति प्रसाद प्रकृति के रहस्यों से पूर्ण परिचित थे। प्रकृति के समस्त रूपों का चित्रण बड़ी कुशलता से कामायनी में हुआ है। सारा काव्य सुन्दर रमणीय प्राकृतिक चित्रों से चित्रित है। कामायनी का प्रारंभ तथा पर्यवसान प्रकृति-अंक में हुआ है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है कामायनी की साध्य 'अभेदोपासना' है। "जड़ या

चेतन" में कवि जड़ चेतन के भेद को मृषा मानता है। अतएव कवि की दृष्टि में जड़ प्रकृति और चेतन प्रकृति में भेद नहीं। इसीलिये कामायनी में प्रकृति का चेतनीकरण अथवा मानवी-करण केवल शास्त्रीय पद्धति के निष्प्राण निर्वाह के लिये ही नहीं हुआ है वरन् उसके पीछे लेखक के विश्वास का बल तथा आत्मा की अनुभूति है।

"मांसल-सी आज हुई थी, हिमवती प्रकृति पाषाणी
उस लास रास में विह्वल थी हँसती सी "कल्याणी"
"वह चन्द्रकिरीट रजत नग स्पन्दित सा पुरुष पुरातन
देवता मानसी गौरी लहरों का कोमल नर्तन"

के पढ़ने ही हृदय में विचित्र उल्लास तथा अद्भुत सरसता गुदगुदी लेने लगती है।

साहित्यमर्मज्ञ प्रसाद को प्रेम, सौन्दर्य तथा माधुर्य का कवि मानते हैं। यह सत्य है कि नारी-असि के वर्णन में उनकी लेखनी चमत्कृत हो उठती है। शृंगार की अतिभूति तथा सौन्दर्य की अनुभूति के दृश्यात्मक चित्रण ने कामायनी में चार चाँद लगा दिये हैं।

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था

में प्रसाद की सौन्दर्य-साधना की सिद्धि क्रीड़ा कर रही है। प्रकृति को प्रसाद ने परंपरागत भारतीय मान्यताओं के अनुसार शक्ति अथवा आदि पुरुष की सहचरी रूप में पहिचानने का प्रयत्न किया है।

"चिरमिलित प्रकृतिसे पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन
निज शक्ति तरंगायित था आनन्द अबुंनिधि शोभन"

में अचिंत्य भेदाभेद की रमणीय झाँकी सनी है। "शिव शक्ति शिवावभिन्न," "गिरा अर्थ जल वीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न;" वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये" "मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" आदि में भी वही बात है किंतु उपर्युक्त पंक्तियों ने दर्शन को कितना सरस एवं कवित्वपूर्ण बना दिया है।

लोग शेक्सपियर को अन्तर्जगत का तथा कालिदास को बाह्य जगत का सर्वश्रेष्ठ कलाकार मानते हैं। हमारे कवि में अन्तर-बाह्य का इस कुशलता से समन्वय हुआ है कि उसकी कृति में दोनों महान कवियों की उत्कृष्टता आ गई है।

शक्ति-शक्तिमान की दार्शनिक पृष्ठभूमि से परिचित जानते हैं कि शक्ति के तीन भेद (१) अतरंङ्गा (२) बहिरगां (३) तटस्था हैं। इन शक्तियों को स्वरूपा शक्ति भी कहते हैं। शक्तिमान की यही सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी शक्तियाँ उसके सत-चित आनन्द को मुखर बनाती हैं।

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन
निज शक्ति तरंगायित था आनन्द अबुंनिधि शोभन

तथा "शक्ति तरंग प्रलय पावक का उस त्रिकोण में निखर उठा-सा" में यही अतरंगा शक्ति कौतुक कर रही है।

वहिरंगा शक्ति के भी दो रूप माया तथा प्रकृति माने जाते हैं। माया और नित्या माया में अन्तर है। माया का वर्णन भी हमारे कवि ने किया है :—

घूम रहा है यहाँ चतुर्दिक चल चित्रों-सी संसृति छाया
जिस आलोक विंदु को घेरे वह बैठी मुस्क्याती माया"

तथा "माया राज्य यही परिपाटी" की व्याख्या देखें।

प्रकृति, वहिरंगा की अंग अंश स्वरूपा, सम्पूर्ण जड़ वर्ग की उपादान कारण मानी जाती है। इसी "पाषाणी प्रकृति" के "मांसल" होने की बात ऊपर आई है। प्रकृति वर्णन कामायनी का विशिष्ट अंग है। पर्वत, समुद्र, घाटी, समतल, उषा, संध्या, रात्रि, आँधी-पानी, झंझा, शरद, वसंत, वर्षा, आदि सभी का सम्मोहक चित्र कामायनी में है।

वाह्य प्रकृति का सांगोपांग वर्णन कामायनी में बड़ा ही मनोरम है। विशुद्ध आलंबन रूप में वर्णन इतना चित्रात्मक है कि वर्ण्य विषय का रूप सामने खड़ा हो जाता है।

"थे डाल-डाल में मधुमय
मृदु मुकुल बने झालर से
रस-भार प्रफुल्ल सुमन सब
धीरे-धीरे से बरसे
हिम खंड रश्मि मंडित हो
मणि-दीप प्रकाश दिखाता
जिन से समीर टकरा कर
अति मधुर मृदंग बजाता" (आनन्द सर्ग)

छूने को अम्बर मचली सी
बढ़ी जा रही सतत उँचाई
विक्षत उसके अंग, प्रगट थे
भीषण खड्ड भयकरी खाई
रविकर हिम खंडों पर पड़कर
हिमकर कितने नये बनाता
द्रुततर चक्कर काट पवन भी
फिर-से वहीं लौट आ जाता (रहस्य सर्ग)

यदि कुमारसंभव का हिमालय-वर्णन संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है तो हिन्दी भी कामायनी के हिमालय वर्णन पर कुछ कम गर्व की अधिकारिणी नहीं है।

उद्दीपन विभाव के रूप में भी कामायनी में प्रकृति का सुन्दर वर्णन मिलता है।

"एक तुम यह विस्तृत भू-खण्ड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद
कर्म का भोग भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द"

से साक्षात्कार करने वाले हमारे कवि को संसार 'विधाता का मंगल वरदान' है। अतएव प्राकृतिक छटाओं के प्रति उनका मोह होना स्वाभाविक ही है। इसीलिये प्रकृति का जहाँ रसों को उद्दीप्त करने के लिये वर्णन हुआ है वहाँ चित्रमय जगत् का अवतार हो गया है।

उद्दीपन विभाव के चित्रों की ओर यह विस्तीर्ण संकेत करना व्याख्या में आई बातों का अनावश्यक दुहराना ही होगा।

प्रकृति में चेतना का आरोप भारतीय मान्यता है। पहाड़, नदी आदि में चेतना का आरोप करके ही उन्हें देव-देवी रूप में देखा गया है। जड़ प्रकृति के चेतनीकरण के अनेक उदाहरण कामायनी से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। विभाव-अनुभाव की झाँकी सजाते हुए प्रकृति का विभिन्न नायिकाओं के रूप में चित्रण हुआ है। नायिका आलम्बन विभाव की अङ्ग ही तो है। कालिदास की भाँति मानव की शारीरिक सुन्दरता का वर्णन करते 'प्रकृति की उपादानों की सहायता' भी हमारे कवि ने ली है और प्रकृति की रमणीयता बढ़ाने के लिए उसमें मानव सौन्दर्य एवं व्यापारों का भी आरोप किया है। इसमें सन्देह नहीं कि कामायनी में प्रकृति चित्रण की मूल प्रेरणा हमारे कवि को कालिदास से मिली है किन्तु यह कहना सर्वथा भ्रम-पूर्ण होगा कि प्रसाद ने इस दिशा में कालिदास का अनुकरण मात्र किया है। निष्पक्षता से विचार करने पर पता चलता है कि प्रसाद ने अनुकरण नहीं किया है वरन् कालिदास से होड़ लेने के लिए ही समान दृश्यों को अपनाया है और अपने अपूर्व कौशल से अनेक स्थानों पर अपने प्रतिद्वन्दी को पीछे छोड़ दिया है।

"नीचे जलधर दौड़ रहे थे सुन्दर सुर-धनु माला पहने
कुंजर कलभ सदृश इठलाते चमकाते चपला के गहने
प्रवहमान थे निम्न देश में शीतल शत-शत झरने ऐसे
महाश्वेत गजराज गण्ड से बिखरी मधु-धारायें जैसे
हरियाली जिनकी उभरी, वे समतल चित्र पटी से लगते
प्रतिकृतियों के बाह्य रेख से स्थिर, नद जो प्रतिपल थे भगते"

आदि की समानान्तर पंक्तियाँ कालिदास के ग्रन्थों से व्याख्या में प्रस्तुत की गई हैं। ऊपर कहा गया है कि हमारा कवि भी "मनुष्य की बाह्य शारीरिक सुन्दरता की प्रभावशील और तीव्र अनुभूति के लिए प्रकृति के मनोरम और ललित उपादानों

की सहायता लेता है।" उदाहरण के लिये श्रद्धा का निम्नाङ्कित वर्णन पर्याप्त होगा :—

"कुसुम वैभव में लता समान, चंद्रिका से लिपटा घनश्याम'
तथा, और उस मुख पर वह मुस्क्यान
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम"

"प्राकृतिक रमणीयता की प्रभावशीलता तथा तीव्रता बढ़ाने के लिए प्रकृति में मानव सौन्दर्य" के आरोप की झाँकी देखिये :—

विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी रजनी तू किस कोने से
आती चूम चूम चल जाती पढ़ी हुई किस टोने से
किस दिगंत रेखा में इतनी संचित कर सिसकी सी साँस
यों समीर मिस हाँफ रही-सी, चली जा रही किसके पास
विकल खिलखिलाती है क्यों तू ? इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर
तुहिन कणों फेनिल लहरों में मच जावेगी फिर अंधेर
घूँघट उठा देख मुसक्याती किसे ठिठकती सी आती
विजन गगन में किसी भूल-सी किसको स्मृति पथ पर लाती

प्रकृति के मानवीकरण का विशद उदाहरण निम्नांकित है—

"उच्च शैल शिखरों पर हँसती प्रकृति चञ्चल बाला
धवल हँसी बिखराती अपनी फैला मधुर उजाला"
"मांसलसी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी
उस लास-रास में विह्वल थी हँसती-सी कल्याणी"

में तो प्रकृति का सजीव चित्रण अपनी रस-सिद्धि तक पहुँच गया है। "क्षण भर में परिवर्तित" से "आनन्द अखण्ड घना था" पंक्तियाँ तो प्रकृति के आह्लादिक स्वरूप की जीवित जाग्रत मूर्ति खड़ी कर देती हैं।

इस भाँति प्रकृति वर्णन के सभी रूपों का समावेश कामायनी में हुआ, जिस पर व्याख्या में प्रकाश डाला गया है।

उत्सव का वर्णन भी कामायनी में बड़ी सजीवना से हुआ है। चिन्ता सर्ग में देवों के विलास का चित्रण करते समय "मधु करके मरन्द उत्सव" की बात तो आई है प्रणय, परिणय, कुमार जन्म आदि की भूमिका में भी उत्सव के तत्व विद्यमान हैं। जल-क्रीड़ा, उद्यान विहार, मधुपान आदि के चित्र भी कामायनी में है।

अभ्युदय चित्रण तो कामायनी का साध्य विषय ही है। मनु अंहता, स्वार्थ तथा कामोपभोग रत मनु, के अभ्युदय की कहानी ही तो कामायनी के कलेवर में निहित है।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है कामायनी शांत-रस प्रधान है। अन्य रस इसी रस की सिद्धि के लिये अपनाये गये हैं। देव सर्ग का शृंगार धर्म-तत्व का बल न पाकर रौद्र में परिवर्तित होता है। शृंगार का रौद्र के साथ विरोध है किन्तु इन दोनों के परिपाक से 'निर्वेद'की सफल सृष्टि होने से विरोध खलता नहीं। क्षमता रखने वाले कलाकार से सब कुछ सम्भव है। "नव-रस की अराओं का स्पष्ट उल्लेख रहस्य सर्ग में है। रसों का समाजीकरण इतनी कुशलता से कामायनी में हुआ है कि कामायनी के प्रत्येक स्थल में एक-सा आनन्द मिलता है।

उपमा उत्प्रेक्षा की कामायनी खान है। लोग कालिदास को 'उपमा' में सर्व-श्रेष्ठ मानते हैं। श्री राकेश ने 'कामायनी कौमुदी' में इस पर विवेचन करते हुये प्रसाद की उत्कृष्टता का उल्लेख किया है।

कहना न होगा कि रूपक के तत्त्वांश तो कामायनी में इस व्यापकता से वर्तमान है कि विद्वान लोग भी धोखे में पड़ गये और पूरे काव्य को रूपक अथवा उपमिति-कथा कहने लगे "पुरुषों प्रकृतिस्थो भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्" पर मनन करने वाले जानते हैं कि हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर की शीतल छाया में बैठा मनु लिङ्ग-शरीर-शीर्षस्थानीय मन-बुद्धि-अहंकार जटित चित्त के छायालोक में बैठा है; निर्विकार चञ्चल छाया मूर्ति—जीव। जीव इसी लिङ्ग शरीर में बैठकर धर्म ज्ञान आदि तथा अधर्म-अज्ञान आदि में फँसता निकलता जीवन-यापन करता है। "जीवन एक चिर-काल तक चलने वाली भ्रांति है। जब तक मोह-बन्धन का नाश नहीं होता तब तक मुक्ति नहीं मिलती, मोक्ष नहीं होता। रूपक का समन्वय काव्य के प्रत्येक स्थल में होता है। इसके लिये कवि की भाषा-मर्मज्ञता की सराहना करनी पड़ती है।

शैवागम के अनुसार जिस जीवात्मा के देह-इन्द्रिय आदि प्रलय-काल में लीन हो जाते हैं मायेय-मल नष्ट हो जाते हैं किन्तु अणव तथा कर्मज-मल रह जाते हैं। इसे प्रलयाकल जीव या पशु कहते हैं। कामायनी का वर्णन जीव की प्रलयाकल अवस्था से प्रारम्भ होता है। उत्तरोत्तर सकल तथा विज्ञानकल अवस्था आती है। अन्त में उसके प्रत्येक पाश विनष्ट होते हैं जिसका कारण अनुशय तथा शिव प्रसाद होता है। जीव किस प्रकार शिवत्व प्राप्त करके 'पशुपति' से अभिन्न बनता है। इसका यथेष्ट वर्णन कामायनी को आगम-ग्रंथ बनाने में समर्थ है। इस प्रकार रस तथा अलं-कृति की दृष्टि से विश्व-साहित्य में कामायनी एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

रस भाव की निरन्तरता कामायनी की विशेषता है इसकी ओर बार-बार संकेत किया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कामायनी की कथा असंक्षिप्त नहीं कही जाती किन्तु उसे संक्षिप्त कहना भी कठिन है। कामायनी की सबसे बड़ी सफलता यही है कि उसमें असम्बद्ध वार्ता या अनावश्यक तथ्यों का समावेश करके तथा परिगणन आदि का

विस्तार करके व्यर्थ कागद काला नहीं किया गया है। संहृत अभिव्यञ्जना के सहारे लौकिक-अलौकिक का कितना स्तुत्य सामञ्जस्य कामायनी में हुआ है इसका अनुभव उन्हीं को होगा जो कामायनी की भाव-व्यञ्जना का समवेत रूप अपने प्राणों में उतारने में समर्थ हों।

बिहारी की भाँति प्रसाद संहृत अभिव्यञ्जना में सिद्धहस्त हैं। रीतिकालीन कवियों के निष्प्राण जड़ स्थिति को प्राप्त नायिका भेद आदि को कामायनी में चेतना प्राप्त हुई है। नवीन शैली में बिना प्रयास ही इन तत्वों का व्यापकता से समारोह हुआ है।

प्रसाद सफल नाटककार थे। उनके नाटकों पर विवेचनात्मक दृष्टि डालने का यहाँ स्थान नहीं है। यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि कामायनी "सुसंधिभिः" के लक्षण से पूर्णतः लक्षित है। संधियों पर विचार करने के पूर्व अर्थ प्रकृतियों तथा अवस्थाओं का जानना आवश्यक है कारण कि संधियाँ इन दोनों को मिलाने वाली होती हैं।

अर्थ प्रकृतियाँ	अवस्थायें	संधियाँ
१—बीज (Origin)	आरम्भ	मुख
२—बिन्दु (Development)	यत्न	प्रतिमुख
३—पताका (Episodical incident)	प्रत्याशा	गर्भ
४—प्रकरी (interlude; episod to explain what is to follow)	नियताप्ति	अवमर्ष
५—कार्य (Conclusion)	फलागम	निर्वहण

महाकाव्य में नाटकीय तत्वों का होना नितान्त आवश्यक है, कारण कि महाकाव्य का उद्देश्य प्रायः वही है जो नाटकों का। कथावस्तु के विस्तार तथा उसकी सफल समाप्ति के लिए नाटकीय तत्वों का आधार आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। "नाटकान्तं कवित्वम्" की बात महाकाव्य पर पूर्णतः लागू होती है।

नाटक की मूल कथा को "आधारिक वस्तु" तथा उसके प्रवाह को विविधता प्रदान करने वाली कथा-वस्तु को "प्रासंगिक वस्तु" कहते हैं।

कामायनी का प्रारम्भ नाटकीय ढङ्ग में एकाएक ऐसे वातावरण में होता है जिससे पाठक की बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। वह पूर्वापर जानने के लिए उत्सुक हो जाता है। "प्रलयनिशा" तथा "प्रलयनिशा के प्रात" का वर्णन आगे चलकर होता है जो कथा की रम्यता बढ़ाता है।

चिन्ता सर्ग की 'हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर', से 'हँसती-सी पहिचानी-सी' तक की पक्तियाँ "रंग-मंच" सजाती हैं। प्रकृति वर्णन एक दृश्य उपस्थित करता है। इस दृश्य में मनु स्वगत कथन करते दिखाई पड़ते हैं। अपने स्वगत में वे अपनी

अवस्था का परिचय देते हुये जीवन के प्रति निराशा-जन्य नास्तिक-दर्शन की भूमिका (अनास्था) का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं :—

"मृत्यु, अरी चिर निद्रे ! तेरा
अंक हिमानी सा शीतल
तू अनंत में लहर बनाती
काल जलधि की सी हलचल';

दुःखांतक आत्म-हत्याओं के मूल में विहँसती असत् असुर प्रेरणायें आँखों में नाच उठती हैं। पाठक सहृदयता में डूब कर मनु के साथ साधारणीकरण करके करुणार्द्र हो उठता है। "सौरचक्र में आवर्तन या प्रलय निशा का होता प्रात", पर समाप्त होकर चिंता सर्ग मनु की चिंता के उपशमन की सूचना देकर पाठक की चिंता का भी उपशमन करते हुये उसके औत्सुक्य की मात्रा बढ़ा देता है। मनु चिंता से त्राण पाना चाहते हैं यही कथा का मूल बीज है।

आशा सर्ग की प्रथम पंक्ति से "और कुतूहल का था राज" तक दृश्यात्मक तथा नेपथ्य वर्णन का संश्लिष्ट चित्र है। फिर मनु का स्वागत चलता है।

"यह संकेत कर रही सत्ता
किसकी सरल विकासमयी
जीवन की लालसा आज क्यों
इतनी प्रखर विलास-मयी
तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,
जीकर क्या करना होगा
देव ! बता दो अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा"

की पँक्तियाँ जीवन-मृत्यु की समस्या उपस्थित करती हैं। स्वगत की शब्दावली 'कोऽहं कथमिदं जातं को वा कर्तास्यविद्यहे', 'कोऽहंतस्य च संसारो विवेकेन विलीयते' की परिधि छूती हुई पाठक के विचार को आलोड़ित करती है। "एक यवनिका हटी पवन से" के साथ दृश्य बदलता है और मनु जीवन के प्रति अनुराग दृढ़ाते हुये अपने रहने के लिये स्थान बनाता तथा 'अग्निष्टोम' 'बलि' आदि कृत्यों में लगता है। धीरे-धीरे वह अपने एकान्तिक जीवन से घबराता है :—

'अट्टहास कर उठा रिक्त का
वह अधीरतम सूना राज'

उन्हें संवेदन का अभाव खलता है। फिर स्वगत प्रारंभ होता है। जिसमें :—

"कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो"

की माया चलती है जो :—

"मैं भी भूल गया हूँ कुछ
हाँ स्मरण नहीं होता क्या था"

की उलझन से उलझ कर पाठक को ऐसे मर्म-स्पर्शी मनाभावों की यात्रा कराती है जिसमें वायुयान, रेलगाड़ी तथा पनडुब्बी के संचरण का एकत्व होता हुआ प्रतीत होता है। नभ, भू, पाताल की ओर छूते हुये वातावरण में 'श्रद्धा' का आगमन होता है। 'कोऽहं कथमिदं" से आँख मिचौनी करने वाले मनु से आगन्तुक भी "कौन तुम?" का प्रश्न करता है। और उसे उसके अस्तित्व का परिचय भी देता है :

"—संसृति जल निधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुप-चाप
प्रभा की धारा का अभिषेक?
मधुर विश्रांत और एकांत—
जगत का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य!"
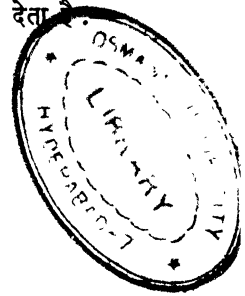
मनु-श्रद्धा का संवाद चलता है। जिसमें "समर्पण लो सेवा का सार" की विभूति खेलती हुई 'विजयिनी मानवता हो जाय' का प्रस्ताव उपस्थित होता है।

फलागम का मूल बीज कामायनी के प्रथम तीन सर्गों में मिलता है। यही 'आरंभ' अवस्था है और यहीं मुख संधि वर्तमान है।

श्रद्धा के मिलन के पश्चात् 'काम वासना, लज्जा' सर्ग में कथा का विस्तार नाटकीय ढंग से चलता है।

काम सर्ग का प्रारंभ ही मनु के स्वगत से होता है। नेपथ्य में ध्वनि गूँजती है :—

कहते कहते कुछ सोच रहे
लेकर निश्वास निराशा की
मनु अपने मन की बात, रुकी
फिर भी न प्रगति अभिलाषा की

मनु का दूसरा स्वगत 'संवेदन' पाने पर 'सहवास' चाहता है :—

'तारा बन कर है बिखर रहा क्यों स्वप्नों का उन्माद अरे
मादकता माती नींद लिये सोऊँ मन में अवसाद भरे"

यही सोचते-सोचते उसे नींद आती है और 'काम' उसे स्वप्न में संदेश देता है। स्वप्न लोक की विभूतियों का छाया-चित्र काम सर्ग में सजीव हो उठता है। साथ ही आधिदैविक का भी तत्पतन सरलता से हो जाता है। अति-प्राकृत के समावेश का

अत्यन्त मनोरम चित्र इस सर्ग में वर्तमान है। यह 'काम' आगे फिर आता है। काम, वासना, लज्जा सर्गों में 'बिन्दु', 'प्रयत्न' तथा 'प्रतिमुख' का दर्शन होता है। मनु अपने अभाव की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील होता है किन्तु वह काम के सन्देश को अपने प्राणों में उतारने में असमर्थ होकर अपने जीवन को दुःखमय बनाता है।

कर्म सर्ग, ईर्ष्या सर्ग में कथा-वस्तु नाटकीयता के साथ बढ़ती है। भाव-भावना का उतार चढ़ाव, कुतूहल की अतिभूति, प्रत्याशा की मृदु हिलोर, सभी का चित्रण इन सर्गों में होता है।

दो काठों की संधि बीच उस
निभृत गुफा में अपने
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने
पर जैसे सुख सपने।

के पश्चात्

केतकी गर्भ-सा पीला मुँह
आँखों में आलस भरा स्नेह

की सृष्टि 'प्राप्त्याशा' की अवस्था उपस्थित करती है। 'प्रकरी' रूप असुर पुरोहितों के समागम से मनु में असुर-बुद्धि का जागरण होता है, आदि। फलस्वरूप

"रुक जा, सुन ले, ओ निर्मोही,"

को अनसुनी करते हुये श्रद्धा को छोड़कर मनु चले जाते हैं। यह कथा का चरम है और यहीं इंटरवल होता है। यही 'गर्भ' सन्धि है।

इड़ा की कथा के साथ पताका की अवस्था आती है। इड़ा तथा संघर्ष सर्ग में मनु का "असुरत्व" पराजित होता है, उन्हीं पुरोहितों के हाथों, जिन्होंने मनु में असुरत्व के अंकुर उगाये थे। पाठक दुःखान्त की कल्पना करके क्षुब्ध हो जाता है। इसी वातावरण में श्रद्धा मनु तक पहुँचती है।

"आह प्राण प्रिय! यह क्या? तुम यों
घुला हृदय बन नीर बहा"

की नाटकीयता कुछ अनुभव करने की ही बात है और इससे कम रहस्य-मय मनु का सबको छोड़कर चला जाना नहीं:—

"जगे सभी जब नव प्रभात में, देखो तो मनु वहाँ नहीं

दर्शन सर्ग में मनु के भावों का पलटा खाना तथा अनुशय पीड़ित मनु का:—

'देखा मनु ने नर्तित नटेश'

शिव के दर्शन पाना विचित्र मनोभावों की सृष्टि करता है। इड़ा, संघर्ष तथा दर्शन सर्ग पताका के अन्तर्गत आते हैं। यहीं नियताप्ति तथा अवमर्ष के कण भी विद्यमान हैं। "रहस्य और आनन्द सर्ग में कार्य, फलागम तथा निर्वहण का मेल

है। मनु को जीवन के परम लक्ष्य की उपलब्धि होती है और पाठक शान्त रस के प्रवाह में डूब कर पुन: मनु से साधारणीकरण करता है।

इस प्रकार नाटकीय तत्वों का सफल प्रयोग कामायनी को रङ्ग-मञ्च की वस्तु बनाने में समर्थ है। कतिपय नाटककारों के नाटकों को रङ्ग-मञ्च पर असफल होते देखा जाता है किन्तु कामायनी का अभिनय रङ्ग-मञ्च पर खरा उतरेगा ऐसा अनुमान तो कहता ही है; चित्र जगत के लिये'कामायनी' एक विचित्र कथानक उपस्थित करती है ऐसा निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

'अव्यत्व' और 'लोकरञ्जन' के अंश कामायनी में हैं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। किन्तु 'लोक' के लिये सुसंस्कृत होने का प्रतिबन्ध अवश्य है। मेरे कुछ मित्र 'कामायनी' के जनता के कण्ठ में न उतरने की बात कहा करते हैं। किन्तु रसास्वाद तो सभ्यों को ही होता है! यदि अशिक्षित संस्कारहीन का रञ्जन ही लोकरञ्जन है तो किञ्चित विदेशिया के आविष्कारक भिखारी दास से बड़ा कलाकार कोई भी नहीं है!

इस प्रकार कामायनी में वे सभी गुण विद्यमान है जो प्राचीन मान्यताओं के अनुसार महाकाव्य के लक्षण हैं।

मानव-मन में प्रतिक्षण चलते देवासुर संग्राम का जैसा सफल चित्रण कामायनी में हुआ, वैसा किंचित ही अन्यत्र प्राप्त हो। सुर में असुरत्व का संचार तथा पुन: उसकी सुरत्व-प्राप्ति, यह अभिनय प्रत्येक मानव विश्व-मंच पर करता है। कोई नायक बन पाता है, कोई विदूषक ही रह जाता है। कामायनी की उपादेयता इसी में है कि वह 'मानवता को विजयिनी' उद्घोषित करके उसके उपक्रम प्रस्तुत करती है।

कामायनी का उपादेयता तथा कामायनी का सन्देश, एक हो विषय के दो पक्ष हैं। इन दोनों पर एक ही साथ विचार करना लाभकर होगा।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कामायनी में वैदिक तथा औपनिषदिक तथ्यों का समन्वय हुआ है। कामायनी का सन्देश वही है जो वेदों का सन्देश है, उपनिषदों का सन्देश है। किन्तु उसमें वर्ग विशेष, धर्म विशेष की एकदेशीयता नहीं है। काव्य में परिणत होकर, सनातनत्व की चिरन्तन गति में पल कर उसका संदेश सार्वभौम हो गया है।'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' को पूत कामना कामायनी में विद्यमान है। वह मानव को मानव बनाना चाहती है—ऐसा मानव बनाना चाहती है जिसकी गोद में क्रीड़ा करने को देवत्व मचलता है। जब तक समस्त विश्व आर्य नहीं बन जाता, तब तक विश्व सुख के दर्शन नहीं कर सकता। यही वेदों ने कहा है, हमारा कवि भी कहता है, जब तक मानव मानव नहीं बन जाता तब तक विश्व शांति असंभव है। समस्त मानव-समुदाय जब तक संघीय-निकाय नहीं बन जाता, तब तक 'सर्वे भवन्ति सुखिना' की कल्पना साकार नहीं हो सकती। हमारा कवि भी कहता है :—

"सब भेद भाव भुलवाकर
सुख दुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे ! "यह मैं हूँ"
यह विश्व नीड़ बन जाता !"

"सहृदयं सां मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः
अन्योऽन्यभिनवत वत्सं जातमिवध्न्वा"

की जीवन-चर्या से कड़ी जोड़ने वाला अथवा

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुहासति

की प्राणपण से साधना करने वाला

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा

को जीवन लक्ष्य बनाने वाला अथवा

ईशा वास्यमिदं सर्वम्

में डोलने वाला ही "कामायनी" के स्वरों से परिचय प्राप्त कर सकता है। "निःश्रेयस् सिद्धिः" का वैदिक सिद्धांत सार्वभौम पथ प्रशस्त करता है। कामायनी की कथा का आश्रय यही वैदिक दृष्टिकोण है। कामायनी का महानतम संदेश "विश्व प्रेम" है, आत्मवत् सर्वभूतेषु है। इस प्रेम की सिद्धि का एक मात्र कारण 'श्रद्धा' है !

वैदिक श्रद्धा सूक्त में श्रद्धा को बड़ी महत्ता दी गई है। "यथा देवा असुरेषु श्रद्धा मुग्रेषु चक्रिरे" यही श्रद्धा सुरत्व की असुरत्व पर विजय कराती है। कामायनी की श्रद्धा-इसी वैदिक श्रद्धा की प्रतिमूर्ति है। श्रद्धा मनु को निरंतर "आर्यता," मानवता के तत्वों की ओर संकेत करती है और अंत में मनु को शिवत्व तथा मानवता को समत्व-बुद्धि प्रदान करने में समर्थ होती है।

'सह अस्तित्व', 'जिओ और जीने दो' के नारों को बल देने वाली कामायनी की आज के विज्ञानाकुल विश्व को बहुत आवश्यकता है। इसका अनुवाद विश्व की प्रत्येक भाषा में होना चाहिये।

यों तो कामायनी में वैदिक पुरुष सूक्त, श्रद्धा, संज्ञान सूक्त, ऋत सूक्त, पृथ्वी सूक्त आदि के अवयव व्यापकता से विद्यमान हैं किंतु उसका मूलाधार एक सार्वभौम चिरंतन सत्य है जो काव्य का वरदान तथा शुद्ध मन का प्रेम है। यही "अखिल मानव भावों का सत्य" विश्व के प्रत्येक महान कवि की कविता में क्रीड़ा करता दिखाई देता है। कामायनी सचमुच महाकाव्य के साथ-साथ "महान कविता" है। हिन्दी भाषा के केवल दो ग्रंथ ऐसे हैं जो विश्व-साहित्य में हिन्दी का मस्तक हिमालय के समान ऊँचा रखने में समर्थ हैं। 'रामचरित मानस' जिसकी सृष्टि में 'नाना पुराण निगमागम' के तत्व हैं और दूसरी 'कामायनी' जिसमें वैदिक तथा औपनिषदिक अवयव हैं।

कुमार संभव की नायिका की भाँति कामायनी की 'नायिका' श्रद्धा त्याग तपस्या की साक्षात मूर्ति है। यदि पार्वती [श्रवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधिं प्रेम पतिश्च तादृश:) अलौकिक प्रेम की सिद्धि रूप, मृत्युञ्जय पति प्राप्त करती है तो कामायनी की श्रद्धा अपने त्याग तप के बल पर अपने पति की कल्याणकारिणी बनती है तथा उसे मृत्युञ्जय बनाने में समर्थ होती है। कुमार संभव में 'कुमार' द्वारा असुरत्व की पराजय होती है तो कामायनी में कुमार द्वारा मानव के चरम-विकास की नींव पड़ती है। वह सारे समाज को किस भाँति तपोवन की ओर मोड़कर 'समरसता' के वातावरण में समाज को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है, इसकी अभिव्यञ्जना आनन्द सर्ग में वर्तमान है। दोनों ही महाकाव्य भारतीय संस्कृति की प्रतिकृतियों से सजे हैं, दोनों का ही प्रणयन मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों तथा भावों का अवलम्बन लेकर हुआ है। दोनों ही महाकाव्य आनन्दवादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं और दोनों ही के आनन्द में लोककल्याण की अभिव्यक्ति में शिवत्व की झाँकी सजी है। दोनों काव्यों की शैली, कथानक, पात्र में युग का भेद है। कामायनी की सृष्टि विज्ञान-पीड़ित बुद्धिवादी युग में हुई है इसी से वह मानव से अधिक निकट है।

इसी से 'प्रसाद' को हिन्दी का कालिदास कहना अतिशयोक्ति नहीं है। व्याख्या करते समय दोनों महाकवियों के तुलनात्मक अध्ययन का रसास्वाद कराया गया है।

विश्वसाहित्य में कामायनी का क्या स्थान है इसकी ओर संकेत करना इस प्रकरण में संभव नहीं। डाक्टर फतेह सिंह ने अपनी पुस्तक "कामायनी सौन्दर्य" के पृष्ठ ३६८ पर इस विषय पर प्रकाश डाला है। उत्सुक पाठक वृंद इस प्रसंग की झाँकी वहीं करें।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह सब प्राचीन-मान्यताओं के आधार पर ही कहा गया है। इस संबंध में यह भी लिखना अनिवार्य प्रतीत होता है कि 'समरसता', आध्यात्मिक साम्यवाद अथवा समत्व बुद्धि के प्रचार प्रसार के लिये समन्वयवादी दृष्टिकोण अनिवार्य है। जब तक कवि स्वयं सब भेद भाव भुलवा कर अखिल मानव भावों के सत्य से नेत्रोन्मीलन नहीं करता, तब तक उसका संदेश निष्प्राण ही रहता है। 'कामायनी' के पढ़ने से लगता है, कामायनी का कवि "तत्र को मोह: कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" के औपनिषद साधन की सिद्धि प्राप्त कर चुका है। उसकी दृष्टि में जीवन महान है। "जीवनधारा सुन्दर प्रवाह" की गति में डोलने वाला हमारा कवि जीवन के प्रति आस्था रखता है। वह जीवन में 'निराशावाद' को स्थान नहीं देना चाहता। वह जगत को "चिति का विराट वपु मंगल" मानता है। तथा उत्सर्गशीला सात्विकी प्रवृत्ति के अभ्युदय में जगत का कल्याण निहित देखता है। व्यष्टि तथा समष्टि में उसे अन्यान्योश्रित सम्बन्ध दिखाई देता है। पारिवारिक जीवन में वह नारी को श्रद्धा रूपिणी तथा मातृत्व का प्रतीक मानता है। यथासंभव व्याख्या में इसकी निवृत्ति की गई है।

ओ जीवन की मरु मरीचिका
कायरता के अलस विषाद
अरे ! पुरातन अमृत अगतिमय
मोह मुग्ध जर्जर अवसाद
मौन ! नाश ! विध्वंस ! अँधेरा !
शून्य बना जो प्रकट अभाव
वही सत्य है अरी अमरते
तुझको कहाँ यहाँ है ठाँव

के साथ

जीवन जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह

पढ़ कर सत्-असत् की परिधि में डोलता मानव मन एक प्रकार की शांति का अनुभव करता है।

कामायनी युग-काव्य है। आज के अनेक कलाकार कामायनी के उपजीव्य मात्र हैं। 'भावोच्छ्वास' से रसमस गीतों तथा चिंतन से समरस प्रबंध काव्यों में प्रसाद की छाप की झाँकी आये दिन देखने को मिलती है। कामायनी में शास्त्रीय पाण्डित्य के साथ भावोच्छ्वास का सुन्दर मेल हुआ है इसी से वह युवकों की प्रेयसि और वृद्धों की भगवती बन गई है। चिति, त्रिपुर, अनाहतनाद, मनोमय आदि जैसे अनेक दार्शनिक शब्दों के प्रयोग तथा उनकी मनोरम व्याख्या जहाँ दार्शनिकों को लुब्ध करती है वहीं हाव भाव हेला, आलिंगन चुंबन, कांति, शोभा आदि का उल्लेख कामोपभोग रत को मुग्ध करता है।

आदर्श तथा यथार्थ का सामञ्जस्य कामायनी की विशेषता है। कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना जिन तत्वों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गई है, उनकी ओर संक्षेप में पर समन्वित रूप से संकेत ऊपर कर दिया है। मेरा यह दृष्टि-कोण आचार्यों की सहृदयता प्राप्त कर सकेगा या नहीं, मैं नहीं जानता। किंतु इतना अवश्य जानता हूँ कि बालक की तोतली बोली के छीनने का अधिकार किसी को भी नहीं है। मैंने 'कामायनी' के अध्ययन में एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव किया। मैं कामायनी के कलाकार का जितना ऋणी हूँ, उतना किसी भी अन्य कलाकार का नहीं। इसलिए ऋणशोध की दृष्टि से "कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना" के लिखने की ओर प्रवृत्त हुआ।

कामायनी की कथा पीठिक नैगमिक है। उसमें वैदिक-कथासार के साथ औपनिषदिक तत्वांशों का भी समावेश हुआ है। उसकी प्राण-प्रतिष्ठा सनातन भारतीय साहित्य-परंपरा से हुई है किन्तु उसमें कहीं भी वैदिक कथाओं तथा पौराणिक आख्यानों का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। प्रसाद के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में किञ्चित ही कोई अन्य कवि ऐसा मिले जिसके काव्य में पौराणिक अथवा ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं का उल्लेख चमत्कार, रूपक, भव्यता आदि को लिये हुये न हुआ हो। "कामायनी" इसी से शुद्ध काव्य-ग्रन्थ की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकी। उसके वरण-वरण, चरण-चरण में भारतीय मान्यताओं के वे सिद्धान्त पिरोये गये हैं जिनमें सार्व-भौमिकता का निष्पंदन है। प्रसाद किस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य से लड़ी जोड़ते, प्राचीन मान्यताओं को अपनी कला से नवीन बनाते, समकालीन-साहित्य के स्वर में बोलते हैं तथा भावी कलाकारों का पथ प्रशस्त करते हैं, इसका दिग्दर्शन अनेक लेखकों द्वारा विभिन्न पुस्तकों में कराया गया है। उनका विस्तृत वर्णन इस सम्बन्ध में आवश्यक नहीं। इस सम्बन्ध में यह लिखना अनिवार्य है कि प्रसाद की "कामायनी" एक ऐसा काव्य है जो काल के किसी भी अवस्थान पर, देश की किसी भी परिस्थिति में, उपेक्षित नहीं हो सकता। इसका मात्र कारण उसका धर्म-निरपेक्ष कलेवर है।

सभी कवि, लेखक या कलाकार समकालीन जीवन, समस्याओं, विचार तथा भावनाओं से प्रेरित होकर कुछ न कुछ लिखते हैं किन्तु यथार्थ काव्यानुरक्ति विभिन्न मनोदशा, विभिन्न दार्शनिक पीठिका तथा विभिन्न सामाजिक परिस्थिति चाहती है। और वह सदैव पृथ्वी पर नहीं रहना चाहती और न सर्वदा निराश्रय आकाश में ही ठहरना चाहती है। कामायनी के कथा प्रयोग में ये सभी तत्वांश विद्यमान हैं।

कथानक की दार्शनिक पृष्ठभूमि 'कामायनी' को बोझिल नहीं बनाती, इसके लिए प्रसाद की लेखनी की सराहना करनी ही पड़ती है। सच तो यों है कि कथानक की मनोरमता तथा भव्यता कलाकार की तूलिका के आश्रित होती है। नीरस कथानक कुशल कलाकार द्वारा सरस हो जाता है और सरस कहानी अनाड़ी की लेखनी से नीरस बन जाती है। 'कामायनी' की सफलता इस दृष्टि से प्रसाद के सफल कलाकार होने का परिचय देती है।

कल्पना और भावों के नव-जागरण, शुद्ध प्रेम की सभ्य प्रवृत्तियों, सौन्दर्य की भावनाओं की काव्यानुभूति, गीतों का स्वारसिक लावण्य, आदि की ओर व्याख्या में संकेत हुआ है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'कामायनी' में कहानी कहते-कहते कभी-कभी कवि का व्यक्तित्व प्रकट हो जाता है और कहीं-कहीं भावों की पुनरावृत्ति भी हो गई है किन्तु चिन्तन-प्रधान काव्य में ऐसा हो जाना कुछ स्वाभाविक-सा है।

प्रसाद की 'कामायनी' हिन्दी-साहित्य के किस अवस्थान पर लिखी गई, इसे जानने

के लिए "प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन" से सहायता ली जाय तो अच्छा है। कतिपय विद्वानों का मत है कि महाकाव्य में चरित्र-चित्रण के अवयवों पर दृष्टिपात करना आवश्यक नहीं। किन्तु महाकाव्य की सृष्टि में नाटक, उपन्यास तथा काव्य के तत्वांशों की सहवर्तमानता महाकाव्य के पात्रों के चरित्र के विश्लेषण पर बाध्य करती है। अत· एव इस प्रसंग में इस दिशा में भी लेखनी का मुड़ना स्वाभाविक है। कामायनी के पात्र हैं, (१) मनु (२) श्रद्धा (३) इड़ा (४) कुमार (५) किलाताकुलि। इनके अतिरिक्त दो अलौकिक पात्र काम तथा रुद्र भी हैं।

करुणा-कलित हृदय से उद्‌भूत विकल वेदना के भावोच्छ्वास के कण भींगे नयनों में सँभाले प्रलय-प्रवाह की विभीषिका पर चिन्ताकुल दृष्टि डालते हुए "मनु" तरुण रूप में सर्वप्रथम हमारे सामने आते हैं। श्मशान-ज्ञान की मननशैली में वह जीवन की निस्सारता, विगत देव-सभ्यता की विलासिता, दंभ आदि पर विचार करते हुए नास्तिक-जीवन दर्शन की स्थापना निम्नाङ्कित पँक्तियों में करते हैं—

"मौन ! नाश ! विध्वंस ! अंधेरा !
शून्य बना जो प्रकट अभाव,
वही सत्य है, अरी अमरते !
तुझको कहाँ यहाँ है ठाँव"

[कतिपय विद्वान 'भीगे नयनों' से भ्रमाकुल हो 'लक्ष्य' 'उपलक्ष्य' की बात चलाते हैं, तो कतिपय 'भीगे नयनों को मनु की मर्यादा के विरुद्ध मानते हैं। देवता को मानव बनाने की इन्हीं सामग्रियों से 'कामायनी' का निर्माण हुआ है, जो इन तत्वांशों के काव्यत्व को परख नहीं सकते वे कामायनी को बरबस उठाते ही क्यों हैं ?]

मनु का तरुण-रूप में जो वर्णन कामायनी में उपस्थित हुआ है वह एक ऐसे ब्रह्मचारी का वर्णन है जो भारतीय जीवन के प्रथम आश्रम की साधना करने वालों के लिए आदर्श उपस्थित करता है और साथ ही प्रत्येक जाति एवं समाज के युवकों को स्वस्थ चुनौती देता है।

"अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
स्फीत शिराय, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार"

पौरुष से ओत-प्रोत वदन का प्रलय के पश्चात् चिंता-कातर होना तथा उस शून्य वातावरण में मनु की चिंतनगति का शून्यवाद से जा टकराना मनोविज्ञान की कुशल झाँकी उपस्थित करता है। "मृत्यु अरी चिरनिद्रे तेरा अंक हिमानी सा शीतल" की बात सोचने वाला मनु प्रकृति के व्यापारों में "जीवन-जीवन की पुकार" सुनकर हिम-गिरि की एक विस्तृत गुहा में अपने रहने के लिए वरणीय स्थान बनाते हैं और पुनः

देवोचित अग्निहोत्र आदि में लगते हैं। [श्मशान से लौटकर क्या सारा जगत ऐसी ही माया में फिर नहीं जकड़ता]। मनु का चरित्र इस प्रकार शुद्ध लौकिक आधार के सहारे उत्तरोत्तर बलिष्ट होता है।

उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कांत
लगे देखने लुब्ध नयन से
प्रकृति विभूति मनोहर शांत

की चित्रात्मकता में मनु कर्म-वासना से प्रेरित कर्म-निरत मननशील तपस्वी बनते हैं–

मनन किया करते वे बैठे
ज्वलित अग्नि के पास वहाँ
एक सजीव तपस्या जैसे
पतझड़ में कर वास रहा!

और विश्व में कर्मजाल के सूत्र बुनते हैं।

एकाकी जीवन से ऊब "कब तक और अकेले!" की विवशता में मनु का आकुल होना कितना स्वाभाविक है। आशा सर्ग में मनु की इस अवस्था का सफल चित्रण हुआ है।

कौन? क्या? कैसे? कब तक? आदि प्रश्नों की गति में बहते मनु "कौन तुम" के एक प्रश्न से हर्ष विह्वल हो जाते हैं, कहानी आगे बढ़ती है। श्रद्धा मनु के संवाद में "अकेले तुम कैसे असहाय यजन कर सकते?" आदि की भाव व्यन्जना में मनु तथा श्रद्धा के एक होने का प्रस्ताव चलता है। "स्वयंवर", आत्मसमर्पण' आदि की प्राथमिक अवस्था में ही काम मनु को धर्म से अविरुद्ध काम का उपदेश करता है तथा शुद्ध प्रेम के तत्वांशों की ओर मनु की चित्तवृत्ति को आकृष्ट करता है।

"मनु आँख खोल कर पूछ रहे
पथ कौन वहाँ पहुँचाता है
उस ज्योतिमयी को देव, कहो
कैसे कोई नर पाता है"

मनु श्रद्धा का परिचय घनिष्ट होता है। "दो अपरिचित से नियति मेल चाहती है" और फिर मनु-श्रद्धा गृह में प्रवेश करते हैं, गृहस्थ बनते हैं।

"मनु अभी तक मनन करते थे लगाये ध्यान
काम के संदेश से ही भर रहे थे कान
इधर गृह में आ जुटे थे उपकरण अधिकार
शस्य पशु या धान्य का होने लगा संचार"

जवानी की उमंगों से मद-विह्वल मनु कामायनी के प्रेम, अखण्ड प्रेम पर एकाधि-

पत्य चाहते है ! उन्हें कामायनी को पशु के प्रति भी तनिक प्रेम प्रदर्शन करना "ईर्ष्या" से भर देता है । कुछ लोग इस चित्र को अस्वाभाविक कहते हैं ! अपना-अपना अनुभव और क्या कहा जाय ! वासना की उफ़ानों, काम की तरंगों में उद्वेलित मन कब चाहता है कि उसकी प्रेमिका क्षण भर भी किसी ऐसे कार्य में व्यस्त हो जिसमें उसका ध्यान उस से दूर हो जावे ! रूप का मोह, काया का प्रेम कितना ईर्ष्यालु होता है उसके उदाहरण तो प्रतिदिन हमारी आँखों के सामने आते ही रहते हैं । "प्रेम ही बना प्रेम का काल" से दूषित "नूरजहाँ" की आख्यायिका, न इतिहास भुला सका, न साहित्य ही भुला सका । यौन-मनोविज्ञान की मीमासाओं से परिचित "नत हुआ फण दृत ईर्ष्या का" चित्र देखकर मन मुग्ध हो जाता है । धीरे-धीरे वह अवस्था भी आती है जिसमें दोनों का परस्पर आत्म-समर्पण होता है और मनु-श्रद्धा एकाकार होने की मुद्रा में मिलते हैं ।

"यज्ञ यज्ञ की कटु पुकार से मनु अब थिर न रह सकें" और पुन: देव संस्कारों से पीड़ित असुरत्व से प्रभावित उन्हीं कृत्यों में लगते हैं जिनके कारण देव-सर्ग का पराभय हुआ था :—

"देव यजन के पशु-यज्ञों की
वह पूर्णाहुति की ज्वाला
जल-निधि में बन जलती कैसी
आज लहरियों की माला
उनको देख कौन रोया यों
अंतरिक्ष में बैठ अधीर
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय
यह प्रालेय हलाहल नीर"

में प्रतिबिंबित सत्य से नेत्रोन्मीलन करने वाले मनु का पूर्व ज्ञान श्मशान ज्ञान की भाँति तिरोहित हो जाता है और वह पुन: "हिंसक-यजमान" की माया किलात-आकुलि के पौरोहित्य में सजाता है । संस्कार तथा संगति का प्रभाव मनु को इन कृत्यों पर विवश करता है और वह दबे से इस प्रकार असुर बनते हैं कि श्रद्धा को प्रसन्न करने के लिये ही श्रद्धा के प्रिय पशु की हत्या कर बैठते हैं : –

'जिस का था उल्लास निरखना
वहीं अलग जा बैठी
यह सब क्यों फिर ! दृप्त वासना
लगी गरजने ऐंठी'

'कर्म यज्ञ से जीवन के स्वप्नों को स्वर्ग मिलेगा,' की कल्पना में व्यस्त मनु का दृष्टिकोण जीवन के प्रति व्यक्तिवादी, स्वार्थवादी बनता है ।

"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे ! वह भी कुछ है"
... ...
... ...

पूरी हो कामना हमारी
विफल प्रयास नहीं तो !

मनु की असुर प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे इतनी बलवती हो जाती हैं कि वह कामोपभोग को ही जीवन मान बैठते हैं और मृगया में देह गेह भूल जाते हैं। धीरे-धीरे वे भी दिन आते हैं जब श्रद्धा के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण नहीं रह जाता और श्रद्धा पर ही उपेक्षा का आरोप करते, कुमार-जन्म के पश्चात् अपने प्रति श्रद्धा की पूर्ण उपेक्षा से शंकित, मनु 'रुक जा सुन ले ओ निर्मोही' को अनसुनी करके श्रद्धा का परित्याग कर चले जाते हैं।

'क्या यही हमारे आदि पुरुष हैं ?' की भाव व्यञ्जना में डूबकर कितने विद्वान इस स्थल पर प्रसाद को गाली दे बैठते हैं। वे भूलते हैं कि अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने का अधिकार प्रत्येक कलाकार को है। हाँ, जो वर्णन आते हैं उनसे कलाकार के दृष्टिकोण को बल अवश्य मिलना चाहिये। प्रसाद ने यहाँ असुर-प्रवृत्तियों से पराभूत मनु का चित्रण किया है, अभी तक तो उनमें आदर्श पुरुष के अंकुर प्रस्फुटित तक नहीं हुए हैं।

ऐसे व्यवहार व्यापार की आज के सभ्य सुसंस्कृत तिलाक-पीड़ित समाज कहाँ, जो हम इस प्रसंग को अस्वाभाविक बता सकें।

"मन की परवशता महा दुःख" से 'किये प्रेम बड़पाप' की चूल मिलाते मनु, प्रेम का कच्चा धागा तोड़कर, श्रद्धा को छोड़कर, मन की तरंगों में बहते, सारस्वत प्रदेश पहुँचते हैं और वह आत्म-विस्तार की सुखानुभूति के लिये 'प्रजापति' का रूप ग्रहण करते हैं एवं

"तुम्हें तृप्ति-कर सुख के साधन सकल बताया
मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाया
अत्याचार प्रकृति-कृत हम सब जो सहते हैं
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते हैं
आज न पशु हैं हम या गूँगे काननचारी
यह उपकृति क्या भूल गए तुम आज हमारी ?"

की उपक्रमणिका रूप मनु वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वैज्ञानिक अनुसंधान, जागतिक समृद्धि के साधन आदि की व्यवस्था एवं प्रशासन सूत्र की स्थापना करके अपनी सत्ता की सार्वभौमिकता की अनुभूति का सुख भोगते हैं। संसार में लीन प्रवृत्ति मार्ग के पथिक के

जीवन की परम सिद्धि मनु को मदांध तथा कामांध बनाती है और अपनी प्रजा रूपी इड़ा से अतिचार कर बैठते हैं। फलस्वरूप विप्लव आदि के पश्चात वह आहत् होकर गिर पड़ते हैं।

'निर्वेद' भावना का जागरण होता है और फिर मनु श्रद्धा का संबल पा शिवत्व प्राप्त करते हैं।

प्रसाद ने मानव के विकास की कहानी मनु के चरित्र में बड़ी सफलता से अंकित की है।

(मनु के चरित्र का साम्य वैदिक मनु से क्यों कर होता है इसके लिए आप 'कामायनी सौन्दर्य' देखें।)

"श्रद्धा" भारतीय नारी की प्रतीक है। आदि जननी को "मातृदेवो भव" की प्रतिकृतियों से सजाने में प्रसाद की लेखनी चमत्कृत हो उठी है। कामायनी ने मातृ-महत्व के प्रतिष्ठापन में जितना योग दान किया है, उतना किसी अन्य ग्रंथ से इसके पूर्व नहीं हो पाया था।

कौन तुम संसृति जलनिधि नीर
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक

आदि उत्तरव्यञ्जक प्रश्न की शब्दावली में मधुकरी का मधु-गुन्जार सुनाती 'नयन का इन्द्रजाल अभिराम' को सार्थक बनाती मनु के विरस-जीवन पतझड़ में वसन्त दूती बनी श्रद्धा सर्वप्रथम आती है। "हृदय की अनुकृति वाह्य उदार" के स्तुत्य गुण से अभिभूषित श्रद्धा ललितकला, प्रकृति-विहार में अभिरुचि रखती है और हृदय-सत्ता के सत्य का अनुसंधान करने वाली है। प्रसाद ने कामायनी में श्रद्धा को निसर्ग कन्या के रूप में चित्रित किया है। [भावुक पाठक कालिदास की निसर्ग कन्या शकुन्तला से तुलना करें !] उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की उपमा प्रकृति के उपकरणों से देकर श्रद्धा की प्रतिष्ठा प्रकृति रूप में करके "विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु" की झाँकी सजा दी है।

"दैवी संसृति के अनन्तर मानव जगत पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि आर्य लोग नारी का बड़ा सम्मान करते थे। वे घर को नहीं नारी को ही घर मानते थे और गृहस्थ धर्म के पालन में नारी की ही प्रधानता समझते थे। उनके विवाह का प्रयोजन था नारी के साथ रहकर धर्मानुष्ठान और यज्ञ संपादन।" श्रद्धा के चित्रण में इस दृष्टिकोण को यथार्थ स्थान मिला।

पहली ही भेंट में श्रद्धा मनु को आशा का संदेश देती है और मानवता को विजयिनी बनाने के लिये आहूत करती है।

श्रद्धा के चरित्र-चित्रण के तत्वांशों की ओर पहले भी संकेत हुआ है और आगे व्याख्या में भी उस पर प्रकाश डाला गया है। अतएव यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि—

"वह कामायनी जगत की मंगल कामना अकेली
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित मानस तट की बनवेली"

का अतीव मनोरम चित्र कामायनी में प्रस्तुत हुआ है।

इड़ा मनु को उस अवस्था में मिलती है जब वह मन की परवशता से ऊब कर अपने आत्म-विस्तार की अहंता में श्रद्धा को छोड़ कर चले जाते हैं।

"बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल"

में इड़ा का रूपलावण्य अंकित हुआ है।

शेष सभी पात्र गौण रूप से आते हैं उनकी ओर विस्तृत निर्देश आवश्यक नहीं।

"कामायनी" पर लगभग दो वर्ष मनन करने के पश्चात जो कुछ भी मेरे पल्ले पड़ा उसे मैं 'व्याख्यात्मक आलोचना' के रूप हिन्दी-साहित्य के प्रेमियों के सामने रख रह हूँ। यों तो 'कामायनी' के विश्व-विद्यालयों तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में आने से आये दिन आर्थिक दृष्टिकोण से प्रेरित अनेक विद्वान कुछ न कुछ लिखते ही जा रहे हैं किन्तु 'कामायनी' के अध्ययन की कोई भी सामग्री यथेष्ट रूप में अब तक प्रस्तुत नहीं की गई है। कामायनी के मूल सिद्धान्तों की ओर केवल 'कामायनी सौन्दर्य' में निर्देश किया गया है किन्तु उसमें "वैदिक साहित्य" का उद्धरण, तुलनात्मक अध्ययन, इस प्रकार दिया है कि 'कामायनी' उससे और कठिन बन गई है।

कामायनी के सम्बन्ध में मुझे जो कुछ भी पढ़ने को मिला उसमें मैं केवल तीन संक्षिप्त वर्णनों को कामायनी की भावना के सन्निकट पा सका :—

(१) प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन
(२) छायावाद की काव्य साधना
(३) आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी (कल्याण, नारी अंक)

अंत में मैं अपने अनेक मित्रों का आभार स्वीकार करता हूँ जिन्होंने मेरे दृष्टिकोण से सहानुभूति रख कर मुझे इस अध्ययन में तत्पर रहने में प्रोत्साहित किया। सर्व श्री किशोरीलाल गुप्त, 'क्षेम', सूँड फैजाबादी, जयकुमार मुग्दल, मुखराम सिंह के नाम इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय हैं।

मैं अपने इन मित्रों से कम आभारी उन मित्रों का नहीं, जिन्होंने मुझे "कामायनी" को अपनी लेखनी के बल से बलवती न बनाने का परामर्श दिया। यदि ये विसंवादी स्वर कभी-कभी न फूटते रहते तो मेरी लेखनी में दूना बल आता ही नहीं।

आजमगढ़ शैदा

१५-१२-५५

पुनश्च—व्याख्या एवं टिप्पणियाँ छंदांक लगाकर दी गई हैं। मूल ग्रंथ में छंदांक नहीं पड़े हैं। पाठक अपने-अपने ग्रंथों में छंदांक डाल लें। इससे उन्हें सुविधा होगी।

---

*१५ दिसंबर ५५ को हरिऔध-कला-भवन आजमगढ़ की एक विशिष्ट गोष्ठी में इस निबंध का पूर्ण पाठ हुआ था।

चिंता सर्ग

१ चिंता

[हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न "आधि" को 'चिंता' कहते हैं। इसके लक्षण उद्विग्नता, ताप, उन्निद्रता आदि हैं—रसकलस]।

१—हिमालय पर्वत की एक ऊँची चोटी पर एक चट्टान की ठंडी छाया में बैठा, एक पुरुष आँखों में आँसू सँभाले प्रलय की जलराशि का बहना देख रहा था।

उपर्युक्त पंक्तियों में जो चित्र इतने साधारण शब्दों में उपस्थित किया गया है वह अत्यन्त विचित्र है। हिमवान की ऊँची चोटी, उसकी प्रस्तर शिलायें, उस पर जमी हुई हिम राशि एक ओर और दूसरी ओर एकार्णव की महती जलराशि। चतुर्दिक शून्य का साम्राज्य! इस महतोमहीयान के मध्य अणोरणीयान मनु! महानिराशा में क्षुद्रतम आशा विन्दु! कितना, महान कितना विशाल, कितना गम्भीर वातावरण! पाठक की प्रबुद्ध चेतना कल्पना करके मुग्ध हो जाती है! काव्य का उपारंभ उन सभी गुणों से पूर्ण है जिसे अरस्तू ने महान-कविता का अंग माना है। उच्च, महत् तथा भव्य गांभीर्य जिसकी विद्यमानता होमर, दाँते तथा शेक्सपियर को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने में सहायक हुई, यहाँ भी वर्तमान है।

प्रकृति का यह दृश्य कितना भयावह होगा उस व्यक्ति के लिये जिसने महानाश की लीला अपनी आँखों देखी। देखते ही देखते संसार की समस्त चेतना तिरोहित हो गई। चेतन रूप केवल वह बच गया। आज उसका एकान्त नासदीय सूक्त (ऋ० १०–१२६–१–७) में वर्णित ["आनीदवातं स्वधया तदेकं" (था चेतन बस एक ब्रह्म ही] आदि पुरुष का एकान्त है। और वातावरण भी "किमासीद गहनं गभीरं—" गहन गंभीर नी था एक—का ही है।

"एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति; अनेजदेकं, एको देवः सर्व-भूतेषु गूढ़:" आदि का चित्र अपनी शब्द शक्ति में सँभाले "एक पुरुष" कितनी अभिव्यञ्जनाओं से पूर्ण है, इसका अनुभव भयानक में रस सृष्टि करने में समर्थ है। इसी 'एक पुरुष' से मानवीं सभ्यता का विकास उसी प्रकार होगा जैसे "एकं" से सृष्टि का विकास हुआ।

"पुरुष" "विष्णोः स्वरूपात्परतो हि ते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र" को भी प्रति-ध्वनित करता है। आगे की पंक्तियों में प्रधानता का उल्लेख मिलेगा। 'पुरुष' का शैव रूप समझ के लिए आगे "कलना" की व्याख्या देखें।

पुरुष में पुरु (शरीर) विद्यमान है यही "अन्नमय कोश" है। कामायनी की कथा अन्नमय से आनन्दमय तक जाती है और इस प्रकार कामायनी को 'देव-काव्य' बनाने में समर्थ होती है।

कामायनी में रूपक की स्थापना करने वालों को 'देहतत्त्वविज्ञान' की गुत्थियों को सुलझा कर लिङ्ग शरीर के शीर्षस्थानीय मन-बुद्धि-अहंकार के छायालोक के 'आसन पर बैठी निर्गुण निर्विकार पुरुष की चञ्चल छाया मूर्ति—पुरुष' से परिचय प्राप्त करना चाहिए।

केवल शैवागमों के साहित्य से सामञ्जस्य स्थापित करने वालों को "प्रलयाकल" पशु (जीव) की मीमांसा से इन प्रारंभिक पंक्तियों को समझना चाहिये। (नारद-पुराण इसमें सहायक होगा)।

२—नीचे जल बह रहा था जिसमें गति थी, ऊपर हिम जमा हुआ था जिसमें गति का अभाव था। एक ही तत्व के दोनों विभिन्न रूप थे, विवर्त थे। अतएव चाहे उसे जड़ कहो या चेतन, वस्तुस्थिति में कहीं से कोई अंतर नहीं।

जड़-चेतन की दार्शनिक उलझन का तर्कपूर्ण काव्यमय सुलझाव कितना सुन्दर बन पड़ा है, इसको समझने के लिये दर्शन के विभिन्न दृष्टिकोणों को जानना आवश्यक है।

डार्विन, हेक्सले, आलिवर लाज, आइंस्टीन की वैज्ञानिक परंपरा 'जड़वादी' है, जो अब 'सापेक्षवाद' तक पहुँची है। चार्वाक का कहना है कि चेतना कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं। पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु के मेल से ही चेतना उत्पन्न हो जाती है। यह दर्शन आकाश तत्व को नहीं मानता! बौद्ध दर्शन क्रिया के स्वभाव को ही सत्ता मानता है। यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साम्य रखता है। बौद्ध दर्शन की 'योगाचार' शाखा नानात्व को प्रतीति भेद की वासना के कारण मानती है। जैन दर्शन चित् अचित् दो भिन्न पदार्थों को मानता है। इसी भाँति अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद की भी विभिन्न मान्यतायें है। इस प्रकार कोई जड़ को ही सब कुछ मानता है, कोई जड़ चेतन दोनों को, कोई केवल चेतन को। हमारे कवि की दृष्टि में जड़-चेतन में भेद नहीं। "या" शब्द समानता का द्योतन करता है, अभेद की स्थापना करता है। कामायनी की समाप्ति "समरस थे जड़ या चेतन" की भूमि पर होती है।

हमारा कवि विश्व ज्ञान के उस अवस्थान पर स्थित है जब बुद्धिवाद की प्रधानता है। मानव आज वैज्ञानिक अनुसंधानों द्वारा परम सत्य के अन्वेषण में लगा है। अतएव हमारे कवि ने तत्सतग्रहण न करते हुये "कहो उसे जड़ या चेतन" की कविसुलभ तर्क द्वारा व्याख्या भी कर दी।

प्रलयकाल में अचेतन क्रिया तथा निष्क्रिय चेतन तत्व में भेद करना संभव नहीं। यही भारतीय मान्यता है। हमारे कवि के वर्णन में इसका समावेश हो गया है।

एक ही समय दो विरोधी भावों की एक में स्थापना "तान्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" (वे चलते भी है नहीं भी चलते) से जा टकराई है। और इस प्रकार 'ईशावास्य' से

संबंधित अनेक चिंतनों की झाँकी करता हुआ दिखाई पड़ता है। संहृत, अभिव्यञ्जना, भाव गांभीर्य का इतना सुन्दर उदाहरण किञ्चित ही अन्यत्र कहीं मिले।

[प्रधानता में "प्रधान होने का भाव है; यही प्रधान कारण शक्ति, नित्यामाया, अथवा अव्यक्त प्रकृति है।]

३—जमा हुआ गतिहीन हिम चतुर्दिक बहुत दूर तक फैला हुआ था। मनु का हृदय भी "स्तब्ध" था, स्तम्भित था, गतिहीन था, स्थिर था, लगता था मनु के हृदय और हिम में गुण साम्य है। चारों ओर नीरवता शिला की भाँति सुदृढ़ थी जिसमें वायु के झोंके चट्टानों से टकराते घूम रहे थे। यों तो कवि ने 'नीरवता' को चट्टान कहा है, किंतु ध्वन्यात्मक बोध चट्टानों से टकराने की ओर संकेत करता है! हवा चट्टानों के निम्न प्रदेश से (चरण) ही टकराती है।

[पवमान की व्याख्या के लिये अथर्वेद का "पवमान सूक्त" द्रष्टव्य]। [स्तब्ध-हृदयः शिवाभिष्टे हृदय उन्मन अचल हृदय ब्रह्मचारी की शोभा है। अथ० २।२६।६।]

४—मनु युवक तप करने वाले की भांति स्थिर बैठा योग साधना में लगा हुआ था। जैसे वह देवताओं का मसान जगा रहा हो। और नीचे प्रलय से संक्षुब्ध समुद्र की लहरें धीरे-धीरे अपनी सामान्य अवस्था पर पुनः लौट रही थीं मानों उनमें सत्व की प्रधानता के कारण करुणा का संचार हो गया था।

"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधान क्रियायोगः" (यो० सा० १) में वर्णित 'तप' आत्मशुद्धि का साधन है। गीता अध्याय १७ विशेषतः इस संबंध में मननीय। "ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत" (ब्रह्मचर्य्य तप से विद्वान मृत्यु को भगाते हैं) तरुण तपस्वी : इसी ब्रह्मचर्य्य की ओर संकेत करता है।

"सा" शब्द मार्मिक है। वह वस्तुतः तरुण था तपस्वी नहीं था किंतु तपस्वी जैसा दीखता था। ब्रह्मचारी तपस्वी नहीं होता वरन् उसकी चर्य्या तपस्वी की होती है।

"बैठा" शब्द योग के "आसन" की प्रतिकृति उपस्थित करता है। "स्थिर सुख-मानसम्" निश्चल सुखपूर्वक बैठने को आसन कहते हैं। तपस्वी इसी भाँति बैठता है। मनु स्थिर सुखपूर्वक आसन मारे बैठे थे।

जिस वस्तु में सयंम किया जाता है उसकी स्थिति का पूरा ज्ञान हो जाता है। मनु यहाँ 'सुर श्मशान' के साधन में निरत हैं। उन्हें यह रहस्य-ज्ञान होगा कि अमर क्यों मरे और मर्त्य कैसे अमर हो सकता है।

'श्मशान' का उल्लेख श्मशान ज्ञान की ओर संकेत करता है। मनु की भी आगे वही दशा होगी आदि। [पुराणान्ते श्मशानान्ते मैथुनान्ते च या मतिः। सा मतिः सर्वदा चेत्स्यात् को न मुच्यते बन्धनात्—मननीय]।

सत्व सृष्टि का कारण है। 'सकरुण' में सत्व के प्राण खेल रहे हैं!

५—इन पंक्तियों में प्रकृति का वर्णन अलङ्कार रूप में हुआ है। सुयोग देखिये,

देवपुत्र के लिये देवदारु की उपमा प्रस्तुत है। वर्णन सीधा गद्यात्मक न होकर रूपक द्वारा हुआ है। मनु लंबा, छरहरा, गौर वर्ण का था इसी की व्यञ्जना उपर्युक्त वर्णन में है। देवदारु हिमाच्छादित श्वेत वर्ण के थे, पत्थर की भाँति स्थिर थे और सर्दी से ठिठुरे हुए लगते थे। यही दशा मनु की भी थी।

पत्थर में "ते तनुः अश्मा भवतु" (अथ०-१-१३-४)। तेरा शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो की छाप है।

'अड़े' की तुक खटकती है किंतु यह तो स्वयं हिन्दी भाषा की तुकों की अशक्ति की परिचायिका है।।

६—मनु के प्रत्येक अंग सुघटित तथा बलिष्ठ थे। उनमें अतुल बल, तेज और वीर्य भरा था। उसकी नसें मोटी थीं जिनमें विकारहीन शुद्ध रक्त बह रहा था।

"शिवभिष्टे हृदयं" का उल्लेख स्तब्ध हृदय की व्याख्या के संबंध में आया है। "उर्जस्वित" "ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धनं" (अथ० २-२६-५) की प्रतिछाया है। जहाँ ब्रह्मचर्य्य प्रकरण में द्यावा-पृथ्वी (माता-पिता)! से कहा गया है कि "इस कुमार को आप दोनों अन्न और बल का धारण करने वाले होकर बल और अन्न का दान करो। "रेतः लोहितम्" (अथर्वेद ११।५-७।२४) आदि इस सबंध में पठनीय।

"वर्च आ धेहि मे तन्वां ३ सह ओजो वयो बलम्। इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्य्याय प्रतिगृह्णामि शत शारदाय"। अ० १९-३७-२। मेरे शरीर में सहनशीलता (पत्थर-सी) ओज कान्ति (हिम धवल) आयु शक्ति धारण कर तुझको इन्द्र-शक्ति के लिये, पराक्रम (वीर्य्य) के लिये सौ वर्ष जीने के लिये स्वीकार करता हूँ। आदि मननीय। "स्वस्थ रक्त" पिता-माता की स्वस्थता तथा 'आहार शुद्धि' दोनों की ओर संकेत करता है। छान्दोग्योपनिषद द्रष्टव्य।

७—मनु में पुरुष के सभी लक्षण विद्यमान थे। तेज, शक्ति, बल के साथ आत्मिक बल भी उनमें था। इस प्रकार पुरुषार्थ के सभी उपादान उनमें थे। किंतु उनकी मुखाकृति से ऐसा भान होता था जैसे उन्हें किसी अभाव की चिंता हो। वे चिंताकुल लगते थे। उनके भीतर जवानी की रस-धार बह रही थी, किंतु इसकी अपेक्षा करने वाला कोई नहीं था। अतएव वह अपने को इस दिशा में उपेक्षित, दीन, हीन, अनुभव करके चिंतित थे। चिंता संचारी भाव है।

अभाव का अनुभव चिंता का कारण होता है। "कामस्तग्रे समवर्तताधिः मनसो रेतः प्रथम मदासीत" में जो पुरातन कर्म राशि ईश्वर में विद्यमान कही गई है वही संस्कार रूप सञ्चित वासना आज प्रारब्ध बन कर मनु को कष्ट भोग करा रही है। अशुभ कर्मों का फल दुःख, चिंता, रोग आदि होते हैं। दार्शनिक कहते हैं कि जब आदि पुरुष एकान्त से घबरा गया, तब उसने सृष्टि रचना के लिये शक्ति का सहारा ढूँढा। कहते हैं कि शिव सती से वियुक्त होकर पुनः उन्हें प्राप्त करने के लिये तप करने लगे (केनापि

कामेन तपश्चार)। आज मनु भी वैसे ही तप में निरत दीख पड़ रहे हैं। "उपेक्षामय यौवन" इसी मनोभाव को ध्वनित कर रहा है। उसे सहचरी चाहिये। "ऊर्जस्विता" चाहती है गृह में प्रवेश, अथर्वेद ३।२६।। गृहस्थाश्रम में प्रवेश के भाव उसमें अंकुरित हो चुके हैं। 'कातरता' में उसकी विवशता तथा द्युतिम्लानता के भाव हैं। "इषुः कामस्य या भीमा तथा विध्यामि त्वा हृदि" का वह पीड़ित है। उसके मन में काम का उद्‌भेद हो चुका है। "मधुमय" शब्द तथा 'स्रोत' में मधुर भावना के संचार की झाँकी है।

मौन भावना का कितना सुन्दर तथा रहस्यमय चित्रण है। संहृत तथा अभिव्यञ्जना यहाँ भी कलाकार की लेखनी में चार चाँद लगाते हुए शोभा पा रही है।

'कातर' में "वैवर्ण्य" अनुभाव विद्यमान है।

८. महावट में बँधी हुई जल पर तैरती हुई नौका अब शुष्क भूमि पर पड़ी हुई थी। जल प्लावन उतर गया था और पृथ्वी जल से बाहर होने लगी थी।

सरल पंक्तियाँ कथा-सूत्र को बढ़ाने के लिए ही लिखी गई हैं। प्रबंध काव्य में ऐसी नीरस पंक्तियों का आना अनिवार्य है।

'नाव', 'वृक्ष' आदि का उल्लेख स्वयं शतपथ ब्राह्मण में है। प्रसाद ने आमुख में उद्धरण दिये हैं।

चित्र साम्य के लिए प्रलय की अवस्था में वट के पत्ते के सहारे विष्णु के तैरने की बात पठनीय है। "हरि लागे खोजन सुपात वर वट में"।

६ "प्रकृति सुन रही" में प्रकृति का मानवीकरण अथवा चेतनीकरण हो गया है। अंग्रेजी कवि मिल्टन ने भी Ode on the morning of christ's nativity में "nature that heard such sound" की बात लिखी है। भारतीय मान्यताओं में प्रकृति पुरुष की सहचरी है। हिन्दुओं की मान्यताओं के अनुसार स्त्री-पुरुष का दाम्पत्य संबंध "जन्मान्तरीय" है। "जानी सी पहिचानी सी" में यही जन्मान्तरीय भाव है। [परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण मुझको, प्रीति पुरातन लखै न कोई, इस संबंध में द्रष्टव्य]। "मर्म-वेदना" रहस्यमय वेदना, कामव्यथा। "करुणा-विकल कहानी" करुण विप्रलंभ का ही दूसरा नाम है।

मनु के हृदय को काम ने वेध दिया है। उसके हृदय में कामना जग चुकी है। वह अपने उर का भार किसी के उर में उतारना चाहता है। अपनी मर्म कहानी किसी से कहना चाहता है। किंतु उसके साथ संवेदना रखने वाला वहाँ प्रकृति के अतिरिक्त और कोई नहीं! प्रकृति प्रेयसि का समष्टि रूप है। "तव रूप देव्या स्त्रियाः समस्ता"। 'एक पुरुष' की 'मर्म वेदना' 'प्रकृति के अतिरिक्त सुन ही कौन सकता है?

प्रकृति मनु के मनोभावों से अवगत हो रही थी! वह समझ रही थी कि पुरुष पुनः समागम चाहता है सृष्टि के विकास के लिए।

"निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी सी" से कवि उस नाटकीय वातावरण और प्रत्याशा की सृष्टि करता है जिससे आगे आने वाला "स्वगत" सजीव हो जाता है।

१०—यहाँ से मनु का पहला स्वगत प्रारंभ होता है। कुछ लोग 'स्वगत' के प्रयोग की निन्दा कला तथा यथार्थवादिता दोनों ही दृष्टिकोण से करते हैं। किन्तु मानसिक द्वंदों, विचारों, संकल्प-विकल्पों के व्यक्त करने का और साधन ही कहाँ है। रंगमंच पर भी स्वगत खरे उतरते हैं। यह सच है कि हम लंबे-लंबे स्वगत का वास्तविक जीवन में उच्चार नहीं करते किन्तु विचार-निमग्न चिंताकुल आँखों में रात काटने वालों की भी कमी नहीं। स्वगत से इतिवृति में मनोरमता आ जाती है। प्रलय का सामान्य वर्णन कवि ने स्वयं न करके मनु से आँखों देखा वर्णन उपस्थित कराया है जिससे वर्णन सजीव हो गया है। काव्य की उत्कृष्टता तथा सौष्ठव 'नाटकान्तं कवित्वम्' की छाप में है, अभिव्यञ्जना में है, न कि यथातथ्य नीरस वर्णन में।

अंग्रेजी के कवि मिल्टन ने "Wrinkled case" की बात कही है। चिंता के मन में घर करते ही माथे पर बल पड़ जाता है। यही "चिंता की पहली रेखा है"। 'रेखा' की आकृति व्याली (नागिन) की सी होती है। नागिन के फूत्कार से वन जल जाता है। चिंताकुल की दृष्टि में सभी संसार नष्ट भ्रष्ट-सा प्रतीत होता है। "पिया विन नागिन काली रात" (सूर) इस संबंध में मननीय। चिंता विषाद की सूत्र-धारिणी है। 'विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः" तो प्रसिद्ध ही है। चिन्ता आधि है, मानसिक वेदना है। इसका फल संताप है। भूत की स्मृति तथा भविष्य की भीति चिन्ता का कारण है।

"कंप" शब्द भूकम्प की याद दिलाता है। ज्वालामुखी फूटने के पहले भूकंप होता है। 'नूरजहाँ' में 'वरुण कंप वाहन द्वारा ज्यों ही आ पहुँचे ऊपर" द्रष्टव्य।

मतवाली: पागल, अव्यवस्था, अशांति उत्पन्न करने वाली।

[व्याली का अर्थ "हाथी" करने से भी संगति बैठती है]।

भीषण : ज्वालामुखी का परिणाम भयंकर होता ही है।

११—अंग्रेजी कवि मिल्टन ने Joy (सुख) को brood of folly without father brad" लिखा है तो हमारे कवि ने 'चिन्ता' को अभाव की बालिका कहा है। अभाव की मानसपुत्री "चिंता" को "चपल" का विशेषण दिया गया है। 'चपल' चपला का गुण है, जो कंपन, सिहरन, अस्थिरता क्षणिकता, तीव्रता, ज्वलन आदि सभी का बोध अपनी शब्द शक्ति में निहित रखती है। "करका-घन-सी' की बात आगे आवेगी। चिंता सुस्थिर मन को चंचल बना देती है। यही व्यंजना इस 'शब्द' में निहित है।

"लेखा" हिन्दी में पुल्लिंग और संस्कृत में स्त्रीलिंग माना जाता है। हमारे कवि

ने उसका प्रयोग स्त्रीलिंग में करके उसके संस्कृत अर्थ ('रेखा, लेख') की व्यंजना उपस्थित की है ।

"दुख सुख लिख्यो लिलार" की मान्यता में चिंता पूर्वजन्म के उन अशुभ संस्कारों की द्योतक है जो कालान्तर से 'प्रारब्ध' बन चुके हैं, ऊपर संकेत किया जा चुका है कि 'चिंता' में माथे पर बल पड़ जाते हैं ।

'खल' शब्द अधम, नीच दुष्ट को कहते हैं । जैसा कि ऊपर । कहा गया है अशुभ कर्मों का फल दुःख चिंता है । इस प्रकार 'खल' का विशेषण सार्थक बनता है ।

"हरी भरी सी दौड़ धूप" भोग की उत्कण्ठा ही चिंता है । कर्म की प्रवृति भोग-साधन की उपलब्धि के लिये ही है । "ध्यायते विषयान्" गीता २-६२-६३ मननीय । विषय-चिंतन ही चिंता के मूल में है । प्रतिकूलता का अनुभव करने वाली चित्त-वृत्ति अनुकूलता की कामना करती है, आदि मनोवैज्ञानिक बातें इस संबन्ध में मननीय ।

"जल-माया" : का अर्थ जल की माया ही यथार्थ है । जैसे जल में लोल लहरियाँ उठती गिरती समुद्र में दौड़ती संक्षोभ उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार जल विरचित माया रूपी विश्व में चिंता मानव को कर्म में व्यस्त करती है । किंतु यह सब माया का ही विवर्त होता है । जैसे जल में रेखा स्थिर नहीं रहती उसी प्रकार 'माया' में 'चिंता' स्थिर नहीं रहती । 'जल समान माया" के अर्थ से भी यही अर्थ प्रतिपादित होगा । 'जल माया' को यदि 'माया जल' मान लिया जाय तो इससे मृग मरीचिका का बोध होगा, जो निरंतर दूर रहती जाती है, कभी पास नहीं आती ।

१२—'चिंता' संचारी भाव है । हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न आधि को चिंता कहते हैं । इसके लक्षण उद्विग्नता, ताप, उन्निद्रता आदि हैं । 'संचारी भाव' का वर्णन प्रायः अनुभावों विभावों की पीठिका में ही होता है । हमारे कवि ने उनका स्थूल वर्णन विभिन्न आलंबनो में उपस्थित करने का अभूतपूर्व प्रयास किया है । छाया-वाद युग की विशेषताओं में सूक्ष्म मनोभावों का मूर्त स्थूल वर्णन भी है । हमारा कवि इसमें अधिक सफल है, यह निर्विवाद है ।

हलचल—का संस्कृत रूप "उत्पात" है । धूमकेतु आदि तारों का उदय और अस्त मनुष्यों के लिये उत्पात रूप होता है । उत्पात तीन प्रकार के होते हैं दिव्य, भौम और आन्तरिक्ष । "ग्रह कक्षा की हलचल" ही तीनों उत्पातों का कारण है (नारद पुराण कल्याण २७८) । जितने दिनों तक अनिष्टकारी तारे उदय होते हैं, उतने ही सौर वर्षों तक अशुभ फल चलता है । भूकंप भौम उत्पात का कारण भी यही तारे हैं । "नूरजहाँ" में 'नक्षत्रों के विग्रह से भूकम्प विकट जब आता' की बात जब आई है! सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनिश्चर तथा राहु, केतु नव ग्रह हैं । ये नवग्रह वायुमयी रज्जु द्वारा ध्रुव से बँधे हुए यथोचित प्रकार से घूमते हैं । उनके अवकाश में स्थिति, चाल, पथ आदि सभी का बोध "ग्रह-कक्षा" में है ।

"तरल-गरल"—विष "स्थावरं जङ्गमं यच्च कृत्रिमं य.द्विषम्" (सुश्रुत । कल्प-स्थान २।२६) के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं। 'तरल' शब्द जङ्गम विष का बोध कराता है। जङ्गम विष सर्प तथा अन्य जन्तुओं का होता है। "लहरी" शब्द 'लहर आने' की बात की ओर भी संकेत करती है अतएव यहाँ चिन्ता का सर्पिणी रूप है। "अयं यो वक्रो बिपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजानि कृणोषि। तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इर्षीकामिव संनम:" टेढा, ढीला, अचेत, आँख, नाक, मुख आदि की विकृति सर्पदंश तथा चिन्ता दोनों के लक्षण है।

जरा अमर जीवनकी—चिन्ता मनुष्य को बूढ़ा बना देती है। "वे नर कैसे जियें जाहि उर व्यापै चिंता।" विश्व वैचित्र्य की सृष्टि में उनके अक्षय यौवन का परिचय मिलता है। यौवन पूजा भारतीय संस्कृति का अङ्ग विशेष है। आधि-व्याधि मृत्यु की सन्तानें हैं। मृत्यु की विजय, जीवन की हार ही 'जरा' में उपलक्षित होती है। जरामरणमोक्षार्थ ही भारतीय जीवन साधना चलती है।

(न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्!)।

न सुनने वाली बहरी—असंवेदनशीला, सुनने की शक्ति होते हुए भी न सुनने-वाली। बहरी=जड़, सुनने की शक्ति न रखने वाली। चिन्ता मनुष्य को चेतनाहीन बना देती है।

१३—"व्याधि" चित्त-विक्षेप का भी नाम है किन्तु व्याधि शारीरिक कष्ट तथा आधि मानसिक कष्ट है। मानसिक अवस्थाओं का प्रभाव शरीर पर उसी प्रकार पड़ता है जैसा धूमकेतु का पृथ्वी पर (वाराहमिहिर की बृहत्संहिता में शुभ-अशुभ कुतु का वर्णन द्रष्टव्य)। रोगादि की उत्पत्ति का कारण मानसिक विकार ही है। (मन के भावों का प्रभाव शरीर पर कैसे पड़ता है इसके लिए स्वप्न में मैथुन का उदाहरण पर्याप्त है)। [मिताक्षरा प्रायश्चित प्रकरण पुनर्जन्म तथा पातक के सम्बन्ध के लिए मननीय।] अतएव 'चिन्ता' व्याधि की सूत्रधारिणी है। आधि को "मधुमय अभिशाप" इसलिये कहा कि आधि में एक प्रकार को मोहकता होती है, आकर्षण होता है। "चिन्ता" में पीड़ा होती है किन्तु उसमें भाव अपने अभाव रूप में रहता है। यही करुण-विप्रलंभ का प्राण है।

धूमकेतु—की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है।

"पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप"—का टुकड़ा भ्रामक है। सृष्टि का कारण माया का मंतव्य जहाँ जीवों के भोग की व्यवस्था करनी है, वहीं उसका पुण्य उद्देश्य जीव को ब्रह्म की गोद में अनन्त काल के लिये प्रतिष्ठित करना भी है। चित्त की वृत्तियों का निरोध करके परम तत्व के चिन्तन में रत होना पुण्य-सृष्टि का चरम साध्य है। मन कामोपभोग की चिन्ता में फँस के पाप मार्ग अपनाता है। इस पाप में एक रम्यता होती है, आकर्षण होता है। इसी से 'सुन्दर' का विशेषण सार्थक बनता है।

["हँसा काल अति रम्य पाप मत की बाती उकसाता।" समुद्रमंथन
"महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्येनियुङ्क्ते"
(सांख्य सूत्र १४) मननीय।

१४—अमर मरेगा क्या? "जीव अमृत और अविनश्वर है। जीव के नित्यत्व में कभी व्याघात नहीं होता आदि दार्शनिक गुत्थियाँ इससे संवद्ध हैं? देहतत्व विज्ञान-कल्याण २४–१ पृष्ठ ४२२ मननीय है! भारतीय दृष्टि सर्वदा आध्यात्मवादी रही है, "न जायते म्रियते वा कदाचिनायं भूत्वा भाविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" (गीता २–२०) आदि इस संबंध में मननीय। "वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरं—Dust thou art to dust returneth was not spoken of the soul" आदि द्रष्टव्य! मायावश मनुष्य अपनी तर्क बुद्धि से अनात्म में आत्मबुद्धि रखकर आत्मा को भी नाशवान मान बैठता है। ऐसा अविद्या का प्रभाव है, अविद्या मोहरूपी है, चिन्ता मोहरूपी है।

'मनन' चिन्ता का एक तार चलता है।

मनु कहते हैं ओ चिंता-गति मुझे तू किस अविद्या में फँसा रही है? आस्तिक को नास्तिकता की चरम-सीमा पर प्रतिष्ठित कराकर मुझे किस गर्त में ढकेलना चाहती है? हमारे कवि एक प्रश्न में "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः" (असुरों की जो प्रसिद्ध नाना प्रकार की योनियाँ एवं नरक लोक हैं वे सभी अज्ञान तथा दुख: क्लेश रूप महान अन्धकार से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हों वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकों में बार-बार प्राप्त होते हैं)। अमरों के मरने की बात के साथ मनु के 'आत्म हत्या' की बात सोचने की व्यञ्जना भी इसी प्रश्न में निहित है। शेक्सपियर में To be or not to be" में यह बात उतनी कला-पूर्ण नहीं जितनी हमारे कवि में!

[इन्द्र विरोचन की आख्यायिका छान्दोग्योपनिषद् में मननीय]

१५—करका ओला का दूसरा नाम है। हृदय चित्त का स्थान है। "चित्तमेव हि संसार"—चित्त ही संसार है। चित्त वस्तु के उपराग की अपेक्षा वाला है, असंख्य वासनाओं से चित्रित है, विश्वरूप है, भोग रूप है। यह आशा-तृष्णा के शस्यों वाला है। चिंता इनको नष्ट करने की सामर्थ्य रखती है। जैसे हिमपात से सुन्दर शस्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है उसी प्रकार चिन्ता भोग-आशा-तृष्णा–का नाश करती है।

निगूढ़धन—गड़ा हुआ छिपा हुआ धन। अन्तरतम=अन्तःकरण, यही चित्त है जिसमें मन-बुद्धि-अहंकार जड़े हुए हैं।

निगूढ़ धन का प्रयोग कुछ अच्छा नहीं बन पड़ा है। अर्थ केवल यह है जैसे निगूढ़ धन का स्वामी चिंतित रहता है, भयाकुल रहता है, केवल उसे अपने ही जानता है, उसी प्रकार चिंता करने वाले को चिंता प्रिय होती है, रात भर व्याकुल रखती है।

इस रहस्य को केवल चिंता करने वाला ही जानता है। यही "मर्म वेदना" का शब्दांकित चित्र है!

१६-१७—"यदेतद्धृदयंमनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृति मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेया भवन्ति" (ऐतरेयोपनिषद ३–२) में ये सभी परमात्मा के जानने के लक्षण माने गये हैं। "चिंता" स्मृति रूप भी होती है इसका संकेत ऊपर हुआ है।

[मनीषा = मनन करने की शक्ति; बुद्धि = बोध प्राप्त करने की शक्ति; मति=मनन करने की शक्ति, समझने की शक्ति; आशा=चाहने की शक्ति; चिंता=चिंतन करने की शक्ति]

[बुद्धि जड़ है। किंतु मनु उसे चेतनता कहकर हटाना चाहता है। जड़ता दुःख देती है, उसी की वह कामना करता है आदि। भ्रान्तिदर्शन, अस्मिता, अभिनिवेश, अविद्या, विपर्यय-ज्ञान आदि से वह पीड़ित है] । वह कहता है, "चिंते! तूही रूप बदलकर बुद्धि, मनीषा, मति, आशा बनकर मुझे विकल कर रही है। तू ही मेरी पाप-बुद्धि के मेल में है। तेरा अस्तित्व पापमय है। तू मेरा साथ छोड़ दे, दूर हो जा। तुझसे मेरा कोई काम नहीं बनने का। मैं तुझे नहीं चाहता। मैं अपनी वर्तमान अवस्था भूलना चाहता हूँ। मैं चेतना खोना चाहता हूँ। चुप होना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ मेरी चेतना का लोप हो जावे। मैं जड़ हो जाऊँ, जिससे अनुभूति मुझे क्लेश न दे। मैं आज शून्य में विलीन होना चाहता हूँ। मैं जो अभाव का अनुभव करता हूँ, अच्छा होता यदि उसमें जड़ता भर जाती, जिससे अभाव का अनुभव न होता।" निराशा में मन किन-किन अवस्थाओं से होकर निकलता है, उसी का चित्रण उपर्युक्त पंक्तियों में है!

एक ही तत्व देशकाल के प्रभाव से विभिन्न रूप धारण करता है। जो बात वाह्य जगत् में सच है वह अन्तर्जगत में भी। कठोपनिषद् में शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी तथा जीवात्मा को रथी बताया गया है। मन लगाम है। वहीं इन्द्रियों से बलवान विषय, अर्थ (विषय) से बलवान मन, मन से बलवान बुद्धि, बुद्धि से बलवान आत्मा, आत्मा से बलवान माया, माया से बली पुरुष की भी बात आई है। योगदर्शन २–२० में बताया गया है कि चेतन मात्र द्रष्टा है। यह यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है तो भी बुद्धि की वृत्तियों के अनुरूप देखने वाला है। यही प्रतिछाया पुरुषाकार बुद्धि है। सांख्य तथा योग दोनों बुद्धि को जड़ मानते हैं। बुद्धि वह द्रव्य है जिससे किसी वस्तु या कार्य का निश्चय किया जाता है। बुद्धि के तामसिक और सात्विक भेद से धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य कार्य हैं। बुद्धि का कार्य अहंकार है। अहंकार 'मैं-मेरा' के भाव का दूसरा नाम है। इसी अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच तन्मात्राओं की सृष्टि हुई है। मन भी इन्द्रिय विशेष है। ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ मन के अधीन हैं। संकल्प करना अर्थात् विशेष्य-विशेषण भाव से विवेचन

करना मन का धर्म है। बुद्धि महतत्त्व का दूसरा नाम है। मन, अहंकार, बुद्धि ही मनुष्य का अन्तःकरण, हृदय या चित्त है। चित्त वासनाओं का आश्रय है। मन इच्छा और संकल्प के व्यापार वाला है। वह बाह्य इन्द्रियों का रूप धारण करके सदा भोक्ता के लिए भोग का उत्पादक होता है। बुद्धि के द्वारा जीव (चेतन) को विषय का अनुभव होता है, उसी को भोग कहते हैं। गुणों से बुद्धि इन्द्रियों का नियमन करती है। [मन, बुद्धि, अहंकार के कृत्यों के सूक्ष्म विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं।]

मनु केवल यह कहना चाहता है कि मानव चेतना प्राप्त करके ही संकटों में पड़ा है। मनन, चिंतन, कल्प, विकल्प, संकल्प सभी इसी एक तत्व के विकार हैं। (सबसे भले विमूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति !) अतएव मनु चेतना को ही चिंता मान बैठता है, अपनी निराशा में विपन्नावस्था में ! वह चेतना से प्रार्थना करता है कि वह उसका पिंड छोड़ दे। चेतनाहीन, बुद्धिहीन होकर वह चिंता-हीन हो जावेगा। स्मृति चित्त की वृत्ति है मनु इस स्मृति का लोप चाहता है। क्रियाहीन होकर अवसाद में त्राण देख रहा है ! अशक्ति और शिथिलता चाहता है ! वह गति से ऊब गया, जीवन में आस्था खो बैठा है। वह नीरवता चाहता है जहाँ शब्द भी अपने कारण में विलीन हो गया हो !

"शून्य" सूनेपन का दूसरा नाम है। मनु चाहता है कि मन की चिंता गति से जो उसे सूनेपन का अनुभव हो रहा है वह जड़ता के आने से भर जावेगा। क्योंकि उसे सूनेपन का अनुभव ही नहीं रह जावेगा।

मनु इस समय तमग्रस्त है, अविद्याग्रस्त है, अतएव वह समझ नहीं पा रहा है कि उसके बंधन जड़ प्रकृति के ही निर्माण किये हुए हैं। मनु की बुद्धि तमसात होने के कारण लोकायत दर्शन अथवा चार्वाक दर्शन पर स्थिर होती है। वह समझता है, मृत्यु हो जाने से उसे यातनाओं से छुटकारा मिल जावेगा। इसी का प्रतिवाद आगे चलकर होगा।

बौद्ध-दर्शन की याद 'शून्य' दिलाता है। "क्रिया के साथ सत्ता की समाप्ति हो जाती है। क्षणिक होने के कारण सब दुःख रूप है, सब शून्य है क्योंकि किसी वस्तु को सत्-असत आदि कहना शक्य नहीं" आदि भी इस प्रसङ्ग में मननीय !

मनु जगत की अनित्यता पर मनन कर रहा है। अनित्यता का मनन शून्यवाद की सृष्टि करता है। कीटस् का "Terror of Death" (Golden Tr. 198) इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य !

"Then on the shore
Of the wide world I stand alone and think
Till love and fame to nothingness do Sink"

अथवा

Dare you await the event of a few minutes
Deliberation ?
All shall be void
Destroyed !''

१८—मैं जितना ही विगत जीवन के बारे में सोचता हूँ उतना ही दुःख की रेखाओं से चित्रित शून्य बढ़ता जा रहा है। लगता है, जैसे दुःख की शृंखला अनादि हो, अनन्त हो।

उपर्युक्त पंक्तियों में ''तासामनादित्वं चशिषो नित्यवात्'' (वासनायें अनादि हैं) का ही चित्र उपस्थित है। दुःख का सामान्य लक्षण प्रतिकूलता का अनुभव है। मानस-शास्त्र का कहना है कि यह सार सिद्धान्त है कि चिन्ता, शंका, भ्रम, राग, द्वेष, क्षोभ, विक्षेप, शोक, विषाद, भय, काम, क्रोध, घृणा, लज्जा, संकोच और अहंकार तथा आत्मग्लानि की भावनाओं का अधिक चिन्ता करते रहने पर मनुष्य अपने मस्तिष्क पर अधिकार खो बैठता है जिससे मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। **वासनायें अनादि हैं उनका अधिष्ठान चित्त भी अनन्त है**। वासनाओं की सृष्टि का इतिहास विचित्र है। वासनायें भोग से प्रशमित नहीं होतीं, वरन् और तीव्र होती हैं। कामोपभोग की तृष्णा सर्वस्व नाश पर तृप्त नहीं होती। ''सन्तुष्ट ओघ से मैं न हुआ'' की बात आगे आवेगी।

१९—भारतीय मानव-इतिहास के अनुसार अर्वाक्-स्रोताओं का यह मनुष्य-सर्ग ऊर्ध्व-स्रोताओं के देवसर्ग के पीछे हुआ (विष्णु० १–५–२२)। ''सर्ग के अग्रदूत !'' का संकेत केवल इसी तथ्य की ओर है। मानवी-सभ्यता का विकास 'देवसर्ग' के अवशेष 'मनु' द्वारा हुआ। यही कामायनी की कथा का मूलाधार है।

भक्षक या रक्षक जो समझो केवल अपने मीन हुये—इस पंक्ति का उलथा करते हुये डाक्टर फतेह सिंह ने कामायनी-सौन्दर्य में, 'वे अपने को सर्ग का अग्रदूत समझ कर रक्षक या भक्षक बन बैठे' लिखा है। मानव ने ''मीन और अपिड़ो'' की बात कही है। मैं 'मीन' को मत्स्यावतार का प्रतिनिधि मानता हूँ।

''चिन्ता करता हूँ मैं जितनी'' की पंक्तियाँ ''उस अतीत की उस सुख की'' की विवृत्ति की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करती हैं। विषय का उद्बोध कलात्मक ढङ्ग से होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कच-देवयानी नाम्नी कविता में ''विगत बातों'' का परिचय जिस कला से दिखाने का प्रयत्न किया है वही कलापूर्ण व्यापकता से हमारे कवि के इस वर्णन में विद्यमान है।

अतीत का स्मरण आते ही दोनों संश्लिष्ट चित्र सामने आते हैं। सारी देव-विभूति का नाश तथा अपना बच जाना, दोनों ही बातें विचार की प्रथम-द्युति में जगमगा

उठती हैं। एक ठंडी साँस लेकर वह कहता है, कितने दुःख की बात है कि सर्ग का प्रारम्भ करने वालों का बल-वैभव सभी नाश हो गया, शून्य में **विलीन** हो गया। और 'मीन' के द्वारा मैं बच गया! मीन ने मुझे बचाकर मेरा हित किया या अहित, यह तो नहीं जानता, किन्तु अवशेष रह गया मैं उनके ही कारण!

जैसा कि सङ्केत किया गया है 'मीन' मत्स्यावतार की याद दिलाता है—

"प्रलयपयोधि जले धृतवानसि वेदम्
विहितवहित्र चरित्रमखेदम्
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे"

महामत्स्य के एक थपेड़े से मनु की नौका किस प्रकार हिमगिरि पर पहुँची इसका उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में मिलता है। श्रीमद्भागवत ८—२४ में मत्स्यावतार की कथा सत्यव्रत से सम्बन्धित बताई गई है वही सत्यव्रत वर्तमान कल्प में श्राद्धदेव मनु हुए। इसी प्रकार विभिन्न पुराणों में विभिन्न आख्यायिकायें आई हैं। [कल्याण-हिन्दू संस्कृति अङ्क पृष्ठ ७६६ पर भगवान मत्स्य का परिचय द्रष्टव्य।] **नौका-बन्धन शृङ्ग** आज भी हिमालय की किंवदन्तियों में जीवित है। किञ्चित यही "उत्तङ्ग शिखर" का उल्लेख इस काव्य की प्रारम्भिक पंक्तियों में है। शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख 'आमुख' में स्वयं प्रसाद ने किया है और महामत्स्य का भी! बुद्धि भ्रंश होने पर तथ्य का निश्चयात्मक रूप सामने नहीं आता, इसी से मानवीय-संस्कृति के बीज के रक्षक तथा प्रतिष्ठापक 'मीन' को मनु 'भक्षक' भी कह डालता है!" तमहमखिलहेतुं जिह्म मीनं नतोऽस्मि" में मीन के रक्षक रूप की ही वंदना है। ["कल्पभेद हरि चरित सुहाये" से कथाओं की विभिन्नता]।

'विलीन' शब्द तिरोभाव की मीमांसा ध्वनित करता है। 'नाश' की नहीं!

२१—इन पंक्तियों में प्रलय की उपक्रमणिका तथा उसके परिणाम का समावेश कलात्मक ढंग से हुआ है। एक विहंगम-दृष्टि में संपूर्ण दृश्य सामने आ जाता है। भावना की प्रचुरता तथा भाव की गंभीरता में शब्द-शक्ति शिथिल हो जाती है, इसी से शब्दों के अर्थ से अधिक उनकी ध्वनि की ओर ध्यान देना पड़ता है! यही वे स्थल हैं जहाँ 'अस्पष्टता' के दोष से काव्य के दूषित होने का भय होता है क्योंकि भाव भाषा का साथ छोड़ कर आगे बढ़ जाता है और भाषा पीछे रह जाती है। "संहृत" के विधान में कहीं-कहीं 'अस्पष्टता' बाधक भी होती है। फिर भी हमारे कवि का चित्र सुन्दर बन पड़ा है।

श्री मद्भागवत में इस अवस्था का चित्रण यों हुआ है :—

"ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावनम् महीम्
वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत"

"समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ कर बढ़ गया। प्रलय के भयंकर मेघ वर्षा करने लगे। देखते-देखते सारी पृथ्वी डूब गई।"

प्रलय का रूपक कुमार-संभव १७–४० व ४२ में :—

"घोरान्धकार-निकर-प्रतिमो युगान्त-कालानल-प्रबल-धूमनिभो नभोन्ते
गर्जारवैर्विघटयन्नवनीधराणां श्रृंगाणि मेघनिवहो घनमुज्जगाम
विद्युल्लता वियति वारिदवृन्द मध्ये गम्भीरभीषण रवैः कपिशीकृताशा
घोरा युगान्त चलितस्य भयंकराथ कालस्य लोलरसनेव चमच्चकार"

[दिव्य गति का मूलाधार "सात्विक मनोवृत्ति" है। "देवत्वं सात्विका यान्ति" (मनु १२–४०) और "दंभ" तमोगुण संपन्न है (मनु १२–४४)। विषयों का चिंतन ही अनर्थ का कारण है (गीता २–६२।६३) आदि भावों का जानना आवश्यक है]।

"दंभ": व्यापक शब्द है जिसके भावबोध के अन्तर्गत धार्मिक पाखण्ड, अभिमान, अहमन्यता, कूट, छल सभी आते हैं। "तृष्णाहि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरीस्मृता" (महाभारत वन पर्व २।३४)। मुंडकोपनिषद में मिलता है कि अविद्या के भीतर स्थित होकर अपने आप बुद्धिमान मानने वाले मूर्ख लोग बराबर आघात सहन करते हुये भटकते रहते हैं, जैसे अंधे के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे। वे मूर्ख लोग उपासना-रहित सकाम कर्मों में बहुत प्रकार से बर्तते हुये, हम कृतार्थ हो गये, ऐसा अभिमान कर लेते हैं, क्योंकि वे सकाम कर्म करने वाले लोग विषय की आसक्ति के कारण कल्याण मार्ग को नहीं जान सकते। "संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना" 'दंभ' में अभिमान भी होता है।

'मेध' पशुवलि की ओर संकेत करता है
"हविष्य" हवनीय द्रव्य का दूसरा नाम है।

मणिदीपों को बुझना न था, शाश्वत ज्योति की सृष्टि करनी थी, किन्तु उन्होंने भविष्य को अंधकार में छोड़ा "दर्शन अदर्शन और अदर्शन से दर्शन", आविर्भाव-तिरोभाव की लीला ही प्रत्यावर्तन-पथ का निर्माण करती है।

डाक्टर फतेह सिंह ने कामायनी सौन्दर्य के पृष्ठ ७५ पर लिखा है, "देव सभ्यता में दम्भ प्रविष्ट होने का कोई प्रत्यक्ष कारण कामायनी में दिया नहीं है!" यह निष्कर्ष भ्रान्तिपूर्ण है। "वासना की उपासना" ही इसके मूल में है।

वासना की उपासना, देवदंभ, मणिदीपों के प्रकाश, बिजली की दिवा-रात्रि, विषय की आँधियों ने उमड़-घुमड़ कर कुछ का कुछ कर दिया। वर्तमान की काम लिप्सा ने भविष्य को अंधकारमय बना दिया। काम्य यज्ञ ने सर्वस्व स्वाहा कर दिया! मेघ घिरे बिजलियाँ कौंधीं, वर्षा हुई, अंधकार छा गया! सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

२२—'प्रत्यावर्तन' आवर्तन (नर्तन) का उल्लेख ऊपर हो चुका, इन पंक्तियों में ध्वनि प्रतिध्वनि है।

"देवता लोग वस्त्रसज्जा से चमचम चमकते थे। वे शक्तिशाली थे, असुरों पर विजय प्राप्त कर वे बड़े-बड़े उत्सव मनाते थे। कोलाहलपूर्ण 'जय' के उच्चार करते थे। आज उन्हीं की ध्वनि प्रतिध्वनि बनकर दीन विषाद की भाँति काँप रही हैं। विषाद के कारण दीनता आ ही जाती है। दीनता कँपा ही देती है त्रसित करके।"

[**"चमकीले पुतलों"** : देवता लोग स्वर्ण आभूषण पहने नक्षत्रों की भाँति चमकते थे, ऋग्वेद २–३४–२]। "(द्यावा पृथ्वी उनका लोहा मानते थे; पर्वत कँपते थे ऋ-१२, १३)"। 'जयनाद' युद्धों का संकेत करते हैं। कामायनी सौन्दर्य पृष्ठ ५७ द्रष्टव्य)।

२३—देवगण अतुल शक्ति और सामर्थ्य वाले थे। "आकाश उनके जन्म से कँपने लगता था" (ऋग० ४, १७, २ द्यावा पृथ्वी उनका लोहा मानते थे। उनको विश्वास हो गया था कि उन्होंने प्रकृति की शक्तियां पर विजय पा ली है। हवा उनको पंखा झलती है, विद्युत उन के दीप जलाता है, मेघ उनकी इच्छानुसार जल बरसाता है आदि। और इस बोध में मदान्ध हो उठे। अभिमान ने उनको विमूढ़ बना दिया और फिर उनके मन में किसी अन्य-शक्ति का भान न रह गया। नास्तिकता ने उनके मन में घर किया, वे कामोपभोग में लग गये जिससे उनका सर्वनाश हो गया। आज मनु वही बात दुहराता था :—

"हमने विश्वास किया था कि हमने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है। किंतु यह हमारी भूल थी। क्रुद्ध प्रकृति ने हमारा सर्वनाश किया। इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करना असंभव है। हमने मूल रहस्य न जाना, अपने भोलेपन में अपनी कल्पना के विलास में (जो हमारे विलासी जीवन का ही अंग था) **हम बहते रहे।**

२४—'महार्णव' में लहरों के आलोड़न-प्रतिलोड़न से जो अवस्था उत्पन्न होती है उसका और दुःख के चीत्कार का चित्र साम्य "नाद अपार" से स्थापित किया गया है।

'वासना की उपासना' का परिणाम दुःख, मृत्यु तथा सर्वनाश है। टामस ग्रे की "Ode on a distant prospect of Eton College" में इसका विश्लेषणात्मक परिचय मिलेगा। तुलनात्मक अध्ययन के लिये यह कविता पठनीय।

२५—इस प्रकार स्वगत के दो चरण समाप्त हुये। अब तीसरा चरण प्रारंभ होता है—

[सुन्दर कविता का प्रारंभ सुखानुभूति की **कल्पना** से होता है। ऐन्द्रिय सुख की अनुभूति उसे बल देती है। आध्यात्मिक चिंतन उसे गांभीर्य प्रदान करता है तथा तथ्य-दर्शन उसे स्थायी बनाता है। कविता का आनन्द 'क्या है' में नहीं वरन् 'क्या होता', 'क्या चाहिये' में है। भावनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ से काव्य के दो भेद हैं। भावनिष्ठ को ही

'व्यक्तिवादी' कहने की प्रणाली चल निकली है। (छाया-कलुषित भाषा ने Subjective को 'व्यक्तिवादी' कह डाला)। कविता मानवमात्र की सहज प्रवृत्ति है। इसमें जितनी ही अधिक मात्रा में साधारणीकरण के तत्व होते हैं उतनी ही व्यापकता से वह लोक-रंजन में समर्थ होती है। भावनिष्ठ कविता प्राणों को छूती है। भावनिष्ठ कवि भाव का मूल स्रोत बनकर भाव सरिता की अविरल प्रवाहिनी को जन्म देता है, जिसमें अवगाहन करके प्राणी सुख-शान्ति का अनुभव करता है। काव्य के आनन्दवादी दृष्टिकोण की यही चरम परिणिति है। प्रसाद के काव्यों में यही दृष्टिकोण चरण-चरण चरण-चरण में मिलता है। स्वगत का तीसरा चरण "आँसू" के अभिनिवेश से सिक्त है! आँसू की व्याख्यात्मक आलोचना में आई बातों को न दुहरा कर "छलना थी फिर भी मेरा उसमें विश्वास घना था", "कल्पना रही सपना था" की व्याख्या की ओर संकेत करना ही पर्याप्त होगा]।

"विलासिता के नद में तिरने" की भावभूमि पर खड़ा होकर कवि 'विलास' का चित्र मनु द्वारा आँखों देखी बात के वर्णन स्वरूप उपस्थित करता है। विलासिता के नद में डूबते-उतराते सभी किस प्रकार प्रलय जलधि में जा मिले, इसका ही चित्र आगे आने वाली पंक्तियों में है।

संयोग समय में नेत्र-व्यापार कटाक्षादि की विलक्षणता का नाम विलास है। विलास स्त्री के अठारह तथा पुरुष के आठ गुणों में एक प्रधान गुण है। विलास इसी से अतिसुख की ओर संकेत करता है। विलास के आवेश में प्राणी पागल हो ही जाता है। 'उन्मत्त-विलास' उसी अवस्था का चित्र उपस्थित करता है। "सुख-विभावरी" में 'थक जाती थी सुख रजनी' की थिरकन है। "कलना" : (पकड़ना; कार्य, कृति, एकत्रित करना) के अतिरिक्त "कलना" शैवागम की कला के कार्य की ओर भी संकेत करती है। "नित्या माया कला तत्व को जन्म देती है। कला मनुष्यों के मल की कलना करके उनमें कर्तृत्व शक्ति प्रकट करती है। महाकला ही 'काल' और 'नियति' के सहयोग से पृथ्वी पर्यन्त अपना सारा व्यापार करती है" [सभी बातें संक्षिप्त पद्मपुराण पृष्ठ ३४३ पर देखें]। "वही कला विषयों का अनुभव कराने के लिये प्रकाशस्वरूप 'विद्या' नाम का तत्व उत्पन्न करती है। विद्या अपने कर्म से ज्ञान-शक्ति के आवरण का भेदन करके जीवात्मा को विषयों का दर्शन कराती है, इसीलिये वह कारण मानी गई है। क्योंकि वह विद्या भोग्य उत्पन्न करती है जिससे पुरुष शुद्ध शक्ति होकर परम कारण के द्वारा महत्-तत्त्व आदि को प्रेरित करके भोग्य, भोग और भोक्ता की उद्भावना उत्पन्न करती है। भोक्ता पुरुष को भोग्य वस्तु की प्रतीति कराने से विद्या को 'करण' कहा गया है। बुद्धि के द्वारा जो चेतन जीव को विषय का अनुभव होता है उसी को भोग कहते हैं। कला वज्र लेप के सदृश 'राग' को उत्पन्न करती है। जिसे वज्र लेप-रागयुक्त पुरुष में भोग्य वस्तु के लिये क्रिया प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसीलिये इसका

नाम 'राग' है। इन सब 'तत्वों' से जब वह आत्मा भोक्तृत्व दशा में पहुँच जाता है तब वह "पुरुष" नाम धारण करता है"।

मन को पागल बना देने वाली वे सुख सामग्रियाँ तथा उनसे प्राप्त बेसुध भोग सुख कहाँ तिरोहित हो गया? लगता है जैसे मैंने स्वप्न देखा था, वह विलास का सारा दृश्य अर्धचेतन का भ्रांति दर्शन था। अथवा किसी मायावी ने महामोह का इन्द्रजाल छलने के लिये रचा था। देवताओं की सुख वासनापूर्ण रातें क्या तारिकाओं द्वारा निर्मित माया प्रपञ्च ही थीं। वे सारे सुख भोग करने वाले चमचम दिव्य देहधारी तारों की भाँति सुख के आकाश में एकत्रित हुये और फिर तिरोहित हो गये।

२६-२७—हिन्दी के कुछ विद्वान इन पंक्तियों तथा इनके पीछे आनेवाली पंक्तियों में 'वासना की सृष्टि' के अंकुर देखकर उसे **अभारतीय** बताते हैं। इसमें किसे संदेह कि चित्रण अभारतीय भावों का ही है किंतु इससे भारतीय दृष्टिकोण की स्थापना होती है। मनो-ग्रंथियों का रेचन, विकारों की परिशुद्धि ऐसी ही भावपूर्ण पंक्तियों से होता है।

शृंगार के मनोरम चित्र खींचने में 'प्रसाद' में कालिदास की आत्मा बोलती दिखाई पड़ती है। "ऋतु संहार" का अध्ययन इस तथ्य का पोषण करेगा।

"देव-जाति अतिविलासी थी! उसे विश्वास हो गया था कि ऐहिक-सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य है, परम साध्य है। "कामोपभोग परमाः" में वे रत हो गये। देहात्म-वाद उनके आचार में प्रविष्ट हो गया। उचित अनुचित के विवेक से उनकी सुख-साधना विनिर्मुक्त हो गई।" सभी मर्यादाओं को छोड़ कर खाना, पीना, मौज उड़ाना तथा उनकी अतिरंजिता में कोलाहल की सृष्टि करना, यही बताता था कि जीवन के प्रति उनकी आस्थायें "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत" की हैं। कामपरायण वे सर्वदा कामिनी, कादंब की सेवा में रत हुये, सुख के अतिरिक्त उनको किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता न रह गई। श्रेय की उपेक्षा करके उन्होंने प्रेय को इतनी प्रचुर मात्रा में एकत्र किया कि उनका घना-सुख छाया-पथ में एकत्र तुषार की भाँति सघन हो गया। जैसे तुषार के सघन होने पर दूसरी ओर दृष्टि जाने में बाधा उत्पन्न होती है, प्रकाश का अवरोध होता है, उसी प्रकार वे प्रेय के दूसरी ओर 'श्रेय' के देखने में असमर्थ हो गये, ज्ञान की विभाओं का रास्ता रुक गया। फिर जैसे तुषार वर्षा में परिवर्तित हो प्रलय का कारण बनता है, उसी भाँति देवताओं की समृद्धि भी विनाश का उपादान बनी।

छायापथः—वातावरण का दूसरा नाम है; इसी से होकर प्रकाश की छाया पृथ्वी तक आती है!

छाया पथ पर तुषार तथा माया पथ पर सुख का चित्र साम्य!

सुरों के नाश का कारण उनकी संस्कृति का असुर-प्रवृत्तियों से दूषित होना ही था!

२८, २६—स्वायत्त (करतलगत, अपने अधीन);

कीर्ति—(कांति का दूसरा नाम); स्मर विलास से बढ़ी हुई शोभा।

दीप्ति—बहु विस्तृत कांति ही दीप्ति है।

शोभा—रूप यौवन आदि से संपन्न शरीर की सुन्दरता।

(कांति, दीप्ति, शोभा: अनुभाव के अंग हैं। इन्हें अयत्नज सात्विक अलंकार भी कहते हैं।) हमारे कवि ने विलासिता के सूचक इन शब्दों का प्रकरण में दूसरे अर्थ में प्रयोग किया है। बल से कीर्ति, वैभव से दीप्ति, आनन्द से शोभा की संगति बिठाई है, किन्तु इन शब्दो के पीछे छिपी रीतिकालीन शास्त्रीय व्यञ्जना भी मुखर हो उठी है।

उद्वेलित लहरें—जैसे एक लहर की समाप्ति के पहले दूसरी लहर उठती है उसी प्रकार सुख संचार की लड़ी अटूट अविरल चलती रही।

अरुण किरण:—सूर्य की प्रथम किरण आसुरी सम्पत्तिमूलक भौतिक उन्नति की विधायक है (कल्याण २४।५१)

सप्तसिन्धु—"[एते द्वीपः समुद्रैस्तु सप्त सप्तभिरावृताः

लवणेक्षु सुरा सर्पि दीर्घ दुग्ध जलैः समयम्] (समस्त पृथ्वी को लवण, इक्षु रस, मदिरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल (मीठा) के सात समुद्र घेरे हुये हैं। (सप्तसिंधु से रावी, सतलज, झेलम, व्यास, सिंधु, गंगा, यमुना से घिरे देश का बोध होता है। यहाँ यही सीमित प्रदेश है)

३०-३१—जैसे अरुण किरण द्रुमदल में आनन्द विभोर नचती है उसी प्रकार देव-भूमि में कीर्ति, दीप्ति, शोभा नचती थीं।

१ चित्र साम्य के लिये ऋग्वेद २-१२-१३ द्रष्टव्य।

हमारे विनाश का कारण हमारी नास्तिकता ही है। हमने अहंकार में अपने को स्वयं देवता मान लिया, सर्व शक्तिमान लिया।

("ब्रह्म ह देवभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्राह्मणो विजये देवा अमहीन्त त ऐक्षान्तास्मक-मेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेती" आदि (केनोपनिषद) मननीय)।

नास्तिकता पाप की कारण है और पाप ही सर्वनाश का मूल है। इसी आकाश से प्रलय जल की वर्षा हुई, जो महान आपत्ति का कारण बनी।

३२—अप्सराओं का मधुर शृंगार, उसी के समान उनका यौवन और चाँदनी सी उनकी हँसी, भौंरो के समान निश्चित लेकर कमल कोश रूपी प्रिय अंकों में आबद्ध हो जाने का उनका मृदु विलास सभी समाप्त हो गया।

मधुर तम: सब दशाओं में रमणीय रहना माधुर्य कहलाता है (रस कलस २३४) उषा, ज्योत्स्ना देवियों के नाम भी हैं।

मधुप बलात् प्रेमी होता है। स्वार्थमयी केलि की ओर संकेत है। मध्यमरति।

शृंगार:—आलंवन विभाव का परिचायक ।

"मधुकर मधु पीने जाता

तन्मयता—से पर फैलाये, सरस सुमन पर आँख जमाये

भुनुन भुनन कीं मादक ध्वनि में मधु के गुण गण गाता"

३३—"वासना की नयी अत्त होकर बहातीं थीं। उसका अवसान प्रलय में हुआ। जिसे देख कर हृदय कहर उठा ।

देह दशा की विस्मृति हीं 'प्रलय' है (रस कलस २०८) । वासना की सेवा में हम इतने तल्लीन होते थे कि हमें तन-मन की सुधि न रहती थी । "ललना लालन ह्वै गई, ह्वै लालन में लीन" । वही दृश्य हमारे विलासी जीवन का हुआ आदि संगति बिठा लें । "मद" मोह के साथ आनन्द का मिश्रण 'मद' की अवस्था है । मदिरा पान, अभिमान साधन (रस कलस) ।

३४—वसंत चिर किशोर है, नित्य विलासी है, आकाश मंडल को सुगन्धि से परिपूर्ण कर देने वाला है, मधु से आपूर्ण है । आज वह वसंत भी नहीं रहा । वसंत=उद्दीपन विभाव का अंग !

३५—कुसुमित कुंजों में प्रेमिको के जोड़ आलिंगन पाश में बँध जाया करते थे, संगीत लहरी प्रवाहित होती थी, वीणा बजती थी । अब सभी विलीन हो गए हैं । मूर्छित तानें— 'कहाँ मूर्छना मिली तान से" (समुद्र मंथन) । मूर्छना उत्पन्न करने वाली तानें । (नारद पुराण संक्षिप्त १६०) द्रष्टव्य ।

पुलकित—पुलक उत्पन्न करने वाले । रोमाञ्च सात्विक अनुभाव ।

कुसुमित कुञ्ज—उद्दीपन विभाव का अंग ।

प्रेमालिंगन—केलि का अंग है । चित्र साम्य देखिए—

"सजि सजि सुमन-समूह सों बनि बसंत की बेलि
पुलकि पुलकि ललना करति निज लालन ते केलि"

—(रस कलस २४०) ।

३६—प्रिया के कपोलों के निकट प्रेमी अपना मुँह ले जाता था । उसके मुँह से निकलती भाप प्रिया के कपोलों पर जम जाया करती थी । तदनंतर वह उसे आलिंगन-पाश में कस लेता था जिससे प्रिया के वसन भुजमूलों तक सिकुड़ जाते थे ।

सुरभित – सुगंधित द्रव्य पान किये हुये मुख से निकली श्वास की परिचायक ।

व्यस्त—बिखरा हुआ । विवृत जघना का चित्र है (मेघदूत पूर्व-४५)

"हृत्वा नीलं सलिल वसनं" आदि; कीट्स restling garments came sweeping down to her knees." कुमार संभव में भी कालिदास ने ऐसे चित्र उपस्थित किये हैं । "सुरभि निमज्जित श्वासवायु की मन्द मन्द गंध सुहानी" (समुद्र मंथन)

३७—रति वेला में कंकण और नूपुर हिलकर बज उठते थे, छाती पर हार भी

चंचल हो उठते थे। प्रेमी युगल धीरे धीरे बातें करते थे जिनमें संगीत का सा आनन्द आता था। कंकण नूपुर की ध्वनि को तुलसी ने "मदन दुदुंभी" की उपमा दी है—

'कंकण क्वणित रणित नूपुर' में ध्वन्यात्मकता !

अभिसार—अभिसारिका की ओर संकेत करता है।

स्वरलय का अभिसार=स्वरलय का मेल।

३८—क्षितिज सुगन्धि से एवं आकाश चंचल आलोक से आपूर्ण थी। सबकी गति हवा से भी तीव्र थी।

सौरभ, आलोक उद्दीपन विभाव के परिचायक।

अचेतनगति—मोह! बेसुधी का तीव्र वेग; भ्रमजनित चित्त की असाधारण अचेतनता !

३९—उनकी अंग-भंगियों से साफ लगता था कि अप्सरियाँ अंग पीड़ा से आकुल हैं। वे निरंतर बार-बार मधूत्सव में लीन रहती थीं, जैसे मधुकर।

अनंग पीड़ा—"रंग ढंग दीखे बूझि परत कुरंग-नैनी आज तेरे अंगन अनंग की चढ़ाई है।" हरिऔध।

"सबके हृदय मदन अभिलाषा" (तुलसी)

मरंद-उत्सव—"मधु-द्विरेकः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः"

हाव, भाव, हेला सभी वर्तमान हैं। प्रौढ़ा का चित्र है।

जो भाव रस के उपयोगी होकर जल की तरंग की भाँति उसमें संचरण करते हैं उनको संचारी भाव कहते हैं। स्थायी तथा संचारी भाव वासना रूप सदैव मानव मात्र के हृदय में उसी भाँति विद्यमान रहते हैं जैसे पृथ्वी में गंध।

मदिरभावः मधुर भाव ही है जो मादकता भरने में समर्थ है।

आवर्तन—घूमने तथा जलावर्त दोनों का बोध कराता है। भँवर नाव को ले डूबती है।

४०—उनके मुखमण्डल सुरा-सेवन से अरुण हो रहे थे। मुख से सुरा की सुरभि निकलती थी। नेत्रों में अनुराग और आलस समाये हुए थे। उनके सुन्दर कपोलों पर कल्पवृक्ष के फूलों का पीत पराग पुता रहता था।

आलस—"नैन मदमाते बैन अलसाते कढ़े"— लक्षिता नायिका का चित्र साम्य (रस कलस १३३)। 'आलस्य' संचारी भाव भी है (रस कलस ३७)। रात भर जगने का परिचय देता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में उद्दीपन तथा आलंबन विभावों की झाँकी सजी है।

४१—विकल वासना के प्रतिनिधि देवगण पहले अपनी वासना की ज्वाला में जले, फिर प्रलय के जल में गल गए। स्मर-ज्वाला से संसार संतापित है। "धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि" की गति न जानकर काम-साधना विनाश की ओर ले जाती है। "विकल-वासना" धर्म के विरुद्ध वासना की ओर संकेत करती है।

प्रलय के पहले अग्नि, फिर वर्षा, फिर एकार्णव की बात पुराणों में आई है। यहाँ "जल वृष्टि" के पहले स्मरज्वाल में जलने की बात है!

इस प्रकार स्वगत का तीसरा चरण समाप्त हुआ। उपर्युक्त पंक्तियों में रीतिकालीन बिहारी की आत्मा को सुख देने वाली झाँकी है। यथासंभव शास्त्रीय अंगों की ओर संकेत कर दिया गया है। अलंकारों की ओर व्याख्या में कुछ भी नहीं कहा जावेगा।

'कामायनी' का आकार बहुत बड़ा नहीं किंतु संहृत के बल पर शब्दाधिकार के सहारे क्या कुछ नहीं कहा गया है।

४२-४३ **पुलक**—किसी कारण रोमों का खड़ा हो जाना ही "रोमांच" अनुभाव है। यहाँ स्पर्श, आलिंगन ही 'पुलक' का कारण है। "नेक ही नैन लरे सिगरे-तन-रोम खरे ह्वै गये रमनी के" (रस-कलस २२७)।

कतारता—में कंप, स्वरभंग, तथा वैवर्ण्य—तीन अनुभावों का मेल है। चुंबन के समय मुख की कान्ति में अन्तर आ जाता है, स्वर में कातरता आ जाती है, अंग काँप उठते हैं। "कातर" का अर्थ-बोध व्यापक है।

द्विधा-रहित अपलक नयन—एक टक देखने का चित्र है। जैसे कोई दूसरी वस्तु और नहीं। प्रेम की अनन्यता का बोध निहित है। "**स्तंभ अनुभाव**" है।

भूखमरी···प्यास—न तृप्त होने वाली तृष्णा का बोध कराती हैं।

अतृप्ति—"काम एव क्रोध" गीता ३-३७ रजोगुण उत्पन्न यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला है अर्थात् भागों से तृप्त होने वाली नहीं है।

> इक्षु धनुष औ मंजरियों के बाण लिए कुसुमायुध
> शुक पर चढ़ा तीर सा आता साक्षात् दिखलाता
> ललित लालसा लीन हृदय को चिर अतृप्त बनाता!

उपेक्षा—सत्कर्मों, प्राकृतिक नियमों, आप्त वचनों, आस्तिकता आदि की, जब मनुष्य विषयों में लीन होता है तब वह ऐसी उपेक्षा करता है। लगता है जैसे 'अमर' है उसे मरना नहीं। देव अपने को अमर मान बैठे ही थे।

४४—इस सभी पंक्तियों में प्रलय के पहले की "शृंगार की झाँकी" तथा उसके पश्चात् के प्रलय-विभीषिका-जन्य करुण" का मेल है। दोनों रस परस्पर विरोधी हैं (रसगंगाधर)। किंतु एक का चित्रण 'स्मरण' द्वारा हुआ है जिससे विरोध का परिहार हो हो गया है (**स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि** साम्ये नाथ विवक्षितः)। मनु के प्रलय-जन्य श्मशान ज्ञान से उत्पन्न "निर्वेद संचारी" का चित्रण है। ज्ञान-जन्य निर्वेद "निर्वेद सर्ग" में मिलेगा।

"प्रसादौ रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिता। सर्व रत्न समाकीर्ण विमान गृह शोभिताम्" (वाल्मीकीय बाल० ५, १५, १६)।

(इस प्रसंग में 'मेघदूत' में 'अलका'पुरी का वर्णन पठनीय है)

तिमिंगल—बड़ी मछली जो छोटी मछलियों को खा जाती है !

४५—हो रही की क्रिया असंगत ! प्रलयकारिणी वृष्टि तो क्या 'प्रलय' की अवस्था भी समाप्त है अब !

कामिनी: में कामपरायण भाव की अधिकता होती है। "वामा भामा कामिनी" (विहारी)।

नील नलिनों की सृष्टि: कवि-प्रसिद्धि "तहँ तहँ बरस कामल सित श्रेनी" में भी यही 'प्रसिद्धि' है। किंतु 'सित' सत्व की प्रधानता बताता है ! और 'नील' तम की !

नील-नलिनों: (हिन्दी साहित्य भूमिका) में नीलोत्पल का वर्णन द्रष्टव्य !

४६—"Enchained in golden Tresses" की छाया ! "बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से (आँसू" ।

"मणि मालाओं" का उल्लेख कौटिल्य अर्थ शास्त्र में द्रष्टव्य !

"इन्द्रवज्र माणवक आदि से सज्जित रजनी बाला"—(समुद्र मंथन) ! रत्न-विज्ञान का सुन्दर परिचय प्राप्त करने के लिये 'रामायण' में अवधपुरी का वर्णन पढ़ें !

कुसुमसुरभित ! में उक्ति वैचित्र्य की झाँकी है।

४७-४८—"देवो भूत्वा देवं यजेत" के अनुसार यज्ञ करने के लिये मानव को देवत्व में परिणत होना पडता है। "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" आदि (गीता ३-१०) यज्ञ की महत्ता समझने के लिए मननीय।

'वलि' ("वलिकर्म स्वधा होम स्वाध्यायापि सत्क्रियाः") आदि का उल्लेख गृहस्थ-धर्म प्रकरण में प्रत्येक 'स्मृति-ग्रंथ' में मिलता है। "बलि-वैश्वानर" यज्ञ का अंग है। यज्ञों में 'हविष्य' के स्थान पर "मांस" का प्रयोग आसुर वृत्तियों के प्रभाव से आया। "मांस भक्षण" की प्रथा ने इसे बल दिया। "पशु-याग" और **"सोम याग"** इसी प्रवृत्ति की सृष्टि हैं। वैदिक काल में आसुरी प्रभाव से किस प्रकार यज्ञों में मांस और सुरा का प्रयोग होने लगा, यह आज स्वयं गवेषणा का विषय है। कामायनी-सौन्दर्य पृष्ठ ६२—६८ पर डाक्टर फतेह सिंह ने उनसे सम्बन्धित वैदिक मंत्रों तथा ब्राह्मण वचनों की ओर सङ्केत किया है। जैसा ऊपर लिखा गया है यज्ञ करने के लिये देवता होना आवश्यक है। स्मृतियों, वेदों में "अहिंसा" दैवी सम्पत्ति मानी गयी है। गीता १६—१ से ३ में दैवी सम्पदाओं का परिगणन करते हुये 'अहिंसा, भूतप्राणिमात्र पर दया' का भी उल्लेख है। कामायनी को समझने के लिये 'गीता' में वर्णित आसुरी सम्पदाओं को भी याद होना चाहिये। कामायनी इन्हीं दो सम्पदाओं के द्वन्द से बनी है। "दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता" (गीता १६—५)।

पूर्णाहुति—यज्ञ के सम्पूर्ण होने पर 'उच्छिष्ट' की अन्तिम आहुति। "ॐ पूर्ण-मदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" के मंत्र से दी जाने वाली आहुति।

उनको देख कौन रोया ?—'रुद्र' नाम रोने ही का परिचायक है ! "धूरसि धूर्व धूवन्तं धूर्वतं" यजु० १–८ पर मनन करने वाले जानते हैं कि भगवान कष्ट देने वालों की ताड़ना करता है ।

"रुरादे सुस्वरं सोऽथ प्राद्रवद् द्विजसत्तम
किं त्वं रोदिषि तं ब्रह्मा रुदन्तं प्रत्युवाचह
(विष्णु० १–८–३) ।

यह रुद्र रुलाने वाला भी है "एष ते रुद्रभागः" (यजु० ३–५७) !

भगवान जब देवताओं की परपीड़क आसुरी प्रवृत्ति से दुःखी हुआ तो वह रो उठा, उसकी 'अश्रुराशि' में प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया। हमारे कवि की यह स्थापना परमात्मा को "कह्लार" न कह कर उसे 'करुणाकर' ही रूप में विचित्र किया है। उक्ति-वैचित्र्य का भी सुन्दरतम उदाहरण प्रस्तुत है।

४९–५०—(कुमारसम्भव के सतरहवें 'सर्ग' में प्रलय का रूपक इस सम्बन्ध में पठनीय) । प्रलय की उपक्रमणिका है ।

५१—"ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः' तैत्तरीयोपनिषद का प्रथम अनुवादक मननीय।" मित्र और वरुण वैदिक देवता हैं। "दैवत संहिता" (स्वाध्यायमंडल औंध) में मित्र वरुण का परिचय सुन्दर ढंग से दिया है !

मित्र = दिन और प्राण का अधिष्ठाता

वरुण= रात्रि और अपान के अधिष्ठाता (चन्द्रमा)

यहाँ जल के देवता। सर्वप्रथम सुरासुरों को जीत कर राजसूय यज्ञ वरुण ने ही किया। पश्चिम दिशा के लोकपाल। जलों के अधिपति, जल के निवासी।—"रवि-मंडल श्री हीन हो गया"—(समुद्र मथंन)

घन से 'मित्र' तथा आँधी से वरुण (समुद्र) म्लान तथा संक्षुब्ध हो गये । पीन = मोटी, अत्यन्त घनी ! (अति पीन भई मति मेरी उसे असिधार सी तीखी बनाती चली) ।

५२—रुद्र के रोने की बात ऊपर आई है। रुद्र के प्रकोप से ही 'भैरव' की उत्पत्ति की बात पुराणों में आई है। हमारा कवि बौद्धिक व्याख्या कथातत्व की करता आ रहा है। भैरव ने 'यज्ञ' विध्वंस किया था प्रजापति का। यहाँ कुत्सित यज्ञों का अनिष्टकारी फल दे रहा है।

भैरव = भयंकर, भयानक जिससे सृष्टि की नाश-गति जलती है। जीवन पञ्चभूतों का मधुर मिश्रण है। एक दिन पंचभूत भूत बन जावेंगे, यही पञ्चभूतों का भैरव सम्मिश्रण है। शकल = खंड

उल्का लेकरः उक्ति वैचित्र्य ! उस महान अंधकार में 'उल्काओं का गिरना ऐसे

चित्र उपस्थित करता था मानों अमर शक्तियाँ वर्तिका लेकर अपने प्रात को, जो तम में खो गया था, ढूँढ रही हों !

विलास के प्रत्येक चित्र की प्रतिक्रिया प्रलय के चित्र में व्यापकता से विद्यमान है।

५३—(पृथ्वी और आकाश के आलिंगन की बात में वैदिक 'यम-यमी' प्रकरण की झाँकी है। अथर्वेद देखिये। समुद्रमंथन (किंतु भूमि ने किया न स्वीकृत उसका प्रेमालिंगन !) । 'आलिंगन' में 'लय' का वर्णन ऊपर आ चुका है उसी की प्रतिछाया आकाश-पृथ्वी के आलिंगन में है।

५४—यजुर्वेद ३६-१३ में 'काल' (मृत्यु) यम का पर्याय है। दक्षिणा मे प्रतिष्ठित यज्ञ और यज्ञ में प्रतिष्ठित यम की बात (बृ. हद: ३-६-११) । पाश उसका आयुध है। 'जालों' का सङ्केत इसी पाश की ओर है।

कुटिल - भ्रू की वक्रता तथा प्राण हरने के निर्मम कृत्य की ओर सङ्केत ! चित्र सामान्य है।

५५—सामान्य चित्र है। प्रेम प्रक्रिया में अङ्ग प्रत्यङ्ग के शिथिल होने की प्रतिक्रिया रूप 'अवयव' के ह्रास की बात आई है।

५६—महाकच्छप = कच्छपावतार समुद्रमंथन के समय भी हुआ तथा प्रकारान्तर से 'मेदिनी' के स्थिर करने के लिये भी हुआ। यहाँ दूसरी कथा की ओर ही सङ्केत है।

> क्षितिरतिविपुलतरे नव तिष्ठति पृष्ठे
> धरणि-धरण - किण - चक्र गरिष्ठे
> केशव धृत-कच्छपरूप जय जगदीश हरे।

ऊभ-चूभ = ऊँची, नीची !

५७—जिस प्रकार विलास वासना तीव्रता से बढ़ती है उसी प्रकार जल-राशि का समुच्चय बढ़ने लगा। बहती हुई अन्धकार प्रवाहिका से प्रलयपवन टकरा कर पीछे जाता हुआ ऐसा लगता था जैसे आलिङ्गन के लिये बढ़ी भुजायें तिरस्कृत हो पीछे लौट रही हों।

(संघात, प्रतिघात दोनों का ही अर्थ मार डालना, वध करना भी होता है ! शब्दों से नाश का अर्थ भी ध्वनित है !) ।

५८—"ततः समुद्रउद्वेलः सर्वतः प्लावयन् महीम्" का चित्र है (भागवत ८-२४-४१) ।

वेला—लहर और तट दोनों को कहते हैं। लहरों के आगे बढ़ने से तट भी पीछे हटता दिखाई देता है। ज्यों-ज्यों लहरें अपनी निकटता में आती हैं त्यों त्यों तट भी।

वेला—सहज मृत्यु का भी दूसरा नाम है, प्रकरण से यह भी अर्थ ध्वनित है।

समुद्र—मर्यादा की उपमा 'समुद्र' से दी जाती है जल-राशि का कितना भी समु-

क्षय क्यों न हो वह अपनी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता। [मर्यादा का उल्लंघन प्रलय का कारण !] ।

५६ "पुरुषार्थ हेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगाद नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्" (सांख्य कारिका ४२) बताया गया है कि पुरुष के प्रयोजन के कारण यह सूक्ष्म शरीर निमित्त और नैमित्तिक में आसक्ति से प्रकृति के सामर्थ्य के सम्बन्ध से **नट की तरह** ठीक-ठीक व्यवहार करता है।" "रंगस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्तकी यथा नृत्यात्" (साख्य कारिका ५६) में प्रकृति को नर्तकी रूप बतलाया गया है। इसी 'नट' तथा 'नर्तकी' की दार्शनिक पृष्ठि भूमि पर "शिव तांडव" तथा पार्वती के "लास्य" की कल्पना आश्रित है। वैज्ञानिक भाषा में अणुओं का एक-दूसरे के प्रति '६३' की मुद्रा में आकर्षित होकर नाचना 'लास्य है और ३६ की मुद्रा में विकर्षण प्रेरित नाचना "तांडव" है। कामायनी के दर्शन सर्ग में नटराज के नृत्य में "संहार सृजन के युगलपाद" की बात आई है। यहाँ "संहार" का ही वर्णन है। (कामायनी सौन्दर्य पृष्ठ ३३३-३४५ पठनीय) विशेष वर्णन दर्शन सर्ग की व्याख्या में मिलेगा।

६०-६१—**नियति**—की व्याख्या अन्यत्र की गई है। शैवागम का शब्द विशेष। नियमन करने वाली शक्ति—भाग्य।

["कुटिल काल के जालों" का उल्लेख ऊपर आया है। 'महाकाल' शिव का दूसरा नाम है। काल की कृति महान है। काल ही सब का नियंत्रण करते हैं, यही-नियंत्रण शक्ति नियति है। 'काल' का प्रभुत्व एवं माहात्म्य समझने के लिए श्रीमद्भागवत ६।१२ पठनीय]।

"And the dim lom line before : of a dark anddistant shore" का चित्र शैली की कविता में देखें (G. T. 210)

६२ प्रलय विभीषिका का चित्रमय परिचय !

बूँदों की संसृति = प्रलय।

६३—बिजली के चमकने से लहरों में प्रतिबिंब पड़ता था जिससे एक बिजली की द्युति असंख्य बन जाती थी। लगता था चमत्कार से "विराट वाड़व ज्वाला" विकीर्ण होकर खंड-खंड हो गई है जिससे वह रो रही है, लहरें उनके आँसू की धार के सदृश हैं।

वाड़व—वडवानल समुद्र मंथन के समय निकला। समुद्र तल की भीषण अग्नि जो समुद्र को मर्यादित रखती है।

६४—विलोड़ितः क्षुब्ध, मथित !

६५—[क्रुद्धः—खीजती, दुखित होने का भाव]।

६६—[झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर, बनते तारा, हिमकर, दिनकर—(दर्शन सर्ग)] ज्योतिरिंगण=जुगनू ; विराट्=भारी, महान; आलीड़न=मंथन, संक्षोभ।

"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो" तथा अध्याय ११ श्रीमद्भगवद्गीता के तत्संबंधी श्लोक मननीय—विराट् की विराटता समझने के लिए।

६७—प्रलय की अवस्था और 'मोक्ष की अवस्था में चित्र साम्य है! "पल अमीन" है कि बात आगे आवेगी किंतु वह 'ज्ञान' की अवस्था है। सूर्य, चन्द्रमा, तारा आदि से ही कला, काष्ठा आदि का बोध होता है।

६८—इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में है (देखिये कामायनी का आमुख)।

६९—उत्तरगिरि:—मनोरवसर्पण पर्वत जिसका उल्लेख आमुख में है। (डाक्टर फतेह सिंह ने इस घटना को "यम-मयी" के कथानक की घटना से "कामायनी सौन्दर्य" के पृष्ठ १३९-१४०-१४१ पर समान बताया है)। इस पंक्ति में अपने जीवित रह जाने की बात मनु कहते हैं।

७०—विष्कंभ: नाटक का वह भाग जो दो घटनाओं का संबंध बताने के लिए अधम-पात्रों द्वारा अभिनीत होता है। जिनमें बताया जाता है कि पहले क्या हो चुका और आगे क्या होगा।

अधम: शब्द पर श्लेष है।

दंभ: आसुरी सपदा है।

७१—जीवन की निस्सारता पर मनन करते-करते मनु एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचे जो आसुरी-संपदा की विभूति है। मानव की महत्वाकांक्षा जीवन को मृत्यु के चङ्गुल से छुड़ाना चाहती है। वह सदैव अमृतत्व की खोज में रहती है। भारतीय परंपरा सर्वदा इस दृष्टि को बल देती आई है। "यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति" (श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।११)। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ईशावास्योपनिषद ११) आदि अनेक आप्तवचनों में मृत्यु पर विजय की साधना का उल्लेख है। किन्तु मनु आज मृत्यु को ही आनन्द सुख की खान समझता है। 'विषाद' मनुष्य को कितना गिरा सकता है, इसका ही चित्र आँखों के सामने है। "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता:" (ईशा० ३) में बताया गया है कि "असुरों की जो प्रसिद्ध नाना प्रकार की योनियाँ एवं नरक रूप लोक हैं वे सभी अज्ञान तथा दु:ख क्लेश रूप महान अन्धकार से आच्छादित हैं, जो कोई भी आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हों वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं"। जो लोग कामोपभोग को ही जीवन मानते हैं, वे वस्तुत: आत्मा की हत्या करते हैं इसलिये भारतीय ऋषियों ने अभ्युदय के मार्ग पर चलते कर्मों को भगवान् को समर्पित करते हुए जीवन यापन करने का निर्देश किया है। मनु इस पथ से विमुख हो जाता है, पूर्व संस्कारों के कारण और जीवन को "मरुमरीचिका" कहता है। जीवन को परमसाध्य न कहकर वह जीवन को निस्सार कहता है। वह कहता है :—

"जीवन मृगतृष्णा की भाँति धोखा है, निस्सार है, माया है! इसकी साधना मानव को कायर बना देती है जिससे वह दुःखों में फँसकर किंकर्तव्य विमूढ़ बनता है।' जिसे हम अमृत कहते आये वह पुराना हो गया। उसकी साधना 'अगति से भरी है। हम इस दिशा में विवश हैं, साधनहीन हैं। इस प्रकार जीवन में अमरत्व की साध मोहजन्य मूर्खता है जिसमें मानव जर्जर होकर शक्तिहीन हो जाता है और नाश को प्राप्त होता है।

अगति: पहुँच की कमी। मुग्ध = भ्रांत, निश्चेतन, मूर्ख। अवसाद=नाश, समाप्ति, शक्तिहीनता, अशक्ति।

बौद्ध मध्यम दर्शन की छाप मनु के मनन पर है। "सब कुछ क्षणिक है। क्रिया के साथ सत्ता की समाप्ति हो जाती है। शून्यत्व, क्षणिक, दुःख रूपतादि भावना करके शून्य में विलीन होना ही मुक्ति है" आदि इस प्रसंग में मननीय। अंगरेजी के कवि ड्रमंड की पंक्तियाँ—

Because it erst was nought and it turns to nought.

(G. T. poem No. 55)

और बाइरन की पंक्तियाँ

What then remains, but that we still should cry
Not to be born or being born to die.

(G. T. poem No. 57)

७२—'शून्य' आकाश तत्व का दूसरा नाम है। आकाश मूढ़ है इसका कार्य मोह है। इसी प्रकार पृथ्वी-जल शान्त हैं। इनका कार्य सुख है। तेज वायु घोर हैं; इनका कार्य दुःख है। इन तत्वों के परस्पर सम्मिश्रण से भी सुख, दुःख तथा मोह उत्पन्न होते हैं। (विष्णुपुराण १-२-४६, ५०)। मनु में इस समय 'मूढ़' रूप ही प्रतिष्ठित है। उसकी बुद्धि तम ग्रसित है। "अलस विषाद"—"गुरुवरणकमेवतयः" (तम भारी-और रोकने वाला है—से पीड़ित जीवन को ही 'अलस विषाद' कहते हैं। कारण केवल यह है कि मनु इस समय श्रद्धाविहीन हैं। उनमें आस्तिक बुद्धि सहवर्तमान नहीं। (गीता अध्याय २-६६)। मूढ़ भाव का प्रभाव ही यह है कि मनुष्य सत्कर्म को अकर्म और अधर्म को धर्म मान बैठता है। मनु इसी से अब मृत्यु को ही सत्य घोषित कर रहा है। इस प्रकार मनु की चिंतन-गति आज उस परंपरा से जा मिली है जो "असत् से सत्" की सृष्टि मानती है। (छान्दोग्यो० ६-खण्ड-२ तथा ६)। 'सत्य' की सृष्टि "सत्" और "त्यत्" से होती है, बृहदारण्यक अध्याय दो, ब्राह्मण ४। अतएव 'असत्' को सत्य कहना युक्तिसंगत नहीं किंतु मनु की बुद्धि इस समय मोह-ग्रसित है।

"मेरे अनुभव में आया कि जीवन के तुमुल कोलाहल का पर्यवसान "मौन" में हुआ। सभी जीवन-विभूति नाश हो गई। विध्वंस ने सर्वनाश कर दिया। चतुर्दिक तम का साम्राज्य और शून्य घेरा है। अभाव ही अभाव दिखाई दे रहा है। यही मृत्यु की अवस्था सत्य है। इस वातावरण में अमरत्व के लिये कहीं कोई स्थान नहीं है)।

Care charmer Sleep, Son of the Sable Night
Brother to Death. S. Daiel G. T. page 22

....

Still let me sleep, embracing clouds in vain
And never wake to feel the day's disdain

"जैसे निद्रा आने पर श्रम ताप मिट जाता है और शान्ति मिलती है उसी भाँति, हे मृत्यु, तेरे आने पर सभी दैहिक-दैविक-भौतिक ताप मिट जाते हैं और जीवन-यातना से संतप्त जीव को शान्ति मिल जाती है। मृत्यु क्या है कभी न टूटने वाली नींद ही तो है। तेरी गोद हिम की शीतलता लिए हुए है। जैसे पवन के प्रवेग से जलधि में हलचल उठती है और लहरें उठती गिरती रहती हैं उसी प्रकार काल रूपी समुद्र में तू ही जीवों की सृष्टि करती और मिटाती रहती है।"

७४—स्वरों के अवाप-निर्वाप (उतार-चढ़ाव) के जो प्रदेश हैं उनका व्यवहित स्थानों में जो समावेश होता है उसी का नाम 'सम' है [सं० नारद पुराण: कल्याण १६०]। प्रकृति की साम्यावस्था ही प्रलय है। विषम = भयंकर, दुखदायी, रहस्यमय सभी का समावेश है। किंतु यहाँ 'स्तुति' है अतएव रहस्यमय (mysterious) अर्थ करना यथार्थ है।

महानृत्य :—तांडव; जिससे 'प्रलय' होता है।

अखिल स्पंदनों की तू माप :—'स्पंदन ही जीवन है। व्यञ्जना यह है कि सकल जीवन विभूति तेरे वश में है। 'जीवन' के पहले और पीछे तेरी ही स्थिति है।

("कालाद् गुणव्यतिकरः" मननीय)। गुणों में विकार का कारण केवल 'काल' है।

विभूतिः—सिद्धि, शक्ति।

सत्य मनु के मनन में प्रतिबिंबित होकर रह जाता है वह केवल छाया ग्रहण कर पा रहे हैं जिससे उन्हें मिथ्या ज्ञान ही होता है।

७५—कण-कण का चित्र केवल शरीर का बोध कराता है आत्मा का नहीं। मृत्यु शरीर में व्याप्त होती है प्राण में नहीं (वृहदारण्यको० १–५–२१)। किंतु मनु इस रहस्य को न समझकर नास्तिकता की ही लहर में बहे जा रहे हैं "अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः" मननीय। 'अनेक शक्तियों से संपन्न माया पहले काल तत्व की सृष्टि करती है,' शैवागमों का यही मत है किंतु मनु यहाँ काल को ही 'माया' का कारण मानते हैं।

७६—अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे :—कारण कार्य रूपी संसार में मनु की दृष्टि 'व्यक्त' पर है।

"जैसे बादल की काली घटाओं में बिजली क्षण भर कौंध कर उसमें विलीन हो जाती है उसी प्रकार मृत्यु के व्यापक तम में जीवन क्षणिक आभा दिखाकर उसी के अंक में विलीन हो जाता है"।

इस प्रकार मनु का स्वगत समाप्त है।

७७—मनु का स्वगत अरण्य-रुदन था। वहाँ उसके दुःख की कहानी सुनने वाला कोई नहीं था। उसके शब्दों का पीने वाला पवन के अतिरिक्त और कोई नहीं था। अतएव उसके शब्द पवन में स्वतः विलीन हो रहे थे। हाँ, उसके शब्दों से निर्जनता, सूनेपन का अवश्य नाश हो रहा था। जैसे पीने की क्रिया में साँस टूटती सी प्रतीत होती है उसी प्रकार उसके शब्दों से नीरवता का नाश हो रहा था। किन्तु उनके मुख से निकले शब्दों की प्रतिध्वनि संवेदनशील हृदय के अभाव में जड़ प्रस्तर शिलाओं से ही टकरा कर रह जाती थी। उसे अपनी इस दशा में दीनता का अनुभव होता था।

आँसू की व्याख्यात्मक आलोचना के पृष्ठ १०—११ पर 'है आती लौट क्षितिज से क्यों दीन प्रतिध्वनि मेरी' की व्याख्या देखें।

७८—धूधूः: अग्नि की ज्वालाओं के समान शब्दः

"तरु हैं जरत धू धू धू धू है जरत मेरु" (रसकलस ३५०)

धू-धू करता ऊर्ध्व हुताशन पवन बीच लहराया (मदालसा)

अनस्तित्वः—अभाव जो प्रध्वंस के कारण हो।

आकर्षण :—वैज्ञानिकों का मत है कि आकर्षण सृष्टि तथा विकर्षण नाश है :

"जिन्दगी क्या है अनासिर में जहूरे तरतीब
मौत क्या है इन्हीं अजज़ा का परीशाँ होना"

विद्युत् :—विद्युत् ब्रह्म है। विदान (विनाश) करने के कारण **विद्युत्** है, आदि बृहदारण्यकोपनिषद् में द्रष्टव्य (५—७)।

तांडव :—"वीरे रसे महोत्साहो पुरुषो यत्र नृत्यति। रौद्र भाव रसोत्पत्तिस्त-त्ताण्डवमिति स्मृतम्" (राग कल्पद्रुम)। "चकार चण्ड तांडवं तनोतु नः शिवः शिवम्" (शिव ताण्डव स्तोत्र)। तांडव रुद्र का प्रलयकारी नृत्य है। यहाँ "तांडव-नृत्य स्वयं नाच रहा था"

वहाँ का सारा वातावरण भयानक था। जैसे जलती चिता की आग की लपटें धू-धू करती हुई चारों ओर नाचती हुई भयावनी लगती हैं, उसी प्रकार वहाँ का 'प्रध्वंसाभाव' (अस्तित्व का अभाव) भयानक लगता था। चारों ओर अनस्तित्व ही ताण्डव नृत्य करता दिखाई पड़ रहा था। सृष्टि की रचना करने वाले विद्युत् कण एक-दूसरे की ओर आकर्षित नहीं हुए थे। उनकी सहज स्फुरण शक्ति का लोप हो गया था। वे बेगार की भाँति परतंत्र थे। प्रलय की विभीषिका में विकर्षणप्रेरित विवश डोलते दिखाई पड़ रहे थे।

७६—जीवन की ऊष्मा का लोप हो गया था। जिधर दृष्टि जाती उधर मृत्यु की अभिव्यक्ति रूप निराशा की ठंडक ही दिखाई पड़ती थी। जैसे मृत्यु के पश्चात् शरीर शीतल हो जाता है वही अवस्था समस्त वातावरण की थी। ऐसी अवस्था में महाकाश से घने कुहासों की वृष्टि होने लगी, ठीक उसी प्रकार जैसे "आकाशशरीरं ब्रह्म" से भौतिक कण उत्पन्न होते हैं। ("तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः" नासदीय सूक्त मननीय)।

८०—उस घने कुहासे को देखकर ऐसा भान होता था जैसे प्रलय जलराशि भाप बन कर उड़ रही हो। ऊपर सूर्य मंडल में कुछ गति दिखाई पड़ी जिससे स्पष्ट प्रकट हो रहा था कि अब प्रलय की रात्रि समाप्त होने को है और पुन: सृष्टि का सूर्योदय होने को है!

प्रलय निशा का होता प्रात - भावी सर्ग की सूचना देता है। सहस्र युगों की ब्रह्मा की रात्रि ही प्रलय निशा है। प्रलय निशा का प्रात सृष्टि की भूमिका है। श्री राकेश ने कामायनी कौमुदी के पृष्ठ ८६ पर लिखा है, "दूसरे सर्ग के आरम्भ विषयक नियम का भी परिपालन नहीं हुआ है।" यह निष्कर्ष भ्रान्तिमूलक है।

परमव्योम :—"ऋचो अक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः" (श्वेता० ४-८) जिसमें समस्त देवगण भली भाँति स्थित हैं उसी अविनाशी परम-व्योम में सम्पूर्ण वेद स्थित है। परम व्योम पर ब्रह्म का परम धाम है। परम-व्योम में यम और वरुण मदान्वित विचरते थे (ऋ० १०—१४)।

सौर चक्र : (विष्णु पुराण २—८, १ से ३) में सौर-चक्र का वर्णन है। सूर्य के रथ का विस्तार नव हजार योजन, जुआ १८ हजार योजन, धुरा डेढ़ करोड़-सात लाख योजन है जिसमें चक्र (पहिया लगा है)। सूर्य का उदय-अस्त नहीं होता आदि बातें वहीं द्रष्टव्य। "सूर्य के दर्शन-अदर्शन से दिन-रात बनते हैं" (वशिष्ठ संहिता)। सूर्य ही सम्पूर्ण जङ्गम तथा स्थावर जगत की आत्मा है। निश्चयपूर्वक सूर्य नारायण से ही भूत उत्पन्न होते हैं (सूर्योपनिषद्)। "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" योगदर्शन, तथा अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे (ऋक् संहिता २।३।१६।२) तथा "भ्राम्यते ब्रह्म चक्रम्" आदि की संहृत भाव-व्यञ्जना "सौर चक्र में आवर्तन था" में निहित है।

---

*

आशा

२ आशा

१—सौभाग्य-लक्ष्मी उपनिषद में दिये गये श्रीसूक्त में लक्ष्मी देवी को हिरण्य-वर्णा, हरिणी, हिरण्यमयी कहा गया है। हिरण्य सोना को कहते हैं। लक्ष्मी देवी के हाथों में वर और अभय मुद्रायें हैं। उनके शरीर की कान्ति तप्त-काञ्चन के समान है। लक्ष्मी सौभाग्य की देवी हैं। "तप्त-काञ्चन-वर्णाभा, तप्त-काञ्चन-भूषणाम्" (दुर्गासप्तशती)। जय-लक्ष्मी : जय की देवी है। "जहाँ 'सत्त्व' होता है, वहीं लक्ष्मी रहती हैं और सत्त्व भी लक्ष्मी का ही साथी है। श्री-हीनों में भला सत्त्व कहाँ? और बिना सत्त्व के गुण कैसे ठहर सकते हैं? बिना गुणों के पुरुष में बल, शौर्य आदि सभी का अभाव हो जाता है और निर्बल तथा अशक्त पुरुष सभी से **अपमानित** होता है। सत्त्वसम्पन्न विजयी तथा सत्त्वहीन पराजित होता है। (विष्णु पु० अंश १ अध्याय ६ इस सम्बन्ध में पठनीय एवं मननीय)।

उषा—पौराणिक मान्यताओं के अनुसार आकाश की पुत्री है। प्रातःकाल के प्रारम्भ की सूचक है यहाँ। (पृथ्वी का भी नाम है)।

कालरात्रि— "कालरात्रिर्दुरत्यया"; "मतम कालरात्रीति" आदि से वर्णित "कालरात्रि" दुर्गा का ही पर्याय है। "शून्यं तदखिलं लोकं विलोक्य परमेश्वरी। बभार रूपमपरं तमसा केवलेन हि" आदि में बताया है कि देवी का तामसी रूप ही "प्रलय" है।

जल में अन्तर्निहित हुई—डूब मरी न कहकर 'जल समाधि' की बात कही गयी है। तथा यह भी ध्वनि समाविष्ट है कि तिरोभाव-आविर्भाव रूप ही सृष्टिक्रम चलता है।

"**तीर बरसने**"—में घोर संग्राम की भूमिका है। वेदों, पुराणों में अनेक स्थान पर सूर्य का "मन्देहा" नामी राक्षसों से युद्ध का रूपक मिलता है। (विष्णु० २–८–५०)। वीररस का '**अनुभाव**', '**संचारीभाव**' भी वर्तमान है।

"सर्ग काल उपस्थित होने पर गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान जब विष्णु के क्षेत्रज्ञ रूप से अधिष्ठित हु . तब ष्टि का विकास हुआ" आदि बातें इस सम्बन्ध में मननीय।

चित्र साम्य तो नहीं, फिर भी निम्नाङ्कित पंक्तियाँ देखें—

["Phoelus arise !
give life to this dark world which teeth dead.
spread forth thy golden hair"] ! (Golden Treasery p. 1)

और G. T. P, 1०9 (Now the golden Morn aloft) !

"प्रलय सृष्टि, मृत्यु जीवन, तम प्रकाश, तम सत्त्व का संग्राम बहुत काल तक चलता रहा और इस तम-प्रकाश झगड़े में नव-ज्योति विजयिनी हुई। उषा क्षितिज पर संग्रामरत अपनी प्रतिरोधिणी काल रात्रि पर अनवरत तारों का प्रहार करती हुई सत्त्व प्रधान जय की देवी की भाँति उदय हुई। उषा के अभ्युदय के साथ कालरात्रि का पराभव हुआ। वह हार गई और विवश होकर उसने जल-समाधि ली।"

२—'वैवर्ण्य' **सात्विक अनुभाव है।** शरीर की कान्ति में अन्तर पड़ना ही 'वैवर्ण्य' है। "रवि मण्डल श्रीहीन हो गया, शशि आभा कुम्हलाई" (समुद्र मंथन)। **त्रास**—सञ्चारी भाव है। 'किसी अहित भावना से हृदय में जो भय उत्पन्न होता है उसे त्रास कहते हैं। त्रास से कान्ति क्षीण हो जाती है। मुख **काला-पीला** पड़ जाता है। **हँसने**—हास गम्भीर और शिष्ट मुखमण्डल की शोभा है। यह स्थायीभाव है।

(Pale-meloncholy G. T. 137); (And Hope enchanted Smiled and waved her golden hair.) द्रष्टव्य।

शरद विकास "हरिऔध चहूँ ओर सरद विकास पायो, पावस प्रतापी की गई है आयु घट सी" (रस कलस २०६)।

[(**ईष, ऊर्ज**—शरद के महीने आज के आश्विन तथा कार्तिक हैं। नभ, नभस्य (श्रावण तथा भाद्रपद) के पश्चात् शरद का क्रम है ही। यजुर्वेद अ० १४ मंत्र १५, १६ मननीय)]।

शरद वर्णन के लिये ऋतु-संहार ('कालिदास') तृतीय सर्ग तथा तुलसीकृत रामायण "वर्षा विगत शरद ऋतु आई" द्रष्टव्य !

वर्षा काल में "प्रकृति" रजस्वला होती है। शरद में ऋतु-स्नाता !

"उगे दिवाकर सोरहो बहे पवन उनचास" की प्रलय विभीषिका से भयभीत प्रकृति ज्योति की विजय को देखकर आशान्विता हो उठी। उसका कांतिहीन मुखड़ा फिर द्युतिमत हो उठा। उसके अधरों पर हास की आभायें थिरक उठीं। वर्षा का भयावह काल समाप्त हो गया और फूले कमल के समान मुख वाली शरद ऋतु आ गई। शरद के आने ही संसृति में विकास के बीज बो उठे, अंकुर फूट निकले।

३—नया आतपहीन प्रकाश, प्यारी-प्यारी धूप, हिम राशि पर प्यारपूर्वक इस प्रकार फैलने लगी जैसे श्वेत कमल पर मकरंद में सना पीला पराग खेलने लगता है। उपमा, उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त इन पंक्तियों में शरद वर्णन के मुख्य अवयव श्वेत कमल का समावेश अत्यन्त कलापूर्ण है। [विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा" में कालिदास ने शरद् को खिले कमल के समान कहा है।] साथ ही "शारदा शारदाम्भोज वदना वदनाम्बुजे सर्वदा सर्वदास्माकं सन्निधिं-सन्निधिं क्रियात्" की ओर भी ध्वन्यात्मक संकेत।

(Ode on the Pleasures Arising from vicissitude G. T. 109 इस संबंध में पठनीय)।

४—'विबोध' तथा 'आलस्य' नामक संचारी भावों का प्रकृति के आरोपित रूप अथवा चेतनीकरण से अनुपम मेल इन पंक्तियों में है। 'निद्रा दूर करने वाले कारणों से उत्पन्न चैतन्य लाभ को 'विबोध' कहते हैं। यहाँ वह स्थिति "प्रातः काल" होने से संभव हुई है। सामर्थ्य रहते हुये भी उत्साहहीनता 'आलस्य' है।

मुख-धोती :—प्रातः के नित्य कर्म का समावेश।

शीतल जल :—ठंडे पानी से मुख धोने से **आलस्य** नाश होता है।

सूर्य की ऊष्मा से पृथ्वी-तल पर जमी हिमराशि पिघल-पिघल कर बहने लगी। उस हिमराशि के नीचे दबी हुई औषधियाँ पुनः दिखाई पड़ने लगीं। हिम के पिघलने से बहते हुये जल से भीगी वनस्पतियाँ ऐसी लगती थीं जैसे वे निद्रा टूटने पर आलस्य-ग्रसित हों और शीतल जल से मुख धो रही हों।

५ अँगड़ाई : 'निद्रा' नामी संचारी भाव का लक्षण। "अलसान जान अंग तोरि तोरि अँगिरात" रसकलस ५८। **नेत्र-निमीलित** में "विबोध" है—

> "खुलत न आँखें अधखुली बार-बार अँगिरात
> जगत जगाये क्यों नहीं रही नहीं अब रात"—रसकलस ४५

निमीलन – पलकों का खोलना, बंद करना।

एक ओर प्रकृति मुग्ध निद्रा में रात बिताई हुई नायिका की भाँति आँखें खोलते बन्द करते निद्रानाश के साथ पुनः जागकर चेतना प्राप्त करती सी दिखाई पड़ी, दूसरी ओर रातभर जगी नायिका की भाँति अँगड़ाई लेती हुई समुद्र की लहरें सोने के उपक्रम में लगीं। (अँगड़ाई में हाथ ऊपर को उठते हैं, लहरियों' में वही चित्र साम्य है)। (सात्विक तथा तामसिक जीवनचर्या का कितना मनोरम चित्रण है। निशाचारी दिन में सोता ही है)।

६—[प्रिय अपराधजनित कोप को 'मान' कहते हैं। 'स्मृति' संचारी भाव— "विहार स्थल के परिदर्शन आदि से जो पूर्वानुभूत बात स्मरण हो जाती है, उसे स्मृति कहते हैं"। 'ऐंठी' में भौहैं चढ़ाने, रुष्ट होने की व्यञ्जना है। 'प्रलय' सात्विक अनुभाव भी है देह दशा की **विस्मृति** को प्रलय कहते हैं। रीतकालीन अश्लीलता में लोग केलि समय की निर्ममता से उत्पन्न 'विस्मृति' के पश्चात 'स्मृति' के चित्रण में इसी प्रकार के 'मान' का चित्रण करते आये हैं हमारे कवि ने उन्हीं तत्वों से एक शिष्ट एवं मनोरम चित्र उपस्थित किया है। 'रूपक' रीतकालीन चित्र का ही है। यों कहिये कि बात सीधे न कहकर व्यञ्जनात्मक शैली से कही गई है और वह भी प्रकृति के आलंबन से। अच्छी तथा महान् कविता का यह गुण विशेष है]।

समुद्र से निकली हुई पृथ्वी कोमल शय्या पर सिकुड़ी हुई बैठी नवोढ़ा सी दिखाई देती थी। प्रलय रात्रि में उसके अंगों को पुरुष ने निर्दयता से इस प्रकार झकझोर दिया कि वह बेसुध हो गई थी। अब उसे वही पूर्वानुभव स्मरण हो रहा है जिससे वह पुरुष से न बोलने का मान करने में प्रवृत्त है।

'संकुचित' में लज्जा (व्रीड़ा) नामी संचारी भाव है। लज्जा और भय दोनों ही नवोढ़ा के गुण हैं। दोनों ही इस चित्र में हैं।

७—इन पंक्तियों में 'रति' के पश्चात् सो जाने का चित्र है। रति के पूर्व मन में जो हलचल होती है वही कोलाहल में विद्यमान है। तथा रति के पश्चात् की थकन 'श्रांत' शब्द से प्रकट होती है। कोलाहल नायक तथा जड़ता नायिका। गलबांही दिये सोने का चित्र है। शीतलजड़ता में काम-ताप शमन के साथ मूर्च्छा शैथिल्य वर्तमान है। शीतकालीन हिमराशि से ही कल्पना यहाँ बलवती है।

मनु ने उस रम्य सुनसान के नये एकान्तिक भूभाग को देखा। लगता था, कोलाहल थक कर शीतल जड़ता के साथ गलबाँही दिये सो रहा है।

८—इन्द्रनीलमणि—महारत्नों में है। मेघ के समान कांति वाला नीलमणि शनिश्चर को प्रिय है। नीलम के धारण करने से शुभ-अशुभ दोनों फल संभव हैं। रत्नों का वर्णन शुक्र नीति तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र द्रष्टव्य। देवताओं की सुख-समृद्धि का द्योतन होता है। उनके पीने के पात्र मणियों के बने होते थे।

सोम—चन्द्रमा का पर्याय है। सोम द्रव्य विशेष जिसका पान देवता लोग करते थे। सोमयाग से इसका संबंध है। वेदों, ब्राह्मणों तथा अनेक ग्रन्थों में इसका उल्लेख है।

पवन मृदु साँस ले रहा—[यजुर्वेद में शरद वर्णन के संबंध में "पाहि प्राणं मे पाह्यापानं मे पाहि व्यानं" मंत्र में ईश्वर से प्राण, अपान, व्यान की रक्षा की प्रार्थना की गई है। प्राणमय कोश का वर्णन !]।

खटका—भय के साथ साँस के रुक-रुक चलने की भी ध्वनि है।

"महाचषक रूपी आकाश का पात्र सोमहीन उलटा लटका था और पवन अब रुक-रुक कर नहीं वरन् मन्द गति से बह रहा था।" शब्दों से यही अर्थ निकलते हैं किंतु व्यञ्जना यह भी है कि मनु का सोम पीने का महाचषक उलटा लटका था, उसमें सोम भरा न था और वह अब चैन की साँस ले रहा था मानों उसके मन से प्रलय के भय का निबारण हो गया था। मनु को आकाश का महाचषक रूप दिखाई देना स्वाभाविक ही था। मन अपना ही प्रतिबिंब बाह्य जगत में देखता है।

९—[रमणीय वस्तु को देखने के लिये चञ्चल होना 'कुतूहल' है]। यह स्वभावसिद्ध सात्विक अलङ्कार भी है। कुतूहल विस्मयसूचक तथा प्रश्नसूचक दोनों होता है।

विराट्—(यजुर्वेद शब्द वर्णन में "विराट् छन्दों" द्रष्टव्य । विराट् भगवान वाची शब्द है इस पुस्तक में अन्यत्र इसकी पूरी परिभाषा की गई है ।

कौन ?—"कोह कथमिदं जातं को वा कर्तास्य विद्यते" (शङ्कराचार्यः अपरोक्षानुभूति), 'कोहं कस्य च संसारो विवेकेन विलीयते) योगवाशिष्ठ, "कथं वातो निलयति कथं न रमते मनः । किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नैलयन्ति कदाचन" (अथर्वेद १०-८-३७); "कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिः" (नासदीय सूक्त) आदि अनेक स्थानों पर यह ' कौन" विद्यमान है ।

नभ के सोमहीन उलटे महाचषक में वह 'विराट्' सोना घोल रहा था इस हेतु कि वह आभाहीन पृथ्वी में फिर से रंग भरे । किन्तु इस "वह" का संकेत किसकी ओर है ! मनु के मन में प्रश्न उठा । उलटे प्याले में इस प्रकार सोने का रङ्ग घोलने वाला कौन है ? प्रश्न के उठते ही मन में विस्मय छा गया जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया ।

"ॐकेनेषितं पतित प्रेषितं" आदि केनोपनिषद् (१-१) मननीय ।

१०—ऋग्वेद के मण्डल १, सूक्त २४ तथा १८५ में इसी प्रकार के प्रश्न मिलते हैं । "रात में सूर्य कहाँ रहता है ? दिन में तारे कहाँ चले जाते हैं ? सूर्य गिर क्यों नहीं पड़ता ? दिन-रात में पहले कौन था ? वायु कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है ? यही वे प्रश्न है जिनके उत्तर के रूप में दर्शन एवं विज्ञान का जन्म होता है । इनके उत्तर स्वरूप अनेक देवताओं की कल्पना हुई, उन्हें माना गया । परन्तु उनके देववाद से सन्तोष न मिला । सन्देह हुआ कि वास्तव में सबसे बड़ा और असली देवता कौन है ? कस्मै देवाय हविषा विधेम । ऋ० मंडल १०-१२ । (ऋग्वेद रहस्य पृष्ठ ८२) । "दैवत-संहिता" स्वध्याय ग्रंथ, वैदिक देवताओं से परिचय प्राप्त करने के लिये द्रष्टव्य ।

विश्वदेव—"येन पूता विश्वे-देवाः परमेष्ठी प्रजापतिः" (पवमान सूक्त १७) ।

"वसुः सत्यः क्रतर्दक्षः कालः कामो धृतिः कुरुः
पुरूरवा माद्रवश्च विश्वदेवाः प्रकीर्तिताः ।

सविता—यजुर्वेद अध्याय ३०-मंत्र १, ३ (विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव" (ऋग्वेद का दसवाँ मण्डल भी देखें) । (यजुर्वेद १-१) ।

पूषा—द्वादश आदित्यों में से एक । पशुओं के अधिष्ठाता । (हिन्दू संस्कृति अङ्क कल्याण ७८३) ।

सविता, पूषा, त्वष्टा पर्यायवाची भी हैं । (ऋग्वेद रहस्य पृष्ठ ८०) ।

सोम :—चन्द्रमा; "सोमस्य त्वा" आदि यजुर्वेद १०-१७ ।

मरुत :—पवन (विशेष परिचय के लिए कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक ७८३ देखें) ।

पवमान :—पवमान सूक्त (अथर्वेद ६/२३)। पवित्र करने वाला देवता है। वायु का पर्याय भी है।

वरुण :—(ऋग्वेद रहस्य पृष्ठ ६४ पर विशेष विवरण मिलेगा)। युजुर्वेद १०-(२७)।

(इन देवताओं से ब्रह्म क्यों कर बढ़ कर है इसका वर्णन केनोपनिषद् में देखें)।

किसके सदैव शासन में विश्वदेव के नाम से, सविता, पूषा, सोम, मरुत, वरुण तथा पवमान नाम से प्रसिद्ध देव-वृन्द निरतंर घूम रहे हैं? अर्थात् इन देवताओं को किस से शक्ति मिल रही है जो ये बिना थके बिना कान्ति खोये निरन्तर अपने कार्य में लगे हैं।

('मानव' ने अम्लान को शासन का विशेषण मान कर अनर्थ कर दिया है। "अम्लान घूम रहे हैं" अन्वय करके देखें)।

११—(वह कौन है जिसकी भौंहें टेढ़ी हो जाने- रुष्ट होने—से प्रलय की विभीषिका उत्पन्न हो गई जिसके कारण ये सभी बेचैन हो गये, कष्ट में पड़ गये। ये थे तो प्रकृति की शक्ति का द्योतन करने वाले किन्तु ये उसे अज्ञात देव के सामने तो अत्यंत निर्बल सिद्ध हुये। (केनोपनिषद में 'यक्ष' की आख्यायिका द्रष्टव्य)! मनु यहाँ देवताओं की अनेकदेववाद की सैद्धान्तिक नहीं वरन् अनुभवसिद्ध विवेचना में लगा है। प्रकृति के परे, उसकी शक्तियों से भी सबल, किसी शक्ति के अस्तित्व की बात उसकी जिज्ञासा से आँख-मिचौनी कर रही है।

१२—सभी प्राणी काँप रहे थे। वे विवश थे, लाचार थे। उनकी बड़ी बुरी दशा थी।

१३—"शरीरं शरीरष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" (कठोपनिषद २/२) में बताया है कि प्राणियों का शरीर अनित्य और विनाशशील है। इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। अविचल भाव से स्थित उस महान सर्वव्यापी परमात्मा को जान कर बुद्धिमान महापुरुष शोक नहीं करता।

"गर्व-रथ = अहंकार से आत्मा विमूढ़ हो जाती है। वह पशु हो जाता है।

"सुषारथिरश्वानिव,"—यजु० ३४।६ में ऐसी कल्पना है।

मनु की मति आज इसी दार्शनिक भूमि में डोल रही है।

"हम लोगों ने अपने अहंकार में अपने को देव समझ लिया था। हमारा यह भ्रम था। इन शक्ति के चिह्नों को भी हमने देवता की संज्ञा दी, यह भी हमारी भूल थी। वस्तुत: न तो हमीं देवता थे, न ये ही हैं। कारण हम और ये सभी अनवस्था से पीड़ित हैं। हम सब परिवर्तन के पुतले हैं। हम निष्कल नहीं, निर्विकार नहीं। यह तो और ही बात है कि रथ में जुता हुआ घोड़ा यह गर्व करे कि वह स्वयं रथ चला रहा है, किंतु

बात तो यह है कि उसकी बाग सारथी के हाथ में है। इसी प्रकार हम और ये दोनों ही किसी अज्ञात शक्ति से शासित तथा नियंत्रित हैं।

१४–१५ "इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्त्सो अङ्ग वेद वा न वेद" (नासदीय सूक्त)। जिस विभु से इस विविध सृष्टि का विस्तार हुआ वही इसे धारण करता है या बिना आधार रखता है। जो इस जग का परम अधीश्वर परमव्योममय देश में रहता है वही इसे जानता या न जानता है। अन्य किसी की वहाँ गति नहीं। 'वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान" (ऋ० ५-८५-२) जिसने किरणों में चमक पैदा की है और वनों में लहलहाती हरियाली आदि, अनेक वैदिक मंत्रों की झाँकी इस वर्णन में निहित है। [ऋ० ६-२६-५ तथा ऋ० ६/१५/११ में मिलता है, 'सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, नक्षत्र सब को तुमने बाँध रखा है। तुम्हारी कृपा से बनते हैं ये द्युलोक, पृथ्वीलोक, सूर्य, तारागण। विष्णु पुराण में आकर्षण (रज्जु) का उल्लेख है। "यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वैतत्" (कठोपनिषद् २-१-९) जहाँ से सूर्य उदय होते हैं और जहाँ अस्त भाव को भी प्राप्त होते हैं सभी देवता उसी में समर्पित हैं। उस परमेश्वर को कोई कभी भी नहीं लाँघ सकता। यही है वह" आदि अनेक बातें इस संबंध में मननीय हैं।

इस विस्तृत महाकाश में प्रकाशपिंड सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह तथा विद्युत्कण किसको खोजते-से घूमते हैं!

[सोच रहा हूँ मैं कब से पर नहीं समझ में आता है
पी-पी रटते हुये पपीहे का किस पी से नाता है
किसकी विरह-व्यथा में कोयल कूकू-कूकू करती है
किसकी बन कर हवा वियोगिन निशि-दिन आहें भरती है
अपलक नयनों से नरगिस नित किस का रस्ता तकती है
किसके हित यों आकुल होकर सरिता कल-कल करती है
दीपक लेकर सूर्य चन्द्रमा किसको खोजा करते हैं
मर्मज्ञों के शब्दों में क्या मर्म इसी को कहते हैं।]

पण्डित श्यामनारायण पाण्डेय ने भी "दीप तारों का जलाकर कौन करता है दिवाली" आदि पंक्तियाँ इसी भावभूमि में प्रतिष्ठित होकर लिखी हैं।

१६—"इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नतेन्द्राय मही पृथ्वी वरीमभिर्द्युम्नसाता वरीमभिः। इन्द्रं विश्वे सजोषसो देवासो दधिरे पुरः इन्द्राय विश्वा सवनानि मानुषा रातानि संतु मानुषा" (ऋ० १-१३१-१) "कितना मधुर है यह नृत्य! ये सूर्य, चाँद, बादल, बिजली, पृथ्वी, आकाश सब के सब बार-बार झुक कर तुझे प्रणाम करते हुये नाच रहे हैं।"

[सिर झुका कर समस्त विश्व जिसकी सत्ता को यहाँ स्वीकार कर रहा है, वह अस्तित्व कहाँ है ? मौन रहकर भी सभी जिसके होने का व्याख्यान कर रहे हैं वह कौन शक्ति है ?]

[कार्य से कारण का अनुमान होता है। कार्य कारण की घोषणा करता है, यही तर्क मौन प्रवचन की व्यञ्जना में निहित है]।

१७-१८—[को श्रद्धा वेद क इह प्रवोचत कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव (नासदीय सूक्त) किससे सब सृष्टि हुई यह रहस्य किसे ज्ञात है ?]

"क्वेयथ क्वेदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः। अलर्षि युध्म खजकृत्पुरंदर प्र गायत्रा अगसिषुः" (ऋ० ८-१-७) मननीय।

"हे महान् विश्वमूर्ति विश्वयोनि विश्वरेतस् विश्ववाह विश्वसृज्, तुम अत्यन्त रमणीय हो। तुम्हारी विभायें अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक हैं। तुम्हारी रमणीयता अनन्त है। किंतु तुम कौन हो, इसको निश्चित रूप से बताना संभव नहीं। तुम्हारे नाम, रूप, गुण के बारे में विचार करने की हममें शक्ति नहीं है। किन्तु हमारी चेतना में यह सत्य प्रतिबिंबित हो रहा है कि तुम कुछ हो !"

"विश्वदेव सविता या पूषा" से लेकर "कुछ हो ऐसा होता भान" की पंक्तियाँ कवि ने सागर के गान से ग्रहण की हैं। मनु कहते हैं कि सागर के धीर गम्भीर स्वर से जो गान फूट रहा है उसमें उपर्युक्त भाव-धारा ही समाविष्ट है।

("सिन्धुर्न क्षोदः—ऋ० २-२५-३ में अथाह गंभीर सागर का उल्लेख है)।

उपर्युक्त पंक्तियों में एकदेववाद अथवा एकत्ववाद की मीमांसा है। "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेताश्वतरो०); "तमिदं निगतं सहः स एव एक वृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवो एक वृत्तो भवन्ति (अथर्ववेद १२-४, २०-२१); "अनेजदेकं मनसो जवीयो" (ईशा० ४); एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"; "विश्वेषु हित्वा सवनेषु तंजुते तमानमेकं वृषमणयवः पृथक् स्वः सनिष्यवः पृथक्" ऋ० १-१३१-२" इस संबंध में पठनीय एवं मननीय।

'कामायनी' में जिस प्रकार बुद्धिवाद की भाषा में, वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में वेदोक्त रहस्यों की व्याख्या सरल तथा सुबोध शब्दों में की गई है वैसी पुराण काल के बाद के समूचे साहित्य में अप्राप्य है। इस पर भी जब कोई विषय का बोध रखने वाला कामायनी को 'वेदों की आधुनिकतम व्याख्या' घोषित करता है तो राग-द्वेष की परंपरा में बहने वालों के माथे पर बल पड़ जाता है। आज 'अहोरूप अहोध्वनि' के वर्तमान साहित्यिक वातावरण में अहम् की प्रधानता है। प्रचार और दलबंदी ने क्या कुछ अनर्थ नहीं किया !

१९-२०—[स्वप्न—संचारी भाव है। निद्रा-निमग्न पुरुष का विषयानुभव "स्वप्न" है। भय ग्लानि सुख, दुःख आदि का अनुभव स्वप्न में भी होता है (मदालसा में "सो गई प्रकृति अहा" का प्रसंग द्रष्टव्य)। कोई-कोई स्वप्न को स्मृति वृत्ति मानते हैं, कोई नहीं। स्वप्न दर्शन पूर्वानुराग का भी अङ्ग है (रसकलस २५४-२५५)। ["होवै बहु कमनीय कोउ कै कामिनि अनुकूल। सपनो-सपनो है अरी तू यह सपनो भूल]। मधुर-स्वप्न : [सुखप्रद स्वप्न जिसके देखने से प्राण मुस्का उठते हैं। स्वप्न में प्रियतम के संग केलि आदि]। झिल मिल : (रह-रह कर ज्योतित होना)।

सदय हृदय—सहृदयता, संवेदनशीलता का द्योतन करता है। "सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः" (अ० ३-३०-९) मननीय। कोमल हृदय ही सवेदनशील होता है।

प्राण समीर—(प्राण वायु) : (जान में जान आ गई तेरे पयामे नाज से) आशा से उत्साह का आविर्भाव होता है।

'व्याकुलता और अधीरता' उत्सुकता नामी संचारी भाव के द्योतक हैं।

स्पृहणीय—वांछनीय, प्रिय मधुर-जागरण :-प्रतीक्षा से ("आँसू" में भी इसका उल्लेख है सुप्त आशा के स्फुरण जागरण का चित्र है।"

स्मिति—"जब नेत्रों तथा कपोलों पर कुछ विकास हो और अधर आरंजित हों तब "स्मित" होता है।" इसमें दाँत नहीं दिखाई पड़ते।

तान—"स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तान" का वर्णन नारदपुराण "शिक्षा-निरूपण" में द्रष्टव्य।

[कहाँ मूर्च्छना मिली तान से किसने मेल मिलाया ? "समुद्र मंथन"]।

इन पंक्तियों में आशा के स्फुरण का चित्र है। ["यही आस अटक्यो रह्यो अलि गुलाब के मूल। अइहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारिन वे फूल", आशा मानव को जीवित रखने की क्षमता रखती है]

जैसे सोई हुई प्रेमिका स्वप्न में प्रियदर्शन प्राप्त कर व्याकुल तथा अधीर हो उठती है जिससे उसकी नींद टूट जाती है और फिर जगकर प्रिय प्राप्ति से मुसका कर नाच उठती है तथा मंद-मंद कुछ गाने लगती है वही दशा आशा के स्फुरण की है।

मेरे कोमल हृदय को अधिक अधीर बनानेवाली मधुर स्वप्न की भाँति झिलमिल-झिलमिल करती यह कौन वस्तु मुझे विस्मय में डाल रही है ? लगता है निश्चेतन में भी प्राण वायु का संचार करनेवाली आशा ही मेरे हृदय की व्याकुलता में अपने को प्रकट कर रही है। चिंता भविष्य के अशुभ तथा आशा भविष्य के शुभ के चिंतन से संबंधित है।

इस मनोभाव का उदय होना कितना वांछनीय एवं प्रिय है। प्रिय के आने की आशा में (प्रतीक्षा में) जैसे आँखों में रातें कटती हैं उत्सुकता में उद्वेग में, किंतु यह प्रतीक्षा मधुर होती है, सुखदायी होती है, उसी प्रकार आशा का उदय व्याकुलता तथा अधीरता

के साथ सुख को भी जन्म देता है। जैसे प्रियदर्शन से अधरों पर स्मित-रेखायें क्रीड़ा करने लगती हैं उसी प्रकार आशा द्युति से प्राण मुस्का पड़ते हैं। और जैसे मीठी तानें स्वर में नाचती हैं उसी प्रकार आशा हृदय में नाच उठती है।

आशान्वित व्यक्ति का कितना सुंदर चित्रण उपर्युक्त पंक्तियों में है। आशा के स्फुरण से होठों पर हँसी सज जाती है। हृदय नाच उठता है।]

२१—शीतल-दाह—आशा में निहित उद्वेजन को व्यक्त करता है। शीतज्वर में प्यास की अधिकता होती है। कामोद्भव से मन में जलन तथा व्यथा होती है, 'तप' से ही सृष्टि का उद्भव हुआ, (नासदीय सूक्त), जल और अग्नि के मेल से ही सृष्टि का विकास हुआ, आदि अनेक चिंतनों का द्योतन "शीतल-दाह" कर रहा है।

['कामाग्नि' का रूप समझने के लिये पण्डित जयदेव द्वारा किये गये अथर्ववेदीय संहिता के भाष्य के पृष्ठ ४६८ को देखें।

इस नयी भावना के उद्भव के साथ मेरे मन में एक मीठी जलन-सी उत्पन्न हो गई है। जैसे शीत ज्वर से पीड़ित पानी-पानी चिल्लाता है उसी प्रकार इस नव भावना के शीतल दाह से पीड़ित मैं 'जीवन' का अभिलाषी हूँ! "कामस्तग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्" का प्रतिरूप बना मैं जीवन का अभिलाषी हूँ। मैं अपने एकाकी-पन से ऊब कर 'जीवन! जीवन!' की पुकार कर रहा हूं। मेरी ही अन्तर्ध्वनि दिशाओं में प्रतिध्वनित होकर 'जीवन-जीवन' की पुकार बनकर गूँज रही है। सृष्टि के नवप्रभात ने सर्वत्र उत्साह का शुभ संचार कर दिया है। किंतु यह नया उत्साह किसे समर्पित होने को है?

२२—"न जाने क्यों मेरे कानों में "मैं हूँ" की अन्तर्ध्वनि वरदान स्वरूप गूँज रही है। जैसे कोई मेरे कानों में निरंतर कह रहा है कि इस परिवर्तन, इस उत्साह, इस शीतल दाह का कारण "मैं हूँ"। और फिर यह 'मैं' भी यह कहता हुआ सुन पड़ रहा है कि मैं अपने स्वर को नभ के शाश्वत गानों में रखना चाहता हूँ। "मैं" की यह चेतना मुझे वरदान प्रतीत हो रही है।

मैं 'अहम्' का ही रूप है। "सोहम्", "एकोहम्" सभी में यह अहम् (मैं) विद्यमान है।

मनु को इस प्रकार 'मैं' की सत्ता का बोध होता है। यही 'मैं' नित्य है, अमर है, शाश्वत है ऐसा उसे भान होता है।

२३—'मैं' की इस अन्तर्ध्वनि के पीछे किसकी सरल विकासमयी सत्ता छिपी है! आज विलासमयी जीवन-लालसा इतनी प्रखर क्यों हो रही है?

"यह क्या मधुर स्वप्न" से "इतनी प्रखर विलासमयी" तक की पंक्तियों में आशा का परिचय दिया गया है। कवि ने 'आशा' का नाम तक नहीं लिया और रहस्यमय शैली में सारी व्याख्या कर दी। मनु के मन में 'उषा' के उदित होने ने आशा की स्फूर्ति

भर दी और वह 'जीवन' का रहस्य समझ कर 'जीवन' को शाश्वत बनाने की बात सोचने लगा।

२४—तो क्या मुझे और जीना चाहिये ? किंतु जीवित रहकर मैं क्या करूँगा ? मेरे मन में एक न मिटनेवाली पीड़ा है। मैं एकाकी हूँ, मुझे यह अभाव खटक रहा है, दु:ख दे रहा है ! देव मुझे इस अवस्था में कब तक साँसें गिनना है ! मेरे मरने की बेला कब आयेगी ?

"Here is the pleasant place.

And nothing wanting is, Save She alas !" (G. T. page 3.)

द्रष्टव्य। ['परंतु मृत्युरमृतं न एतु' मृत्यु हमसे दूर रहे और अमृत पद हमें प्राप्त हो]।

२५—"विकासमयी सत्ता" तथा "विलासमयी लालसा" का उल्लेख ऊपर आया है। इन दोनों खण्डों में दर्शन का सारगर्भित रहस्य छिपा है। "समस्त अविद्या प्रपञ्च महामाया का **संकोच** एवं **विकास** रूप **विलास** ही है।" (त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्, कल्याण २३–७१८) मूल अविद्या अनादि है। शिवशक्ति**शिवाभिन्ना** मातरम् प्रणमाम्यहम्" तथा "शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं। न चेदेवं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितुमपि" आदि में यह अविद्या परब्रह्म से अभिन्न है। "मैं भी कहने लगा" में इसी शक्ति का स्वर मनु को सुनाई पड़ा ! "द्विधाकृत्वात्मनो" मनु० १–३२ का ही द्विधा स्वरूप कवि ने "मैं" के द्विक वर्णन में अंकित किया है। संकल्प-विकल्प की प्रवाहिका में बहे हुए मनु देखते हैं कि उनकी आँखों के सामने से मायावी पट हट गया। जैसे रंगमंच पर यवनिका हटते ही कौतुकपूर्ण दृश्य उपस्थित हो जाता है उसी प्रकार पवन के एक झोंके ने यह जादू किया कि मनु की आँखों से माया का आवरण हट गया और प्रकृति का श्री-शोभा-सम्पन्न रूप पुन: दृष्टिपथ पर लहराने लगा। लगता था किसी ने जादू का खेल किया था जिससे प्रकृति का सुखमय रूप तिरोहित हो गया था, पर्दे में छिप गया था, वही पुन: उसी जादू की [illegible] जाति में पुन: आविर्भूत हो गया।

इन पंक्तियों में जहाँ 'मायाप्रपञ्च' के सोपाधिक अस्तित्व की ओर संकेत है, वहीं इस तथ्य की ओर भी कि वस्तु का तत्वत: नाश नहीं होता, वरन् उसका तिरोभाव ही होता है।

जैसे पवन प्रेरित बादलों के हट जाने से निर्मल आकाश द्युलोक प्रकट हो जाता है अथवा जैसे यवनिका के उठने से रंगमंच पर दृश्य सजा हुआ दिखाई देता है, अथवा जैसे माया-पट के हटने से ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार हिम-आच्छादन हटने से शस्य-श्यामला धरा दृष्टिगोचर हुई।

२६—(शालियों का उल्लेख शरद्वर्णन का अंग सा बन गया है। कालिदास ने ऋतुसंहार में 'आपकशालिरुचिरानतगात्रयष्टिः'' में शरद् को ''पके हुए धान की शरीर वाली कहा है।''

कलम : एक प्रकार का धान है जो दिसम्बर-जनवरी में पकता है। धान रोपा जाता है। इसी क्रिया की ओर 'कलम' शब्द का संकेत है।

''शरद् इंदिरा'' = शरद्-श्री। इंदिरा लक्ष्मी का नाम है। (पशूनां रुपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः)।

श्री सूक्त में लक्ष्मी गौ आदि पशु, अन्न, यश सभी देती हैं।

दृष्टि पथ पर दूर तक धानों की सुनहली बालें दिखाई दे रही थीं। लगता था, यह शरद्लक्ष्मी के मंदिर तक जाने का हेम-निर्मित मार्ग हो।

जैसा कि ऊपर बताया गया है लक्ष्मी स्वर्णाभ हैं। धान्य से ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, यह व्यंजना भी इसमें निहित है।

नगाधिराज हिमालय भारतीय राष्ट्र का शिरमौर है। उसकी महिमा गाथा से भारतीय संस्कृति तथा समाज का इतिहास भरा पड़ा है। ''गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो'' का उल्लेख पृथ्वीसूक्त (अथर्वेद १२ काण्ड)'' से लेकर ''हुआ हिमालय का शिर ऊँचा''—(मदालसा) तक भारतीय साहित्य में निरंतर होता आया है। वाल्मीकीय रामायण, श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त ''कुमारसंभव'' में हिमालय का विशिष्ट वर्णन हुआ है। हमारे कवि का वर्णन प्रकृति के चेतनीकरण तथा उक्तिवैचित्र्य की दृष्टि से सर्वोपरि है ऐसा तुलनात्मक अध्ययन से प्रकट होगा।

मणि रत्न-निधान—''भास्वन्ति रत्नानि''; ''अनन्तरत्नप्रभवस्य'' की बात ''कुमार-संभव'' में आई है।

निदान—प्रमुख अथवा मूल कारण का नाम है। सानु—शृंगधारी, पर्वत का दूसरा नाम 'सानुमत्' भी है। लताकलित, लताओं से भरा हुआ।

रोमांच—सात्विक अनुभाव तथा निद्रा—संचारी भाव हैं।

और डूबती सी अचला का अवलंबन—कालिदास ने कुमारसंभव १-१७ में हिमालय को पृथ्वी का अवलंब इसलिये कहा है कि हिमालय यज्ञ-सामग्री देता है और यज्ञ से विश्व चलता है [यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरण-क्षमं च]। हमारे कवि ने प्राकृतिक चित्र से बल लेकर एक स्वभाविक उक्ति द्वारा वही बात कही है। पानी पर पृथ्वी हिमालय का पैर पकड़े खड़ी-सी लगती है।

विश्व-कल्पना—संसार की सृष्टि कैसे हुई? इस रहस्य को नासदीय सूक्त में कल्पनातीत बताया गया है। जिस प्रकार यह रहस्य कल्पना की पहुँच से भी अधिक ऊँचा है उसी प्रकार हिमालय भी।

संसार की सृष्टि की कल्पना के समान ऊँचा, सुख शीतल संतोष का मूल कारण, डूबती हुई-सी पृथ्वी का एक मात्र सहारा, मणि, और रत्नों की खान, शांत हिमालय पर्वत का लताओं से भरा पवित्र शरीर अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ रहा था। उसकी ऊँची चोटियाँ रोमांच में खड़ी हुई रोमावली की भाँति थीं। लगता था हिमालय निद्रा निमग्न कोई सुखमय स्वप्न देख रहा है, जिससे उसके रोंगटे प्रसन्नता के अनुभव से खड़े हो गये हों।

२९ ("सुकृति संभु तनु विमल विभूती, मंजुल मंगल मोद प्रसूती" से शब्द साम्य स्थापित किया गया है !)।

योग की विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए 'संयम' की आवश्यकता है। "धारणा, ध्यान समाधि" का वर्णन योगदर्शन 'विभूतिपाद' में द्रष्टव्य। जब योगी सिद्ध हो जाता है तब उसकी चरण-रज विभूति-संयुक्त हो जाती है।

हिमालय की तलहटी में शांत कोलाहलहीन वातावरण था। लगता था, वह सिद्ध योगी की भाँति अचल समाधि में स्थित है और उसके चरणों में नीरवता की मलरहित सुन्दर शांतिमय विभूति प्रवाहित हो रही है। हिमालय के शरीर से फूटते हुए शीतल पानी के झरनों को देख कर ऐसा प्रतीत होता था कि हिमालय अपने जीवन अनुभूति की संचित राशि को सर्वजन हिताय लुटा रहा है।"

(भोग-त्याग के समन्वय का चित्रण कितनी सुन्दरता से इन पंक्तियों में दर्शाया गया है)।

३०—झरनों से संबंधित दूसरी उक्ति इन पंक्तियों में है।

(जैसे किसी नील परिधान ओढ़े नायिका की मृदु मंद) स्मृति देख कर कोई वीर नायक बिहँस पड़े और मंद स्वरों में गाने लगे उसी प्रकार नीले आकाश में फूटती आभाओं को देखकर हिमालय झरनों के रूप में बिहँसता तथा कलरव करता दिखाई पड़ रहा था)।

(झरना कल-कल छल-छल करता गान करता हुआ बहता ही है। उसकी धारा होठों पर खेलती हँसी के समान होती भी है। हँसी से हँसी का जन्म भी होता है।

इस प्रकार हमारे कवि का वर्णन स्वाभाविक भी है और उक्ति-वैचित्र्य से संपन्न थी।

३१—चट्टानों के बीच के रिक्त स्थानों में चक्कर काटता पवन शिलाओं के संघर्ष से मधुर ध्वनि–गुञ्जन–सदृश ध्वनि–उत्पन्न करता चतुर्दिक् घूम रहा था। उसे देख ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे चारण महाराजाओं के गुण की घोषणा करता फिरता है उसी प्रकार पवन यह प्रचार कर रहा था कि हिमालय को कोई भेद नहीं सकता, वह अचल है, सुदृढ़ है।

["शिला संधियों" से जो कार्य हमारे कवि ने निकाला है वही कार्य कालिदास ने

बाँसों से संपन्न किया है।" इस पहाड़ पर ऐसे छेद वाले बाँस बहुतायत से होते हैं जो वायु भर जाने पर बजने लगते हैं। तब ऐसा जान पड़ता है मानो ऊँचे स्वर से गाने वाले किन्नरों के गाने के साथ संगत कर रहे हैं]।

३२—**रंग बिरंगी छींट**—सूर्य की विभिन्न रश्मियों से बादल विभिन्न रंग में रँग जाते हैं। शेली ने लिखा—

—"as clouds of even,
Fleeked with fire and asure, be
In the unfathomable sky" (G. T. 291)

चोटियों का मानवीकरण शब्द-चित्र द्वारा किया गया है। चोटियों के शरीर पर संध्या-कालीन छींट सदृश बादल के वस्त्र तथा शिर पर हिम का मुकुट शोभा पा रहा था। इस वर्णन में एक व्यञ्जना यह भी निहित है कि बादल चोटियों के मध्य भाग तक ही पहुँचते थे। कालिदास इसका सीधे वर्णन "आमेखलं संचरता घनानां" में किया है जो कला की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण करते हुए हमारे कवि ने व्यञ्जना से जो काम निकाला है वह उसे महान कलाकारों में बिठाने में समर्थ है।

३३—हिमालय की चोटियाँ मूर्तिमान सभासदों की भाँति मौन-सभा में एकत्र हुई-सी प्रतीत होती थीं। लगता था कि संसार शांति, गौर तथा महत्व के कांतिमय प्रतिनिधि उस सभा में एकत्र हुए हों।

भाव यह है कि हिमालय की चोटियाँ मौन, गौरव तथा महत्व की प्रतीक थीं।

३४—**भ्रांत**—मिथ्या ज्ञान ही भ्रांति मूलक है (योग० समाधि० ३०); अपने को बहुत समझना। ऊपर वर्णन आया है कि हिमालय की ऊँची आकाश छूने वाली चोटियाँ संध्याकालीन बादलों की विभिन्न रंग-रंजित छींट पहने और हिम का मुकुट शिर पर धारण किए सुन्दर लगती थीं। वे सब मौन, गौरव महत्व की भव्य प्रतिनिधि बनी हिमालय के अनंत प्रांगण में मौन सभा कर रही थीं। पृथ्वी की झाँकी के पश्चात् कवि आकाश का तुलनात्मक चित्र उपस्थित करता है।

उधर ऊपर आकाश की ओर-छोर हीन नीलिमा जड़ तुल्य शांत, शून्य तथा अभावपूर्ण होने पर भी अपनी दूरी, विस्तार तथा ऊँचाई के कारण अपने को झूठमूठ अच्छा समझती हुई अपनी श्रेष्ठता के मिथ्याभिमान में भूली हुई थीं।

३५—हिमगिरि की शिखर श्रेणियाँ, ऊँची उभरी हुई चोटियाँ, विश्व सुख की उत्तल तरंगों के समान अनंत व्योम को पृथ्वी के सुख की ओर संकेत करती हुई हँस रही थीं और अपने सहज उल्लास में उसे बता रही थीं कि तुम में सूनापना है, जड़ता है, चेतना का अभाव है, अभाव का दुःख है, दुःख के कारण वैवर्ण्य है, इसके विपरीत पृथ्वी पर सुख है, हँसी है, उल्लास है, जिसका तुम्हें ज्ञान नहीं।

३६—दोनों ओर प्रकृति की अनंतता का अनुभव कराने वाले वातावरण में एक लम्बी चौड़ी सुन्दर मनोरम चुनने योग्य गुफा थी उसी में मनु ने अपने रहने के लिए भव्य स्थान बनाया।

३७—["तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्ट मूर्तिः। स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार" कुमारसंभव १–५७। उसी चोटी पर सब तपस्याओं का स्वयं फल देने वाले शिव जी ने अपनी दूसरी मूर्ति अग्नि को समिधा से जगाकर न जाने किस इच्छा से तप करना प्रारम्भ कर दिया।]

"इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन्भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम्। त्रयस्त्रिंशद्यानि च वीर्य्याणि तान्यग्निः प्र ददातु ते" (अ० १९–३७–१) में भौतिक अग्नि को शक्ति का चिह्न बताया है। अ० ६–४–१ में तप को बल का हेतु बताया है। अ० ५–३–१ में भी यही बात है। तप से सुख प्राप्ति की बात ऋ० ६–८३–१ में मिलती है।

"उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीलाः" (ऋ० १०-१०१-१) एक स्थान पर बहुत से अग्नि प्रज्वलित करें। अग्नि यजन तथा कर्म की मीमांसा के लिए मुण्डकोपनिषद् देखें। अथर्ववेद काण्ड १२ पृथ्वी सूक्त में बताया गया है कि भूतल में सब ओर अनल है, औषधियों में व्यापक अग्नि है, जल में बड़वानल रूपी अग्नि है, पत्थर में पावक अग्नि है, देह में जठराग्नि है, गायों घोड़ों में भी अग्नि है; अनल सूर्य रूप धरकर स्वर्ग में तपता है, अन्तरिक्ष में भी अग्नि देव का निवास है. मर्त्य-लोक में मानव हव्यवाह को उद्दीप्त कर घृत पीने वाले पावक को तृप्त करता है। वेदों में भगवान की अग्नि रूप में प्रार्थना के अनेक मंत्र हैं। कामायनी की उपर्युक्त पंक्तियों में इन्हीं सबका सङ्केत है। यज्ञों महायज्ञों में विश्वास करना हिन्दू धर्म का एक अङ्ग है। अपने ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के लिए यज्ञ तथा लोक कल्याण भावना से महायज्ञ किया जाता है। पुत्रेष्टियाग तथा अग्निहोत्र आदि यज्ञ हैं (कल्याण हिन्दू संस्कृति अङ्क ४६)। अग्नि जागरण (चेतना) का भी चिह्न है। सागर के तीर तप-यज्ञ करने की भावना 'स्नातक' से सम्बन्धित है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। (गीता ४–३२) भी मननीय !

'पास ही पूर्वसंचित अग्नि जल रहा था जिसकी दीप्ति सूर्य रश्मियों की भाँति फीकी हो गई थी। मनु ने उसे फिर से चैतन्य किया और वह शक्ति तथा जागरण का प्रतीक बना पुनः प्रज्वलित हो उठा।' व्यञ्जना यह भी है कि मनु के चैतन्य करने से अग्नि जग उठा, शक्ति समन्वित हो गया।

३८—समुद्र के किनारे मनु नित्य अग्निहोत्र करने लगे। मनु ने धैर्यपूर्वक अपने जीवन को तप कार्य में समर्पित किया, लगाया।

३९—मनु द्वारा देवताओं की संस्कृति की पुनर्स्थापना हुई। जैसे देवताओं ने काम्य यज्ञ की माया पसारी थी, उसी प्रकार मनु ने भी काम्ययज्ञ प्रारंभ किया। मनु पर देव-

यज्ञों की वर माया अपनी कर्ममयी शीतल छाया डालने लगी अर्थात् मनु कर्मकाण्ड में प्रवृत्त हुये।

[अग्निहोत्र—पँचमहा यज्ञों में है: "अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु-याग और सोमयाग" : गौतम धर्मसूत्र ८-१८ में यज्ञों के नाम हैं]। "देवो भूत्वा देवं यजेत्" आदि के साथ "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" गीता ३–१० मननीय। 'ॐ अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्न धातमम्" ऋग्वेद भी द्रष्टव्य]।

कामायनी सौन्दर्य पृष्ठ १०० पर तपस्वी मनु का चित्रण किया गया है। "येभ्यो होत्रां प्रथमामयेजे मनु" का उल्लेख करते हुये वहीं बताया गया है कि "पहले संचित अग्नि में यज्ञ करने वाले कामायनी के यह मनु वेद के मनु हैं !"

४० भलाई चाहने वाले सुख के साधनों को जानने वाले ज्ञानी पहले 'तप' की दीक्षा लेते हैं। 'तप' से ओज बल प्राप्त होता है "भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दक्षा-मुपनिषेदुग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप संनमन्तु" (अ० १९-४१-१)। शरीर के हृष्ट पुष्ट हुये बिना मनुष्य में तेज, ओज, कांति, वीर्य कहाँ ? (अथर्व० ५-३-१)। आदि मननीय।

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः। प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः (अथर्वेद १९-६०-२) में उरुओं में शक्ति, जाँघों में वेग, पैरों में दृढ़ स्थित शक्ति, त्रुटिरहित संपूर्ण देह, दोषरहित सर्वांग की कामना की गई है। मनु "स्वस्थ" थे में इसी भाव का समावेश है।

उठे :—"उत्क्रामातः पुरुष" (अ० ८ १) तथा "उद्यानं ते पुरुष" में मानव को ऊपर उठने, उन्नति पथ पर बढ़ने का उपदेश किया गया है।

अरुणोदय कांत :—जिस प्रकार सबेरे सूर्य निकलता है। मनु की अवस्था के साथ प्रातःकाल का भी वर्णन है।

[तप, यज्ञ और सूर्य्य की किरणों का संबंध है (मुण्डकोपनिषद् ४-५-६)। सूर्य्य परमेश्वर का नेत्र है (मुण्ड २-४)। ऋ० ७-४१ (१, २, ३, ४, ५) में प्रातः उठकर परमात्मा की अनन्त शक्तियों के मनन का उपदेश है। ब्रह्मचर्य का वर्णन अथर्वेद ११ ५ में द्रष्टव्य]।

सूर्य :—तेज, शक्ति, बल, कांति का प्रतीक है।

मनु अरुणोदय के साथ जगे। जिस प्रकार अरुण कांतिमत् होता है उसी प्रकार मनु ओज समन्वित थे। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट तथा चित्त सुस्थिर था। वे प्रकृति की शांत एवं मनोहर विभूति को मुग्ध मन देखने लगे]

अनेक स्थानों पर तेजस्वी पुरुष की उपमा सूर्य्य से दी गई है। किंतु यहाँ रूपक

भी है, प्रातः-वर्णन भी है, साथ ही प्रातःकाल उठने की ओर भी संकेत है। संहृत एवं अभिव्यञ्जना की प्रचुरता से संपूर्ण काव्य भरा पड़ा है।

४१—पाकयज्ञ—"औपासन[1] होमः वैश्वदेवः[2] पार्णवः,[3] अष्टका[4] मासिश्राद्धम्[5], श्रवणा,[6] शूलगव[7] इति सप्त पाक यज्ञ संस्थाः।" (गौतमधर्मसूत्र ८–१८)। "अग्नि होत्र" सात प्रकार के हविर्यज्ञों में एक है। (मुण्डकोपनिषद १-२-३)

धूम्रपट—"सुधूम्रवर्णा" अग्नि की एक अर्चिका नाम है। अग्नि के सप्तजिह्वा का उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में द्रष्टव्य। पर्यन्न (बादल की सृष्टि यज्ञ धूम से होती है। "यह निश्चय करके कि वे पाकयज्ञ करेंगे मनु धान की बालियों को चुनकर लाये। अग्नि प्रज्वलित की। आग से उठते धुयें ने आकाश में एक आवरण खड़ा कर दिया"।

४२—अर्चियाँ—"काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेयमाना इति सप्तजिह्वाः॥"

अग्नि की सात अर्चियाँ होती हैं।

समिद्धः—यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने (मुण्डको० १-२-२ । प्रदीप्त

आहुतिः—(ऐह्येहीति तमाहुतयः सवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति)।

नभ कानन हो गया समृद्ध—यज्ञ से बादल बनते हैं और बादल से वर्षा होती है, वर्षा से वनस्पतियाँ बलवती होती हैं। आहुतियाँ सूर्य किरणों का भी पोषण करती हैं। (मनु ३।७६)।

अग्नि उद्धरण, अग्नि अन्वाधान, आदि सभी कर्मों का सूक्ष्म वर्णन है।

वृक्षों की सूखी डालियों ने समिधा का कार्य किया। इस प्रकार प्रदीप्त अग्नि में मनु आहुतियाँ देने लगे, जिससे पृथ्वी और आकाश दोनों भरपूर हो गये। दोनों का कल्याण हुआ।

४३-४५—जगत के मंगल की कामना से पंच महायज्ञ की व्यवस्था है। मनु २-२८; २-७०-३-६४ आदि द्रष्टव्य।

सहज सुखः—परोपकार की मनोवृत्ति—निष्काम उपकार—में स्वाभाविक सुख है!

नीरवता ··थे—"शांत गांभीर्य" का चित्रण है।

अपने मन में यह सोच कर कि जिस प्रकार प्रलय से मैं बच गया हूं उसी प्रकार यदि और कोई भी बच गया हो तो कोई आश्चर्य की बात न होगी, मनु अग्नि होत्र से बचे अन्न को दूर रख आते थे। उन्हें इस भाव में बड़ा सुख मिलता था कि उनका यह अवशिष्ट अन्न कोई अपरिचित व्यक्ति खाकर संतुष्ट होगा। उन्होंने स्वयं भारी दुःख उठाया था इसी से वे दूसरों के दुःख से दुखी होना सीख गये थे। अतएव संवेदना प्रेरित हो वे उपर्युक्त कृत्य करते थे। इस प्रकार वे उस नीरव वातारण में अकेले शांत एवं तन्मय रहते थे।

४६—जैसे पतझड़ में वृक्ष-लता पत्रों से रिक्त नंगे तपस्वी के भाँति दिखाई देते हैं उसी प्रकार मनु उस चेतनाहीन वातावरण के सन्नाटे में तपस्वी का जीवन व्यतीत करते

थे। और वहीं उस निर्जन में धूनी रमाये जलती आग के समीप वह कुछ सोच-विचार किया करते थे। शब्दों द्वारा दोही पंक्तियों में मुनि, योगी तथा तपस्वी का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया गया है। (तपस्या का पुल्लिंग प्रयोग क्यों ?) ।

४७—इतने स्वस्थ प्रशांत वातावरण में भी कभी-कभी वे उद्विग्न हो उठते थे। उनका हृदय कभी-कभी धड़कने लगता था, कभी उसके मन में कोई नई चिंता उत्पन्न हो जाती थी ! इस प्रकार उनके जीवन के दिन अभाव के अवसाद से पीड़ित अस्थिरता में व्यतीत होने लगे ! रह रह कर उनके मन में खटकता, कब तक यों ही अकेले ? क्या मेरा कोई साथी नहीं ?

४८—ऊपर बताया गया है कि प्रज्वलित यज्ञाग्नि के पास बैठे मनु विचार निमग्न रहते थे। जैसे पतझड़ में पत्रहीन वृक्ष का रूप तपस्वी-सा लगता है उसी प्रकार मनु तप की प्रतिमा थे। किंतु मननशील मन में कभी-कभी नई चिंता उत्पन्न हो जाती, हृदय स्पन्दित हो उठता। इस प्रकार वासना के उद्रेक से उनका मन चंचल होने लगा और वे एक अभाव का अनुभव करके अपने को दीन समझने लगे। भविष्य—अंधकार-मय भविष्य के माया जाल में मनु के मन में नित्य नये प्रश्न नई समस्यायें उत्पन्न होने लगीं। एक प्रश्न का कुछ उत्तर मिलता कि दूसरा प्रश्न उपस्थित होता। ये सभी प्रश्न, सभी समस्यायें क्षण-क्षण अपना रंग बदलती थीं। चित्त की मनोवृत्तियाँ हृदय की गति इस प्रकार बदलती थी जिस प्रकार विराट् की छाया रंग बदलती है।

४९—मनु के प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर, उनकी समस्याओं का सरल सुझाव कोई न था। प्रकृति के कर्मनिरत रूप से उसके प्रश्नों का अर्धस्पष्ट उत्तर मिलता। वह देखते थे कि प्रकृति सदैव कर्म में लगी हुई अपनी सुरक्षा में लगी हुई है। उसी का अनुकरण करते हुए मनु भी नियमित कर्मों में लग गये और उन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा की चिंता होगई। इस प्रकार वे कर्म जाल बुनने में लग गये। (योग दर्शन में 'कर्म' की मीमांसा द्रष्टव्य) ।

५०—"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः"। "प्रकृति का स्वभावसिद्ध स्पन्दन ही कर्म है" पाप-पुण्य, आयु, भोग, पुनर्जन्म सब कर्म की माया है। शुक्ल, कृष्ण, तथा शुक्ल-कृष्ण तीन प्रकार के कर्म आदि की व्याख्या के लिये योग दर्शन कैवल्य-पाद द्रष्टव्य।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इशोपनिषद् २ मननीय। कामोपभोग की मीमांसा की ओर भी संकेत ! कर्म की मीमांसा के लिये 'गीता' अध्याय २ पठनीय। लौकिक जीवनयापन के लिये कर्म आवश्यक है ही।

इस प्रकार मनु तप में लगे हुये नियमपूर्वक अपने नित्यकर्म करने लगे। इस प्रकार कर्म की शृंखला उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

(सूत्र से जाल बुना जाता है। 'घन' में श्लेष का समावेश है।)

५१–इसके पूर्व "माया" का उल्लेख हुआ है (अंधकार की माया में)। इन पंक्तियों में "नियति" का उल्लेख है। दोनों ही शैवागम के शब्द विशेष हैं। माया ही लोकों तथा जीवों की उत्पत्ति का कारण है। कालतत्व की सृष्टि के पश्चात् माया नियमन शक्ति-स्वरूपा नियति की सृष्टि करती है। (विशेष बोध के लिये कल्याण १८–१–३४० द्रष्टव्य)।

नियति शासित मनु इस प्रकार प्रकृति की नियमन शक्ति के अधीन भाग्य के भरोसे विवश जीवन व्यतीत करने लगे। प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में उन्हें विवश होकर दत्तचित्त होना पड़ता था। जैसे सागर तट के जल में तरंगें अपने आप शांत सुस्थिर उठती रहती हैं, उसी प्रकार मनु का जीवन अपने आप यंत्रवत् चलने लगा।

(इन पंक्तियों में कालतत्व का उल्लेख है)

५२–इस प्रकार मनु सूने सोये संसार की निर्जनता में असफल कल्पनायें करते रहते और उधर काल अपने पथ पर अनवरत चलता जाता था।

जिस प्रकार रात्रि में जगत के सूने वातावरण में चिन्ताकुल प्राणी जग कर कल्प-विकल्प में रात काटता है वही दशा मनु की उस निर्जन सूने प्रसुप्त वातावरण में थी।

ग्रहपथ—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु नव ग्रह हैं। (विष्णु पुराण २–१२ द्रष्टव्य)। ये ग्रह अपने-अपने अण्डाकार पथ पर भ्रमण करते हैं। इनके पथ से जाल की आकृति बनती है। ये प्रकाश पिण्ड अपने ज्योति पथ पर चलते हैं। इसी से कवि ने इसे "आलोक वृत्त" कहा है। "सैव भ्रामन् भ्रामयति चन्द्रादित्यादिकान् ग्रहान्। भ्रमन्तमनु तं यान्ति नक्षत्राणि च चक्रवत्"। विष्णु पुराण (२–६)। 'कालचक्र' का निर्माण सूर्य्य की क्रांतिवृत्ति से होता है। (विष्णु पुराण २–८)।

५३—[संवत्सरात्मक चक्र में संपूर्ण कालचक्र स्थित है। पन्द्रह निमिष की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की कला, तीस कला का मुहूर्त तथा तीस मुहूर्तों का सम्पूर्ण दिन-रात। ८ पहर में दिन रात्रि दोनों आदि बातें किसी ज्योतिष की पुस्तक में देखें]।

दिवारात्रि इस प्रकार कोई नया संदेश दिये बिना ही व्यतीत हो जाते। वही नित्य के यंत्रवत कर्म तथा वही सूना-सूना संसार। जैसे विरागपूर्ण संसृति में किसी भी नये कार्य के प्रारंभ की चेष्टा निष्फल होती है, उसी प्रकार मनु का जीवन किसी नवीनता के प्रादुर्भाव के अभाव में नीरस बीतने लगा। ("सृष्टि के आरंभ में पूर्ण अवयव व्यक्तियों की विराग भावना के कारण सृष्टि का क्रम आगे न बढ़ा", इस ओर भी संकेत है।)

५४–उद्गीथ–सामगान को उद्गीय कहते हैं। 'ॐ', इस प्रकार कहकर 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् आश्रावण करता है (मन्त्र सुनाता है); 'ॐ' यों कहकर ही 'होता' नामक ऋत्विक् शंसन करता है मंत्रों का पाठ करता है); और "ॐ यों कहकर ही उद्गाता उद्गीथ का गान करता है" (छान्दोग्योपनिषद् १–१)। प्राणों से उद्गन करने की बात वही (१–२) में द्रष्टव्य। पवन द्वारा उद्गान प्राणों का ही उद्गान है। प्राणों के उद्गान को असुर प्रवृत्तियाँ दूषित नहीं कर पातीं अतएव उसका विशेषण "पावन" सार्थक है।

शुभ्र ज्योत्स्नापूर्ण चन्द्र (राका शशि) के उदय से निशा सुन्दर और स्वच्छ लगती थी, जिसकी शोभा को देखकर शीतल-पवन पुलकित (प्रसन्न) होकर पवित्र सामगान कर रहा था। "पवन की गति से उत्पन्न स्वर सामगान के स्वर से मिलता था"। (सामगान के स्वरों से परिचय के लिये संक्षिप्त नारद पुराण कल्याण २८–१–१५८ द्रष्टव्य)। [शरद्-पूर्णिमा का वर्णन है 'मानव' ने अपनी टीका में "रातें" लिखकर अनर्थ कर दिया है]

५५—[नीचे दूर तक लहराता क्षुब्ध सागर व्यथा भार से अशांत फैला था और ऊपर उसी प्रकार आकाश में चाँदनी का सागर—व्यस्त सागर—फैला था]

चंद्रिका-निधि—चाँदनी का सागर; नीले आकाश में चाँदनी इस प्रकार व्यस्त थी कि लगता था कि शुभ्र-ज्योत्स्ना का सागर लहरा रहा हो। शरद-पूनों की भव्यता का उल्लेख साहित्य में व्यापकता से मिलता है। कालिदास ने ऋतुसंहार में चाँदनो के आकाश की उपमा "ताल" से दी है !!

[पूर्णिमा को सागर चाँद चूमने दौड़ता है]।

५६—"सोहत है सीतल मयंक कैसो नभ माँहि, कैसी अवनी तल पै चाँदनी लसोत है;" "स्रवत सुधा सो आज चंद वसुधा पै है" आदि अनेक मनोरम पंक्तियों को उद्दीप्त करता "शारदेन्दु" उद्दीपन विभाव का अंग है।

उपर्युक्त पंक्तियाँ इतनी मधुर भावनाओ को सँभाले हैं कि लेखनी उनको छूते हुए संकोच कर रही है। कलाकार की कला की जितना भी सराहना की जाय कम है।

इसके पूर्व की पंक्तियों में (निद्रा, तन्द्रा, स्वप्न) संचारी भावों; तथा 'पुलक' नामी अनुभाव, शरद पूनो तथा चाँदनी (उद्दीपन विभावों) का उल्लेख हुआ है।

इन पंक्तियों में "विबोध" नामी संचारी भाव का चित्र है। 'आँख खोलना' विबोध का लक्षण है "शान्ति और जागरणादि-जनित निश्रेष्टता तथा सामर्थ्य होने पर भी उत्साहहीनता को 'आलस्य' कहते हैं" (रसकलस)। "चलता था सूना सपना" की व्याख्या करते हुए बताया गया है। इन पंक्तियों में जग कर रात व्यतीत करने की व्यञ्जना है। एकाकीपन में आलस्य आना स्वाभाविक है। सोचते-सोचते मनु की

चेतना अलसा गई। नायक-नायिका का आलम्बन लेकर उपमा-उत्प्रेक्षा के बल पर इस प्रकार भाव विभाव आदि की झाँकी सजाना कुछ हमारे कवि का ही काम है।

रमणीय – मन को मोहने वाला, जिसमें मन रम जावे; इसके अतिरिक्त अन्त-र्ध्वनि "रमणेच्छा को बल देने वाला", उद्दीप्त करने वाला" की व्यञ्जना भी अपनी शब्द-शक्ति में समाविष्ट रखती है।

कुसुम शब्द का प्रयोग 'नन्हा-सा हृदय' का बोध कराता है।

मधु से वे भीगी आँखें—रस सिक्त होने का द्योतन करता है।

["That under conditions of Sexual abstinance in healthy individuals there tend to be some auto erotic manifastations during waking life, both theory and a careful study of the poets lead us to beleive. आदि बातें Psychology of Sex by Hereloch Ellis पृष्ठ ६६–६७ पर देखें।]

"उत्तुदस्त्वाने तुदनु मा धृथाः शयने स्वे। इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि तव हृदि"

जब उत्तम रूप से व्यथा देने या प्रेरणा देनेवाला काम तुझे भली प्रकार व्यथा देता है तब अपनी सेज पर भी सुख चैन से तुम सो नहीं सकते"। "आधी पर्णां काम शल्यामिषु सङ्कल्पकुल्मलाम्। तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि" (कामदेव तेरे हृदय में उस बाण को व्यथारूप पंखों से सजा कर काम का शल्य लगा कर नाना संकल्प विकल्पों की लेस से चपका कर और उसको भलीभांति झुका कर स्मर देव तेरे हृदय में ताड़े)। "प्राचीन पक्षा-पक्षा व्योषा तया विध्यामि तव हृदि" सरल पक्षों से युक्त होकर भी नाना प्रकार से हृदय को तड़पाता हूँ" (अथर्ववेद संहिता सूक्त २५–४)। काम के उद्भेद नहीं, काम के उद्दीप्त होने का चित्र हमारे कवि ने "मधु से वे भींगी पांखें" में अंकित किया है। (कुछ ऐसे भी चित्र संश्लिष्ट हैं जिन्हें स्पष्ट अंकित करने से भावना मुरझा जावेगी)।

उस सुन्दर हृदय से मनु की कामवासना उद्दीप्त हो उठी। वे चैतन्य हो गये उनका सारा शैथिल्य दूर हो गया। रुधिर में उष्णता तथा शरीर में स्फूर्ति आ गई। वे सोये से जग गये। उनकी भावनाएँ बलवती, उनकी मुद्रायें चञ्चल हो उठीं। मधु की परि-पक्वता से जैसे कली अचानक चिटक कर फूल बन जाती है उसी प्रकार मनु का हृदय रस-सिक्त होकर प्रसन्न मुद्रा में हँस पड़ा। [शुक्र की उत्तेजना से उसका हृदय फटने लगा !]।

५७—यौन मनोभावों के उद्दीप्त होने पर संकल्प विकल्प-रत-मन क्या-क्या स्वप्न देखता है इसे किसी भी कामशास्त्र संबन्धी पुस्तक में देखें।

"रस की उत्पत्ति तभी होगी जब स्थायीभाव व्यक्त होकर विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव के साथ सर्वथा तल्लीन हो जायगा"। (रस-कलस १४)। 'शृंगार रस' का पूर्ण विवेचन रस-कलस पृष्ठ ८३ आदि पर द्रष्टव्य।

"शृंगार रति स्थायीभाव से उत्पन्न हुआ और उज्ज्वल वेषात्मक है"। शृंगार का देवत नील वर्ण विष्णु है।

[पृथ्वी की गंध फूल खिलने से प्रकट होती है; वासना हृदय के मथित होने से]।

रति सुख को ब्रह्मसहोदर मानते हैं और ब्रह्म इन्द्रियातीत है ही।

उपर्युक्त सभी बातों का समावेश उपर्युक्त पक्तियों में है।

कंपन—कंप सात्विक अनुभाव है।

नीले आकाश में चन्द्रमा शोभा पा रहा था। वह आकाश के अंक में ज्योतियाँ भरता डोल रहा था। चन्द्रमा का शरीर कँपता था आकाश के अंक में। मनु इस दृश्य से प्रभावित होकर सिहर उठते थे प्रसन्नता के उद्रेक में कल्पना की अतिभूति में। वे सोचते कहीं ऐसा होता "वह चन्द्र (मेरे) हृदय में होता। और इस कल्पना में उसे सुख का अनुभव होता। उसके हृदय-तंत्री के तार छू उठते, बज उठते, जिससे सुख की रागिणी की ध्वनि फूटती थी। इस प्रकार मनु एक ऐसे सुख का अनुभव करते जो इतना रहस्य-पूर्ण है जैसे ब्रह्मानन्द जिसका अनुभव इन्द्रियाँ नहीं कर पातीं।

५८—अनादिवासना : "तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्" (योगदर्शन कैवल्य-पाद १०) में वासनाओं को अनादि बताया है।

हमारा कवि "रति" को अनादि वासना मानता है। यही 'रति' काम की सहचरी है। रति स्थायी भाव है। "सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्" के अनुसार बिना वासना के रसास्वाद संभव नहीं।

हमारे कवि के मतानुसार रति का मनोभाव, रमणेच्छा प्राकृतिक भूख है। आज की क्या युगों की मान्यता भी यही है (सबके हृदय मदन अभिलाषा। लता बिलोकि नवहिं तरु साखा।)

चिर परिचित सा—"परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण मुझको" (आँसू) में जन्मान्तरीय संबंध बोल रहा है। आगे श्रद्धा सर्ग में इस पर विशेष प्रकाश डाला जावेगा।

[जैसे भूख का लगना स्वाभाविक है उसी प्रकार रति की कामना भी प्राकृतिक है, स्वाभाविक है। यही रति की कामना, जो अनादि वासना की प्रतिमूर्ति है, मनु के हृदय में जग गई। वे आकाश-चन्द्रमा की झाँकी से द्वयता का, द्वयता के सुख का, अनुमान करके चिर परिचित-सा साथी चाहने लगे। चिर-परिचय से कृत्रिम औपचारिकता का नाश होकर सहज प्रेम का उदय होता है। मनु ऐसा ही साथी चाहते हैं जिसे उनसे सहज प्रेम हो]।

५९—मित्र वरुण—"शं नो मित्रः शं वरुणः" तैत्तिरीयोपनिषद् के द्वादश अनुवाक में मित्र (दिन और प्राण के अधिष्ठाता) तथा वरुण (रात्रि और अपान के अधिष्ठाता) के प्रत्यक्ष देव रूप में वर्णन है। "वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः करतां नः सुराधसः" (यजुर्वेद ३३-४९) में भी यही बात आई है।

शृंगार—("ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात्" अथर्वेदीयसंहिता १-१४-३) में शिर का शमन अर्थात् कन्या के केश-पाशों को वर द्वारा एकान्त में खोलकर पुनः सजाने की बात आई है। केश प्रसाधन के समय पूर्व काल में कन्या के बालों में ऊन के दो गुच्छे बँधे होते थे उनको खोला जाता था। वे दोनों वरुण के पाश कहाते थे, वे उनके कन्यात्व के द्योतक थे। काम के उद्भेद को शृंग कहते हैं। पूर्णवयस्कता प्रौढ़ता के प्राप्त होने पर शरीर की दीप्तिकान्ति के साथ दर्शनीयता बढ़ जाती है। जवानी स्वयं ही सिंगार बनती है।

ऊर्मिल सागर—"सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ। उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः" (सब रस और भाव समुद्र में लहरों के समान जिसमें उठते और लीन होते रहते हैं उसका नाम प्रेम है) क्षुब्ध-मानस, रतिभाव से उद्वेलित मानस का प्रतीक है "ऊर्मिल सागर"!

मिलन—संध्या (मिलन-विन्दु) का द्योतक है। संध्या, पूर्व तथा उत्तर, दो प्रकार की। सामान्यतः ऊषा (मित्र-बाला) तथा संध्या (वरुण बाला) के नाम से इन्हें जाना जाता है।

[सागर तट पर स्थित व्यक्ति देखता है कि ऊर्मिल सागर के उस पार, क्षितिज पर, मिलन विन्दु है, जहाँ कोई दिवा-रात्रि अथवा ऊषा-संध्या का चिरकाल से नित्य शृंगार किया करता है। मनु को भी यही चित्र दिखाई पड़ा बाह्य जगत में और उसी की प्रतिच्छाया उन्हें देख पड़ी अन्तर्जगत में। उसे भान हुआ जैसे उसके "स्वरकरम्बितान्तःकरणयोः" (कामवासना प्रेरित रमणेच्छा) की दूसरी ओर, उसकी भावभूमि के क्षितिज पर मिलन-विन्दु हँस रहा है, व्यंग कर रहा है कि तुम मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। किंतु मनु कल्पना करते हैं कि वह मिलेगा।]

"रतिर्मनोनुकूलेर्थे मनसः प्रवणायितम्" के अनुसार उसका मन प्रिय वस्तु की ओर प्रेमपूर्वक उन्मुख हो रहा था। किन्तु "प्रिय-वस्तु" का आभास केवल उसकी कल्पना में था। भाव-सागर के उस पार 'कल्पना' ही तो है!

६०-६२—संवेदन—"रतिस्तु मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनम्" [मन के अनुकूल अर्थों में सुख प्रसूत ज्ञान का नाम **रति** है]। अतएव '**संवेदन** प्रीति, प्रेम, अनुराग आदि का ही द्योतन करता है। संवेदन से अप्रियता मिटकर आकर्षण, हृदयग्राहिता अथवा प्रियता की सृष्टि होती है। इसी का अभाव दुःख का कारण बनता है।

'संवेदन' में प्रेम की टीस का सुख है! "चोट" इसी टीस का बोध सँभाले है।

अलकों—आलंबन विभाव का अंग है। "बंधन अरुझत ही रहत, मिटत न मन को द्वंद। जो छोर्‌यो जूरो पर्‌यो अलकावलि के फंद"।

पुलकित—रोमांच नामी सात्विक अनुभव है।

अट्टहास—'अतिहसित' का रूप है।

सयंम का संचित बल—"ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति। अथ० ११-५-४ समिधा (यज्ञानुष्ठान); मेखलाबन्धन **(वीर्य्य रक्षा)**; तप आदि की बात ब्रह्मचारी के कर्तव्य का व्याख्यान करते कही गई है। मनु ने संयम नियम से ब्रह्मचर्य का पालन करके बल वीर्य संचित किया था।

तृषित-व्याकुल—"इषु य कामस्य या भीमा तत्त्वा विध्यामि हृदि" की बात ऊपर आ चुकी है। कामवासना से मन में **जलन उत्पन्न** होती है जो "रूप पानिप" की तृषा का परिणाम है। प्यास के कारण मनुष्य व्याकुल हो ही जाता है। **काम-भाव** के उत्पन्न होने से मन व्याकुल हो ही जाता है।

मनु ने संयमपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके वीर्य रक्षा की थी, जिससे उनके शारीरिक एवं आत्मिक बल की वृद्धि हुई थी। आज वही बल सृष्टिमूलक-वासना के कारण व्याकुल हो उठा था या यों कहिए कि बल ने उसके मन में काम-वासना के संचित संस्कार को जगा दिया जिससे वह व्याकुल हो उठा। मनु के मन में एक उत्कट प्यास-सी उत्पन्न हुई जो पानी (जीवन) चाहती थी। [कामस्तग्रे समवर्तताधि" पर पुनः मनन कीजिये। सृष्टि रचना का यही रहस्य है कि आदि पुरुष अनादि वासना प्रेरित 'काम' से व्याकुल हो उठा]। उसके मन में सूना-पन था जो जीवन-सहचरी के लिए अधिकतम अधीर हो उठा था। बाह्य वातावरण भी ऐसा ही था। इस रिक्त सूने अधीर भाव राज्य में उसकी अहम् भावना मर्यादा की सभी सीमाएँ पारकर अट्टहास करने लगी। वह उन्मादित हो उठा।

[उन्माद—मन की दशा। वियोगावस्था में संयोगोत्सुक हो बुद्धिविपर्ययपूर्वक वृथा व्यापार, जड में चेतन विवेक-रहित होने और व्यर्थ हँसने-रोने आदि को उन्माद कहते हैं। रसकलस २६४। रेत के रुकने से उन्माद की दशा उत्पन्न होती है। इस आयुर्वैदिक तथ्य की ओर भी संकेत]

मनु अभाव तथा व्याकुलता से मन में थकान का अनुभव करने लगे। उनके थके हुए शरीर को जब मन्द पवन ने स्पर्श किया तब वे रोमांचित हो उठे और उनके अंग-प्रत्यंग में एक आकुलता-सी भर गयी। जैसे कामिनी के उलझे केश-पाशों से मीठी गंध की लहर, चंचल लहर फूटती है, उसी प्रकार मनु के मन में मन को अधीर बनाने वाली कामना की उलझनों से आशा का उदय हुआ। वह कल्पना करने लगे कि इसी प्रकार कोई उन्हें स्पर्श करके पुलकित करेगा तथा अपनी उलझी अलकों की गंध से उसके प्राण को मदान्वित करेगा।

प्रेम के उद्‌गारों से उनका मन व्यथित हो गया। यह सोचकर कि कहीं ऐसा होता कि कोई मेरे साथ संवेदन प्रकट करने वाला होता, वह व्याकुल हो उठे। संवेदन की यही इच्छा सासांरिक जीवन को पीस डालती है, दुखी बनाती है।

६३-६५—कल्पना का भावराज्य अत्यन्त मधुर तथा सुन्दर होता है। सुख की कल्पनायें करके उसी की सुखप्रद छाया में जगत् सोता है। किंतु दुख यह है कि कल्पना के संसार में मन अधिक देर तक न रहकर यथार्थ की गोद में उतरना चाहता है। यथार्थ की ओर उन्मुख होकर ही मन अभाव का अनुभव करके दुखी होता है। यदि मानव कल्पना से ही सुखानुभव कर सकता तो हृदय और संवेदन प्राप्ति की इच्छा का द्वंद मिट जाता और अभाव तथा असफलता का प्रश्न ही न उठता और उनसे पीड़ित होकर कोई मानव अनर्थ प्रलाप न करता। अपने आप कोई सुने या न सुने, अपनी पीड़ा-वेदना को यथार्थ व्यक्त न करता। इसे 'बकने' को व्यक्त करते हुये स्वयं मनु कहने लगे, 'मेरे जीवन! मुझे इस प्रकार सवेदनहीन दशा में अभी कब तक और अकेला रहना होगा? मैं अपने मन की बातें किसी से कहना चाहता हूँ किन्तु मैं अपने मन के रहस्य का उद्‌घाटन किससे करूँ? किन्तु हे मन, इस बकवास से लाभ? यह रहस गाथा, अपने मन का मूल्यवान मर्म है, इसे व्यर्थ व्यक्त करने से क्या लाभ होगा!

(आगे "यहाँ मनोमय विश्व कर रहा रागारुण चेतन उपासना" मननीय। अंग्रेजी कवि कीट्स की "Ever let the fancy room" G. T. द्रष्टव्य)।

६७-६८—**इन्द्रजाल-जननी**—अंग्रेजी के कवि मिल्टन की भाँति हमारा कवि वस्तुओं भावनाओं के कल्पित मातृत्व-पितृत्व की बात करता है। पिता के शुक्र तथा माता के शोणित से ही शरीर की रचना होती है। रजनी स्वयं ऐन्द्रजालिक तत्वों को अपने में निहित रखती है, वह माया स्वरूपिणी है। "महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्यमावृत्य तदेव कार्येनियुङ्क्ते"। महा मोह रूपी इन्द्रजाल से प्रकाश-शील चित्त को ढांप कर उसी को अकार्य में लगाती है। महामोह राग का ही नाम है। (सांख्य सूत्र १४) इस सम्बन्ध में मननीय।

[मानव अपने मन का प्रतिबिंब ही बाह्य जगत में देखता है। जगत को शीतलता प्रदान करने वाली चाँदनी विरहिणी के लिये जलन की सृष्टि करती है]।

मनु रात्रि में तारा को देखकर कहते हैं:—

हे शोभामयी किरणों से अभिभूषित तारा, तुम इस तम के विस्तृत उर में अत्यधिक जगमगाते रहस्य की भाँति शोभित हो। तुम्हें देखकर यह प्रश्न उठता है कि इस तम के अन्तराल में यह ज्योति किरण-पुञ्ज कहाँ से, क्योंकर? तुम प्रभापुंज प्रकाशित शुभ्रवर्ण उज्ज्वल प्रकृति के हो, तुम्हारी आभाएँ शीतलता से भरी हैं, तुम्हारी

सृष्टि सात्त्विकी है, तुम से ही व्यथित विश्व को सुख-शांति मिलती है, तुम्हीं से समस्त नये रसों की सृष्टि होती है।

जैसे धूप की गर्मी में जला-भुना व्यक्ति छाया की गोद में पहुँच कर शांति अनुभव करता है उसी प्रकार तुम्हारे छाया-देश में संतप्त जीवन तथा क्लांत सुख को शांति मिलती है।

हे तारो, तुम्हारी संख्या का अंत नहीं, तुम्हीं को देख कर 'अनंत' की कल्पना भी होती है और उसका विश्वास भी। (गणना ! शब्द के अर्थ बोध में ये सभी जीव हैं)। अतएव ए तारे, तुम हम लोगों के लिये अत्यन्त सुन्दर सन्देश-वाहक हो ! तुम्हीं यह संकेत देते हो कि घोर-निराशा के अंतराल में असंख्य आशा-विन्दु छिपे है और इन आशा-विन्दुओं की सृष्टि सात्विकी तथा ईश्वरीय है !

[चुप रहना बहुत बड़ा गुण है। रहस्य की सृष्टि एवं रक्षा मूकता से ही होती है। शून्यता चिर मौनधारी तो है ! फिर शून्यता की चतुराई क्या कहना]

आह शून्यते चुप रहने में तू इतनी कुशल क्यों हुई ? मैं बार बार प्रश्न करता जा रहा हूँ किन्तु तू मेरे एक प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे रही है ? जादू भरी रात, मोहकता की सृष्टि करने वाली रात्रि, न जाने क्यों तू आज अधिक मधुर लग रही है !

६६-७८—प्रकृति के व्यापारों से ही नियम-विधि का चरण होता है। इसी से अंतरंगा एवं बहिरंगा प्रकृति के साथ तटस्था प्रकृति के व्यापारों का विश्लेषण करने से ही संसृति के रहस्यों का उद्घाटन होते देखा जाता है। उपर्युक्त पंक्तियों में मनु की रात के साथ वार्ता चलती है। मनु रात्रि को सम्बोधित करके कुछ भाव व्यक्त करता है जिस में रात्रि का चित्रण तथा मनु के मनोभावों की छाया है। वेदोक्त "रात्रि-सूक्त" का मनन इस संबंध में लाभकर होगा। "आँसू की व्याख्यात्मक आलोचना" में 'निशि सो जाते जब उर में" आदि पंक्तियों की व्याख्या इस संबंध में द्रष्टव्य।

तारों भरी रात, उसकी शून्यता, मूकता तथा मधुरता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। साथ ही यह भी कहा गया है कि रजनी "इन्द्रजाल" (मोहमयी राग-भावना) की जननी है। अब "रजनी" से मनु की दो-दो बातें होती हैं। मनु रात्रि को संबोधित करके कहते हैं:—

६६—रजनी ! संध्या जब कामना-सिंधु के तट पर तारा-दीप रखती है, ठीक उस प्रकार जैसे स्त्रियाँ अपनी मनोकामना की तृप्ति के लिये समुद्र में संध्या समय दीप-दान करती हैं, तब ए रजनी, तू संध्या की सुनहली साड़ी चीर कर उसके साथ क्रूरता का व्यापार करके अपना मुख फेर कर व्यंगहास करके उसका उपहास क्यों करती है ? मनोविनोद की भी एक सीमा होती है। सुनहली साडी कितनी मूल्यवान होती है ? इसे हँसी-हँसी में यों फाड़ना न चाहता था। [संध्या की सुनहली साड़ी के भीतर नीला गात्र होताहै

तू साड़ी फाड़ कर उसके वास्तविक रूप का दर्शन करा देती है जिससे वह बेचारी लज्जित हो जाती है, यह व्यञ्जना भी इस चित्र में है]।

७०—काले शासनः—("काला शासन चला मृत्यु का" ऊपर आ चुका है)

उच्छृंङ्खल-इतिहासः—उच्छृंङ्खल व्यापारों का इतिहास, इतिहास जिसमें गंभीर अध्ययन हो।

आँसू औ श्रम—रात्रि में तुहिन-कण तथा तिमिर होता ही है। निराशा में भी रोना होता है तथा जीवन अंधकारमय होता है। तारे = आँसू के कण-से लगते हैं।

जब कामना, ताराओं, तुहिनकणों अथवा आँसुओं की उज्ज्वलता में तिमिर, कालिमा, निराश घोल कर जीवन की इस मृत्यु-यातनापूर्ण काल के कुकृत्यों का इतिहास लिखने का प्रयत्न करती है तब तू (रजनी) उसके प्रयास पर व्यंग करती हुई चांदनी मिस मंद-मंद मुस्करा पड़ती है।

७१—जिस प्रकार भ्रमरी किसी कोने से उड़कर कमल पर आ बैठती है और उसे चूम कर चली जाती है और जैसे दूर से पढ़ा हुआ टोना प्राणी पर अपना सम्मोहन चलाकर वशीभूत करता है, उसी प्रकार तू भी जगत के प्राणियों के साथ व्यापार करती है। न जाने तू कहाँ से आती है और फिर कहाँ चली जाती है! तेरे इस कृत्य के पीछे क्या रहस्य है, तेरा कौन प्रेरक है, पता नहीं!

७२—निशे! तुमने इतनी सिसकती-साँसों की शक्ति क्षितिज के किसी कोने में छिपा रखी थी जो तुम उसका संबल लेकर समीर के मिस हाँफते हुए किसी दिशा में इस प्रकार उत्सुकता से बढ़ रही हो जैसे तुम किसी से अभिसार करने जा रही हो।

[अभिसारिका का कितना मनोरम चित्र है जो रस सृष्टि में समर्थ होते हुए विकार-पूर्ण नहीं है]।

७३—हे रात्रि, चाँदनी के मिस तू इस प्रकार मत विहँस। तेरे इस हँसी बिखेरने का फल अच्छा नहीं। तेरे ऐसा करने से सागर की लहरों में उथल-पुथल मच जावेगी और तुहिन कणों में भी कंपन भर जावेगा। (हृदय के उद्वेलन तथा अश्रुपात की व्यञ्जना है)।

७४—हे रात्रि, तू ने अपने घूँघट पट को हटाकर किसे देखा, जो तू मुस्का पड़ी; किंतु संकोच से तेरे पैरों की गति ठिठक-सी गई। तेरे इस प्रकार ठिठक कर चलने से प्रतीत होता है कि इस विजन वन में घूमते हुये कोई विगत भूली बात का अस्पष्ट स्मरण हो आया है, जिसका साक्षात्कार करने की चिंता में तू रुक-रुक कर चल रही है।

(इन पंक्तियों में 'स्मृति के स्फुरण' तथा संकोच के स्फुरण का मनोवैज्ञानिक चित्र भी है)।

७५—चन्द्रमा रूपी चाँदी के फूल से नवीन पराग (पुष्प-रस)-सी तू चाँदनी की इतनी धूल मत उड़ा, नहीं तो और का पथ तो रुँध जावेगा ही, तू भी अपना पथ भूल

जावेगी। और को मोहित करने की बात तो क्या, तू भी स्वयं इसी मोह में फँस जावेगी।

७६—हे यौवन से मदमाती, तेरा अचल अपने स्थान से अलग हो गया है, देख उसे सम्हाल ले। तू किसे देखकर इतनी चंचल तथा बेसुध हो उठी है कि तेरी मणियों की माला टूट कर चारों ओर बिखर गई है और तुझे उसकी तनिक भी चिंता नहीं है!

७७—तूने नीला वस्त्र पहिना तो अवश्य किंतु इसमें इतने छिद्र हैं कि तेरी मर्यादा स्थान-स्थान से स्पष्ट दिखाई पड़ रही है और यह दरिद्र जगत, तेरी इस छवि का रसास्वाद अनायास कर रहा है। लगता है, तू यौवन की मत्तता में यह देखना भूल गई है कि तेरी साड़ी स्थान-स्थान पर फटी है।

७८—रजनी, तू तो अनन्त ऐश्वर्य की सम्राज्ञी है। तेरे कोष में मणियों की अपार राशि भरी है। किंतु तुझे इससे इतना कठिन विराग क्यों हो गया? कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हारे विगत जीवन ने तुम्हारे हृदय पर कुछ चिह्न अंकित कर दिये हैं, जिन पर तुम बेसुध बनी इस प्रकार सोच-विचार कर रही हो।"

मनु द्वारा रजनी के रूपवर्णन संबंधी पंक्तियों का उल्था मात्र ऊपर लिखा गया है। सूक्ष्म दृष्टि डालने से पता चलेगा कि कवि ने छायावादी शैली में रात्रि का रूप कितनी कुशलता से अङ्कित किया है। विभिन्न नवीन उक्तियों द्वारा प्रेमियों के निशा-संबंधी व्यापारों का चित्रण भी इतनी मनोज्ञता से हुआ है कि कवि की कला की सराहना करनी ही पड़ती है।

"कामना सिंधु तट आई" में स्त्रियों का कामनापूर्ति के लिये दीप दान, तथा सामान्य जन के सांध्य दीप सजाने की बात है, तो उसके आगे वाले छंद में रात्रि की कालिमा तथा प्रकाश के साथ प्रेमियों के हँसने-रोने की कहानी भी सहवर्तमान है। रात में टोना करने का उल्लेख भी कितनी कलात्मकता से हुआ है।

'चली जा रही' में अधीरा अभिसारिका का चित्रण है। प्रकृति का आरोपित रूप है।

खिलखिलाने—में 'विहसित' का चित्र, रूपगर्विता की व्यञ्जना है।
घूँघट उठा—में नवोढ़ा विद्यमान है।
बावली—में मुग्धा।
इस प्रकार अन्यत्र भी संगत बिठालें।

कवि ने इस प्रकार रीतिकालीन जड़ता-प्राप्त नायिका भेद की सजीव झाँकी अपनी उक्तियों द्वारा सामान्य प्रकृति चित्रण में सजा दी है। कला की यही सफलता पाठक को रसास्वाद कराने में समर्थ होती है। यदि कला विकृतियों का उपशम न कर सकी तो वह "बच्चन" जैसे कलाकार को भी विश्व के लब्ध प्रतिष्ठित कलाकारों में बिठाने में समर्थ न होगी। प्रसाद का यह गुण हिन्दी के कम कवियों में पाया जाता है। उनकी पंक्तियों से प्रेरित होकर गीतों की सृष्टि करने वालों ने विष का ग्रहण उसी प्रकार किया जिस प्रकार

प्रसाद ने, किंतु प्रसाद ने उस विष को भस्म करके 'रस' बना दिया जो पाठक के लिये औषधि बन गई और इनके विष ने विकृति के वेग में योग देकर मृत्यु की भूमिका उपस्थित कर दी !

७९—हे रजनी, जैसे तू विगत जीवन कहानी की स्मृति जगाने में लगी-सी प्रतीत हो रही है उसी प्रकार आज मुझे भी कुछ ऐसे मनोभावों की स्पष्ट स्मृति विकल कर रही है। मेरी दशा ठीक यही है कि "शक्ल से पहिचानता हूँ, नाम याद नहीं आता।" एक समय था मेरा मनोभाव कुछ ऐसा था, जो मेरे सुख, मेरी शांति का कारण था। उस मनोभाव का नाम क्या था, ठीक नहीं कह सकता। उसे प्रेम कहें, या वेदना कहें या भ्रांति कहें, या कुछ और नाम दें, कुछ समझ में नहीं आ रहा है। किंतु थे वे मनोभाव मेरे सुख-शांति के कारण यह तो मुझे अवश्य ही स्मरण है।

८०—हे रजनी, यदि हमारा वह खोया मनोभाव, मेरा वह रत्न कहीं गिरा हुआ मिल जावे तो उसे फेंक न देना, वरन् उसे लाकर मुझे दे देना। इस बात को स्मरण रखना, भूलना नहीं। यदि तुमने मुझे मेरी खोई वस्तु लाकर लौटा दी, तो मैं उसका एक अंश तुम्हें भी दूँगा। (कारण कि सुख का समय रात्रि में भी बीतेगा)।

इन अंतिम पंक्तियों में खोई हुई वस्तु के पाने का उल्लेख करके 'श्रद्धा' सर्ग की भूमिका उपस्थित की गई है

श्रद्धा

३—श्रद्धा

ऊपर बताया जा चुका है कि मनु, तपस्वी मनु, कर्मनिरत मनु अपने जीवन में एक अभाव अनुभव कर रहे हैं। उनके हृदय में आसंग-लिप्सा जग चुकी है, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध की विभूतियों से परिपूर्ण वातावरण में उन्हें एकाकीपन खटक रहा है। उनके सामने केवल एक प्रश्न है, एक समस्या है, एक उलझन है, जिसका उत्तर, जिसका समाधान, जिसका सुलझाव उन्हें अभिप्रेत है। "कब तक **अकेले और!**" इस विषय पर मनन करते-करते उनके मन में कुछ ऐसे संस्कार जगते हैं जिससे उन्हें अनुभव होता है कि पहले कभी कोई वस्तु उनके पास ऐसी थी जिससे उनके मन को शांति मिलती थी। उन्हें उसका नाम विस्मरण-सा हो गया है। वह विकल्प में उसे प्रेम, वेदना, भ्रांति आदि शब्दों से स्मरण करने की चेष्टा करते हैं। "मिले कहीं वह पड़ा अचानक" में "पड़ा" शब्द खोई हुई वस्तु की ओर निर्देश करता है और मनु कल्पना करते हैं कि वह वस्तु उन्हें 'अचानक' मिल सकती है।

संयोगवश मनु का श्रद्धा से साक्षात् होता है। वर्णन नाटकीय ढंग से प्रारम्भ होता है। मनु एकार्णव की महती जलराशि के किनारे बैठे हैं। श्रद्धा प्रवेश करती है। वातावरण की नीरवता भंग करती हुई एक मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है जो मनु से प्रश्न करती हुई, मनु से उनका परिचय पूछते हुये, उन्हें उसके व्यक्तित्व का परिचय देती है।

१–२ **अभिषेक**—जल द्वारा सिंचन की क्रिया है। मंत्र पाठ के पश्चात् जल छिड़कर पवित्रीकरण को अभिषेक कहते हैं। अभिषेक का अर्थ पूत-स्नान करना भी है। आराध्यदेव पर जल छिड़कना भी अभिषेक।

मणि : रत्नविशेष। इसकी ज्योति में छाया नहीं होती।

फेंकी : मनु ने "**पड़ा अचानक**" की बात अपने भावी साथी के संबंध में सोची थी। 'मणि' की उपमा उपस्थित करके मनु के तेजस्वी एवं कांतिमय होने का बोध कराया गया है। पातंजल योग दर्शन में "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्ति" की बात आती है। जिसका अर्थ है कि जिसकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं ऐसे स्फटिक मणि की भाँति निर्मल चित्त का जो गृहीता (पुरुष), है, उसका ग्रहण (अंतःकरण और इंद्रियाँ) और ग्राह्य (पंचभूत और विषयों) में स्थित हो जाना ही संप्रज्ञाति समाधि है। हमारे कवि ने 'मणि' शब्द का प्रयोग करके मनु के समाधिस्थ होने का भी बोध कराया है।

विश्रांत—शांति, स्थिरता।

मधुर—रुचिकर।

एकान्त— अनादिवातं स्वधया तदेकं' की स्थिति। एकम् शब्द पुरुष वाचक है। योगी एकांत में हो तप करते हैं।

सुलझा हुआ रहस्य :—"योगः चित्तवृत्तिनिरोधः"; विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" आदि पर मनन करने वाले जानते हैं कि चेतन आत्मा का कैवल्य ही जगत का सुलझा हुआ रहस्य है। जब मनुष्य अपने स्वरूप के दर्शन करने लगता है तो उसकी जगत के रहस्य से आँखमिचौनी प्रारंभ हो जाती है।

"चंचल मन का आलस्य" इसी सिद्धि की ओर संकेत करता है। मन के विमन होने की स्थिति।

एक करुणामय सुंदर मौन—योगी का चित्त कोमल तथा आर्द्र होता है। मौन एक प्रकार का तप है।

शब्दों को चुनने तथा वर्णन को सजीव बनाने में कवि कितना सिद्धहस्त है इसका मूल्याकंन करने के लिये उपर्युक्त आठ पंक्तियों को यों लिखें :—

संस्टति जलनिधि तीर	मधुर विश्रांति और एकांत
तरंगों से फेंकी मणि एक	जगत का सुलझा हुआ रहस्य
निर्जन	चचंल मन का आलस्य
चुपचाप	करुणामय मौन

श्रद्धा मनु को देखकर ठीक उसी भाँति मोहित हो जाती है जिस प्रकार रंभा श्री शुकदेव जी को देख कर मोहित हुई थी। श्रद्धा "तरुण तपस्वी मनु" को देख कर समझती है कि वह समुद्र के किनारे बैठे तप में लगे हैं और एकांत निर्जन में उनके चंचल मन को नींद-सी आगई है। लगता है, जैसे उन्होंने जगत का रहस्य जान लिया है। उनका मन स्फटिक मणि के समान हो गया है, जिससे उनके शरीर से कांति का क्षरण हो रहा है।

लक्षण ग्रथों में "धीरोदात्त" को क्षमावान, धीर-गम्भीर, स्थिर प्रकृति, महान्-चेता, हर्ष-शोकादि में अविचल, दृढ़व्रत, विनयी, और उदारहृदय बताया गया है।

"सूधो सधो उदधि-गभीर धीर वीर है जो
जाकी धी मैं धरम धुरीनता है निवसी
सबल सुसील सत्यसंध साहसी है जौन
सरद सिता सी जाकी साधना है विकसी
"हरिऔध" लोक-हित ललिन बनत जाते
विपुल-विभूति जाके लोयन ते निकसी
महि माँहि परम-महान सोई मानव है
जाके मंजु-मानस मैं मानवता विलसी"

प्रसाद के वर्णन में हरिऔध की भाँति गुणों का परिगणन नहीं हुआ है, वरन् मान्य गुणों को सजग करते हुए सजीव वर्णन उपस्थित हुआ है। कला की यही मर्यादा यही सफलता है।

"जैसे समुद्र की लहरें सागर तल से मणि उछाल कर तट पर एकांत में फेंक देता हैं जो अपनी कांति से निर्जन को जगमगा देती है, उसी प्रकार संसृति-सागर की संक्षुब्ध तरंगो से इस तट पर लगे हुए इस निर्जन एकान्त वातावरण को ज्योतिस्नात बनाने वाले प्रभाकर तुम कौन हो ? तुम्हारी तन-छवि, मुख-कांति बताती है कि तुमने जगत के रहस्य को जान लिया है। तुम्हारा मन मणि के समान हो गया है तुम्हारे चञ्चल मन को नींद-सी आ रही है ?"

"संसृति जलनिधि नीर" आदि प्रलयपयोधि की ओर तथा 'फेंकी मणि' मनु के बच रहने की ओर भी संकेत करते हैं। वर्णन की सफलता भी यही है कि वह यथार्थ से विलग न हो।

३-४ मधुकरी सा मधु गुञ्जार—श्रद्धा के मधुरभाषिणी होने का परिचायक है। (मधोरस्मि मधुतराः। अथर्वेद संहिता भाग १, सूक्त ३४-४)। श्रद्धा की 'संगीत-प्रियता' का भी परिचय मिलता है। पद्मिनी नायिका पद्मगंधा, रतिसुन्दरी, सुकुमार तन, अल्प-रोमवती, और गान-वाद्य-परायण होती है। श्रद्धा के मुँह से "कौन तुम" से "चंचल मन का आलस्य" तक इस प्रकार निकले जैसे कोई मधुकरी कमल की ओर गुञ्जन करती हुई रस लेने के लिए बढ़ रही हो। (योगी समाधिस्थ होने पर ऐसी ध्वनि सुनता भी है।)

किये मुख नीचा कमल समान -टीकाकारों में मतैक्य नहीं। कुछ इसे मनु से संबन्ध करते है तो कुछ "श्रद्धा" से। अन्वय करने पर हम इसे मनु से ही संबद्ध कर सकते हैं। भाषा को अस्पष्टता के दोष से बचाने के लिए ऐसा करना अनिवार्य है।

"जब मनु ने कमल समान मुख नीचा किये, मधुकरी का सा मधुगुञ्जार-प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद-सानंद सुना।" यदि मनु का मुख नीचे न होता तो "एक झटका लगा तथा निखरने लगे" की बात ही न आती। मधुकरी कमल की ओर रस लेने बढ़ती भी है।

प्रथम कवि—डाक्टर फतेहसिह ने 'कामयनी सौन्दर्य' में 'प्रथम कवि' की व्याख्या करते हुये इसे प्राचेतस आदि से संबद्ध किया है। मैं परम्परा-प्राप्त मान्यताओं के अनुसार इसे 'वाल्मीकि" ही मानता हूँ। और प्रथम छंद "मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्"

['वियोगी होगा पहला कवि × आह से निकला होगा गान—पन्त, मननीय]

सुन्दर छन्द—वाल्मीकि का प्रथम छंद "संवेदनशील" आर्द्र मन का स्वाभाविक उद्रेक है। "करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्" आदि इस संबंध में मननीय।

झिटका—[दर्शन की दुनिया में यही प्रथम कपंन, क्षोभ अथवा स्पन्दन है जो सृष्टि का कारण बनता है]

निरखने लगे लुटे से :—प्रथम साक्षात् में ही रूप का मोह किस प्रकार मानव-मन पर प्रभाव डालता है उसका ही चित्रण सामने है।

कुतूहल—रमणीय वस्तु के देखने के लिए चञ्चल होना 'कुतूहल' है।

"जाकी कलित कथान को तू भाखति कथनीय
सो कित, को है, कौन है, कैसो है कमनीय"

लक्षण ग्रंथों में कुतूहल स्त्री का गुण माना गया है किंतु क्या पुरुष में यह गुण नहीं। रमणी को निरखने के लिये क्या पुरुष उसी प्रकार लालायित नहीं होता जिस प्रकार स्त्री?

५—साक्षात् दर्शन के समय प्रेमी प्रेयसि को जिस प्रकार देखता है उसका यथार्थ ही कवियों को नख-शिख वर्णन पर बाध्य करता चला आया है रूप का मोह कामनामय होता है। आगे 'कामसर्ग' में इसी 'कामनामय मोह' की विभूति जागेगी। आगे की पंक्तियों में श्रद्धा का रूप वर्णन है।

दृश्य :—"प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" प्रकाश क्रिया स्थिति जिसका स्वभाव है और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप हैं। भोग और मुक्ति का संपादन करना ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा दृश्य है" (योग २-१८)। श्रद्धा के चरित्र-चित्रण में कवि ने इस परिभाषा के अवयवों का उपयोग किया है। पूरी पुस्तक पढ़ने पर इस कथन का प्रतिपादन होता है।

इन्द्रजाल :—"महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते" (साख्यं सूत्र १४)। महामोह (राग) रूपी इन्द्रजाल से प्रकाशशील चित्त को ढांप कर उसी को अकार्य में लगाती है। इन्द्रजाल माया का ही दूसरा नाम है। इन्द्रजाल की क्रिया मायावी होती है जो असत् में सत् का प्रतिभास भरती है। रूप-रस-गंध की दुनिया भी इन्द्रियगोचर है। 'है खेल आँख का मन का'। नयन का इन्द्र-जाल रूप है।

अभिराम :—देखने में अच्छा लगने वाला : "लोचन अभिरामा तन घन-श्यामा"—तुलसी।

लता-घनश्याम—दोनों ही श्यामता के परिचायक हैं। श्रद्धा नील परि-धान पहने थी। 'चन्द्रिका' और "कुसुमवैभव" शोभा नामी अयत्नज सात्विक अलंकार का परिचय देते हैं।

६—ऊपर कहा गया है कि पूर्वाङ्कित पंक्तियों में अयत्नज सात्विक अलंकार का समावेश हुआ है। इन पंक्तियों में 'औदार्य' नामी अयत्नज अलंकार (सात्विक) का चित्रण उपस्थित है। बाह्य और अन्तर का एक साँचे में ढला होना सत्यनिष्ठा की ओर संकेत करता है। प्रकृति संबंधी भेद से उदारहृदया होना 'उत्तमा' का लक्षण है।

"यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्। कन्यानां विश्वरूपाणां मनोगृभायौषधे
अथर्वेद सूक्त ३०-४)। सब प्रकार से सब अङ्गों में रूपवती सुसंगठित, उत्तम,
अनवद्य, अनिन्दित शरीर वाली शुभांगी कन्याओं के जो भीतर चित्त में होता है वही
बाहर वाणी में होता है। और जो वे बाहर वाणी में प्रकट करती हैं वही वे हृदय में
चंतन करती हैं।

लंबी काया—"कनक छुरी सी कामिनी"। सामुद्रिक के अनुसार लंबी गोरी
स्त्री सत्यशीला तथा पतिपरायण होती है।

सौरभसंयुक्त पद्मिनी का लक्षण है।

उन्मुक्त—भी काया का विशेषण है।

'यदन्तरं तद् बाह्यं' की प्रतिमूर्ति श्रद्धा का लंबा छरहरा शरीर, कोमल सुगंधपूर्ण
शरीर, इस प्रकार बल खा रहा था जैसे साल का छोटा पौधा वासंती बयार के झोकों से
खेल रहा हो।

७—कांत—कांति नामक सात्विक अलंकार का परिचय देता है।

चर्म—चर्माम्बर धारण करने की प्रथा प्राचीन है।

मसृण—"सुन्दर, चिकना, मुलायम" आदि अर्थबोध संयुक्त है।

वर्म—शरीर रक्षा के लिए धारण किया जाने वाला कवच।

गांधार प्रदेश के सुन्दर, चिकने तथा मुलायम नीले रोमवाली भेड़ों के चमड़े से
उसका कांतिमत शरीर ढंका था। उसके शरीर की रक्षा के लिये यह चर्म-परिधान वर्म
का कार्य करता था।

८—बिजली—से 'दीप्ति' का बोध होता है [विविध जोति उजरी फिरति जरी
झीजुरी जात] दीप्ति सात्विक अयत्नज अलंकार है।

उस नीले वस्त्रों से श्रद्धा का पूरा अंग ढका न था, कुछ अंग अधखुले भी थे। ये
खुले अंग नील परिधान के बीच ऐसे शोभायमान थे मानों नीले मेघों के वन में गुलाबी
रंग की बिजली का फूल खिला हो।

गुलाबी—श्रद्धा के अरुण वर्ण का परिचय देता है।

९—'आह' का प्रयोग यहाँ क्यों हुआ ? इस प्रश्न पर हिन्दी के नाटककार पं. लक्ष्मी-
नारायण मिश्र बहुधा बिफरा करते हैं। कलाकार कलाकार की सामान्य भावनाएँ क्यों
नहीं समझ पाते इसके पीछे भी एक इतिहास है, जिस पर अभी पुस्तकें नहीं लिखी
गई। 'आह'! यहाँ अव्यय है, संज्ञा नहीं। हिन्दी में 'आह' अफसोस व्यक्त करता है।
संस्कृत में आह भाव-भावना की प्रचुरता, गम्भीरता का परिचायक है। कवि के सामने
एक ऐसी वस्तु है जिसका वर्णन करने में वह असमर्थ है। 'आह' और 'वह मुख' दोनों
के पश्चात् पृथक्-पृथक् विस्मयसूचक चिह्न बताते हैं कि कवि श्रद्धा के मुख का यथार्थ
वर्णन प्रस्तुत करने में अपने को असमर्थ पाकर विभिन्न उपमाओं के चक्कर में पड़ेगा।

जब एक ही उपमा ["जिमि अमोघ रघुपति के बाना ॐ ताही भाँति चला हनुमाना"] पर्याप्त होती है, तब कवि इस प्रकार विभिन्न उपमायें नहीं खोजता फिरता जैसा हमारा कवि यहाँ करने पर विवश हुआ है।

अरुण—का अर्थ यहाँ लाल रङ्ग ही उपयुक्त है।

उसका मुख अतीव सुन्दर, वर्णनातीत था। संध्याकालीन आकाश में पश्चिम में घिरे काले बादलों को चीरता हुआ लालिमापूर्ण सूर्य-मण्डल जिस प्रकार शोभित होता है उसी प्रकार नील परिधान बीच श्रद्धा का गुलाबी मुखड़ा मनोरम लग रहा था। दीप्ति, कांति, शोभा का समन्वित प्रभाव 'छवि' में परिलक्षित है।

१०—इन्द्रनील—रत्न विशेष सजल मेघ के समान कान्ति वाला 'इन्द्रनील' शनैश्चर को प्रिय है।

"हितः शनेरिन्द्रनीलो ह्यसितो घनमेघरुक्"

शृङ्ग—पहाड़ की चोटी; काम के उद्भेद को भी शृङ्ग कहते हैं।

'शृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते॥'

माधवी—'माधवीय' होता तो अच्छा होता—किन्तु 'छन्द' की विवशता ने संस्कृत रूप नहीं रहने दिया।

"या कि माधवी रजनी में एक अचेत-लुप्त काम ज्वाला-मुखी नव-इन्द्रनील शृङ्ग को फोड़ कर अश्रांत धधक रही हो," इसे अन्वय के अधीन विचार करने पर श्रद्धा का शरीर ही इन्द्रनील शृङ्ग हैं। उसका मुख धधकता ज्वाला-मुखी है। 'रूप' के लिए यह उपमा कुछ अच्छी नहीं बन पड़ी। 'अचेत' ज्वाला-मुखी का अर्थ है कि अब तक वह विस्फोटहीन रहा किन्तु समयगति से एकायक फूट पड़ा। 'अचेत' आदि अज्ञात यौवन की स्थिति पार करके 'ज्ञात यौवन' होने की स्थिति का बोध कराते हैं।

'अचेत ज्वाला-मुखी' का धधकना एक मर्म-वार्ता उपस्थित करता है। रसज्ञ इसे समझते ही होंगे। विरस लोग संकेतों को समझते ही कब हैं?

अश्रान्त—रूप को अक्षुण्ण अविरल कान्ति का परिचय देता है।

११—पास—दोनों चरणों में 'पास' का प्रयोग खटकता है। तथा कवि की असावधानी का परिचय देता है।

अंस—अवलम्बित = कन्धों का सहारा लिए।

'कन्धों पर लहराते उसके घुँघराले केश-पाश मुख-मण्डल को घेरे हुए थे। लगता था, नील बादलों के कोमल छोटे छौने चन्द्रमा के निकट अमृत-घट भरने आये हों'।

'आलम्बन-विभाव' के अन्तर्गत नख-शिख की परम्परा का परिपालन करते हुए श्रद्धा का वर्णन हमारे समक्ष है। 'घुँघराले बाल,' 'शशिमुख', आदि में कोई नवीनता नहीं किन्तु 'नील घन शावक' की उपमा अवश्य नवीन है।

१२—और श्रद्धा के मुख पर मन्द हँसी की रेखायें इस प्रकार अंकित थीं जैसे लाल कोंपल पर प्रभातकालीन सूर्य की एक उज्ज्वल किरण निद्रालु होकर विश्राम करती हुई रम्य प्रतीत होती हो।

'स्मित' स्थायी भाव है "अहै बतावति रस बरसि मानस को मधु-पान। बिकसित ललित कपोल करि अधर-बसी मुसुकान"।

विश्राम—शब्द बोध कराता है कि 'स्मित' श्रद्धा के रूप का अंग है। यह स्वभाव-सिद्ध है अतएव विलग नहीं होता। 'अलसाई' होने के नाते ही 'स्मित' 'हसित' नहीं बनता आदि सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता नहीं, मर्मज्ञ समझते होंगे।

१३—'दीप्त' दीप्ति नामी अयत्नज अलंकार का परिचय देता है।

नित्य-यौवन छवि : क्षण-क्षण नवीनता को प्राप्त होना ही रूप की अक्षुण्णता है। शेक्सपियर ने—"age-unbrel

Ere thou wert created was beautys' summer dead"

की बात इसी 'नित्य यौवन" के परिचय में कही है।

करुण-कामना-मूर्ति—'कामायनी' श्रद्धा का दूसरा नाम है। हमारे कवि ने उसे 'पूर्णकाम की प्र.तमा' माना है। यहाँ उसके स्वभाव का परिचय दिया गया है। '**करुण**' सात्विक है। 'करुण-कामना' सात्विक प्रवृत्तियों पर आश्रित है। नारी का 'कामिनी' रूप भी यही है।

जड़ में स्फूर्ति—सबके हृदय मदन अभिलाषा * लता बिलोकि नवहिं तरु साखा।
जहँ अस दसा जड़न की बरनी। को कहि सकै सचेतन करनी॥

उस रमणी को देखकर ऐसा लगता था जैसे संसार की सारी करुण भावना (सात्विकता) मूर्तिमत् हो उठी हो और चारों ओर अपनी नित्य-यौवन-दीप्ति की छवि छिटकाती हुई जड़ में भी चेतना का संचार करती हुई, स्पर्श के लिये अपनी ओर खींच रही हो। [जड़ में चेष्टा नहीं होती, कामना नहीं होती, चेतना नहीं होती। रूप जड़ में भी चेष्टा उत्पन्न करता है। प्रिय-प्रवास में इसका सुन्दर वर्णन प्राप्य है। कालिदास में ऐसे वर्णन भरे पड़े हैं]। स्त्री-पुरुष के कामनामय हृदय की परस्पर रमणेच्छा का ही नाम 'रति' है। श्रद्धा रति की पुत्री है। अतएव उसे कामना-मूर्ति होना ही है।

"**स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण**"—यही रूप का मोह है। रूप आँखों के रास्ते मन में उतर कर मन को अपने आलिंगन पर विवश करता है। दरस-परस की कामना उत्पन्न करता है। 'शब्द स्पर्श रूप रस गन्धानां स्थानं स्त्री' स्त्री शब्द-स्पर्श आदि का समुच्चय है। ["मधु गुञ्जार"=शब्द; नयन का इन्द्रजाल=रूप; सौरभ-संयुक्त=गंध; पवन प्रेरित सौरभ साकार=गंध; स्पर्श के आकर्षण=स्पर्श; तथा 'सुधा भरने' और 'मदभरी' 'मधु का आधार'=रस]।

स्त्री प्रमदा है, रामा है, कामिनी है, रमणी है। इन सभी का अर्थ बोध हमारे कवि के वर्णन में है।

१४—द्युति के पश्चात् 'की' की आवश्यकता न थी।

प्रभातकालीन तारे के शांत प्रकाश की गोद में जैसे मधुरिमा में डूबी प्रसन्नता लिये सुगंध में डूबी उषा की पहिली किरण उठती है वैसी ही उसके मुखमंडल की स्मित छवि थी।

संगति बिठालें किस शब्द में कौन व्यञ्जना है। विश्लेषण आवश्यक नहीं।

१५-१६—जैसे पुष्प के लदे वनखण्ड में धीरे-धीरे डोलती वायु के झोंके से सुगंध की लहर मकरंद से भींगे पराग के कणों से युक्त होकर साकार हो उठे और उस पर मन को अच्छा लगने वाली चैत पूर्णिमा की चाँदनी पड़ रही हो, उसी भाँति उसके अधरों पर हँसी की मदभरी द्युति की प्रतिच्छाया थी जो निरंतर मधुर भाव केलि निरत थी।

स्मित का कितना सुन्दर चित्रण उपर्युक्त पंक्तियों में हुआ है। वर्णन इतना रस बोझिल है कि रसज्ञ भावना मदान्वित हो जाय कल्पना करके।

हँसी को गंध की लहर, माधुरी से भींगी, मदभरी, वसंत की चाँदनी से स्नात, आदि विशेषण कुछ यों ही नहीं दे दिये गये हैं। प्रत्येक से रस-विशेष, भाव विशेष की जाग्रति अभिप्रेत है।

श्रद्धा के रूप वर्णन में कवि ने पद्मिनी तथा उत्तमा के गुणों को बड़ी चातुरी से समाविष्ट किया है। नख-शिख वर्णन तो नहीं किन्तु परंपरा प्राचीन ही है। उपमायें संस्कृत कवियों की-सी हैं। यह वर्णन कवि की कल्पना पर आश्रित है। मनु को श्रद्धा का रूप कैसा लगा, स्वयं श्रद्धा कैसी थी, दोनों ही पक्ष इस वर्णन में हैं। रूप मात्र की अभिव्यञ्जना के पीछे भाव की क्रीड़ा वर्तमान होती है। "सर्वेषाम् वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः" की बात रूप के सम्बन्ध में सभी प्रकार से खरी उतरती है। इसीलिए "मन की साध" का टुकड़ा बड़ा मार्मिक है। श्रद्धा की हँसी उसके मन के मधुर भाव का परिचय देती थी। यह एक मधुर क्रीड़ा थी जिसमें मन के मधुर भाव झलकते थे। "परमाणु के प्राणों के अभ्यंतर एक गुप्त रास-नृत्य का अन्वेषण" विज्ञान ने किया। परमाणु की समुत्थित राशि ही रूप की रचना करती है, आदि बातें भी उपर्युक्त वर्णन में समाविष्ट हैं। श्रद्धा को प्रश्न का उत्तर नहीं मिला—बीच में रूप-व्यवधान उपस्थित हो गया। मनु चकित स्तंभित निहारते रहे उस रूप माधुरी को कुछ क्षण; फिर बोले—

उल्का (Shooting star)—बृहत्संहिता के अनुसार द्युलोक से फलोपभोग करके प्राणी लौटता है। वर्तमान विज्ञान के अनुसार उल्का नीहारिका-पुञ्ज है। हमारा कवि उसे भू-नभ के बीच असहाय शून्य में भटकने वाला तत्व (वस्तु) मानता है।

मनु ने उत्तर दिया, "जैसे स्थानच्युत होकर उल्का नभ-धरणी बीच शून्य में जलता हुआ असहाय भटकता फिरता है। और उसे अपनी स्थिति के सुधारने का कोई उपाय

नहीं दीख पड़ता, मेरी भी वही दशा है। मेरे पुण्य क्षीण हो चुके। मैं अब मन में ताप लिए आकाश-पृथ्वी के बीच सुनसान में एकाकी जीवन बिताते हुए इधर-उधर भटकता डोल रहा हूँ। मेरा जीवन मेरे लिए रहस्य है, उलझन है। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि इस उलझन के सुलझाने की क्या व्यवस्था करूँ। मुझे कोई उपाय नहीं सुझाई दे रहा है।"

असहाय—शब्द में आत्मकीय दशा के वर्णन के साथ सहाय प्राप्त करने की व्यञ्जना निहित है। और यह 'सहाय' आगे चलकर "दे अवलंब विकल साथी को" में अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ेगा। असहाय से अकेले मनु की भी सूचना मिलती है। मेरा जीवन जड़वत् है।

१८—मुझ में गति नहीं, तरलता नहीं। पाखंड—आश्रम धर्म का प्रतिपादन करने वाला हिन्दू धर्म एकाकी विरागमय जीवन को पाखंड मानता है। श० ५।२।१।१० में मिलता है कि पत्नी के बिना पुरुष अधूरा रहने के कारण यज्ञों का अधिकारी नहीं बनता। पत्नी पुरुष का आधा स्वरूप है (तै० ब्रा ३।३।५)। दम्पति अपने संसार के मार्ग को सुगमता से पार कर सकते हैं (अथर्वेद १४ २।११) आदि। उपर्युक्त पंक्तियों में सहृदयता, संवेदना के अभाव की सूचना है। मनु कहते हैं, तुम समझती हो कि मैंने जीवन का रहस्य सुलझा लिया है और मैं मुक्ति मार्ग का सफल पथिक हूँ, यह भ्रममूलक है। मेरे जीवन में ये पाखंडपूर्ण अवयव अवश्य हैं, किन्तु मेरा जीवन स्वयं रहस्य है मेरे लिए। मैं शांति नहीं, भ्रांति की गोद में विचर रहा हूँ। मैंने न जीवन में नभ (स्वर्लोक, परलोक) को ही जाना और न लोक को ही!

[कवि बिना विवाह, बिना गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किये, मुक्ति साधन को पाखंड मानता है!)।

१६—पूर्वपंक्तियों में "प्रभा की धारा" का प्रतिवाद है तथा उसके पूर्व की पंक्तियों में 'रहस्य' का प्रतिवाद है। इन पंक्तियों में भी वही कथा है।

अभिमान—इच्छा, गर्व, अहंकार, मिथ्याज्ञान सभी का बोध कराता है। पहेली के सुलझाने में जिस प्रकार उलझनें बढ़ती जाती हैं, वैसी ही मेरे जीवन की समस्यायें हैं। ज्यों-ज्यों मैं उन्हें सुलझाने का प्रयास करता हूँ त्यों-त्यों भ्रांतियाँ बढ़ती जाती हैं। मैं अभिमानवश सोचता हूँ कि मैं इन भ्रांतियों पर वश पा लूँगा किन्तु ऐसा करने में मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ वरन् मेरा अहंकार मुझे विस्मृति की ओर ले जा रहा है। मेरी आत्मा विमूढ़ बनती जा रही है। मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि जीवन का सच्चा मार्ग कौन है। विवश जीवन पथ पर भ्रांतियों में उलझ पैर बढ़ाता जा रहा हूं। तुम्हारा यह सोचना कि मैं सिद्धि प्राप्ति की ओर अग्रसर हूँ भ्रममूलक है।

२०—'विस्मृति' शब्द इसके पूर्व की पंक्तियों में आया है। इन पक्तियों में उसी का व्याख्यान है:—

मैं नितप्रति अपनी सरस इच्छाओं तथा पूर्णकाम विगत जीवन को भूलता जा रहा हूँ जिस प्रकार संगति की तान अंधेरी गुफा में उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है, उसी प्रकार मेरे दुखी जीवन की उल्लासपूर्ण आशायें निराशा के गर्त में विलीन होती जा रही हैं।

२१—विवर—अवकाश, सुनसान, एकांत।

मैं अपना जीवन-लक्ष्य भूल-सा गया हूँ। चलना है, चलता जा रहा हूँ। नहीं जानता कहाँ जा रहा हूँ। फिर मैं अपना परिचय तुम्हें किन शब्दों में दूँ, क्या कह कर दूँ। "कौन तुम!" का उत्तर देना ही है तो समझ लो कि मैं नील गगन के विशाल अवकाश में भटकती हुई वायु की एक तरंग हूँ, जिसे कहीं शान्ति नहीं, विश्राम नहीं। मैं एक उजड़ा राज्य हूँ जिसको चारों ओर से सूनेपन ने घेर लिया है!

२२—स्तूप--जिसमें चिता-भस्म आदि स्मारक रूप रखे जाते हैं।

जड़ता—मानसिक दशा-विशेष भी है। जिसमें मन चेष्टाशून्य तथा इन्द्रियाँ गतिहीन हो जाती हैं।

मैं एक चेतनाहीन स्तूप (मिट्टी का टीला) हूँ जिसके भीतर विस्मृत बातों का अवशेष दफन है। जैसे बादल आदि का व्यवधान उपस्थित होने पर ज्योति की प्रतिच्छाया मलीन हो जाती है, उसी प्रकार निराशा के तिमिर से मेरा आश-पथ समाप्त हो गया है। मेरी दशा ऐसी है जैस सारी जड़ता पुञ्जीभूत होकर मुझमें अवस्थित हो गई है। मेरा जीवन जड़ता का जावन है। मेरी सफलता में विलम्ब की एकत्र राशि बाधा डाल रही है। मेरी सफलता में अकूत विलम्ब है।

२३—अपना परिचय देने, अपनी मनःस्थिति से आगन्तुक को अवगत कराने के पश्चात्, मनु आगन्तुक के बारे में जानना चाहते हैं और उसे इस प्रकार संबोधित करते हुये उसका परिचय पूछते हैं:—

मेरे पतझड़-से शुष्क नीरस जीवन में वसंत के आगमन का संदेश लेकर आने वाले अतीव कोमल शरीरधारी तुम कौन हो। मेरे सुख-तरुवर के सभी पात गिर गये हैं। मेरा जीवन एक शुष्क तरु का जीवन है। मेरी सरसता समाप्त हो चुकी है। मेरी इस करुण अवस्थिति में तुम्हारे आगमन ने मुझे पुनः जीवन की सरलता प्राप्त होने का संदेश दिया है। मुझे ऐसा लगता है जैसे मेरे जीवन में पुनः वसंत आने को है। ('यह • तुम्हारा हास आया * इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया,' की स्थिति सामने है)। जैसे घोर अंधकार में बिजली की एक रेखा चमक उठे जिससे भान हो कि ज्योति विनष्ट नहीं हुई है अथवा जैसे ग्रीष्म में शीतल मन्द बयार के चलने से शांति मिले, उस प्रकार तुम्हारे आगमन से मुझे आशा के नव जागरण का विश्वास होता है, सुख की पुनर्प्राप्ति की आशा होती है, जिससे मेरा उद्विग्न मन शांति का अनुभव कर रहा है।

२४—घोर तमसात् रजनी में तारक द्युति-सी जगमगाती उज्ज्वल किरण के समान तुम्हारा आगमन है मेरे लिये।

तुम्हारे दर्शन से मेरे मन की हलचल उसी प्रकार शांत हो गई, जैसे किसी कोमल हृदय के कवि-मन को किसी सुन्दर पवित्र कल्पना की एक छोटी-सी लहर के उठने से शांति मिलती है।

[दूत, सुकुमार क्यों ?] प्रसाद की यह विशेषता है।

२५—आने वाले व्यक्ति ने मनु की उत्कण्ठा शांत करते हुये इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया मानों कोकिल आनन्दपूर्वक आह्लादित स्वर में सुमन को वसंत के आगमन का संदेश दे रहा हो। (वसतांगम कलियों के खिलने का समय होता ही है)

व्यक्ति के लिये "लगा कहने" की बात उपयुक्त है।

कोकिल वसंत-दूत है ही।

२६—[कला के दो भेद हैं ललित तथा उपयोगी। ललित कला के अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, काव्यकला सभी आते हैं। यहाँ गंधर्वों के देश की ललित कला का उल्लेख है, जो गांधर्व विद्या अथवा संगीतकला का बोध कराता है।

प्यारी संतान—माता तो लड़के-लड़की दोनों को प्यार करती है किन्तु पिता लड़की को कम प्यार करते हैं। किंतु कामायनी की यह विशेषता है कि पिता भी उसे जी से प्यार करते हैं। 'संतान' शब्द विवाहित जीवन की ओर भी संकेत करता है।

२७–हृदयसत्ता का सुन्दर सत्य—"हृदये चित्त संवित्" (यो० विभूति पाद ३४)। हृदय में सयंम करने से चित्त के स्वरूप का ज्ञान होता है। चित्त के स्वरूप का ज्ञान होने से विवेक होता है और विवेक होते ही पुरुष के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। चित्त ही संसार है (मैत्रेयी० ५–७) "अथ यदिदमस्मिन्" (छा० ८।१।१) में बताया है कि यह मानव शरीर ब्रह्मपुर है। इसके भीतर एक क्षुद्र कमलकुसुमाकर गृह है। उसके भीतर एक छोटा-सा प्रकाश है। उसके भीतर हृदय एक निगूढ़ रहस्य है। उसी को जानना होगा। उसी का अन्वेषण करना होगा।" हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ऋक्० १०।१५१।१,२–३–४,५ और यजुर्वेद १६–३०, १६–७७ में श्रद्धा की महिमा का उल्लेख है। "श्रद्धया सत्यमाप्यते।" श्रद्धा सत्य धारण करने वाली शक्ति है। मनुष्य का श्रद्धायुक्त होना सत्य का धारण करना है। "सहृदयं सांमनस्य विद्वेषं कृणोमि वः। अन्योऽन्यमभिनव वत्सं जातमिवाघ्न्या" (संज्ञान सूक्त ५।११ अथर्वेद) सहृदयता [प्रेम] ही हृदय सत्ता का परम सत्य है। यही आध्यात्मिक साम्यवाद की आधार शिला है। "भाव का विकास ही प्रेम है" (भक्तिरहस्य. कल्या. हिन्दू. ४३६)। आदि।

'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोय, ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय'। "अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत्" आदि इस संबंध में मननीय।

मैं सर्वदा खुले आकाश के नीचे घूमने की अभ्यासी हो गई। मुझे सर्वदा जन-समुदाय से दूर नैसर्गिक वातावरण में घूमना अच्छा लगता था। मुझे सर्वदा रमणीय वस्तुओं के देखने की इच्छा रहती और मैं नित नये दृश्य देखने का प्रयत्न करती थी। सर्वदा रमणीय वस्तुओं की खोज में लगी रहती थी। मेरा जी चाहता था कि मैं भावपक्ष के सुन्दर सत्य को जानूँ, समझूँ कि प्रेम का रहस्य क्या है! मुझे भाव-विकास की इच्छा थी। सौन्दर्योपासना तथा प्रेम साधना के अन्योन्याश्रित पथ पर मैं अग्रसर हुई। हृदय सत्ता के सुन्दर सत्य के अन्वेषण में लगी। अभिप्राय मेरा यह था कि मैं हृदय की भावुकता के पीछे क्या रहस्य है जानूँ, आदि।

२८—जब मैं हिमालय पर्वत की ओर आँख उठाती तो मेरा मन कुतूहल से अधीर हो उठता। मुझे लगता जैसे ये पर्वत श्रेणियाँ पृथ्वी के माथे पर चिंता के कारण पड़ी रेखायें हैं। और मैं सोचती, मेरे मन में प्रश्न उठता कि इस पृथ्वी के मन में क्या दुःख है जो वह इतनी भयाकुल है, इतनी चिंतित है?

२९—भारतीय परंपरा के अनुसार ['तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'। (छान्दो० ६-८-७), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'सत्यमायतनम्' (केन०)] सत्य ही ब्रह्म है। कमल कुसुमाकर गृह के अभ्यन्तर में प्रतिष्ठित सत्याकाश में प्रतिष्ठित रहस्य यही सत्य है। इस 'सत्य' को जानने का मार्ग परमार्थ-पथ है। बिना इस परमार्थ पथ के अनुसरण के 'आत्मवत् सर्वभूतेषु,' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म,' 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' की सिद्धि नहीं होती और न तो वांछित रहस्य का उद्घाटन ही होता है। कामायनी यही रहस्य जानना चाहती है।

उसे इस रहस्य को समझने के लिये 'हिमगिरि' से सहायता मिली। यही तपोवन की ओर मुड़ने का रहस्य है। इस पर 'आनन्द' सर्ग में विशेष प्रकाश डाला जावेगा।

भूमि पर सोया, अपनी ही सुन्दरता में खोया हिमालय एक सुस्पष्ट महान संदेश देता दिखाई पड़ा। यद्यपि वह मौन था फिर भी उस की बाह्याकृति से, उसकी स्थिति से, यह संकेत मिलता था कि वह किसी महान् संदेश की उद्घोषणा कर रहा है। इस संकेत से मेरी चेतना सजग हो गई और मैं अनायास उस संदेश को सुनने-समझने के लिये उत्सुक हो उठी।

३०—मन में इस उत्सुकता के अंकुरित होने से मेरे मन को हिमालय की ओर बढ़ने पर विवश किया, पैर ने मन की गति का साथ दिया। मैं हिमालय की रमणीय श्रेणियों में पहुँची। मैंने इन श्रेणियों का सुन्दर शृंगार देखा। इन श्रेणियों का सुन्दर, मनोरम, मुग्धकारक दृश्य देख कर मेरी आँखें तृप्त होगई। सचमुच हिमालय मन-मुग्धकरी सामग्रियों से भरा पड़ा है। इसे देख कर मेरी 'दर्शन' की प्यास शांत होगई। हिमालय सचमुच निगूढ़ रहस्यों की खान है।

३१—विश्रब्ध = धीरता धारण किये, शांत, अविचलित।

मनु ने 'बना जीवन रहस्य निरुपाय' की बात कही, तो श्रद्धा भी 'अकेला यह जीवन निरुपाय' की बात कही। दोनों ही अकेले हैं। इस वर्णन से पता चलता है कि महाप्रलय के पश्चात् केवल दो प्राणी, एक मनु, दूसरी श्रद्धा बच रहे। इन्हीं दोनों से मानवी सभ्यता का विकास हुआ।

एक दिन की बात है, अचानक समुद्र की लहरें संक्षुब्ध होगईं, बिफर पड़ीं, सागर मर्यादाहीन हो गया, और पर्वत (हिमालय) के निचले भाग से टकराने लगा। प्रलय की विभीषिका उपस्थित हुई। वही समय है जब से मैं अकेली निरुपाय भयाकुल किंतु अविचलित इधर-उधर टकरा रही हूँ, घूम रही हूँ।

(मनु को प्रलय का अनुभव था ही अतएव यहाँ सांकेतिक वर्णन ही वांछनीय था)

३२—'बलि' पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है।

वैदिक वाङ्मय में "श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः। श्रद्धया भगस्य मूर्धनि वचसा वेदमानसि। श्रद्धां देवा यजमाना वायु गोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्ययाकूलात्या श्रद्धया विन्दते वसु" की बात आती है। ऋ० १०-१५१-१ से ५ पर मनन करने से पता चला है कि 'श्रद्धा' यज्ञादि धार्मिक कृत्यों से बलवती होती है। कवि ने श्रद्धा को बलि के अन्न से पोषित कराकर वैदिक परंपरा की मर्यादा बनाये रखी है।

'अनुमान':—'दृष्ट, अनुमान, आप्त वचन' तीन प्रकार के प्रमाण की बात तो विख्यात ही है। (सांख्यकारिका ४)। दृष्ट, सामान्यतोदृष्ट तथा शेषवत् तीन प्रकार के अनुमान में यहाँ 'दृष्ट' अनुमान उपस्थित है।

३३ – तपस्वी:—"भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उप सं नमन्तु" अ० १९-४१-१

आदि पर मनन करने वाले जानते हैं कि लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार के कल्याणों का साधन 'तप' है, दीक्षा है। इससे राष्ट्रबल, शरीर बल एवं मस्तिष्क बल प्राप्त होते हैं। सभी गुण इसी से प्राप्त होते हैं। "शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर शरणागति" पाँच प्रकार के नियम हैं (साधनपाद० योग० ३२)। इनके पालन से राग-द्वेष की भूमिका समाप्त होती है। क्लेश का मूल बीज नष्ट होता है! मनु देखने में तपस्वी तथा उसके कृत्य 'बलि' भी तपस्वी के, किन्तु उसकी मनःस्थिति मोहग्रस्त सामान्य मानव की। उनकी मनोदशा का वर्णन उन्हीं के शब्दों में पहले आ चुका है।

वेदना –वेदना के गीत गाने वालों को क्या पता कि वेदना मोहग्रस्त मानव के मन का उन्माद है। हेय का कारण है। [भय की स्त्री माया तथा नरक की स्त्री वेदना—विष्णु पुराण १–७–३३]। हमारे कवि की भी यही मान्यता है। देखने में तो तुम तपस्वी लगते हो। तुम्हारे कृत्य भी तपस्वी के हैं। तप ही बल का हेतु है। "बलं विज्ञाय स्थविरः" ऋ० १६।१३।५ के अनुसार बलवान को स्थिर, दृढ़, श्रेष्ठ वीर, सहनशील, धीर होना चाहिये। कारण कि वह जयशील रथ पर बैठा है फिर तुम इतने

क्लांत—उत्साह-हीन, दुखी, हारे हुए, थके हुए क्यों हो ? तुम्हारे मन में कौन सा दुःख क्लेश उपस्थित है, जिसके कारण तुम इतने हताश हो गये हो ?

३४—क्या तुम्हारे अधीर हृदय में जीवन की तनिक भी लालसा शेष नहीं रह गई है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि 'त्याग' मायावी वेश धारण करके तुम्हें छल रहा हो ! तुम 'त्याग' की ओर इस प्रकार आकर्षित हो गये हो कि तुम्हें भोग रुचिर नहीं लग रहा है। और इस प्रकार तुम जीवन की चरम सिद्धि से वञ्चित हो रहे हो ? अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष चार पदार्थों में अर्थ, काम तुम्हें नहीं मिल पायेगा तो तुम धर्म, मोक्ष कैसे प्राप्त करोगे ? क्या त्याग की यह प्रवञ्चना नहीं कि तुम उसकी असत् प्रेरणा से जीवन के लक्ष्य से ही वञ्चित हो रहे हो ?

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' पर मनन करने वाले जानते हैं कि त्याग-भोग का समन्वय ही मानव को परमसिद्धि प्राप्त करने में सहायक होता है। 'रम्भा-शुक' सम्वाद में इसी भोग-त्याग का द्वन्द है। हमारे कवि ने भी वही प्रकरण अपनाया है किन्तु उसका समाधान 'त्याग' की विजय में नहीं वरन् त्याग और भोग के समन्वय में चित्रित किया है।

३५—काम—"धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेषु भरतर्षभ" पर विचार करने वालों से छिपा नहीं कि 'काम' स्वयं ब्रह्म का रूप है, हाँ, उसे धर्मानुकूल होना चाहिये। 'काम' एक पुरुषार्थ है। इसका सम्बन्ध ऐन्द्रिय सुख कामना की परितुष्टि, परितृप्ति से है। धर्म-सिद्धि का प्रधान 'तप' अपनाकर ही पार्वती ने शिव को प्राप्त किया। धर्म और काम में संघर्ष है। अतएव काम को धर्म का वशानुवर्ती होना ही है ! कुमार-सम्भव से मदन-दहन, पार्वती तपस्या का वर्णन पढ़ कर "तथाविधं प्रेम" तथा "तादृशः पतिः" की बात समझने का प्रयत्न स्वाध्यायशील व्यक्तियों को इस प्रसंग से वांछित रस प्राप्त करने में सहायक होगा।

तुम्हारा हृदय भयाकुल हो गया है अतएव तुम अनजानी उलझनों का अनुमान करके भावी जीवन को कण्टकाकीर्ण मान बैठे हो। फलस्वरूप तुम्हारा मन 'काम' नामी पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त करने की ओर बढ़ने में हिचक रहा है। किञ्चित् तुम्हें ज्ञान नहीं कि भविष्य के गर्भ में तुम्हारे लिए सुख-वैभव की समृद्धियाँ छिपी हैं।

३६—लीला—श्री राधोपनिषद् में क्रिया शक्ति को ही 'लीला शक्ति' माना है। विश्व की सृष्टि में यही 'लीला शक्ति' कौतुक करती है। 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्' ऋ० १६-१२६-४ पर मनन करने से पता चलता है कि सृष्टि रचना के पहले बीज रूप में उदित पुरातन कर्म राशि से ही प्रभावित होकर ईश्वर एक से बहुत होने के कौतुक में लगता है।

व्यक्त—"अव्यक्तं कारणं" (विष्णु १-२-१६) सूक्ष्म प्रकृति का नाम है। 'व्यक्त' जग-माया को कहते हैं। ऋ० १०-१२६-३ में बताया है कि "वही विश्व

विभुके तप की महिमा से फिर उद्भूत हुआ"। महत् से लेकर जितना कार्य-जगत् है वह सब 'व्यक्त' है।

महाचिति—ब्रह्म की परमाशक्ति (चिच्छक्ति—चिदाकाश) में ही जगत का बीज है। जन्म, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव, अनुग्रह ब्रह्म के कृत्य पञ्चक है। यह वर्णन आर्षग्रन्थों में मिलता है। 'प्रत्यवमर्शात्मासौ चितिः स्वरसवाहिनी परावाग्या आद्यन्त प्रत्याहृत वर्णगण सत्य हन्ता सा' आदि में चिति का उल्लेख मिलता है। महाचिति महामाया का दूसरा नाम है। श्री मद्भागवत ३–५–२४ में मिलता है कि चित् स्वरूप ब्रह्म भी शक्ति से विमुक्त होकर अस्तित्व-हीन हो गया था। शक्ति से ब्रह्म प्रकाश में आया। शक्ति का 'चिति' रूप बताता है कि शक्ति चेतन है। माया तत्व के मर्मज्ञों का कहना है कि 'माया सत्य शक्ति है, मिथ्या संघटन करती है, समानयन करती है, परन्तु स्वयं मिथ्या नहीं'। ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म से विरहित नहीं हो सकती, अतएव वह चैतन्यमयी तथा ज्ञानमयी है। शक्ति दर्शन के विवेचक बताते हैं कि परतत्त्व शिव है। 'स्वशक्ति प्रचयोऽस्य विश्वमविसृष्टा शेष सद्बीजगर्भं त्रैलोक्य नाटकम्' आदि पर मनन करने से स्पष्ट होता है कि शक्ति के स्फूर्ति धारण करने पर शिव ने उसमें तेजस् रूप प्रवेश किया, तब विन्दु का प्रादुर्भाव हुआ। शिव मे शक्ति के प्रवेश से आदि तत्व-नाद व्यक्त हुआ। ये ही दोनों तत्व मिलकर अर्धनारीनटेश्वर हुये। यही काम-तत्व है। पुंस-तत्व श्वेत एवं नारी तत्व लाल है। (श्रद्धा 'गुलाबी रंग', मनु 'हिमधवल')। दोनों से कला की उत्पत्ति हुई। इस काम तथा कला अथवा नाद एवं विन्दु से सृष्टि हुई।

अनुरक्त—अनुराग की महत्त का पोषण करता है। "आकर्षणस्वरूपं हि शरीरं योषितामिति तथा विकर्षणं नृणां शरीरंस्यात्स्वरूपतः"। 'आकर्षण' (स्त्री स्वरूप) राग मूलक है, विकर्षण (पुरुष स्वरूप) द्वेषमूलक है। आकर्षण सृष्टिमूलक है, विकर्षण प्रलयमूलक है। ब्रह्म प्रलय की अवस्था से ऊब कर ही सृष्टि रचना की इच्छा करता है। अतएव 'अनुराग' शाश्वत स्मरणीय है।

उन्मीलन—विकास, सृष्टि।

अभिराम—सुन्दर, प्रकाम्य।

"भगवान की परम चिन्मय शक्ति महामया स्पष्ट साकार रूपधारण करके लीलामय आनन्द (विलास) में तत्परता से लगी है। संसार का उद्भव, इसका विकास सुन्दर है, प्रिय है। इसीलिये लौकिक परिचर्या में लगने हैं, सभी उसे अपनाते हैं।

२० **श्रेय**—"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

कठोपनिषत् द्वितीय वल्ली में श्रेय (कल्याण का साधन) प्रेय (प्रिय लगने वाले भोगों का साधन) का विशद विवेचन मिलता है। वेदों में सुख के दो साधन बताये हैं,

(१) श्रेय सदा के लिये सब प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूट कर नित्य आनन्दस्वरूप पर ब्रह्म पुरुषोत्तम का प्राप्त करने का उपाय (२) प्रेय स्त्री, पुत्र, धन आदि इस लोक की भोग सामग्रियां की प्राप्ति का उपाय। किंतु श्रेय मार्ग के लिये प्रेय आवश्यक है। बिना भोग को जाने उसका यथार्थ त्याग संम्भव नहीं। 'तेन त्येक्तन भुंजीथा' अकाट्य है। कामायनी इसी से 'श्रेय' को काम-मंगल से मंडित करती है। आनन्द की प्राप्ति भी तो इच्छा पर ही निर्भर है।

सर्गः इच्छा—'कामस्तग्रे' का ऊपर उल्लेख हुआ है। "प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया: हरिः" (विष्णु० १-२-२६) भी मननीय।

भवधाम—"ईशावास्यमिद सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत्" आदि बताते हैं कि 'विश्वरूप' भगवान् का आवास, धाम है। भवधाम, भगवद्धाम में अन्तर केवल प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, व्यक्त अव्यक्त का है।

स्पृहा, इच्छा, कामना से सृष्टि होती है। कल्याण मार्ग, पारलौकिक कल्याण-मार्ग, स्वयं काम की मंगलमयी सुन्दर विभूतियों से परिवेष्ठित है। इस लौकिक कामना का तिरस्कार करने तुम 'भवधाम' का अनादर ही नहीं कर रहे हो वरन् जिस मतंव्य से विश्व की सृष्टि हुई उस मंतव्य को ही तुम असफल बना रहे हो। 'भवधाम' के आश्रम के बिना भगवद्धाम की प्राप्ति न हो सकेगी।"

३८-४१ परदा—"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" (गीता २-२८) से सिद्ध होता है कि वस्तु का आविर्भाव-तिरोभाव होता है, तत्त्वतः नाश नहीं होता।

नील—अंधकार (संज्ञा)।

भूमा—"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" छान्दोग्यो० (७-२३-२४-२५) निश्चय जो भूमा है वही सुख है अल्प में सुख नहीं। जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता, वह भूमा है। किन्तु जहाँ और कुछ सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य है। भूमा ही सब कुछ और आत्मा है।

समरसता—व्यष्टि, समष्टि, परमेष्टि अथवा व्यक्ति, समाज, विश्वात्मा की मीमांसा बताती है कि "वैयक्तिक जीवन की संकुचितता से ऊपर उठकर समाष्टि के साथ व्यक्ति का तादात्म्य होना समाज के व्यवहारिक जीवन में वास्तविक सुख और शान्ति का निर्माण करता है। समाज जिन व्यक्तियों से बना है उन सबमें एकात्मभाव में उत्पन्न निरतिशय प्रेम के बिना यह तादात्म्य नहीं हो सकता।" समष्टि का जीवन, आध्यात्मिक समाजवाद, समायोग आदि के पीछे समरसता ही क्रीड़ा करती है। यही भूमा का रूप भी है। आत्मचैतन्य के भीतर समष्टि का जीवन ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्, सर्वे भवन्तु' सुखिनः को सार्थक बनाता है।

कारण जलधि—कारण=दुःख। 'किमासीद् गहनं गंभीरम्' पर प्रकाश डाला जा चुका है।

३८—रात के समाप्त होते-होते जैसे नव प्रभात का उदय होता है उसी प्रकार दुःख के जाते-जाते सुख का जागरण होता है। द्वन्द्वात्मक विश्व की यही लीला है। "सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" सूर्य, चन्द्र आदि की सृष्टि पूर्व क्रम से ही होती है। वस्तु का तत्त्वतः नाश नहीं होता, केवल आविर्भाव-तिरोभाव होता है।

३९—तुमने जिसे माया-जाल, सांसारिक यातनाओं का मुख्य कारण अथवा अभिशाप समझ लिया है वही भगवान का रहस्यमय वरदान है। इस दृष्टिकोण की उपेक्षा करना भारी भूल होगी।

४०—जगत में फैली विषमता के कारण ही संसार सहृदयता की ओर बढ़ता है। मानव मन में 'स्पंदन' का कारण यही दुःख है। इसी दुःख से भयभीत होकर ही मानव सुखविकास में लगता है। अल्प को भूमा बनाने की इच्छा के पीछे यही दुःख कौतुक करता है।

४१—जैसे जलधि के संक्षुब्ध होने पर चमकती मणियाँ तट पर आ जाती हैं, उसी प्रकार समरसता के जलधि में दुःख से आलोड़न उत्पन्न होने पर सुख की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

४२—मनु ने श्रद्धा की बातें सुन कर दुखी मन से उत्तर दिया :—

"मुझे स्वीकार है कि तुम्हारे सान्त्वना के शब्द मेरे मानस में उत्साह की विलास-पूर्ण (कौतुक पूर्ण) स्वच्छंद तरंगें उसी प्रकार उठा रहे हैं, जिस प्रकार मंद समीरण के चलने से समुद्र तरंगायित होता है। [उच्छ्वास के पूर्व 'मधुर' शब्द का योग सान्त्वना तथा तोष के अतिरिक्त 'मधुर भावों' की ओर भी संकेत करता है]।

४३—परन्तु मानव जीवन अत्यंत विवश तथा उपायहीन है। मैंने जीवन की विवशता का सारा खेल अपनी आँखों देखा है। जीवन में सफलता की कल्पना का पर्यवसान निराशा में ही होता है। सफलता कहीं भी, कभी भी नहीं मिलती!

४४—श्रद्धा ने स्नेहपूर्ण शब्दों में कहा, 'तुम इतने अधीर हो गये कि तुम्हें जीवन में लेशमात्र सफलता प्राप्त होने का भी विश्वास नहीं होता। तुमने संसृति में केवल निराशा को ही सत्य मान लिया। [धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपद काल परखिये चारी]। तुम भूल रहे हो कि मनुष्य को कभी अधीर नहीं होना चाहिये। तुम जीवन को जुआ का खेल समझ उसे भाग्याधीन समझ रहे हो। और इस प्रकार उलटा पाँसा पड़ते ही तुम निराश हो गये। [ऋ० १०।३४।१, में जुआ खेलने को दुःख का उद्गम बताया है।] जीवन के प्रति तुम्हारा दृष्टिकोण जुआड़ियों का नहीं वरन् वीरों का होना चाहिये। वीरभोग्या वसुन्धरा में शौर्य, साहस, बल, शक्ति समन्वित होकर मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करनी चाहिये। [एक समौ कालौ किन होई। आवै समर तजौं नहिं

सोई]। धर्म युद्ध में मरजाना वीरगति प्राप्त करना है। (गीता अध्याय २ मननीय)। 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा' आदि। [अथर्ववेद "मृत्युसूक्त" ४-३५, १ से ७ इस संबंध में विशेष मननीय] 'प्राण भाविने' सूक्त !

४५—'तपसामपि सर्वेषां वैराग्यं परमं तपः' के अनुसार वैराग्य (वीतराग होना) परम तप है। मनन करने वाले जानते हैं कि वैराग्य के पाँच कारण हैं (१) दुःख (२) भय (३) विचार (४) साधन (५) तत्व बोध। दुःख से उत्पन्न विराग निम्न-कोटि का होता है। तप की बड़ी महिमा है। जग के माया जंजाल से परे रहनेवालों का कहना है—'चाह गई चिंता गई मनुवाँ बेपरवाह। जिन को कछू न चाहिये सोई शाहंशाह'। श्रीमद्भागवत ११-८-४४ में मिलता है 'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखं'। किन्तु यह स्थिति तृष्णाक्षय की है। मनु का चित्रण हमारे कवि ने तरुण तपस्वी के रूप में किया है, जिसके मन में तृष्णा का उद्वेग तथा आसंग की लिप्सा वर्तमान है। केवल दुःख तथा भय ने ही उसे जीवन से उदासीन बना दिया है।

आगन्तुक (श्रद्धा) ने मनु से कहा, तुम तपोनिष्ठ हो, किंचित् तुमने मान लिया है कि जीवन यात्रा का एक मात्र पथ तप है ! तुम अपनी दुःखपूर्ण करुण अवस्थिति के कारण ही ऐसा सोच रहे हो। इसमें संदेह नहीं कि तप भी सन्मार्ग है। किन्तु केवल तप ही सन्मार्ग नहीं। तुम्हें भूलना न चाहिये कि प्रलय की यह करुणापूर्ण दीन परि-स्थिति क्षणिक है, अस्थायी है। इस प्रलय की विभीषिका के अभ्यन्तर में तरल काम-नाओं से पूर्ण आनन्दमयी आशा सो रही है, तुम्हें उसे जगाना है।

४६—प्रकृति अनन्त यौवन सपन्ना है। युवती बासी फूलों से शृंगार नहीं करती उसे तो नवीनतम पुष्प अपेक्षित है। बासी फूलों की उपयोगिता समाप्त हो चुकी अब उन्हें धूल में मिलना ही है। प्रकृति नहीं उन उपकरणों को मिटा देती है जिनकी उसे आवश्यकता नहीं, जिनसे उसका शृंगार सम्भव नहीं।

४७—प्रकृति प्राचीनता की केंचुल तत्क्षण उतार फेंकती है उसे ऐसा करने में निमिष मात्र का भी विलंब सह्य नहीं। प्रकृति नित नूतनता की प्रेमी है, इसी से जगत् में नित्य अविरल परिवर्तन होता रहता है। प्रकृति का नवीनता के प्रति यह हठ ही जगत में परिवर्तन का कारण है। (पल्लवित पुष्पित नवल नित संसार विटप नमाम हे। तुलसी)। "वासांसि जीर्णा"—मननीय।

४८—सृष्टि का क्रमिक विकास युगान्तर से इसी भाँति होता आता है। सृष्टि युगों के चट्टानों पर अमिट पद-चिह्न डालती हुई आगे बढ़ती रही है और देव, गंधर्व, असुर आदि तीव्रता से उसके पीछे चलते आए हैं।

(सृष्टि विकास के क्रम के लिये विष्णु पुराण अंश १ अध्याय ५ द्रष्टव्य)

४९—कर्म का भोग, भोग का कर्म—"कर्म प्रधान विस्व करि राखा × जो जस करइ सो तस फल चाखा।" "क्लेशमूला कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्मवेदनीयः", सति

मूले तद्विपाको वात्यायुर्भोगाः" आदि इस सम्बन्ध में मननीय। गीता अध्याय ३-४ में भी कर्म का महत्व वर्णित है। मुण्डकोपनिषद् में भी कर्म की मीमांसा मिलती है। प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण कर्म के तीन भेद हैं। 'हमारे समस्त पूर्व कर्म सञ्चित हैं। उसमें से जितना कर्म देवता इस जन्म में हम से भुगतवाना चाहते हैं, वह प्रारब्ध बन गया है उसे हमें अवश्य भोगना पड़ता है। क्रियमाण वह कर्म हैं जो हम इस समय कर रहे हैं।" यही कालान्तर से सञ्चित तथा प्रारब्ध की संज्ञा प्राप्त करेगा। "ततः क्लेशकर्मनिवृत्ति" (योग० कै० ३०) भी देखें। वासना, संस्कारों आदि पर आगे विचार किया जावेगा।

जड़ का चेतन आनन्द—चेतन पुरुष निर्विकार अपरिणामी क्रियाशून्य तथा असङ्ग है, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु विकारशील नाना प्रकार के दृश्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब से तदाकार हुये चित्त के संबंध से जब वह चित्त के आकार-वाला-सा हो जाता है, उस समय उसे वृत्तियों सहित बुद्धि का ज्ञान होता है। अतः उसे अपनी बुद्धि की वृत्तियों का ज्ञाता तथा भोक्ता कहा जाता है। चेतन के उपराग से उपराजित हुई बुद्धि का केवल अनुकरण करने वाला-सा होने के कारण ही चेतन को ज्ञाता कहा जाता है। चित्त क्रियाशील परिणामी और जड़ है। ('योगदर्शन कैवल्यपाद' इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य)।

एक ओर तुम एकाकी हो दूसरी ओर प्राकृतिक सुख-समृद्धियों से भरी यह पृथ्वी। तुम्हें इसे भोगना है। भोग कर्म में चोली-दामन का साथ है। बिना कर्म के आनन्दोपलब्धि नहीं। त्यागते हुए भोगना ही श्रुतिवाक्य है। सहज कर्म, नैव कर्म, ऐश कर्म का सहारा आवश्यक अनिवार्य है। लोक के आश्रय के बिना परलोक की सिद्धि नहीं। निष्काम कर्म के बिना आनन्द की प्राप्ति कहाँ? अतएव चित्त को आनन्दित करने के लिए जड़मय प्रकृति में चेतन का आनन्द भरने के लिए भोग (कर्म) को अपनाना आवश्यक है। सत् चित् आनन्द की मीमांसा समझने वाले जानते हैं कि सत् (प्राकृतिक विकास), चित (आत्मिक विकास) तथा आनन्द दोनों में मेल रखने का नाम है।

यजन—'तद् यद् इदमाहु: अमुं यज अमुं यज—इति एकैकं देवम् एतस्यैव सा विसृष्टि: एष उत्येव सर्वेदेवाः' (शतपथ १४-४-२-१२) हिंदू संस्कृति के साथ यज्ञानुष्ठान का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। "सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" गीता ३-१० प्राचीन काल में प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजा की सृष्टि की। मंत्र और यज्ञ का प्रजा के साथ अटूट सम्बन्ध है। प्रजापति ने सृष्टि करके कहा 'यज्ञों द्वारा तुम फूलो फलो, ये तुम्हें तुम्हारी इष्ट वस्तु प्रदान करेंगे आदि। यज्ञ कर्ममूलक हैं। मनु यज्ञ करते भी थे। जनजीवन मतंव्य ही कर्म और यज्ञ है तो फिर इससे प्राण कैसे बचेंगे? "भूतभावोद्भवकरो विसर्ग, कर्मसंज्ञितः।" कर्म प्रकृति का स्वभावसिद्ध स्पंदन है।

हमारी प्राचीन हिन्दू संस्कृति में गृहस्थ जीवन को एक यज्ञ का स्वरूप दिया गया था और उसमें स्त्री अर्धाङ्गिनी के रूप में पुरुष को सहयोग प्रदान करती थी। रघुवंश १-५६ में वसिष्ठ और अरुन्धती के साथ योग-क्रिया संपन्न करने की बात आती है।

आकर्षण—स्त्री आकर्षण शक्ति है, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

'शृंखला में ही अमरत्व है। बिना शक्ति का सहारा लिये शिव शव के समान है। यज्ञ करना, कर्म निरत होना अनिवार्य। किंतु यज्ञ कर्म बिना सहारा के संभव नहीं। अतएव एकांकी जीवन बिताने का विचार तुच्छ है, सराहनीय नहीं। जैसे विद्युत् शक्ति में आकर्षण विकर्षण का मेल अनिवार्य है, उसी प्रकार संसार-यात्रा, कर्म-मार्ग, यज्ञ-कर्म में स्त्री-पुरुष का सहयोग आवश्यक है। अपने ही में अन्तर्लीन पुरुष तप से आत्म-विस्तार नहीं कर सकता।

दब रहे हो अपने ही बोझ खोजते भी न कहीं अवलंब।
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न उऋण होऊँ मैं बिना विलंब ॥

५१—तुम चिंतित हो, दुखी हो। तुम्हारे सामने जीवन की उलझनें हैं। तुम इस चिंता इस दुःख, इस उलझन से स्वयं कातर, पीड़ित तथा उद्विग्न हो। इन्हें स्वयं निःसहाय वहन कर रहे हो। किन्तु तुम में अकेले इनको वहन करने का सामर्थ्य नहीं है। तुम्हें सहायता की आवश्यकता है। किन्तु तुम सहायता खोजते भी नहीं, चाहते भी नहीं! मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे अपनी सहचरी बनालो जिससे मैं अपने कर्तव्य का पालन कर सकूँ। और उस ऋण को भर सकूँ जो शरीर धारण से मेरे ऊपर चढ़ा है, बढ़ा है।

उऋण—"या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत्। पतिव्रता पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी (श्री विष्णु धर्मोत्तर ३–३३२–११)। जो नारी सब कार्यों में प्रयत्नशील हो, सब कार्यों में दक्ष हो, पुत्र प्रसविनी हो, पतिव्रता हो, पति को प्राण समान प्यार करने वाली हो, वह नारी धर्म भागिनी होती है। स्त्री के लिये 'पति पूजा' के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है।

"नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूयते येन तेन स्वर्गे महीयते"।

पत्नी पद प्राप्त होने से स्त्री पति के कर्तव्य का फल प्राप्त कर लेती है। अतएव 'उऋण' में मनु के भी उऋण होने का भाव निहित है। मनुस्मृति के अनुसार मानव को देवऋण, पितृऋण तथा ऋषिऋण से उऋण होना है। यज्ञ, पुत्रोत्पादन तथा स्वाध्याय द्वारा ही संभव है।

सहचर—"साप्तपदीनं संख्यम्" की प्रतिध्वनित करता है। पत्नी पुरुष का आधा स्वरूप है (तै० ब्रा० ३–३–८); पत्नी के बिना अधूरा रहने के कारण पुरुष सब यज्ञों का अधिकारी नहीं बनता (तै० २–२–६)। हिन्दूधर्म में पति-पत्नी सहधर्मी हैं।

["स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह। स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः

पुमान् स्मृतः । अर्धो ह वा एष आत्मनो मजायेति; यावन्न विन्दते जायां तावदधा पुमान्'' आदि इस संबंध में मननीय] ।

५२—समर्पण—"पति के कल्याण तथा मङ्गल के निमित्त आत्मनिषेध या आत्मसमर्पण ही नारीत्व है । पुरुष की पूर्ति नारी के संगम में है । नारी के बिना पुरुष का जीवन अधूरा है । बिना नारी के सहयोग के वह अपने पुरुषार्थ में कृतकार्य नहीं हो सकता ।'' स्कन्द पुराण में मिलता है कि जब पार्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने कहा कि 'शोभने ! मैं अब तपोद्रव्य-क्रीत दास हूँ जो इच्छा हो आदेश दो, मैं पालन करने के लिये प्रस्तुत हूँ''; तब पार्वती ने जो उत्तर दिया, उसमें यही आत्मसमर्पण की भावना है, "मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ । मन तो प्रथम-प्रथम से ही आपको समर्पण कर चुकी हूँ । अन्तःकरण के तीन भाग चित्त, बुद्धि अहंकार अब समर्पित हैं'' । आत्मसमर्पण तथा दासी का सेवा भाव स्त्री जाति की शोभा है । ऋ० ५।६१।६ में बताया गया है कि पतिव्रता स्त्री नास्तिक पुरुष से अधिक पूजनीय है ।

पतवार—नरं नारी प्रोद्धरति मज्जन्तं भव वारिधौ । एतत्सं दर्शनाग्रीय तथा चक्रे भवोद्भवे'' (स्त्री भवसागर में डूबते हुये पुरुष का उद्धार करती है, इस बात को भली-भांति प्रकट करने के लिये संसार को उत्पन्न करने वाले शिव ने यह लीला की) । 'पुरुषाणां सहस्रं च सती स्त्री हि समुद्धरेत्' (स्कन्द पुराण) ।

विगत विकार—"तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परियन्त्यापः । स शुक्रेभिः शिक्कभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतानोर्णगप्सु'' (ऋ० –३५–८) ।

"अत्यन्त शुद्धिकारक जल के समान अहंकार शून्य मुस्कुराती हुई कन्यायें उस युवा को प्राप्त होती हैं'' आदि को प्रतिध्वनित करता है ।

५३-५४—**रत्ननिधि**—"यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा । एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पुत्युरस्तं परेत्य'' ऋ० १४–१–४३ में स्त्री की उपमा सिन्धु से दी गई है ।

दया, माया, आदि—शुश्रूषत्व गुरून् कुरु प्रिय सखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः

कवि गुरु कालिदास ने जिन गुणों का उपदेश कण्व द्वारा शकुन्तला को दिलाया है, उसकी प्रतिध्वनि यहाँ भी है ।

फैलेगी यह वेलि—स्त्री के दो प्रयोजन हैं—रति और सन्तति 'केनान्दं रतिं प्रजातिम्' (कौषीतकी उ० १–७) । उसी उपनिषद में मिलता है 'जगत्-जड़चेतन समुदाय ब्रह्मानी के वाटिका के पुष्प हैं । "सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः । स्योना श्वश्र्वै प्रगृहान विशेमान्'' अ० १६–२–२६ में स्त्री गृह की वृद्धि करने वाली कही गई है ।

"दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति" दया, क्षमा, अनसूया, शुचिता, अतिश्रमवर्जन, शुभ में प्रवृत्ति, दानशीलता, निर्लोभता" गौतम धर्म सूत्र में मानव के सामान्य गुण माने गये हैं। स्त्री इनकी खान है पुरुष इन गुणों को स्त्री से पाता है यही हमारे कवि का संकेत है।

४६-५४—"तुम्हारे सामने भूमि का इतना विशाल टुकड़ा पड़ा है। इसमें प्राकृतिक सुख-सौंदर्य की विभव-प्रदायिनी निधियाँ भरी पड़ी हैं। तुम्हें इन्हें भोगना है। ये सभी तुम्हारी भोग्य हैं। भोक्ता अकेले तुम हो। तुम्हें इन्हें भोगने की हिचकता नहीं होनी चाहिये। सांसारिक जीवन कर्मों का ही फल है। हमारा क्रियमाण (प्रतिदिन का कर्म) ही संचित तथा प्रारब्ध के भेद से भोग आयु और जन्म का कारण बनता है। भोग और कर्म में अन्योन्याश्रित संबन्ध है। कर्म करते हुए भोगना तथा भोगते हुए कर्म करना ही धर्म मार्ग है। निष्काम कर्म ही 'तेन त्येक्तन भुञ्जिथा' का वेद-विहित मार्ग है। बिना कर्म के आनन्दोपलब्धि संभव नहीं। सत (जड़) चित (चेतन) के मेल से ही आनन्द बनता है। यह विश्व जड़-चेतनमय है। बिना इसकी सिद्धि के पारलौकिक सिद्धि संभव नहीं। हमें कर्म करने की शक्ति मिली है। कर्म करना हमारा धर्म है। जब कर्म अनिवार्य ठहरा, तुम्हें कर्म करना ही है तो कर्म निरत होना ही वांछनीय है। तुम इससे अनभिज्ञ भी नहीं। तुम यज्ञ तो करते ही हो। 'वलि' देना तुम्हारा स्वभाव ही है। कर्म यज्ञमूलक है। किंतु तुम अकेले यज्ञ करने में कैसे समर्थ होगे। यदि तुमने अकेले यज्ञ करते रहने की सोची है तो इस विचार को छोड दो। पुरुष केवल विकर्षण शक्ति संपन्न है। उसे आकर्षण अपनाना है। आत्मविस्तार के के लिये, एक से अनेक होने के लिये, आत्मिक अभ्युदय के लिए शक्ति का सहारा, स्त्री का अवलंब आवश्यक है। तुम व्यर्थ दुखी हो। तुम्हें कल्पित दुःख सता रहे हैं। अकेले रहने के नाते तुम सर्वदा सोचा करते हो और तुम्हारी चिंता नित्य दुःखों को तुम्हारे सामने लाती है। तुम इन दुःखों, मनःकल्पित दुःखों, के बोझ से दबे जा रहे हो। आश्चर्य तो यह है कि तुम किसी अन्य का सहारा चाहते भी नहीं खोजते भी नहीं। मैं चाहती हूँ कि मैं तुम्हारी सहचरी बनूँ, तुम्हारे साथ सख्य स्थापित करूँ, मित्रता का बंधन दृढ़ाऊँ। "न सखा यो न ददाति सख्ये" (वह मित्र ही क्या जो अपने मित्र को सहायता नहीं देता) से मैं परिचित हूँ। मैं तुम्हारी सहधर्मिणी बनना चाहती हूँ। नारी जीवन का यही उद्देश्य है कि वह पति के साथ रहकर सहरमण करे। मैं अपने शरीर धारण के लिए माता पिता की ऋणी हूँ और इस ऋण से उऋण होने के लिए यही मार्ग है कि मैं अपने शरीर एवं अन्तःकरण को किसी पुरुष-धर्मनिष्ठ पुरुष को समर्पित कर दूँ। मैं चाहती हूँ कि तुम मेरा आत्म-समर्पण स्वीकार करो। मैं तुम्हारे साथ रहकर तुम्हारी सेवा शुश्रूषा करूँगी। संसार रूपी नदी से तरने में मेरा समायोग सहायक होगा। मैं अपने अविकारी शुद्ध जीवन को तुम्हारे चरणों में चढ़ाती हूँ। उत्सर्ग

करती हूँ। मैं 'अपूर्वा' हूँ, मेरा किसी अन्य पुरुष से संपर्क नहीं रहा। मेरा जीवन, मेरे विचार, मेरा हृदय, मेरे भाव सभी शुद्ध हैं। दया, माया, ममता, मधुरिमा, अतुल विश्वास सभी मुझमें है। हमारा हृदय समुद्र की भाँति गंभीर है, इसमें ऐसे अनेक रत्न भरे पड़े हैं। मुझे अपनाकर तुम सभी के स्वामी हो जाओगे। संसार में सृष्टि का गतिरोध हो गया है, तुम्हें इसे हटाना है। मुझे अपना कर तुम सृष्टि को पुनर्स्थापना में सहायक होंगे। तुमसे ही मानवी सृष्टि का विकास होगा। लता वृक्ष के आश्रय में बढ़ती तथा फूलती है जिसके सौरभ से पृथ्वी महँक उठती है। मैं नारी हूँ, लता हूँ, तुम्हारे आश्रय में बढ़ूँगी, मेरी सन्तति बढ़ेगी, जिससे संसार में तुम्हारा यश फैलेगा। 'फूलों का खेल' वसन्तागम की विभूति है तुम्हारा खेल इसी प्रकार सृष्टि को वैभव-संपन्न करे।

५५—विजयी बनो—अथर्ववेद १६-१३-५ बल विज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः। अभि वीरो अभिषत्वा सहो जिज्ञैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोविदन्" आदि मन्त्रों की ओर सकेत है। "तू जयशील रथ पर बैठ"। "पृतना: जयेम" (अ० ५। ३।१) उपद्रवों का हम जीतें। "अहमिन्द्रो न पराजिग्ये" मैं इन्द्र हूँ, मुझे कोई पराजित नहीं कर सकता।

शक्तिशाली—"शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्ति: प्रभवितं। न च देवं देवो न खलु कशलः स्पन्दितुमपि" शक्ति के बिना शिव भी चल-फिर नहीं सकते। स्त्री 'शक्ति' रूपिणी है। इस ओर भी संकेत है।

५६—डरो मत—"एवा मे प्राण मा विभे" अ० २-१५-१ से ६ मननीय इसी प्रकार हे मेरे प्राण मत डरो।

मंगलमय वृद्धि—"उत्क्रामातः पुरुष माडव पन्था मृत्यो" आदि अथ० ८।१।४ मननीय है। हे पुरुष इससे ऊपर को उठ, आगे को बढ़, मत नीचे को गिर। मृत्यु के पाश छुड़ाता हुआ इस लोक से अग्नि के सूर्य के, सन्दर्शन से मत छूट, मत कट'। "सुमङ्गली" "प्रतरणी" का उल्लेख ऊपर हुआ है। गृह की शोभा गृहिणी है। उससे घर की वृद्धि होती है। अथर्ववेद पैप्पलादशाखा ३।२६ में गृह महिमा का वर्णन द्रष्टव्य। 'शक्ति को पुष्ट करता हुआ मतिमान् और मेधावी मैं मुदित मन से घर में आता हूँ। ये घर सुख के देने वाले, धान्य से भरपूर हैं, घी, दूध से सम्पन्न हैं। जिस घर में रहनेवाले परस्पर मधुर और शिष्ट सम्भाषण करते हैं जिनमें सब तरह का सौभाग्य निवास करता है, जो प्रीतिभोजों से संयुक्त हैं, जिनमें सब हँसी-खुशी से रहते हैं, जहाँ न कोई भूखा है न प्यासा, उन घरों में कहीं से भय का सञ्चार नहीं होता"—आदि,

५७-६३—मानव, मानवता—का उल्लेख मनु से प्रजा उत्पत्ति की ओर संकेत करता है।

अखिल मानव भावों का सत्य—"ऐक्यं भावातीतमिदं सर्वं प्रकाशा भावमात्रकम्। हि परमेशान भावातीतं सुनिश्चितम्" ब्रह्मज्ञान का मूल ऐक्य भाव है और

इस प्रकार का ऐक्य ही सभी प्रकार की साधनाओं का मूल है। वर ऐक्य भाव भावातीत होकर निखिल चराचर विश्व का आत्म-प्रकाश होता है"। इसके लिए "समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्" आदि का ऐक्य आवश्यक है। ऋ० १०-१९१-१ से ४)। "संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम। देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते" सब एक साथ चलो, एक साथ बोलो, एक समान जानो, जिस प्रकार पूर्ण कर्तव्यनिष्ठ ज्ञानी एकता को जानते हुए कर्तव्य का सेवन करते हैं।

यजु० ३५।१० 'दुःख रूपी पत्थरों वाली संसार रूपी नदी बह रही है। हे मनुष्यो, समान विचार वाले बनकर एक साथ उद्योग करो, उठो, सँभलो और अच्छी तरह पार करो। जो दुःखदायी हैं उनको यहीं ही हम छोड़ दें और कल्याणकारी ज्ञानों को लक्ष्य करके हम उत्तमता से तर जायें।

उत्स = धारा।

मन का चेतन राज—प्रत्येक जड़तत्त्व चेतन अधिष्ठित है। चेतन ही उसका नियन्ता और सञ्चालक है। "वस्तु धर्मानियम्यरेन् शक्त्या नैव यदा तदा*अन्योन्यधर्म साङ्कर्याद् विप्लवेत् जगत्खलु"। जगत् के विप्लव का कारण धर्म की संकरता है। इसका कारण शक्ति (चेतन) के नियन्त्रण की कमी है। 'मन का चेतनराज' धर्मानुकूल आचरण का विधान करके समाज को अभ्युदय की ओर ले जाता है।

कल्याणी सृष्टि—'जीवों को चिदानन्द-स्वरूप भगवान के इस सौन्दर्यमय राज्य में अनन्त काल के लिए प्रतिष्ठित कर देना ही महामाया का दूसरा उद्देश्य है" इस दृष्टि से सृष्टि कल्याणी है।

विजयिनी मानवता हो जाय—लौकिक पारलौकिक का समन्वय ही मानवता की विजय है। पृथ्वी सूक्त (अथर्वेद काण्ड १२) मननीय।

> **'स्थापित कर हे मातृ भूमि तू मुझे भद्र भावों के साथ,**
> **सर्वज्ञे स्वर्गीय भूमि की प्राप्ति करा तू करे सनाथ।**
> **पार्थिव सुख सम्पत्ति राशि में करुणामयि दे मुझको स्थान,**
> **और साथ ही जननि! मुझे कर भागवती विभूति का दान'।**

और क्या तुम इतने चेतनाशून्य हो गये हो कि संसार के कण-कण में रणित विधाता का मङ्गल वरदान तुम्हें सुनाई नहीं दे रहा है। विश्व में केवल एक जयगान गूँज रहा है कि शक्ति का अर्जन करो, विजय पथ पर अग्रसर हो। [पानी ने शक्ति के कारण ही तो जय पाई]। तुम अमृत हो, अमृत-सन्तान (देवपुत्र) हो, तुम्हें इस प्रकार डरना शोभा नहीं देता। 'अहमिंद्रो पराजिग्ये' (मैं आत्मा हूँ, मुझे कोई हरा नहीं सकता) का ध्यान करो। "परैतु मृत्युरमृतं न एतु" मृत्यु हमसे दूर रहे और अमृत पद हमें प्राप्त हो, का संकल्प करो। विश्वास करो कि भविष्य के गर्भ में

तुम्हारे लिए सुखकारी लोकोन्नति निहित है। सामने वृद्धि ही वृद्धि है। जीवन-केन्द्र में कुछ ऐसा आकर्षण है कि वहाँ सारी समृद्धि अपने आप चली आती है। गृह, गृहिणी, गृहस्थ-आश्रम ही जीवन केन्द्र है। देव अपनी सभ्यता की रक्षा कर सकें। उनकी सभ्यता फलोपभोग, वासना की है तृप्ति से ही अनु-प्राणित थी, वह विनष्ट हुई। देवताओं की असफलताओं का ध्वंसावशेष प्रचुर साधनों से पूर्ण आज मानव की सम्पत्ति है। तुम्हें उन्हीं ध्वंसावशेषों पर नई सभ्यता नई संस्कृति की नींव डालनी है। देवताओं की सभ्यता जड़वादी थी, उस चेतना की कमी थी। मानवी संस्कृति को चेतना के आधार पर विकसित होना है। तुम्हें ऐसा प्रयास करना है जिससे अखिल मानव भावों का सत्य—प्रेम, सहृदयता—विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों में निरन्तर लिखा जावे। भाव-विकास की ओर समस्त विश्व काल के प्रत्येक अवस्थान पर उन्मुख रहे। चाहे कितनी भी बाँधायें क्यों न उपस्थित हों मानव अविचल अपने लक्ष्य की ओर सदैव बढ़ता रहे। संसार अपनी दुर्बलताओं से हताश न हो वरन् बल वीर्य्य संचय में अधिक सन्नद्ध हो। पराजित होने पर भी रोने के बदले हँसें और शक्ति सञ्चय करें। जैसे बिखरे विद्युत्कण एकत्र होकर आश्चर्यमय कार्य करते हैं उसी प्रकार मानव साम्य स्थापित करके द्वेष का परित्याग करके "सर्वेभवन्तु सुखिनः" की ओर अग्रसर हो। मानवता के विजयिनी होने का मूलमन्त्र सहृदयता, सम्वेदनशीलता, आध्यात्मिक समता, अथवा समदर्शन है। ऐसा समन्वयकारी दृष्टिकोण से ही सम्भव है।

काम

४ काम

'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत' (नासदीयसूक्त ऋ० १०-१२६-४) में बताया गया है कि एक रूप में अभेद भाव से विराजित मन का प्रथम परिणाम ही काम रूप है। देव जगत में 'काम' ब्रह्मा जी के संकल्पज पुत्र माने जाते हैं। दार्शनिक क्षेत्र में 'ध्यायतो विषयान्पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता २-६२) की बात आती है। मनुष्य का विषय-चिंतन ही काममूलक है। काम जीवन के चार पुरुषार्थों में है। गीता में धर्म से अविरुद्ध काम को भगवान् का स्वरूप बताया गया है। (धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ)। रस भाव मीमांसा में 'शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः। उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते' की बात आती है। 'काम के उद्भेद को शृंगं कहते हैं उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस शृंगार कहलाता है। अथर्वेद २७-६ में पिता माता की पुत्रैषणा को ही 'काम' कहा है। अथर्वेद तृतीय काण्ड सूक्त २५-१ से ६ में काम-शास्त्र और स्वयंवर का उपदेश करते हुये बताया गया है कि 'हे स्त्री और पुरुषो! जब उत्तम रूप से व्यथा देने वाला उत्तेजक काम तुम्हें भली प्रकार व्यथा देता है, तब अपनी सेज पर भी सुख चैन से तुम नहीं सो सकते। पुत्रोत्पादन करने, आभ्यन्तर पुत्रैषणा रूप काम की जो भयंकर कामना है, उससे मैं पुरुष तुझ स्त्री के हृदय में मारता हूँ' आदि। हिन्दू विवाह में 'काल वेद ते नाम मदो नामसि समानयामुं सुराऽर्तऽभवत् परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि स्वाहा' की बात आती है। "तुम्हारा नाम काम है पर वास्तव में तुम मद हो। तुम्हारा नशा वर को कन्या के पास खींच लावे। क्योंकि कन्या ही कामाग्नि अरणि है जो रतिक्रिया से प्रज्वलित हो उठती है।" "क इदं कस्मा अदात् कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामः समुदमाविशत्। कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामैतत्ते"। "अग्निं क्रव्यादमकृण्वञ्जुहानाः स्त्रीणामुपस्थमृषयः पुराणास्तेनाज्यमकृण्वंस्त्रैशृङ्गं त्वाष्ट्रं त्वयितद् दधातु स्वाहा"। इमं त उपस्थमधुनां संसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्" से पता चलता है कि स्त्री पति की वासना-तृप्ति का साधन है। कामो जज्ञे प्रथम नैनं देवा आयुः पितरो न मर्त्याः ततस्त्वमसि ज्यायानं विश्वहा महांस्ते काम नमः इति कृणोमि—अथर्वेद ९।२।१९ 'हे काम तू सर्व प्रथम उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ, कोई तुझसे बचा नहीं। इसलिए तू व्यापक और सबसे महान है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

(भर्तृहरि शतक 'शृंगार शतक' की 'वन्दना' तथा पंत की 'अनंग' शीर्षक कविता भी मननीय।)

मृगया, जूआ, दिन में सोना, दूसरों का दोष वर्णन, स्त्रियों की अधिक सहवास, शराब पीना, नाचना, गाना, वृथा घूमना, काम से उत्पन्न होने वाले दस व्यसन हैं (मनु ७-४७)।

"कामश्चतुर्षु, वर्णेषु सवर्णनः शास्त्रतश्चानन्यपूर्वायां प्रभुज्यमानः पुत्रीयो यशस्यो लौकिकश्च" (अनन्यपूर्वा से विवाह)।

उपर्युक्त विभिन्न बातों का समावेश काम-सर्ग में हुआ है अतएव इन्हें पहले ही अंकित कर दिया गया है।

"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य सायका:" तथा 'संमोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा। स्तंभनश्चेति कामस्य पंचबाणाः प्रकीर्तिताः" भी द्रष्टव्य।

पूर्व सर्ग में 'नयन का इन्द्रजाल अभिराम' के रूप में श्रद्धा मनु के सामने आती है। 'समर्पण लो सेवा का सार,' तपस्वी आकर्षण से हीन कर सके नहीं आत्म विस्तार, सामने है मंगलमय वृद्धि, विजयिनी मानवता हो जाय' का प्रस्ताव चलता है। निराशा से पराजित मनु में आशा के बीज बो उठते हैं। मनु श्रद्धा की ओर आकर्षित होते है। रूप का आकर्षण मोह की सृष्टि कर देता है। उसी रूप-आकर्षण की प्रतिक्रिया मनु के अन्तर्द्वन्द का कारण बनती है। और वह स्वगतोक्ति करते हुये पुनः रंगमंच पर हमारे समक्ष आते हैं।

१ मधुमय—"इयंत उपस्थमधुना संसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्' वर रुपी भ्रमर को आकर्षित करने के लिये कन्या की योनि मधु रूपा है। वसंत में 'मधु' का ही व्यापार होता है अतएव वसंत का विशेषण 'मधुमय' कितना सार्थक है।

वसंत—चैत-वैशाख का दूसरा नाम है। वैदिक काल में मधु-माधव वसंत के महीने थे। वसंत में मधु मधुरिमा की बहुलता होती ही है। कोकिल का एक नाम 'मधु-घोष ही है। कामदेव को मधुर्दीप, आम को मधुद्रुम मधुदूत कहते हैं, वसंत का एक नाम वधु भी है। वसंत का एक नाम काम-सख भी है। कवि-गुरु कालिदास ने वसंत के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है—

> "मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः
> श्रृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः
> ददौ रसात् पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः
> अर्द्धोपभुक्तेन विसेन जायां संभावयामास रथांगनामा
> पर्याप्त पुष्पस्तवकस्तनाभ्यः स्फुरत् प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः
> लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्र शाखाभुजबंधनानि"

तुलसी ने भी :—

'सब के हृदय मदन अभिलाषा। लता बिलोकि नवहिं तरु साखा'
आदि की बात कही है।

अंतरिक्ष की लहरों में—भू और स्वर् के बीच भुवर् या भुवस् लोक की स्थिति मानी जाती है। अंतरिक्ष इसी का दूसरा नाम है। अंगरेजी में इसे atmosphere कहते हैं। "अन्तरिक्षेण सह वाजीनीवन् कर्की वत्सामिह रक्षा वाजिनि" में चिति शक्ति तथा उसके स्वामी का वर्णन द्रष्टव्य। अथर्वेद (४, ३८-६)। वैज्ञानिक अनुसंधान के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि प्रकाश का रूप तरंगवत् है। और यह भी सिद्ध है कि प्रकाश का फैलना असंख्य विद्युतकणिकाओं का प्रबल वेग से प्रधावित होना है। Corpuscular theory तथा wave theory of light दोनों का समावेश 'लहरों में बहने' के प्रयोग में हुआ है। रूप अग्नि का गुण है, प्रकाश का गुण है। अतएव रूप का दृष्टि-पथ पर तरंगवत् बहते हुए आना कितना यथार्थ तथा मनोज्ञतापूर्ण है।

चुपके से—सृष्टि शक्ति का कार्य रहस्यपूर्ण है। कोई नहीं जानता ऐसा क्यों और कैसे हुआ कामना का बीज हृदय क्षेत्र में अनजाने अंकुरित हो जाता है। नारी का मोह-स्पर्श भी कुछ कम रहस्यमय नहीं।

रजनी के पिछले पहरों में—रजनी रजस्-अंधकार की प्रगाढ़ता का बोध कराती है। पिछले पहरों में रात की कालिमा हटने लगती है और कुछ-कुछ प्रकाशाभास होने लगता है। "दुःख की पिछली रजनी बीच : विकसता सुख का नवल प्रभात"।

२. कोयल—वसंत तथा काम दोनों से संबंधित है। कोयल के नाम मदनपाठक, मदनशलाका, कामांध, कामताल, कामदूती, वसंतदूत आदि इस संबंध में विचारणीय। कोयल रात के पिछले पहरों में बोलती ही है :—

उडुगण क्षय भी हों दीखते भी कहीं हों
गत जब रजनी हो पूर्व संध्या बनी हो
मृदुल मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा
तब पिक करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा।

कलियों ने आँखें खोली थीं—फूल रात के पिछले पहरों में खिलते ही हैं :—

"कूक उठी सहसा तरु-वासिनि
गा तू स्वागत का गाना
किसने तुझको अन्तर्यामिनि
बतलाया उसका आना
....

सिहर उठे पुलकित द्रुमदल
सुप्त समीरण हुआ अधीर

झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का-सा दाना" (पंत)

हमारे कवि ने कुसुम-अधरों पर हास की कल्पना न करके चेतना तथा विकास की झाँकी कराने के लिये 'आँखें खोलीं' की बात कही है। प्रसाद का चित्र वेद-कथित तथ्यों की भाँति यथार्थ की गोद में बैठा है और काव्यमय भी है। कलियों का मानवीकारण भी हो गया है। 'अलसाई' और 'आँखें खोलीं' में 'स्वप्न' तथा 'विबोध' संचारी भावों का भी समावेश हो गया है।

३. शिथिल सुरभि—गंध के दो रूप हैं, एक शिथिल दूसरा प्रवहमान।

जब कलिका प्रस्फुटित होकर गंधवाह द्वारा अपनी सुरभि को चुतर्दिक् बिखेरती है वह अवस्था तो मादक होती है किंतु क्या जब तक कलि विकसित नहीं होती तब तक उसे तोड़ने को जी नहीं चाहता?

कोरक कोने में लुक रहना—समधिक लज्जावती अंकुरित-यौवना का परिचायक है। 'कटाक्षपात' की ओर संकेत है। "काके उर में नहिं गड़ी बाँके दृग की कोर।"

बिछलन—मर्यादा पथ पर स्थिर न रहने का परिचायक है। इसकी शब्द-शक्ति में बड़ा रस है, जो केवल अनुभव करने की बात है।

५—निश्चिंत :—चिंता मलीनता का कारण है. चिंता रहित होना कान्ति दीप्ति का।

उल्लास :—प्रसन्नता से उछलने कूदने लगना, दीप्ति के दमक उठना।

काकली :—"सवल्लकी काकलिनिस्वनैः प्रवोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः" :—काकली से सोया मनसिज जग जाता है। काकली सप्त स्वरों के अतिरिक्त मिश्रित स्वर है।

आनन्द :—"आनंदः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन" आदि ब्रह्म का सहज आनंद किसी समय जब प्रकट होता है तो उसे रस का नाम देते है। रति सुख को ब्रह्मानंद सहोदर मानते ही है।

उपर्युक्त "मधुमय वसंत" से "दिगंत के अम्बर" (छंद १–५) में स्त्री सम्बन्धी गुणों का समावेश भी हुआ है।

स्वर :—ध्वन्यात्मक स्थूल वर्ण की उत्पत्ति के पूर्व आत्मा अर्थात चिदाभास निस्तरङ्ग ह्रद के समान निस्पन्द रहता है। उच्चारण की इच्छा होते ही आद्य क्षोभ के रूप में बुद्धि उचित होकर आत्मा से आ मिलती है। क्षोभ बढ़ जाता है। एक लहर के अनन्तर दूसरी लहर का क्रम चलता है। मन उत्पन्न होता है जो कि 'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक संपूर्ण वर्गों के अतिरिक्त और कुछ नहीं। मन वाणी को व्याकृत रूप में देखने के लिये व्याकुल हो उठता है। यह व्याकुलता उदाग्नि-रूप कामाग्नि पर चोट करती है। इस प्रकार बिखर नामक मरुत को प्रेरणा देती है। यहीं स्वर के परमाणु का जन्म

होता है।" (छान्दोग्योपनिषद में सूर्य का स्वर करते हुए चलने तथा सूर्योपनिषद् में छः स्वरों पर आरूढ़ बीज की बात आई है)।

विचार की दृष्टि डालने से उपर्युक्त पंक्तियों में 'त्रिसप्तापु' अथर्वेद १-१ की पूरी झाँकी है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, आहार, मन के साथ सत-रज-तम के भी अवयव उपर्युक्त वर्णन में विद्यमान हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में किस मनोज्ञता से आशावाद की कहानी कही गई है, इसे जान-समझकर कौन कलाकार की लेखनी पर साधुवाद न करेगा। 'माया मरे न मन मरे, मर मर जाय सरीर। आसा तृष्णा ना मरे कह गये दास कबीर'। बासना अनादि है अनंत है। जीवन के निराशापूर्ण पहलू पर दृष्टिपात करते हुये भी मनु के मन में अभिलाषा अक्षुण्ण बनी रही। यही भोग सागर की वीचि-विलासों में डूबते-उतराते कर्मनिरत साधक की प्रारम्भिक अवस्था है। 'न यह होती तो घबरा करके दम कब का निकल जाता। किसी उम्मीद पर ही सुबह से हम शाम करते हैं।' भोगों से कभी भी मानव मन तृप्त नहीं होता। भोगाकांक्षी में सदैव यह आशा बनी रहती है कि उसकी कामना कभी न कभी अवश्य पूरी होगी। इसी हेतु श्री मद्भागवत में (३-३७) भगवान ने काम को 'महाशन' बहुत खाने वाला कहा है। [मनु पूर्व पंक्तियाँ कहते-कहते निराशा की निश्वास लेकर अपने मन की बात सोच रहे थे फिर भी अभिलाषा की प्रगति न रुकी]।

'यही आस अटक्यो रह्यो, अलि गुलाब के मूल,
अइहैं बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल।

लिखने वाली लेखनी के पीछे नाट्य कला का बल होता तो किञ्चित् वह ऐसे ही चित्र उपस्थित करता जैसा हमारे कलाकार ने यहाँ उपस्थित किया है।

'नि:श्वास' **विषाद** नामी संचारी भाव का लक्षण है। उत्सुकता नामी संचारी भाव का भी लक्षण नि:श्वास है। इष्ट न प्राप्त होकर अनिष्ट होने से उत्पन्न दुःख अथवा उपायाभाव के कारण पुरुषार्थहीनता-जन्म-कष्ट को विषाद कहते हैं। अभीष्ट की प्राप्ति में विलंब का असहन उत्सुकता कहलाता है। : 'निराशा' शब्द **'विषाद'** से अधिक अधिक निकट है।

समाज विज्ञान बताता है कि स्त्री-पुरुष संयोग ही समाज-विकास का मूल है। एक नैसर्गिक प्रवृत्ति ही स्त्री पुरुष के आकर्षण का कारण बनती हैं। यौन मनोभाव (Sex-instinct) में ऐन्द्रिक सुख, मानसिक तृप्ति तथा संतानोपलब्धि सभी निहित हैं। नारी के आकर्षण की प्रतिक्रिया ही काममूलक है। रूप का मोह कामनामय होता है। इसे ही वह हृदय की सकामता कहते हैं। यही मानसिक प्रवृत्ति संसार के सृजन का हेतु है। मनु ने श्रद्धा को देखा, उसकी बातें सुनी, रूप के जादू से उनका मन वशीभूत हुआ। श्रद्धा की अनुपस्थिति में मनु श्रद्धा के रूप-लावण्य पर मनन करते

हैं और सोचते हैं 'अपने मन की बात,' विषादपूर्ण हृदय से निराश होकर, फिर भी आशा उनके मन में घर करती ही गई।

उपर्युक्त पक्तियों में 'मनु के अपने मन की बात पर सोचने' की जो बात कही गई है वह इतनी अभिव्यञ्जनाओं से पूर्ण है कि सामान्यतः उसका स्पष्टीकरण सरल नहीं। प्रसाद तो क्या छायावादी कवियों में प्राय: सभी उपमान उपमेय की पूर्ण झाँकी सजाना कला प्रतिरोधी मानते हैं। उपर्युक्त पंक्तियां में वसंत के सभी उपकरणों का चित्र तो है किंतु यह वसंत छाया है जावन वन में। फिर वसंत की कोयल जीवन-वन में किस रूप में प्रच्छन्न है, यह पता लगाना पाठक का कार्य है!

मनु विषय-चिंतन में लगे हैं! विषय-चिंतन से सङ्ग तथा कामना का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यही कामना अभिलाषा की प्रगति है।

"It is not surprising that from the Viewpoint of sexual Selection Vision should be the supreme scene. The love-thoughts of men have always been a perpetual meditation on beauty" (Psychology of serly Hrelock Ellis 54)

विक्रमोर्वशीय में कालिदास ने उर्वशी की रचना के बारे "शृङ्गारकैरस: स्वयं नु मदनो मासो न पुष्पाकर:" की बात कही है। 'कामायनी' की सृष्टि में ये अवयव वर्तमान हैं।

(छंद १–८)—"मधुमय वसंत जीवन वन के" से "वह कोलाहल एकांत बना" तक की पंक्तियों में केवल कामायनी के रूप की प्रतिक्रिया चित्रित है। यह प्रतिक्रिया मनु के मनमें कामायनी के साक्षात् के पश्चात उसकी अनुपस्थिति में हा रही है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध तथा मैथुन (आनन्द) के सभी अवयव उपर्युक्त पंक्तियों में विद्यमान हैं। मनु सोचते हैं :—

१—"जिस प्रकार पतझर की अन्तिम रजनी के पिछले पहरों में मधुमास पवन वृत्तियों में बहता हुआ अनजाने यकायक उपस्थित हो जाता है, उसी प्रकार मेरी सकामता के प्राण तुम भी मेरे पतझर सरीखे जीवन में वसंत रूप अवतरित हुये जिस प्रकार वसंत के आने से जड़-चेतन में मदन-अभिलाषा जाग उठती है उसी प्रकार मेरा मन भी कामोपभोग का इच्छुक हो गया है। (रजनी के पिछले पहरों में मदन-अभिलाषा जगती भी है!)

२—तुम्हारे साक्षात् ने मेरे मन में अनजाने कामना की टीस उत्पन्न कर दी। जैसे वसंत के स्वागत में कोयल मस्त होकर कूजन करने लगती है उसी भाँति तुम्हारे आने से मेरा मन भी स्वर भरने लगा है। और जैसे वसंत काल में यह पक्षी जब तक गर्भाधान नहीं हो जाता तब तक मत्त भाव से कूजता ही रहता है, उस भाँति मेरा मन कामोद्भव पीड़ित सहवास चाह रहा है। (पुंस्कोकिलश्चूतरसावने मत्त: प्रियां चुम्बति

रागहृष्टः) जैसे वसंत के उपस्थित होने पर कलियां खिल कर फूल हो जाती है मानों सोकर उठी हों उसी भाँति तुम्हारे आने ने मेरे सुप्त मनोभावों को विकसित कर दिया है।

३—जिस प्रकार वसंत की कलियों में कौतुक रूप छिपकर उन्हें शिथिल सौरभ संपन्न करने की अवस्था में भी दर्शक का मन उन्हें तोड़ने के लिये मचल उठता है उसी प्रकार वयसंधि के समय तुम्हारे लीला अनुभव ने मेरे मन को विचलित कर दिया है।

४—जैसे वसंत ऋतु में फूलों की पखड़ियों पर सुन्दर आभा छा जाती है और कल गान करते निर्झर बहने लगते है जिसे देख दर्शक मन मुग्ध होते हैं, उसी प्रकार तुम्हारी फूलों-सी हँसी तथा झरनों के संगीत में डूबी तुम्हारी काकली ने मुझे मोहित कर दिया।

५—तुम्हारे व्यापारों से प्रकट होता था कि चिंता तुम्हें छू तक नहीं पाई है। तुम्हारे स्वर में वह मधुरता एवं मादकता थी, जिससे मन में काम जग जाता है। तुम्हारी मीठी-मीठी बातें उल्लासपूर्ण थीं। जिस प्रकार उल्लासपूर्ण काकली दिगंत में प्रतिध्वनित होकर भली लगती है उसी प्रकार तुम्हारी काकली से हमारे हृदयाकाश का ओर-छोर परिव्याप्त है!

६—जिस प्रकार नवसिखुए चित्रकार अस्पष्ट लकीरों से चित्र बनाकर उसमें अपनी कल्पना के अनुसार अनेक भाव चित्रित किया हुआ समझ कर मनमुग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे आने से मेरे मन में भावी जीवन के अनेक आशापूर्ण चित्र अंकित कर दिये। यद्यपि ये अनुकृतियां अस्पष्ट ही हैं फिर भी मै उनकी कल्पना करके फूला नहीं समा रहा हूँ।

७—जैसे लतिका पत्तों के घूँघट से सुमन सुकुमार नयनों की चितवन से तकती हुई परिसर भूमि को रससिक्त करती है, उसी प्रकार तुम्हारे सात्त्विक मधुर भाव में डूबे कटाक्ष से मेरा मन इस प्रकार मदान्वित हुआ कि उस सुख की तुलना में विश्व का समस्त वैभव तुच्छ प्रतीत होता है।

८—किंतु तुम इस समय मेरे पास नहीं! तुम्हारी उपस्थिति से मेरा हृदय कोलाहल से भर गया और तुम्हारी अनुपस्थिति से वह सारा कोलाहल एकांत में परिवर्तित हो गया!"

९—"एकांत" का ध्यान आते ही मनु का हृदय विषाद-युक्त होगया। उन्होंने एक ठंढी साँस ली जिस में उनके मन का सारा नैराश्य मुखर हो उठा। किंतु इससे मनु की मननगति प्रतिबाधित न हुई, अवसन्न न हुई। उनके हृदय की सकामता में कहीं से कोई अंतर नहीं आया, वे निरंतर सोचते ही रहे। उपर्युक्त वर्णन पर विचार करने से पता चलेगा कि उपर्युक्त स्वगत इस प्रकार उपस्थित हुआ कि बहुधा भाष्यकार यथार्थ रूप से पूर्ण भाव व्यञ्जना नहीं समझ पाते। वर्णन सरल होते हुए भी इस प्रकार

उपस्थित किया गया है कि उसमें वृत्तियों की संकरता का आभास मिलता है। उन्माद, स्वप्न, स्मृति में ऐसा होता है। जीवन, वसंत, काम, श्रद्धा सभी मिल कर मन से कुछ कहला रहे है। 'उन्माद' का कार्य हो रहा है!

१ - ४—वरुण—"ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः" (तैत्तिरीयोपनिषद् शान्ति पाठ) में मित्र को दिन और प्राण का अधिष्ठाता तथा वरुण को रात्रि और अपान का अधिष्ठाता बताया है। वरुण द्वादश आदित्यों में हैं और आषाढ़ के मासाधिकारी हैं। "सर्वप्रथम समस्त सुरासुरों को जीतकर राजसूय यज्ञ जलाधीश वरुण ने किया। ये सम्पूर्ण सम्राटों के सम्राट हैं। ये पश्चिम दिशा के लोकपाल और जलों के अधिपति हैं। पश्चिम समुद्र गर्भ में इनकी रत्नपुरी विभावरी है। इनका मुख्य अस्त्र पाश है। इनके पुत्र पुष्कर इनके दक्षिण भाग में सदा उपस्थित रहते हैं। अनावृष्टि के समय इनकी उपासना प्राचीन काल से होती आई है। ये जलों के स्वामी, जल के निवासी हैं। वरुण, कुबेर, यम आदि लोकपाल कारक कोटि के हैं। वे भगवान के ही स्वरूप हैं।" आशा सर्ग में "वरुण आदि सब घूम रहे हैं" की बात आई है। वरुण विद्युत-धारा का भी नाम है।

आमोद—प्रसन्नता तथा सुगंधि दोनों को कहते हैं (पुष्पासवा मोदसुगंधिवक्त्रः। शेते जनः कामशरानुविद्धः (ऋतुसंहार)।

इन्दीवर—नीलोत्पल, नील कमल, नीलः नीलिनी, असिक्नी। नीलोत्पल रात में ही विकसित होता है। सौगन्धिक कमल अर्थात् नील कमल चन्द्रिका विकसित कहा जाता है। (हिन्दी साहित्य की भूमिका द्रष्टव्य)।

मोहिनी—(मोहनी) में चेतनाहीनता, मोह, रति आदि सभी का भाव है। 'सी' उपमा को प्राणान्वित करने के लिए प्रयुक्त।

कृतिमय —'कृ' धातु का मूल बीज समझनेवाले जानते हैं कि करना ही सृष्टि है, निर्माण है, कल्पना है, पकाना है आदि।

वेग—में शक्ति, धारा, प्रवाह, कार्यप्रवाह, तीव्रता, प्रसन्नता सभी है। कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं—प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण। 'अणु को है विश्राम कहाँ' में प्रारब्ध, 'कृतिमय वेग भरा' में सञ्चित तथा 'अविरवाम नाचता कंपन है' में क्रियमाण की झाँकी है। कंपन, क्षोभ, स्पन्दन सृष्टि कर्म की उपक्रमणिका है।

स्वगतोक्ति का कारण मानसिक द्वंद होता है। नायक-मन की उधेड़ बुन का चित्रण ही स्वगत-कथन को मर्मबोझिल बनाता है। मनु आज श्रेय-प्रेय के चक्कर में विद्या-अविद्या के द्विपथ-विन्दु पर स्थित हैं। कभी उन्हें ज्ञानमार्ग भ्रमपूर्ण दिखाई देता है कभी कर्ममार्ग। कभी वे निराशा को बुरा समझते हैं कभी आशा को। चिंतन-गति इस द्विधागति से बलवती होती है। वे सोचते हैं—

'ओ नील आवरण जगती के दुर्बोध न तू ही है इतना
अवगुंठन होता आँखों का आलोक रूप बनता जितना'

१०—"शनि का सुदूर वह नील लोक; जिसकी छाया-सा फैला है ऊपर-नीचे यह गगन-लोक"। इड़ा सर्ग में आकाश को शनि-लोक की छाया तथा शोक का प्रतीक कहा है। उसी सर्ग के एक अन्य गीत में :—

"धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव कलना
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार"

की बात आई है। श्रद्धा के रूप वर्णन में आया है :—

"नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-वन बीच गुलाबी रंग"

भारतीय विज्ञान इस जगत को तामसिक सत्य मानता है तथा इसके परे ज्योति जगत की कल्पना करता है। "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" श्वेताश्वतर: ३।८। मननीय।

'आकाश तमपूर्ण है, शून्य है। जगत और जीवन जितना आश्चर्यजनक है यह ऊपर से जगती को परदे की भाँति परिवेष्ठित करने वाला आकाश उससे कम आश्चर्य-जनक नहीं।" इसे समझना दुष्कर है। आकाशं शरीरं ब्रह्म, आकाशो वै नाम नाम-रूपयो निर्वाहिताले यदन्तरा तद् ब्रह्म, ॐ खं ब्रह्म" आदि की बात भी आकाश के संबंध में आती है। आकाश क्या है? इस रहस्य को जानना उतना ही कठिन है जितना ब्रह्म को। नील- आवरण से ढक जाने पर, अँधेरा हो जाने पर वस्तु-स्थिति के ज्ञान का तिरोभाव हो जाता। जीवन का तमपूर्ण पक्ष, शोक-दुःख की प्रतिछाया, निराशा का घेरा सभी दुर्बोध हैं। मानव समय नहीं पाता कि क्या किया जावे। किंतु यहाँ यह सत्य है कि तम का व्यापार वस्तु-स्थिति के समझने में बाधक होता है वहीं यह भी सत्य है कि प्रकाश भी आँखों के सामने परदा बन जाता है। अंगरेजी कवि मिल्टन ने लिखा है :—

"Whose saintly visage is too bright
To hit the sense of human sight
And therefore to our weaker view
Overlaid with black staid wisdom's hue"

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये" (ईशो० १५)। में बताया गया है कि ईश का श्रीमुख प्रकाशमय सूर्य की ज्योति-यवनिका से आवृत है। अतएव तम-प्रकाश का झगड़ा, ज्ञान-अज्ञान की वार्ता भ्रम-

मूलक नहीं तो और क्या ? कौन बताये विद्या अज्ञान का कारण है या अविद्या ! फिर किसे श्रेय कहें किसे प्रेय ! ["अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (कर्मों के अनुष्ठान (अविद्या) से मृत्यु को पार करके ज्ञान (विद्या) के अनुष्ठान से अमृत को भोगता है—के परमसत्य की उपक्रमणिक उपस्थित है इस मनन-गति में] । "आलोक रूप" के "अवगुंठन" होने की विवृत्ति आगे हुई है !

११—वैदिक मंत्रों में, 'कथं वातो नेलयित कथं न रमते मन किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन' (अथर्ववेद १०-७-३७) आदि में बताया गया है कि वायु, मन, जल, आदि संसृति की सारी गति किसी सत्य के पाने की इच्छा में चलते जा रहे हैं। ['वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान' की बाद पहले आई है। वरुण का चल चक्र (चन्द्रमा) भी परमसत्य के अन्वेषण में लगा है। उसी का काव्यमय वर्णन हमारे कवि ने उपस्थित किया है

मनु के मन में अभी निराशा का ही आधिक्य, नास्तिकता का ही साम्राज्य है।

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वापरां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति" की स्थिति का उदय नहीं हुआ है। उनकी मनोवृत्ति 'विपर्ययो मिथ्या ज्ञानम् तद्रूप प्रतिष्ठम्' से पीड़ित है। अतएव वह सोचते है कि चन्द्रमा तू किसकी पूजा के लिये ज्योति-प्रसूनों (तारिकाओं) की अंजलि सजाये इस प्रकार भ्रम-पीड़ित चक्कर काट रहा है। तू समझता था कि तू अपने उपासना-कर्म द्वारा अंधकार का नाश करने में समर्थ होगा और इस प्रकार चिर-ज्योति की स्थापना कर सकेगा किंतु क्या तू अपनी इस आशा को साकार कर सका। अन्ततः तेरी अंजलि फूल तारों रूप अन्धकार में बिखर पड़े न ? यही है तेरी सफलता ?"

१२—मन की द्विधा गति फिर सोचती है :—

'आकाश पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि वह विभिन्न भागों में विभाजित है। लगता है कि अनेक नीली लताओं के कुञ्ज लहरा रहे हैं। तारे एक के अनन्तर एक इस प्रकार निकलते आ रहे हैं जैसे लता-गोद में फूल निरन्तर विकसते रहते हैं। वायु-मण्डल गंध से भर गया है प्रसन्नता से परिपूर्ण है ! आकाश से जो ओस की बूँदें भर रही हैं वे मकरन्द स्वरूपिणी हैं।

१३—इस प्रकार मनु को आकाश में एक प्रसन्नता का वातावरण दिखाई देता है। फिर वे सोचते हैं :—

जैसे नीलकमल से सुगंध-भरी मधु की धारा निकल कर पृथ्वी पर एक भीना आवरण बुन देती है, उसी प्रकार नीले आकाश से आमोद के क्षरण होने से वातावरण आमोदपूर्ण हो गया है। जैसे कमल से निकली मधु-धार से सिक्त वातावरण में भ्रमर फँस जाता है, मोहातुर हो जाता है, उसी प्रकार आकाश से प्रवाहित आमोदपूर्ण वातावरण सम्मोहन की सृष्टि कर रहा है। (कामायनी के नील परिधान का प्रभाव किस

विचित्रिता से अंकित हुआ है। इसे परख कर कवि की कला की सराहना करनी ही पड़ती है)

१४—"तस्यै तपोदमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतन्" (केनो० ४—८) में बताया है कि ब्रह्मविद्या की नींव है—तप, दम, कर्म। 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं। न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि", "देवात्म शक्तिं स्वगुणे निगूढाम्" आदि इस संबंध में मननीय। "एज़ृ कम्पने", "स्पन्दितुमपि" में कम्पन, स्पन्दन क्रियापरक हैं। शक्ति को ही कारण मानने पर हम विवश है। सृष्टि में प्रवृत्त होने के लिये कर्म-निरत होना आवश्यक है।

चित्कण प्रकृति कण से संपुटित होकर सूक्ष्म से स्थूल रूप धारण करते हैं। यही अणु हैं। इन्हीं कणों के पारस्परिक संघात से ही जगत की सृष्टि और स्थिति है। 'जगत अणु कण का नर्तन हैः सदा इसका परिवर्तन है।' अणु कणिकाओं में सृष्टिमूलक कार्य की इच्छा इतनी प्रबल है कि वे सृष्टि की गति को निर्बाध अविरल चलाते रहने के लिये निरंतर कर्मनिरत नाचते ही रहते हैं। कभी भी विश्राम नहीं करते। उनमें कार्य करने की कर्मनिरत रहने की इतना तीव्र लालसा है जो उनके कृतिमय वेग को कभी शिथिल नहीं होने देती। उनको कर्मनिरत रहने में इतनी प्रसन्नता अनुभव होती है कि वे उसी प्रसन्नता में बिना विश्राम किये हर्षविकंपित कर्मनिरत रहते हैं।

१५—अबाध गति से नाचते रहने से अणु थक कर हाँफने लगते हैं। उनके हाँफने से उनके मुख से निकले निश्वास एक मायामय मोहमय वातावरण की सृष्टि करते हैं। उसी वातावरण से छनती-छनती वही निश्वास-वायु सृष्टि के लिये प्राण-वायु बनती है। समीर ही प्राण का कारण है। प्राण, व्यान, अपान, समान, उदान शरीरस्थ वायु के विभिन्न नाम हैं।

[यही शक्ति —कारण वाद का मूल रहस्य है। अणुओं के नाचने से ही सृष्टिक्रम का विकास होता है। इसी सिद्धांत का काव्यमय चित्रण उपर्युक्त पंक्तियों में हुआ है]
[अग्निर्वा भूत्वा मुखं प्रविशद्वायुः प्राणो भूत्वा आदि ऐतरेयोपनिषद् २-४ मननीय)

१६—[वैशेषिक के मतानुसार 'आकाश' ९ द्रव्यों में एक है। पंचतत्वों में आकाश का प्रथम स्थान है। रंध्र : ९. का भी प्रतीक है]

पूरित—भरे हुए, बिखरे हुए, अनेक। गहन—रहस्यमय। मूर्च्छित—काम का एक बाण 'मूर्च्छन' भी है। वियोग दशा में दुःख-सुख का ज्ञान न होना 'मूर्च्छा' है। मूर्च्छा चेतना रहित होने का नाम है। संगीत में 'मूर्च्छना' एक स्थिति विशेष।

आकाश के उर के सभी व्रत, सभी छिद्र प्रकाश से भर गये हैं। तारे एक के अनन्तर निकलते ही जा रहे हैं जिससे इनकी पंक्ति घनी होती जा रही है। सृष्टिक्रम इस प्रकार इतनी तीव्रता से चल रहा है कि हम इस के मूल रहस्य को समझ नहीं पाते।

सभी प्रकाश-पिण्ड इस रहस्य को समझ कर मूर्च्छित-से हैं। उन्हें अपने शरीर की तनिक सुधि नहीं। किंतु मैं इस दृश्य को देखते-देखते थक गया, मेरी आँखें दुखने लगी हैं, जिससे वे जल-पूर्ण हो गई हैं और यह भान हो रहा है कि मैं रो रहा हूँ। (प्रतीक्षा में रात भर जग कर व्यथित होने का चित्र है। 'आँसू' में भी ऐसे अवतरण हैं।)

१७—इस प्रकार जिधर दृष्टि डालता हूँ उसी ओर रहस्य का साम्राज्य है। दृष्टि-पथ पर सजे ये सुन्दर-सुन्दर अधीर आलोकपूर्ण सृष्टि के पुतले मेरे मन की उलझन बन गये हैं। इनका मर्म नहीं समझ पा रहा हूँ। मेरी आँखें उनकी विचित्रता उनकी सुन्दरता पर कुछ ऐसी रीझी हैं कि मैं मन्त्र मुग्ध हो उन्हीं को देख रहा हूँ और अपने को उनसे आगे बढ़ने में असमर्थ पा रहा हूँ। ['आँसू' में 'है खेल आँख का मन का' की बात आई है]। लगता है, यह मेरी परीक्षा हो रही है कि इस रहस्य का उद्घाटन कर पाता हूँ या नहीं।

१८—[**धन**—प्रेम की वस्तु, मूल्यवान वस्तु]।

इस दृष्टिगोचर नाम-रूप-मय सृष्टि का क्या कोई निजी अस्तित्व नहीं है? क्या यह सब केवल छाया मात्र है, कृत्रिम है? क्या यह केवल मानव मन को उलझाने के लिये खड़ी हुई है? अथवा इन सुन्दर पुतलों के अन्तरतम के भीतर कोई सारयुत रहस्य, मूल्यवान रहस्य भी है? (सुन्दरता के मूल में छिपे प्रेम तत्व की ओर संकेत है)।

इन पंक्तियों में 'छायावादी' दृष्टिकोण की स्थापना है। छाया, माया, सुन्दरता सभी एक हैं। 'छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा' आदि पर 'आँसू' की 'व्याख्यात्मक आलोचना' की भूमिका में प्रकाश डाला गया है।

१९—इन पंक्तियों से 'कामसर्ग' की मूलवृत्ति का पता चलता है। "मनु को जो सहचर मिला वह एक नारी थी। उसको पाकर मनु के मन में मधुर भाव का उदय हुआ। उसने देखा कि उसके जीवन-वन में मधुमय वसंत छा गया है। और उसे एक विचित्र उत्साह और उल्लास का अनुभव हो रहा है।"

मेरी अक्षुण्ण इच्छाओं के मूल बीज, मेरे प्राणधन, क्या मैं तुम्हारे यथार्थ रूप को न पहचान सकूँगा? क्या तुम्हारा अस्तित्व मेरे लिये रहस्य ही बना रहेगा? क्या मैं विश्वास करूँ कि तुम ऐसी उलझन हो जो मेरी सभी उलझनों के सुलझाने का साधन है। (प्रेम की अनन्यता से ही भ्रांत मन को शान्ति मिलती है, इसी तथ्य की ओर काव्यमय संकेत है)।

२०—[प्रिय वस्तु में मन की प्रेमपूर्ण परायणता का नाम 'रति' है। रसानुकूल हृदय में जो विकार (भाव) उत्पन्न होते हैं उसे स्थायी भाव कहते हैं। सर्व व्यापक और सर्वशक्तिमान विभु का स्वाभाविक आनन्द अभिव्यक्ति-अवस्था में चितिशक्ति सम्पन्न और चमत्कारमय हो जाता है। उसके अहं भाव से अभिमान का आविर्भाव होता है और ममता संकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। यही रति शृंगार की

जननी है। रति अनादि वासना का दूसरा नाम है। रति को ही प्रेम, प्रीति, अनुराग कहते हैं। 'रतिस्तु मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनम्' के अनुसार मन के अनुकूल अर्थों में सुख- प्रसूत ज्ञान का नाम रति है। इसी भाँति "स्मर-करम्बितान्तःकरणयोः स्त्री पुंसयोः। परस्पर रिरिंसा रतिः स्मृता" अर्थात् स्त्री पुरुष के कामवासनामय हृदय की परस्पर रमणेच्छा का नाम रति है" / काम के उद्भेद से ही शृंगार रस उत्पन्न होता है। हृदय की सकामता ही सृजन का हेतु है।" इसी प्रेम, रति की अन्तः-प्रवृत्ति (काम) का चित्रण इन पंक्तियों में है।

जिस प्रकार निद्रावस्था में नयन तारा शिथिल अलकों में छिपा होता है, जिस प्रकार वासंती कोमल निशा में तारा बादलों में छिपा होता है, जिस प्रकार सुनसान मरु-प्रदेश में सरि की धारा अन्तःसलिला बन कर छिपी होती है उसी प्रकार काम की प्रवृति हृदय में छिपी होती है। कामलिप्सा का जागरण, प्रेम प्रवृत्ति का जन्म अनजाने प्रच्छन्न रूप से होता है। जिस प्रकार 'तारा' तथा 'धारा' की सृष्टि सात्विकी है और 'अलक' और 'मरु' की तामसिक, उसी प्रकार काम (विशुद्ध प्रेम) सात्त्विक है, जो रूप मोह के आवरण में छिपा होता है।

२१—ज्ञान आनन्द की भाँति अन्तरात्मा में निहित है। जो ज्ञान गुरुओं से प्राप्त नहीं होता, वह मन की एकाग्रता से मिलता है। गुरुओं से प्राप्त ज्ञान भी एकाग्रता से मिल सकता है। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः मननात् मन्त्रः, परोक्षवादो वेदोऽयम्' पर मनन करने वाले जानते हैं कि श्रुति (वेद की ऋचा) मन की एकाग्रता में मनन करने से ज्ञान का प्रादुर्भाव अनाहतनाद के सुनने से होता है। इस दार्शनिक भूमिका में इन पंक्तियों पर मनन करने से इन पंक्तियों में इसकी तरङ्गिणी फूटती है।

प्रेमी प्रेमासक्ति में जब प्रिय का चिंतन करता है, तब स्मृति का जागरण इसी प्रकार होता है। "कलकल ध्वनि में हैं कहती, कुछ विस्मृत बीती बातें" मधु-धारण में मधुर भाव के उदय की झाँकी है।

"मुझे ऐसा भाव होता है जैसे कोई मेरे कानों में मीठी-मीठी बातें भनक रहा है जिससे मेरे मन में मधुर भावना जग रही है। यों तो मैं सुनसान वातावरण में अकेले हूँ, किंतु मुझे अनुभव होता है कि मुझसे कोई प्रच्छन्न रूप बातें कर रहा है।

काम भावना के जागरण का इतना मधुर चित्रण हिन्दी तो क्या किसी अन्य भाषा-साहित्य में भी मिलना दुष्कर है।

२२—है स्पर्श मलय के झिलमिल-सा संज्ञा को और सुलाता है,
पुलकित हो आँखें बन्द किये तन्द्रा को पास बुलाता है।

वह बोलने वाला मलयपवन की मृदुलता लिये मुझे छूता-सा प्रतीत हो रहा है। जैसे मलय के स्पर्श से श्रमित तपित को शान्ति मिलती है और उसे निद्रा आ जाती है,

उसी प्रकार उसके स्पर्श से मेरी चेतना को नींद आ रही है, मैं बेसुध होता जा रहा हूँ। मेरे पुलक छा रहे हैं। मेरी आँखें झपक रही हैं और मुझे नींद-सी आ रही है।

२३—["प्रकृतेः सुकुमारतर" साख्यकारिका ६१-प्रकृति से बढ़कर कोई लजीली नहीं। एक बार दिखलाने पर वह पुनः सामने नहीं आती। इस संबंध में मननीय]।

कारण विशेष से जिस लज्जा का हृदय में संचार होता है, उसे व्रीड़ा करते हैं। इसके लक्षण मानस संकोच, शिर का झुकाना आदि हैं।

विभ्रम—प्रिय के संयोग समय में आतुरतावश भूषणादि का उलटे-पलटे धारण करना विभ्रम है। विभ्रम भ्रांति का दूसरा नाम है।

"प्रेममय क्रीड़ा, मेरी रति भावना बड़ी लजीली है। पहले तो मुझसे छिपने के लिये स्वयं अपने मुँह पर जल्दी से अवरण डाल लेती है, फिर मेरी आँखों से छिप कर अपने कोमल करों से मेरी आँखों को मूँद लेती है।"

भक्ति-रहस्य के मर्मज्ञ जानते हैं कि "प्रवर्तक अवस्था में दो आवरण अभिन्न रूप में विद्यमान रहते हैं। इन दोनों आवरणों में से एक तो प्रमाता के निजी रूप को आच्छन्न किये रहता है और दूसरा प्रमेय के स्वरूप को आच्छन्न करता है। भाव का विकास ही 'प्रेम' है। "कामसरोवर" भी भक्ति मार्ग का शब्द विशेष है। हमारे कवि ने अलौकिक-प्रेम के इन भावों की झाँकी लौकिक स्तर पर सजाई है। दोनों आवरणों की सृष्टि "घूँघट" और "आँखें मीच रही" से हुआ है। भाव के विकास के लिये तदुपयोगी क्षेत्र का निर्माण होता है। तैयार होने के समय यह लक्षित नहीं होता। लौकिक प्रेम में भी यही स्थिति होती है।

हमारे कवि ने कितने विचित्र ढंग से कितनी अकथ कहानी कही है। काम की भावना मन में चुपके-चुपके अनजाने प्रच्छन्न रूप से घर करती है। और मनुष्य को अंधा बना देती है। लोग 'काम-वासना' की बातों को छिपाना भी चाहते हैं!

२४—रात के पिछले पहर शुक्र नक्षत्र के उदय होने पर क्षितिज की तिमिरता आलोकित हो उठती है और इसी आलोकमय किरण-जाल में ऊषा छिपी होती है। इस प्रकार का कौन रहस्य मेरे शुक्रोदय (कामोद्भव) के पीछे छिपा है? मेरे मन में छाई निराशा की रात्रि किञ्चित समाप्त होने को है और मेरा जीवन-पथ अब सुख की ज्योति से आलोकित होने वाला है।

२५—मेरे मित्र श्री श्रवणकुमार ने लिखा 'यमुना के सूने से तट पर वंशी ध्वनि-लहराई'। दूर से गूंजती आती वंशी ध्वनि कानों में कितनी मिठास भरती है, यह अनुभव का विषय है।

'कोमल किसलय' का रंग लाल होता है। यही उषा का रंग है। सबेरे फूली ऊषा का चित्र ऐसा ही होता है जैसे किरणों के ऊपर कोमल किसलय की छाजन हो। इन पंक्तियों में उपमा, चित्र, तथा रंग सभी का सम्मोहक मेल है। सबेरा होते ही

कल कूजन होने लगता है जो सुनने में दूर बजती हुई वंशी की भाँति मधुर प्रतीत होता है ।

विश्वम्भर 'मानव' ने 'चन्द्रमा की किरणों द्वारा श्याम घटा को संभालने' की बात लिखी है । जो ठीक नहीं । चित्र प्रात:कालीन उषा का है । श्यामघटा उगते सूर्य की अरुण आभा से रक्तिम होकर कोमल किसलय की छाजन-सी लगती है । लगता है, जैसे सूर्य की किरणों ने इसे संभाल रखा हो ।

'रंध्रों' का अर्थ 'तारों' न करके 'कानों' (कर्ण-रंध्रों) करना ठीक है ।

जिस प्रकार क्षितिज पर छाई श्याम घटा प्रात:कालीन सूर्य की किरणों को रक्तिम आभा में रंग कर ऐसी लगती है जैसे किरणों ने कोमल किसलय की छाजन संभाल रखी हो । उसी प्रकार मेरे मन की नवजाग्रत कामना ने निराशा के बादलों में रंग भर दिया है और उसके आवरण को वितान में परिवर्तित कर दिया है । जिस प्रकार प्रात:-कालीन पक्षियों का कलकूजन दूर बजती वंशी की भाँति मधुर सुनाई देता है, उसी प्रकार हमारे हृदय में मधुर संगीत लहरा रहा है, जो मेरे कानों में मिठास भर रहा है । (योगी एकाग्रता में ऐसे स्वर सुनता है । मनु इस समय उसी एकाग्रता रूप माधुरी के चिंतन में लगे हैं । स्वर-विलास की यही भूमिका है ।)

२६—'खोलो प्रियतम खोलो द्वार' की प्रतिध्वनि कहाँ नहीं ? सुनने की सामर्थ्य चाहिये ।

'आवरण स्वयं बनते जाते' इस प्रसंग को औपनिषिदिक रहस्य "हिरण्मयेन पात्रेण" से कोई संबन्ध नहीं । कन्हैयालाल सहल में 'कामायनी दर्शन' के पृष्ठ ६३ पर इसका भ्रममूलक उल्लेख किया है । "हिरण्मय" की प्रतिच्छाया अन्यत्र इस सर्ग में है जिसका उल्लेख हो चुका है । इस प्रसंग में 'दर्शक' स्वयं आवरण है न कि रूप ! भक्ति-रहस्य का यह सिद्धान्त मायातत्व में सम्बन्ध रखता है ।

दार्शनिकों का कहना है कि मायाविहीन होने पर जो ब्रह्म रहता है उसका नाम महामृत्यु है तथापि वह 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' आनन्द रूप अमृत की भाँति प्रकाशित है । माया रहित ब्रह्म को ही श्रुति ने 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' कहा है, वह एक प्रचण्ड कार है । मायायुक्त होने पर वही मनोमय है प्राण और शरीर का नेता सर्वकर्मा है, सर्वकाम है, सर्वरस है और सर्वगन्ध है । जीव मात्र ही ब्रह्मरश्मि हैं, ब्रह्मकण हैं या चित्कण हैं, परन्तु ये चित्कण भिन्न विभाविनी माया शक्ति अथवा पृथक् प्रकाशिनी मायाविनी प्रकृति के किसी एक भावांश कण द्वारा सम्पुटित हैं । यही सम्पुट आवरण हैं । "देवात्मशक्तिं स्वगुणै निगूढम्" पर विचार करने वाले जानते हैं कि भगवान् लीलामय अपने आप को किस प्रकार अपनी माया द्वारा छिपाये रखता है । माया आवरण-शक्ति का दूसरा नाम है । 'आँसू की व्याख्यात्मक आलोचना" में इस आवरण पर प्रकाश डाला गया है । भक्ति रहस्य के मर्मज्ञों का कहना है कि

"प्रवर्तक अवस्था में दो आवरण अभिन्न रूप से विद्यमान रहते हैं। इन दोनों आवरणों में से एक तो प्रमाता के निजी रूप को आच्छन्न किए रहता है और दूसरा प्रमेय के स्वरूप को। भाव देह के विकास के साथ प्रथम आवरण हटता है किन्तु दूसरा आवरण साधना की चरमसीमा पर भगवत्प्राप्ति पर ही हटता है"। सूफी साहित्य में यही आवरण 'परदा' है। 'जान जानाँ में कोई फर्क नहीं। एक परदा है दरमियाँ में हम"।

है भीड़ लग रही दर्शन की—राष्ट्रकवि ने लिखा :—

'तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं'

'दर्शन' पर श्लेष है।

मनु कहते हैं 'प्रत्येक प्राणी जीवन रहस्य समझना चाहता है, परम तथ्य का दर्शन करना चाहता है, किन्तु भीड़ के कारण एक दर्शक दूसरे दर्शक के लिए आवरण बन जाता है, और भीड़ के कोलाहल में स्वयं दर्शक अपने लिए आवरण बन जाता है, न स्वयं दर्शन कर पाता है, न दूसरों को दर्शन करने देता है। ठीक उसी प्रकार विभिन्न दर्शन-शास्त्रों ने भी अज्ञान के आवरण बना दिये हैं जिनसे उलझकर मानव तथ्य के दर्शन नहीं कर पाता। आज मेरी भी वही स्थिति है। मनोभावों के कोलाहल में मैं भी लक्ष्योन्मेष में सफल नहीं हो रहा हूँ। कारण कि रूप के प्रति अपने मन का मोह ही आवरण बन गया है।

२७– ८—"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्" के अनुसार गुणों का वास्तविक रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। जो कुछ दिखाई देता है वह माया का ही रूप है। फिर भी सत्य के अन्वेषण पर मानव विवश है। ["कै विरही को मीच दे कै आपा दिखराय*रात दिना को दाहना मोंसों सहो न जाय"]।

अवगुंठन—घूँघट, आवरण :—

"देखता हूँ जब पतला
इन्द्र धनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अंतर्धान"—पन्त

[अनन्त—अन्तहीन, शेषनाग, आकाश, ब्रह्म]

चाँदनी—रूप।

ब्रह्म का दर्शन चाहने वाला माया के आवरण हटाना चाहता है। 'ओ नील आवरण जगती के दुर्बोधन तू ही है इतना, अवगुंठन होता आँखों का आलोक रूप

बनता जितना' यही अगुण्ठन है। 'हिरण्मयेन पात्रेण' में निरावरण सत्य दर्शन की प्रार्थना है। वहाँ सत्य अथवा ब्रह्म अनुसंधान का विषय है, यहाँ मनु के समक्ष प्रेम अनुसन्धेय है यह प्रेम रूप के आवरण से ढका है। यही रूप 'चाँदनी' की उत्प्रेक्षा से वर्णित है। ("निरखने लगे लुटे से कौन। गा रहा यह सुन्दर संगीत?" के "कौन" को अभी मनु कहाँ पहचान पाये?)। ['चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम' से लेकर 'भोर की तारक द्युति' (श्रद्धा सर्ग) का प्रकरण मननीय। यही प्रतिच्छाया 'स्मृति' रूप में मनु के दार्शनिक विवेचन में विद्यमान है]।

रूप क्या है? क्या इसमें कोई अन्य धन छिपा है? कहीं ऐसा होता कि चाँदनी के समान यह सुन्दर रूप आवरण हट जाता! काश प्राण धन के निरावरण दर्शन मिलते! [इस पद में उपमाओं की संकरता बताती है कि मनु के मन में वृत्तियों की संकरता है। भगवान् की कल्पना (विकल्प वृत्ति), प्रेयसि का भगवान् रूप, (विपर्यय वृत्ति), चिन्तन रूप के स्मरण से चल रहा है (स्मृति वृत्ति); तन्द्रा को पास बुलाता (निद्रा वृत्ति) तथा रूपक में 'प्रमाण वृत्ति' वर्तमान है]।

जब अनन्त सागर कल्लोलाकुल होता है तब सहस्रशीर्ष सहस्र फण शेष नाग की भाँति उसकी सहस्रमुखी ऊर्मियाँ तट पर टकराती हुई सागर को फेनिल कर देती हैं जिससे मणिमुक्ता के ढेर तट पर बिखर जाते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे शेष नाग अपने फेनिल फणों से मणि राशि लुटाता है और सागर में कल निनाद उसी प्रकार गूँजता है जैसे शेष नाग पुण्यस्तव करते हैं। यह स्थिति समुद्र तथा शेष नाग की जाग्रत अवस्था में होती है। उर्मिल सागर तट पर लहरों के विपाटित होने पर निद्रालु प्रशांत-सा होने लगता है और शेष नाग भी फण पटक कर मणि उगलने पर शिथिल आलस्यपूर्ण हो जाते हैं। तरंगों तथा शेष नाग के मणि उगलने का स्वाभाविक सम्बन्ध चाँदनी से है। भव-सागर के लिये रूप चन्द्रमा ही बनता है। [आकाश ही सागर और आकाश-गंगा शेषनाग है। तारे और चाँद ही मुक्ता मणि है, वायु समुद्र की सनसनाहट अथवा सर्पराज का पुण्यस्तवन (संगीत है। फेन आकाश गंगा है।]

"जैसे चाँद से जब चाँदनी का आलोकमय आवरण हट जाता है तब सागर तथा शेषनाग अपनी कृतियों में लगा कर शांत हो जाते हैं उसी प्रकार रूप का आवरण हट जाता तो भाव तरंगों से जगमगाते रहस्यों का क्षरण होता और मन का संक्षोभ शांत हो कर रागमय हो जाता है। काश मैं रूप के इन रहस्यों का समझ पाता।

२६- पातञ्जल योग दर्शन विभूतिपाद में 'त्रयमेकत्रसंयमः' की बात आती है। धारणा, ध्यान, समाधि के एक ध्येय में स्थित होने को संयम कहते हैं। दम मन की वृत्तियों के बहिर्मुखी होने से रोकने को कहते हैं। अष्टांग योग के प्रथम पाँच अवयव 'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इसी दम की क्रियाएँ हैं। योग में विषयासक्ति बाधक होती है और विषयानुराग में 'योग'। मनु रूप के प्रभाव से प्रभावित होकर (जिसका

चित्र 'फेनिल फण पटक रहा' में उपस्थित हुआ है।) विषय चिंतन में लगे हैं। और अन्त में उन्होंने विषयानुरक्ति (प्रवृत्ति) के पथ पर बढ़ाने का निश्चय किया। इस भाँति उन्हें प्रेय ही श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। अतएव वे कहते हैं :—

"मेरे लिए यह मधुर वेदना—काम पीड़ा—असह्य हो गई है। अब मैं इसे सम्हालने में असमर्थ हूँ। दम-संयम मेरे लिए बाधा सिद्ध हो रहे हैं। मैं इनसे लड़ते हुये प्रवृत्ति पथ पर अग्रसर हूँगा। मुझे इसकी तनिक भी परवाह नहीं कि परिणाम अच्छा होगा या बुरा!"

(वैराग्यात् प्रकृतिलयः" इस संबंध में मननीय—सांख्यकारिका ४५)

३०—जैसे नक्षत्रों को ऊषा की अरुणिमा के गर्भ में स्थित प्रकाशयुक्त प्रभापुंज दिवस के सुखों का कुछ भी पता नहीं होता, वे उससे अनभिज्ञ रहते हैं, उसी प्रकार निशि संयमी योगियों को जगत के विषयानुराग-जन्य सुखों का ज्ञान नहीं होता। (यह भी मान्यता है कि तारे तप के पुण्य से प्राप्त लोक हैं)। नक्षत्रों को दिन का दर्शन न होने से दिन के अस्तित्व में भले ही संदेह हो किंतु दिन प्रत्यक्ष सत्य है उसी प्रकार दार्शनिकों के संदेह करने से संसार-सुख का मूलाधार कहाँ नष्ट होता है।

इन पंक्तियों में यह भी संकेत है कि हमारे संदेहों से ही संकल्प का निर्माण होता है। मन, अहंकार, बुद्धि एवं ज्ञान के आभ्यन्तरिक साधन हैं। मन का कार्य संकल्प, अहंकार का अभिमान, तथा बुद्धि का निश्चय है। इनका मिला-जुला कार्य प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान है। प्रत्यक्ष रूप में इन्द्रियाँ, मन, अहंकार तथा बुद्धि चारों कार्य करते हैं; अप्रत्यक्ष केवल तीनों अतःकरण कार्य करते हैं। 'सम्यक्-संकल्पजः कामः' में काम का संकल्प द्वारा उत्पन्न होना बताया है। हमारे कवि की स्थापना है कि संदेहों की जाली से ही संकल्प उत्पन्न होता है। "हो न शंका मम अवस्था ज्ञान की" इस संबंध में माननीय।

[प्रकृति के दो कार्य भोग तथा अपवर्ग बताये गये हैं। बुद्धि का भी यही कार्य सांख्य कारिका ३७ में बताया गया है। कुछ लोग संसार को त्यागने में कल्याण मानते हैं, कुछ भोगने में। कुछ "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते" की बात सोचते हैं (गीता २–५६)।]

३१—यह विचित्र संसार कुशल निर्माता के कार्य रूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है इसमें कितनी मधुरिमा है, कितनी कोमलता है। क्या इसकी अतीव मनहारी सुन्दरता का रहस्य न खुलेगा? क्या उसको बिना भोगे यों ही छोड़ दिया जावे? मेरी इन्द्रियाँ इसीलिये चेतना-संयुक्त हुई हैं कि मैं उनका उपयोग न करूँ? उनके द्वारा सम्यक भोग न प्राप्त करूँ? क्या ऐसा करने से मेरा पतन होगा? यह सोचना कि इन्द्रियों के दमन में सुख है, भ्रममूलक है। इन्द्रियों द्वारा मुझे जो चेतना प्राप्त होती है उससे मेरा विभव होगा न कि पराभव। इसे विपरीत सोचना अपनी हार ही है।

३२—अथर्वेद में बताया है कि तृषा सभी इन्द्रियों में समानतः व्याप्त होती है। **काम को महा-अशन** कहा जाता है। "पीता हूँ हाँ मैं पीता हूँ" में भोग-वासना, कामोपभोग, अथवा तृष्णा का चित्र है। 'सगुण सलोने रूप' में 'अतृप्त-तृषा जगाने की क्षमता होती है। [अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यर्थपञ्चकम्। आद्यत्रयं ब्रह्मरूपंजगद्रूपं ततोद्वयं ॥ इस प्रकरण में मननीय]।

लहरों के टकराने से—"ध्वन्यात्मक स्थूल वर्ण की उत्पत्ति के पूर्व आत्मा अर्थात् चिदाभास निस्तरङ्ग हृद के सदृश निस्पन्द रहता है। उच्चारण की इच्छा होते ही आद्य क्षोभ के रूप में बुद्धि उदित होकर आत्मा से आ मिलती है। क्षोभ बढ़ जाता है। एक लहर के अनन्तर दूसरी लहर का क्रम चलता है। मन उत्पन्न होता है। मन वाणी को व्याकृत रूप में देखने के लिये व्याकुलता उदानरूप-कामाग्नि पर चोट करती है। इस प्रकार आहत कामाग्नि विखर नामक मरुत को प्रेरणा देती है। यही स्वर परमाणु को जन्म देता है।" इस तथ्य का प्रस्तुत पंक्तियों में सन्निवेश हुआ है।

मनु निश्चय करते हैं :—

"मैं इन्द्रियों द्वारा स्पर्श, रूप, रस, गंध से परिपूरित संसार का पूर्ण रूप से अबाध-गति से बिना हिचक-झिझक के उपभोग करूँगा। हाथों से, अधरों से रूपमाधुरी के तन को स्पर्श करूँगा, आदि। जैसे लहरें जब एक-दूसरे से अथवा तट से धीरे-धीरे टकराती हैं तो एक विचित्र संगीत की सृष्टि करती हैं, उसी प्रकार मेरे भावसागर में हिल्लोल उठने से, भावों के उद्वेलन से, एक मधुर संगीत की सृष्टि हो रही, एक विलक्षण आनन्द उत्पन्न हो रहा है।"

कामातिरेक में स्वर में मधुरता आ जाती है तथा स्वर मध्यम हो जाता है। "स्वर-भंग" सात्विक अनुभाव है।

३३. **उन्माद**—'उन्माद' की ओर ऊपर संकेत किया गया है। 'प्रेमासक्ति' का दूसरा नाम 'उन्माद' है। वियोगावस्था में संयोगोत्सुक हो बुद्धि-विपर्यय-पूर्वक वृथा व्यापार को 'उन्माद' कहते हैं।

हँसै, रोवै, गावै, बतरावै, बकै, बोलै नाहिं
उठै-बैठै, धावै, भरै बन बन भाँवरी।
नभ को निहारै, कछू कहै फिर भू को चाहै
जकी ही सी रहै जो लखै है छवि साँवरी॥"

आदि उन्माद के लक्षण हैं।

'ये सब स्फुलिंग है मेरे उस ज्वालामयी जलन के' की बात आँसू में तारों के संबंध में आई हैं।

"जिस प्रकार ये तारे गगनांगण में एकाकी बिखरे हैं उसी प्रकार मेरी प्रेमासक्ति की मधुर कल्पनाएँ बिखरी पड़ी हैं। मैं भविष्य का स्वप्न देखते-देखते पागल-सा हो

गया। किंतु मेरी कल्पनाएँ आज भी तारों की भाँति एकाकी हैं। मेरे मन में मादकता छाई है, जिसके प्रभाव से मुझे नींद आ रही है। किन्तु 'मैं अपने उर का भार उतारने के लिए किसी का उर नहीं पा रहा हूँ। मेरा मन जवानी की मस्तियों से निद्रालु है, फिर मैं इस दुःखपूर्ण एकाकी अवस्था में कैसे रह सकता हूँ ?"

'इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि" की स्थिति है। मनु का हृदय काम के भयंकर बाण से बिंध चुका है।

"तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि" की भी प्रतिच्छाया है।

"नाना सकल्प विकल्पों की लेस से चिपकाकर उसको खूब झुका कर तेरे हृदय में मारता हूँ।"

३८–३७—'निद्रा' वृत्ति विशेष है। 'अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्ति निद्रा' की बात योग दर्शन में मिलती है। जिस समय मनुष्य को किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता, केवल ज्ञान के अभाव की ही प्रतीति रहती है, वह ज्ञान के अभाव का ज्ञान जिस वृत्ति के आश्रित रहता है वह निद्रा वृत्ति है। स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था की भाँति सभी वृत्तियाँ विशेषतः स्मृति वृत्ति कार्य करती है।

मनु की पूर्वोक्त स्वगतोक्ति में चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद आदि सभी समाविष्ट हैं।

परिश्रम, क्लान्ति, ग्लानि आदि से उत्पन्न चित्त के बाह्य विषयों से निवृत्ति का नाम 'निद्रा' है। 'निद्रा निमग्न मनुष्य के विषयानुभव का नाम स्वप्न है (संचारी भाव)।

त्रिविधो बन्धः की बात सांख्य शास्त्र तत्व समास में मिलती है। दाक्षणिक, वैकारिक प्राकृतिक बंधों की बात वहीं आई है। साक्षात्कार से शून्य फलकामना के अधीन शुभ कर्मों में रत होना दाक्षणिक बंध है। इन्द्रिय और मन की उपासना में रत वासना मे लीन वैकारिक बन्ध है। इन विकारों से आगे पहुँचकर आठ प्रकृतियों का साक्षात् कर रहे हैं। वह भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर डुबकी लगाये हुए पुरुष की नाई फिर उठते हैं। उनका बंध प्राकृतिक। **शास्त्रों का मत है कि विषयाकुल मन ही बंधन का कारण है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।"** इन सभी विचारों की प्रतिध्वनि इन पंक्तियों (छंद ३४–३७) में है।

३ —जैसे लहरों में तैरते-तैरते कोई शिथिल हो जावे और फिर आगे न बढ़कर डूब जावे, ठीक उसी प्रकार अन्धकारमय जीवन पर चिंतन करते-करते मनु की चेतना थक गई, शिथिल हो गई और वे धीरे-धीरे निद्रा-निमग्न हो गये। ऐसा रात के पिछले पहरों मे हुआ।'

३५—यों तो स्वप्न के कई कारण माने जाते हैं। किंतु उसका प्रधान कारण 'संचित स्मृतियाँ' ही मानी जाती हैं। हमारे कवि ने इसी विचार धारा से प्रभावित होकर लिखा है कि मन अपने ही बनाये मायाजाल से अशांत रहता है, इसे निद्रावस्था

में भी शान्ति नहीं मिलती, वरन् उसकी संचित स्मृतियाँ उसके सामने अन्तर्जगत् हृदयाकाश का निर्माण करके उसके सामने दृश्य जगत् की छाया समान रागद्वेष की भूमिकाएँ उपस्थित करती हैं।

३६—मनु भी सो गये। जागरण लोक का तिरोभाव हो गया और उनके सामने स्वप्नलोक के सुख उपस्थित हो गये। मनु का मन उस कुतूहलपूर्ण लोक में क्रीड़ारत हुआ।

३७—उनकी दशा उस व्यक्ति की थी जो निद्रालु अवस्था में दुहरी चेतना के साथ सोचता हो और उस समय उसके कानों के कान (श्रवण शक्ति) में आत्मा की ध्वनि सुनाई पड़ रही हो। 'कानों के कान' में औपनिषदिक 'श्रोतस्य श्रोतं' की प्रतिच्छाया है।

स्वप्नावस्था में भगवान के दिव्यादेश, अन्तरात्मा की ध्वनि इसी प्रकार सुनाई देती है।

दुहरी—बृहदारण्यकोपनिषद् में यह वर्णन आया है कि "स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा इस लोक और परलोक दोनों को देखता है। वहाँ दुःख और आनन्द दोनों का उपभोग करता है। इस स्थूलमय शरीर को स्वयं अचेत करके वासनामय (स्मृतियों द्वारा) नये शरीर की रचना करके जगत को देखता है। (बृह० उ० ४।३।६)

सृष्टि बनी स्मृतियों की संचित छाया में—वेदान्त दर्शन में "संध्ये सृष्टिराह हि" (३–२–१) की बात आई है। 'स्वप्न में भी जाग्रत की भाँति सांसारिक पदार्थों की रचना होती है, श्रुति ऐसा वर्णन करती है। प्रश्नोपनिषद् ४।५ तथा बृह० उ० २।१।१८ में स्वप्न में सृष्टि होने की बात आई है। 'निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च" (वेदान्त दर्शन ३।२।२) में आया है कि एक शाखा वाले पुरुष को कामनाओं का निर्माता भी मानते हैं और उनके मत में पुत्रादि ही 'काम' अथवा कामना के विषय हैं। कठोपनिषद् में वर्णन आया है कि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" (२।२।८) यह नाना प्रकार के भोगों की रचना करने वाला पुरुष (मन) अन्य सबके सो जाने पर स्वयं जागता रहता है। इसमें पुरुष को कामनाओं का निर्माता कहा है। क० उ० १।१।२३–२४ के अनुसार पुत्र, पौत्र आदि ही 'काम' अथवा कामना के विषय हैं। अतएव स्वप्नावस्था में 'काम' का अवतरण मनोवैज्ञानिक तथा परंपरा-पोषित है।

माया में—"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।" (ऊपर बताया गया है कि 'मन' स्वप्नावस्था में भी स्वयं जागता रहता है)। वेदान्त दर्शन ३।२।३ में मन की इस सृष्टि को मायामात्र कहा है। "किंतु पूर्ण रूप से उसके रूप की अभिव्यक्ति न होने के कारण वह मायामात्र है।"

कानों के कान—प्राणमय कोश का वर्णन है। स्वप्न भविष्य में होने वाले शुभ-परिणाम के सूचक हैं। (सूकश्चहि आदि वेदान्त दर्शन ३।२।४)

निद्रा और स्वप्नावस्था का बड़ा सजीव वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में अंकित है। 'आँसू की व्याख्यात्मक आलोचना' में निद्रा तथा स्वप्नावस्था का विशद वर्णन मिलेगा।

मदालसा महाकाव्य में :—

'यों अपूर्ण कामना'
या अतृप्त भावना
नींद नव सुगोद में
जागती प्रमोद में'

के साथ "स्वप्न संस्कार जन्य चेतना नहीं न हो
सावधान मानवी तव अहित कहीं न हो
हैं अदृश्य शक्तियाँ स्वप्न मध्य बोलत
विधि नियति रहस्य को स्वप्न मध्य खोलतो
स्वप्न तो भविष्य का अति पुनीत मंत्र है
उपशमक कुस्वप्न का एक आत्मतंत्र है।"
की बात द्रव्य।

३८ भूमिका—मनु सो गये। स्वप्नावस्था में उन्हें काम-ध्वनि सुनाई पड़ी।

पहले संकेत किया जा चुका है कि आत्मा से युक्त मन द्वारा कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा घ्राण नामक पंचेन्द्रियों से 'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध' का उपभोग करते हुये आनन्द प्राप्ति की प्रवृत्ति को 'काम' कहते हैं। 'कामशास्त्र' में काम से तात्पर्य उस सुखानुभव से है जो स्त्री-पुरुष के सम्भोग से प्राप्त होता है। काम इष्ट त्रिवर्ग में है। 'कामसूत्र' में त्रिवर्ग की प्रतिपत्ति इस संबंध में मननीय। "हिन्दी साहित्य की भूमिका" भी काम संबंधी साहित्य के लिए द्रष्टव्य।

'ब्रह्मचर्य पर हिन्दू संस्कृति अधिक बल देती है। किंतु साधारण मनुष्यों की योग्यता तथा स्वाभाविक इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए तथा सृष्टि क्रम के चलाने के लिए संयमित भोग-विलास का भी उपदेश किया है। कामतत्व की अवहेलना की भी नहीं जा सकती है। कारण कि इससे सृष्टि-क्रम के अवरुद्ध होने का भय है। इसीलिए गीता में अविरुद्ध काम को भगवान् का रूप बताया गया है। काम-वासना को संयमित बनाकर उसे पवित्र इष्ट त्रिवर्ग में स्थान देना आर्य संस्कृति की विशेषता है। हिन्दू विवाह के आदर्शों, अर्धनारी-नटेश्वर आदि प्रतीकों पर मनन करने से इस कथन की पुष्टि होगी।

अर्थ और काम के स्वैराचारों का नियन्त्रण धर्म द्वारा होता है। धर्म द्वारा नियन्त्रित होने पर काम पवित्र होकर भगवान् का रूप बनता है। धर्म से अविरुद्ध काम भगवान् की विभूति है। महर्षि वाल्मीकि ने धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि में पतिव्रता स्त्री का दृष्टान्त दिया है। पति की अनुरागिनी स्त्री स्वयं धर्म-स्वरूपा है।

शास्त्रों में काम-सम्बन्धी व्याख्यान बिखरे पड़े हैं :—

"स्वयं भगवान् विष्णु रमा-वैकुण्ठ में भगवती लक्ष्मी द्वारा कामदेव रूप में आराधित होते हैं। ये इन्दीवराभ, चतुर्भुज, शङ्ख, पद्म, धनुष और बाण धारण करते हैं। सृष्टि में धर्म की पत्नी श्रद्धा से इनका आविर्भाव हुआ है। वैसे देव-जगत् में ये ब्रह्मा के मानस पुत्र माने जाते हैं। मानसिक क्षेत्र में काम संकल्प से ही व्यक्त होता है। संकल्प का पुत्र है काम और काम का छोटा भाई है क्रोध। काम यदि पिता संकल्प के कार्य में असफल हो, तो क्रोध उत्पन्न होता है। कामदेव योगियों के आराध्य हैं। ये तुष्ट होकर मन को निष्काम बना देते हैं। कवि, भावुक, कलाकार और विषयी इनकी आराधना सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए करते हैं। इन पुष्पायुध के पञ्चबाण प्रख्यात हैं। नील-कमल, मल्लिका, आम्रमौर, चम्पक और शिरीष कुसुम इनके बाण हैं। ये सौन्दर्य, सौकुमार्य, सम्मोहन के अधिष्ठाता हैं। भगवान् ब्रह्मा तक को इन्होंने उत्पन्न होते ही क्षुब्ध किया। ये तोते के रथ पर मकर के चिह्न से अंकित लाल ध्वजा लगाकर विचरण करते हैं। शंकर ने इन्हें भस्म कर दिया, तब से ये अनङ्ग हो गये। द्वापर में प्रद्युम्न के रूप में अवतरित हुये। ये मन के अधिष्ठाता हैं।"

[द्रावण, शोषण, तापन, मोहन, उन्मादन; सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन, स्तम्भन; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध; पञ्चबाण के बाण विभिन्न आचार्यों द्वारा माने गये हैं]।

'कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः। संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः सकलसंभवाः। व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः।" "यद् यद्धि क्रियते कर्म तत्तद्धि कामचेष्टितम्" आदि मनु० अध्याय २ मननीय। अथर्ववेद ६-२-१६ भी देखिये।

३८—मनु ने स्वप्न में सुस्पष्ट एक ध्वनि यों कहती हुई सुनी :—

"जलप्लावन आया और चला गया परन्तु मैं अब भी अतृप्त हूँ। मेरी प्यास प्रलयंकरी बाढ़ से भी न बुझी। मैं अब भी तृषाविकल, तृष्णा-व्याकुल हूँ। मुझे तनिक भी चैन नहीं। आज भी मैं अशान्त हूँ, असंतुष्ट हूँ।"

मनु ने निश्चय किया "पीता हूँ हाँ मैं पीता हूँ", "आने दो कितनी आती हैं बाधाएँ दम संयम बन के"। ये अनियंत्रित कामलिप्सा के ही अंग अंश थे। इसी का प्रतिषेध करने के लिये तथा नियंत्रित काम की ओर संकेत करने के लिए "प्यासा हूँ अब भी प्यासा हूँ" की अवतारणा हुई है।

३६—अनुशीलन, निरत प्रयोग तथा निष्ठापूर्ण सेवा या भक्ति का नाम है। अतिचार अधिकता, मर्यादा-सीमोल्लंघन को कहते हैं।

दिन-रात मेरी ही सेवा में निरत मुझे ही तुष्ट करने में व्यस्त देव सर्ग ने अपने को मिटा दिया। जितनी ही वह मेरी पूजा करते गये उतनी ही मेरी प्यास बढ़ती गई। मर्यादा की सीमाओं का उल्लंघन होने पर भी मैं संतुष्ट न हुआ। मैंने सबको पागल

बना दिया, सबके शिर पर पागलपन बनकर सवार रहा। मैंने मदान्ध बनकर सबको विवश बनाये रखा। सब बेसुधबुध जड़ की भाँति मेरी सेवा करते गये।"

४ —उपासना—कर्म, ज्ञान, और उपासना—ये वेद के काण्डत्रय हैं। छान्दोग्योपनिषद् में उपासना के तत्वों की ओर संकेत किया गया है। वहीं स्त्री-पुरुष की अग्नि रूप में उपासना की बात आई है तथा वीर्य-गर्भ उत्पत्ति की ओर भी संकेत हुआ है। गीता अध्याय १२ भी द्रष्टव्य। उपासना निकट बैठने का नाम है, उपासना से सान्निद्धय प्राप्त होता है।

"देव गण मेरी उपासना करते थे। मेरी प्रेरणा के अनुसार वे अपने लिए विधि-विधान का उपकल्पन करते थे। वे ऐसे ही नियम बनाते थे, जिनसे मेरी स्वच्छन्द सेवा में विघ्न न पड़े, बाधा न उपस्थित हो। मेरे प्रति उनका बड़ा मोह था। अथवा वे मेरे प्रबल सम्मोहन मे विद्ध थे। ("महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेव कार्ये नियुङ्क्ते" की स्थिति)। मेरे महामोह (राग) रूपी इन्द्रजाल में वे फँस कर अकार्य में लगे। इस मोह के प्रभाव से ही उन्होंने विलासिता का जीवन अपनाया तथा भोग-विलास का अतिचार किया।

[भगवान् का माया-रूप ही मनुष्य को संसार की ओर खींचता है। "माया प्रेरक सींव" की बात भी मननीय। मोह भ्रम है, जो सत्य को देखने नहीं देता। मोह में आत्मा विमूढ़ हो जाती है। अहंकार की प्रबलता होती है। [गीता २-६२-६३]।

देवताओ ने मेरी अनन्य उपासना की। मेरे द्वारा फैलाये गये मोह के कारण उनकी आत्मा विमूढ़ हो गई। वे सत्य को देख-परख नहीं सके और भ्रमवश कामोपभोग को ही जीवन मान बैठे। इस प्रकार उनकी विलासिता बढ़ती ही गई।

४१—("इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः" में बताया गया है कि इन्द्रियाँ प्रमथन स्वभाव की हैं। वे मन को बलात्कार से हर लेती हैं। काम का दूसरा नाम मन्मथ भी है। अतएव काम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का अधिष्ठाता ही है।)

कृतिमय—विधिसम्मत विधेय विषय का संपादन, पुण्यचर्चा।

"मेरा नाम काम है। (देवताओं ने उपासना द्वारा मुझ से सख्य प्राप्त किया)। मैं देवताओं का सखा था। वे मुझे पाकर प्रसन्न होते थे। मैं स्वयं हँसता था, उन्हें हँसाता था। इस प्रकार मैं ही उनकी कामनाओं का प्राण तथा कृतियों का साध्य था। इनके सारे कर्म मेरे ही निमित्त होने थे। वे सकाम कार्य करते थे। उनकी कृतियों में मेरी ही प्रेरणा थी।

४२-४४—ऊपर बताया जा चुका है कि नारी आकर्षण शक्ति तथा पुरुष विकर्षण शक्ति है। रति काम की शक्ति है। रति के विभिन्न अर्थों की ओर ऊपर संकेत किया गया है।

["तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्" योग दर्शन]। ये वासनायें अनादि हैं क्योंकि प्राणी में अपने बने रहने की इच्छा नित्य रहती है। वहीं हेतु, फल, आश्रम, आलम्बन से वासनाओं के संगृहीत होने की बात आई है। वासना का हेतु अविद्या, क्लेश, और उनके रहते हुए होनेवाले कर्म हैं। इनका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग है]।

आवर्तन का अर्थ संसार है। कारण कि संसृति का प्रारंभ इसी आवर्तन से होता है। आवर्तन 'Fusion' का दूसरा नाम है। नर्तन: कणाद का वैशेषिक दर्शन द्रष्टव्य। (Dancing of Atoms) नर्तन कणों का संसार रचता है। "पुष्पवती" रजस्वला को भी कहते हैं]

"मैं अपनी शक्ति के साथ था। मेरी शक्ति का नाम रति है। रति अनादि वासना का ही दूसरा नाम है। अव्यक्त प्रकृति के विकास की मूलाधार इसी वासना की एषणा थी [सृष्टि विकास के क्रम के वर्णन श्रुतियों, स्मृतियां तथा पुराणों में प्राय: एक ही प्रकार के हैं। 'मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्' से "अव्यक्तं कारणं मत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः' तक एक ही विचार धारा मिलती है। विष्णुपुराण अंश १ अध्याय २ द्रष्टव्य। 'अव्यक्त' कारण को, जो सदसद्रूप और नित्य है, श्रेष्ठ मुनिजन प्रधान तथा सूक्ष्म प्रकृति कहते हैं। वह त्रिगुणमय है और जगत् का कारण है तथा स्वयं अनादि एवं उत्पत्ति और प्रलय से रहित है। प्रलयकाल में प्रकृति के साम्यावस्था में स्थित हो जाने पर और पुरुष के प्रकृति से पृथक् स्थित हो जाने पर काल ही दोनों के धारण करने में प्रवृत्त होता है। सर्गकाल उपस्थित होने पर सर्वात्मा परमात्मा ने अपनी इच्छा से विकारी प्रधान और अविकारी पुरुष में प्रविष्ट होकर उनको क्षोभित किया। परमेश्वर अपनी सन्निधि मात्र से पुरुष और प्रधान को प्रेरित करते हैं। पुरुषोत्तम ही इनको क्षोभित करने वाले हैं और वे ही क्षुब्ध होते हैं तथा संकोच (साम्य) और क्षोभ (विकास)-युक्त प्रधान रूप से भी वे ही स्थित हैं। सर्गकाल प्राप्त होने पर गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान जब विष्णु के क्षेत्रज्ञ रूप से अधिष्ठित हुआ तो उससे महत्तत्व की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न हुए महान् को प्रधान तत्व ने आवृत किया। और इस प्रकार सृष्टिक्रम बढ़ा]।

४२—मेरे साथ मेरी शक्ति रति थी। वह रति अनादि वासना के नाम से जानी जाती है, वही रमणी है। वह आकर्षण केन्द्र है। वही आकर्षण के रूप में विकसित होती थी। (रूपविलास से कान्ति तथा कान्ति से आकर्षण का स्वाभाविक संबंध है।) सूक्ष्म प्रकृति इसी रति-वासना के प्रभाव से ही विकास को प्राप्त होती है। सूक्ष्म से स्थूल रूप धारण करती है।

४३—सृष्टि (प्रजनन) की प्रथम क्रिया क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के आवर्तन से ही प्रारंभ होता है। जो आगे चलकर नर्तन (अणुकण का नर्तन) का रूप धारण करता है। यह

प्रथम आवर्तन पुरुषतत्व तथा स्त्रीतत्व का एकीकरण ही तो था। सृष्टि का यह प्रारंभिक आवर्तन हम दोनों के अस्तित्व का रूप था।

४४—जैसे लता अपनी यौवनावस्था में वसंत ऋतु का मधुर हास पाकर पुष्पवती होती, उसी प्रकार प्रधान पुरुष के हास से प्रकृति विकास को प्राप्त हुई, जिससे आकर्षण-विकर्षण रूपी दो कणिकाओं का जन्म हुआ। ये दोनों सुन्दर रूप ही काम और रति हुए। प्रकृति पुरुष की रमणेच्छा ने ही हम दोनों को अस्तित्व प्रदान किया। "मूल-प्रकृति रूपी लता के मधुहास से ही ढले हम दोनों हैं।"

४५—इस प्रकार प्रकृति क्रियाशील हुई। साम्यावस्था में सोई क्रियाहीन प्रकृति पुरुष से अधिष्ठित होते ही कार्य में लग गयी। सूक्ष्म ने स्थूल का रूप धारण किया। जैसे मातृ शक्ति बालकों का प्रजनन करती है, उसी प्रकार प्रकृति की क्रियाशीलता ने परस्पर विचुंबी अनुरागपूर्ण असंख्य सुन्दर परमाणुओं की रचना की।

४६-४७—[बहिरङ्गा शक्ति के दो भेद हैं (१) माया (२) प्रकृति। प्रकृति संपूर्ण जगत् का उपादान कारण है। उसमें यह जड़-जगत् महदादि क्रम से उत्पन्न हुआ है। इसी सृष्टि-विकास का वर्णन हमारा कवि कर रहा है। आगे 'माया' का भी उल्लेख है। माया का कार्य आवरण की सृष्टि है। चित् तथा आनन्द के आवृत होने पर केवल सत् (जड़) या अचेतन बनता है। आनन्द के आवृत होने पर सत् चिद् जीव या चेतन होता है। आनन्द का आवरण हटना ही मुक्ति है—इस बात को बराबर याद रखने से 'कामायनी' के समझने में सहायता मिलेगी]।

(विद्युत्कण। अथर्ववेद १-१३-१,२,३)।

मधूत्सव में अबीर, गुलाल आदि लाल रंग लगाने की प्रथा है तथा परस्पर गले मिलने को भी। प्रकृति को माधव का हास प्राप्त होते ही सृष्टि का मधूत्सव प्रारंभ हो गया। भुवर्लोक में विद्युत्कण एक-दूसरे से गले मिले तथा मिलन (संघात) से उत्पन्न ज्योतिमत पुलक से दीप्त हो उठे। इसी प्रकार कणों के परस्पर आकर्षण चुंबन से सृष्टि की रचना का क्रम विकास को प्राप्त हुआ और इस प्रकार इस मुग्ध करने वाले मायामय जगत् का प्रादुर्भाव हुआ।

युगल तत्व की अभिव्यक्ति का इतना मनोरम चित्र हमारे कवि ने खींचा है कि बुद्धि मंत्रमुग्ध हो उसकी सराहना करती है। "स वै नैव रेमे"; "एकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्'; "यथा स्त्री पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ;" "स आत्मानं द्वेधापातयत्। पतिश्च पत्नी चाभवताम्" आदि इस संबंध में मननीय।

४८—इस प्रकार प्रलय के कारण जो वस्तुएँ विश्लिष्ट हो विनष्ट हो चुकी थीं, वे ही आकर्षण से पुनः संश्लिष्ट होने लगीं और सृष्टि रचना चलने लगी। इस प्रकार फिर वसंतागम से विकास प्रारम्भ हो गया। संसार में पुनः फूल तथा पराग की बहुलता हो गई।

४६—पर्वतों के गले में सरिताओं ने गलबाँही दी। जिससे शैलों का एकाकीपन जाता रहा। वे प्रसन्न तथा पूर्णकाम हो गये। जलनिधि की हिलोरें पृथ्वी को पंखा झलने लगीं। इस प्रकार मिथुन के बहुल रूप संसार में हो गये।

५०—'जैसे वन में कोमल मलयानिल के चलने से अंकुर और कोरक विकास को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार नये सर्ग में हम लोगों ने भी विकास और मस्ती प्राप्त की। यौवन-सम्पन्न हुये।

५१—हमारा जन्म –भूख, प्यास की भाँति सहज स्वभावसिद्ध है। "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्" (गीता ३।३७. में काम का "भूख" रूप है।)

[काम का अर्थ आकांक्षा तथा रति का तृप्ति होता है।]

हम नित्य यौवन-सम्पन्न देव सर्ग में रति-काम के नाम से जाने जाते थे। हम देवताओं के मन में नैसर्गिक भूख-प्यास की भाँति कामोपभोग की इच्छा उत्पन्न करते थे तथा उसकी तृप्ति का विधान करते थे।

५२—जैसे मैं देवताओं का सहचर था उसी प्रकार रतिदेवियों की सखी बनी। देवियों से उसको अनन्यता या अभिन्नता थी। देवियों की हृदय-वीणा में वह लय के समान समाई थी। वीणा के तार छेड़ने से जिस प्रकार लय निकलती है, उसी प्रकार देवियों के हृदय के टटोलने पर उनमें केवल रति-भावना ही मिलती थी। रति में रागात्मिका वृत्ति तथा मधुर भावना भरी थी, जिससे वह देवियों की उलझन को सुलझाती थी अर्थात् उन्हें कामोपभोग उपलब्ध कराती थी।

५३—मैं देवताओं के मन में कामोपभोग की इच्छा विकसित करता था और रति देवियों को उनकी तृप्ति का उपाय बताती थी। इस प्रकार परस्पर रमणेच्छा से ब्रह्म-सहोदर रति-सुख देवताओं को उपलब्ध होता था। इस प्रकार आनन्द का समन्वित रूप देव सर्ग के समक्ष रखते हम उनका नेतृत्व करते थे।

५४—देव सर्ग का विसर्जन हुआ। उनके साथ मेरा विनोद भी समाप्त हो गया। मैं भी अशरीरी हो गया, अब मैं एक चेतनता रूप में ही विद्यमान हूँ। संचित कर्म मेरे साथ हैं और मैं इस प्रकार भटक रहा हूँ।

(शरीर-विज्ञान के जाननेवाले कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, लिङ्ग शरीर, स्थूल शरीर का वर्गीकरण करते हैं। योग दर्शन २–१९ में विशेष, अविशेष, लिङ्ग मात्र, अलिङ्ग का भी भेद है। 'चेतनमात्र' का वर्णन २–२० में है। द्रष्टा ही चेतन है जो बुद्धि वृत्ति के अनुरूप देखनेवाला है। किंतु इसका एक और अस्तित्व है जो दृश्य के सम्बन्ध में वासनाएं, कर्म के संस्कार का संचय करता है और पुनर्जन्म प्राप्त करता भटकता फिरता है। इस दार्शनिक तथ्य का उपर्युक्त वर्णन में समावेश हुआ है।)

५५—"भूतभावोद्भव करो कर्मसंज्ञित" भूतों की सृष्टि स्वयं कर्म-निर्मित है। अतएव यहाँ कर्म की प्रधानता है (कर्म प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा)। यह विश्व एक ऐसा घोंसला है जिसमें मनोहर कृति करनेवालों का ही वास है। कौतुकागार यह विश्व रंगभूमि के समान है, जहाँ प्रत्येक कृतिकार—कौतुकी—को अपना कर्म करना है, कौतुक दिखाना है। यहाँ कौतुक दिखानेवालों का ताँता-सा लगा है। जिसमें जितनी शक्ति है, वह उतनी देर यहाँ रहकर अपना अभिनय समाप्त करके रंगमंच छोड़ देता है।

जितना बल है—आयु और पुनर्जन्म का कारण कर्म ही है, ऐसा योगदर्शन में वर्णित है। प्रकृति त्रिगुणमयी है। रजोगुण के कारण यह परिणामी है। तम से सत्त्व की ओर तथा सत्त्व से तम की ओर यह परिणाम सदैव होता रहता है। यह परिणाम स्वभाव-सिद्ध है। इसी स्वभाव-सिद्ध स्पंदन का नाम क्रिया या कर्म है। कर्म फल प्राप्ति की जो सामर्थ्य है, वही उसका बल है। संसार के रंगस्थ होने की कल्पना नवीन नहीं। शेक्सपीयर ने भी 'the world is a stage' की बात कही है। 'रंगस्थ' की कल्पना के साथ कर्म द्वारा कृति पर विवश होने तथा कर्म-शक्ति के अनुसार ही रंगमंच पर रहने की कल्पना-संबद्ध है। कर्म की मीमांसा के सम्बन्ध में 'मदालसा महाकाव्य' में कुछ पंक्तियाँ अवतरित हुई हैं। उत्सुक पाठक वृन्द उसे देखें तथा मनन करें—

अधिकार लिप्सा जीवन नहीं है; जीवन कला है कर्तव्यता की
कर्तृत्व जग में है धर्म अपना, कर्मण्य होता नित धर्मचारी
भव कर्म बंधन जग कर्म सम्भव, कर्मिष्ठ होता है कर्मचारी
बनती बिगड़ती नित कर्म से ही, कर्म जगत की है कर्म रेखा
जीवन जगत का अभिनय सरीखा, है विश्व कौतुकमय रंगशाला
करणीय निज कृति प्रति कौतुकी को, हँस-हँस करे या रो के करे वह
निर्माण करता है कर्म कृति को, विश्वास करके यह कर्मयोगी
ईश्वर समझता है कर्म ही को, अधिकार सब को है कर्म ही का
गतिमान जीवन में दौड़ना ही, सब विधि विहित है नर संयमी को
रुकने ठहरने में मृत्यु बसती, नर्तन कणों से संसार रचता

५६—कर्म पर बल देते हुए 'काम' फिर कहता है:—बहुत से अभिनेता ऐसे भी होते हैं जो केवल आरम्भ और परिणाम के बीच सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करते हैं। उनका कृत्य गौण होता है और वे चरित्र नायक के चरित्र के विकास में सहायक मात्र होते हैं। बहुत से कर्म नैमित्तिक होते हैं जो किसी दूसरे कार्य की सिद्धि के लिये किये जाते हैं। (यह भी संकेत है कि बहुत से प्राणी दूसरों की स्वार्थसिद्धि के उपकरण मात्र हैं।)

५७-५८—प्रातःकालीन उषा की अरुणिमा जो नीलाकाश को रंग देती है, उसका रहस्य तुम जानते हो ? सायंकालीन रँगे हुए मेघों के सूमह में (अबंरडंबर सांस के) तुम्हें क्या दिखाई देता है ? प्रारम्भ और परिणाम का सम्बन्ध सूत्र इन में सहवर्तमान नहीं ? पहले दृश्य (उषा की सजल गुलाली) से दिन का प्रारम्भ होता है, दूसरे दृश्य (मेघाडंबर) से रात्रि का प्रारम्भ होता है । प्रत्येक दशा में कर्म की साधना चल रही है । जिस प्रकार आकाश—नीले आकाश का क्षरण होता है; उसी भांति तामसिक माया के श्याम अंचल से भी आलोक के बिंदु झरते हैं । पथ-प्रदर्शन होता है । जिस प्रकार माया कर्मनिरत है उसी प्रकार हमें भी कर्मनिरत होना चाहिये ।

"जिस आलोक बिंदु को घेरे वह बैठी मुस्क्याती माया" की व्याख्या रहस्य सर्ग में देखें ।

५६—जिस प्रकार शून्याकाश से वात का जन्म होता है, उसी प्रकार मेरा जन्म पहले हुआ । जिस प्रकार वात से यह सृष्टिक्रम का विकास होता है, उसी प्रकार मुझसे चेतन सृष्टि का विकास हो रहा है । मैंने देवसर्ग में दुष्कृति की, जिससे मैं ऋणात्मक हो गया (अनङ्ग हो गया) । मैं मानवीय सृष्टि में अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करूँगा । संयमपूर्ण तथा व्यवस्थित होकर मेरा दुष्प्रभाव नाश होगा और मैं मानव के विकास में सहायक बनूँगा ।

६०—तम प्रकाश के समुचित अनुपात से ही संसार का शुद्ध विकास होता है । इस बात को मैं तभी समझ सका जब जल-प्लावन ने सर्वनाश कर दिया । होने को तो कामवासना को सृष्टि का कारण होना था, किन्तु अतिचार ने लय बुला दिया । यदि कामवासना संयमित उन्नमित रहती, तो किञ्चित् देव सर्ग का विनाश न होता ।

यह संसार जिस मूल शक्ति के विकास की लीला है उसका नाम प्रेम-कला है । श्रद्धा जो शुद्ध सात्विकी वृत्ति है उसी प्रेम का संदेश सुनाने के लिये अवतरित हुई है । 'प्रिय प्रवास' में प्रणय को 'सात्विकी' तथा त्याग वृत्ति वाला बतलाया है । यहां भी प्रेम को सात्विकी रूप देने के लिये ही श्रद्धा को 'अमला', छलरहित, शुद्ध, उज्ज्वल बताया है ।

'प्रेमदर्शन' में भक्ति को 'परम-प्रेम' रूपा बताया है । 'सा त्वस्मिन् परम-प्रेमरूपा' ।

काम चाहता है दूसरे के द्वारा स्वयं सुखी होना और प्रेम चाहता है अपने द्वारा प्रियतम को सुखी करना ।

"आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा तार नाम काम । कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम काम रे तात्पर्य निज संभोग केवल । कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल आत्म-सुख-दुख गोपी ना करे विचार । कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार लोकधर्म वेदधर्म देहधर्म कर्म । लज्जा धैर्य देहसुख आत्मसुख मर्म

सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन ! कृष्ण सुख हेतु करे प्रेमेर सेवन
इहाके कहिये कृष्ण दृढ़ अनुराग । स्वच्छ धौत वस्त्र जैसे नाहिं कोन दाग
अतएव काम प्रेम बहु अंतर । काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर"

इस अलौकिक प्रेम को लौकिक स्तर पर उतारना श्रद्धालु पतिप्रीता का ही काम है । श्रद्धा में इस के तत्वांश है ।

६२—वह मेरी और रति की पुत्री है । "कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका ।" बाह्या-कृति उसकी सुन्दर है और प्रकृति से वह सीधी है । वह रंगीन फूलों की शाखा के समान सम्मोहक है । उसमें रूप, लावण्य, आकर्षण सभी है ।

(परस्पर रमणेच्छा 'काम-वासना' मे प्रेम दृढ़ाने वाली श्रद्धा जन्म लेती है ।)

६३—"जड़ चेतनहिं गाँठ परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई" (राम चरित मानस) । द्रष्टा-दृश्य संयोग ही हेय का कारण है । "द्रष्टृ-दृश्योः संयोगो हेयहेतुः" (योग दर्शन १७) । "कामं भोगेश्वरीं विद्धि क्रोधं माहेश्वरीं तथा" (ब्रह्म पुराण) में नारी का वासना रूप 'भोगेश्वरी' का ही है किन्तु उसका संयत रूप श्रद्धा का है जिससे परस्पर कार्षण-प्रेम में अनन्यता आती है । (द्रष्टा-दृश्य ही चेतन और जड़ हैं देखिये 'योग दर्शन' साधनपाद ।)

किसी साधन में प्रवृत्त होने का और अविचल भाव से उसमें लगे रहने का मूल कारण श्रद्धा है । "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकं इतरेषाम्" (योग दर्शन समाधि पाद २०) में श्रद्धा का स्थान परम है । गीता में "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयते-न्द्रियः । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति" की बात आई है । जिस प्रकार श्रद्धा वृत्ति मानव के ज्ञान तथा शान्ति का कारण है उसी प्रकार 'श्रद्धा' पतिप्रीता पतिपरायणा स्त्री पति का कल्याण करती है । "शतरूपां च तां नारीं तपोनिर्धूत-कल्मषाम्" ही नारी का विशुद्ध रूप है । 'तप के कारण निष्पाप' यही श्रद्धा का रूप है ।

"हम दोनों की सन्तान 'कामायनी' माया-स्वरूपिणी है । किन्तु उसका उद्देश्य जीव को परमानन्द की उपलब्धि कराना है । उसका आश्रय प्राप्त कर भूल का सुधार होता है, उलझनें सुलझ जाती हैं । उसी के कारण जीवन में संक्षोभ उत्पन्न करनेवाले विचारों का उपशमन होता है और शान्ति मिलती है ।"

'मायातत्व विज्ञान' के मर्मज्ञों का कहना है कि "देवशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (लीलामय भगवान् ब्रह्म) अपनी गुणमयी माया के द्वारा अपने को छिपाये रखते हैं । परन्तु माया ब्रह्म को पूर्ण रूपेण निरुद्दिष्ट नहीं कर देती । जो कुछ प्रकट करती है वही सृष्टि है । माया सत्य शक्ति है । मिथ्या संघटन करती है, समानयन करती है, परन्तु स्वयं मिथ्या नहीं है । माया की यह जो अन्तहीन क्रियाशीलता है, चिरचञ्च-लता है—इसका गम्भीर उद्देश्य है जीवों का आविर्भाव करना, उनका धारण, रक्षण,

प्रतिपालन तथा जन्ममृत्यु पथ में सञ्चालन करना। इसके अन्तर्गत और भी गम्भीर उद्देश्य हैं जिसके लिए सुविस्तृत सृष्टि-प्रवाह चलता है। इस चिर-परिवर्तनमय, निरन्तर परिणामशील सुख-दुःख की भीषण तरङ्गोंवाले भव-सिन्धु के मध्य मृत्युमय जीवन-यापन कराते हुए जीवों को चिदानन्द-स्वरूप भगवान् के रस-सौन्दर्य राज्य में अनन्त काल के लिए प्रतिष्ठित कर देना ही महामाया का दूसरा उद्देश्य है।" इस दार्शनिक दृष्टिकोण का समावेश उपर्युक्त पंक्तियों में है।

६४—'मनु! यदि तुम श्रद्धा-संयुत होना चाहते हो तो उसे प्राप्त करने की अपने में योग्यता उत्पन्न करो। उसके पाने के अधिकारी बनो। उसके पात्र बनो।' ऐसा कह कर वह ध्वनि उसी प्रकार चुप हो गई जैसे बजती 'मुरली' चुप हो जाती है। काम की ध्वनि मुरली के स्वर की भाँति सम्मोहक थी। (मुरली की व्याख्या 'आँसू की व्याख्यात्मक आलोचना' में देखें)

६५–मनु इतने में ही जग गये। उन्होंने अर्ध-चेतन अवस्था में पूछा, हे देव! जिस निर्मल ज्योतिमती की आपने सराहना की, उसे पाने का क्या साधन है? क्या किया जाय कि वह मिल सके?

६६—किन्तु वहाँ (उसके समक्ष) उत्तर देने वाला कोई भी नहीं था। मनु का स्वप्न टूट गया। वे पुनः स्वस्थ-चित्त हो गये! आँखें खोलीं तो मनु के सामने पूर्व दिशा सुन्दर अरुणोदय से रसरंजित दिखाई पड़ी।

६७—उस झलमल-झलमल करती लता-कुञ्ज में सूरज की सुनहली किरण क्रीड़ा कर रही थी। मनु के हाथों में सोमलता थी जिससे 'सोम-सुधा-रस' बनाकर देव लोग पीते थे।

("प्रज्ञा के ऋतम्भरा" होने से श्रद्धा का ज्योतिर्मय रूप बनता है। श्रुतियों में श्रद्धा को ज्योतिष्मती कहा भी है।)

सोमलता—कर्म की परिचायक है।

"अदृश्य शक्तियों" की अवतारणा एक नाटकीय तत्व है, जिससे प्रबन्ध चमत्कृत हो उठता है। लौकिक जीवन में हम जिन बातों को तर्क से सिद्ध नहीं कर पाते उन्हें हम अदृश्य शक्तियों पर छोड़ देते हैं। इसी तत्वांश को लेकर नाटककार अदृश्य शक्तियों का प्रयोग करते हैं। 'शेक्सपियर' ने अदृश्य शक्तियों का प्रयोग अपने नाटकों में किया है। महाकवि 'भक्त' ने भी 'नूरजहाँ' में 'परियों को स्वप्न में उतारा है'। "अदृश्य शक्तियाँ" बहुधा स्वप्नावस्था में ही अवतरित होती हैं। हमारे कवि ने काम—अनङ्ग—को भी स्वप्न में ही उतारा है। वह श्रद्धा को प्राप्त करने के लिए मनु को पात्र बनने का उपदेश देकर प्रच्छन्न हो जाता है।

श्रद्धा सूक्त में मिलता है :—

"व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।"

व्रतधारण (नियमधारण) से मनुष्य को योग्यता प्राप्त होती है, इत्यादि।

मनु पात्र नहीं बन पाते इसीलिए वे श्रद्धा का तिरस्कार करते हैं, आदि प्रसङ्ग आगे आवेगा।

"कामसर्ग" में अनेक प्रसङ्ग ऐसे हैं जिनसे एक ऐसा ध्वनित अर्थ निकलता है जिसका वर्णन से कोई सम्बन्ध नहीं। 'भीड़ लग रही दर्शन की' में विभिन्न दर्शनों की उलझन में ज्योतिपथ के खोने का संकेत है; 'वर्णों के मेघाडम्बर में' में वर्णव्यवस्था के नैमित्तिक कारण तथा आडम्बर होने की बात है; "वे कितने ऐसे होते हैं" में पिछड़े वर्ग तथा उपेक्षित जनता की भाव-व्यञ्जना आदि। इनकी ओर संकेत नहीं किया गया है। भावुक पाठक वृन्द इन्हें खोज निकालें।

"प्रसाद का वर्णन मानव-सापेक्ष है"। वसंत वर्णन में कामोद्भव के साथ उस रूप-स्मृति की छाप है जो श्रद्धा मनु के मन पर छोड़ गई है।

मनो-विज्ञान, काव्य तथा दर्शन का सुन्दर समन्वय इस सर्ग में हुआ है।

और सबसे अधिक आकर्षण है मनु की वृत्तियों का स्पष्टीकरण स्वगतोक्तियों द्वारा। 'काम' का स्वप्नावस्था में अवतरण वर्णन को कितना सुन्दर बना देता है, यह कुछ अनुभव करने की ही बात है।

वासना

५—वासना

"श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वाघ्राणानां आत्मसंयुक्तेन मनसाऽधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु अनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः"। काम सूत्र में वर्णित काम के अवयवों की ओर काम सर्ग में संकेत किया गया है। मनु "पीता हूँ हाँ मैं पीता हूँ, यह स्पर्श रूप रस गंध भरा" में विषयानुरक्त होने की बात सोचते हैं। किंतु 'येन रूपं रसं गन्धं शब्द-स्पर्शांश्च मैथुनम्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वैतत्' की छाया तक उसमें नहीं। वह अनियंत्रित कामोपभोग में रत होने का निश्चय करते हैं और दम-संयम रूपी बाधाओं को ललकारते हैं कि वे उनके निश्चय में किसी प्रकार बाधा नहीं उत्पन्न कर सकतीं। 'काम' छायालोक से मनु को स्वप्न में उपदेश देता है कि अनियंत्रित काम-वासना ने ही देव सर्ग का सर्वनाश किया। यदि तुम्हें कामोपभोग अभिप्रेत है तो तुम उसका उपभोग 'प्रेम' के सहारे करो। कामोपभोग तामसिक है, मोहरूपी है; किंतु प्रेम में सात्विक त्यागमय भावनाओं का समावेश है। 'श्रद्धा' इसमें सहायक होगी किन्तु 'श्रद्धा' को यथार्थ रूप में पाने के लिये तुम्हें योग्य बनना पड़ेगा। रूप लावण्य युत काय संपदा से उठकर प्राणों की गति पहिचाने बिना यह संभव नहीं।

पहले संकेत किया गया है कि 'कामायनी' की कथा शैव दर्शन में वर्णित 'प्रलयाकल' अवस्था से होती है। प्रलयाकलपशु में 'मलज और कर्मज' दो पाश विद्यमान रहते हैं। मलज कर्मज पाश से जब मायज मल का मेल हो जाता है तब जीव सकल हो जाता है। विज्ञानाकल पशु में केवल मलज पाश रहता है। विज्ञानाकल के दो भेद समास कलुष और असमास कलुष हैं। प्रलयाकल के दो भेद पक्वमल और अपक्वमल हैं। मनु 'प्रलयाकल' हैं किंतु अब वे मायज मल की कल्पना कर रहे हैं। (नारद पुराण में इसका विशद विवेचन द्रष्टव्य)।

ऊपर बताया गया है कि वासनाएँ नित्य हैं। बीजाङ्कुर न्याय से कर्म भी अनादि है। "विषयाभिनेवेशो वासना" के अनुसार विषयों में अभिनिवेश कराने वाली वृत्ति का नाम वासना है। 'वासना' की अभिव्यक्ति कर्मों द्वारा होती है 'ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्'। "तासामनादित्वं चाशिषोनित्यत्वात्" (ये वासनायें अनादि हैं)। "हेतु फलाश्रयालम्बैन संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः" हेतु फल आश्रय आलम्बन द्वारा वासनाओं का संग्रह होता है। "क्लेशमूलः कर्माशयोः" कर्मजन्य संस्कार ही क्लेशमूलक है। "ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनातश्चाऽनादिकालीना इति" स्मृति के कारण जो संस्कार होते हैं वे ही वासना कहलाते हैं"। "जाति देश काल व्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्"। आदि इस संबंध

में मननीय। तथा इस संबंध में स्मरण रखें कि उत्तुंग शिखर अहंकार, शिला (बुद्धि तत्व), पुरुष "मन" (छाया पुरुष) द्रष्टा रूप देख रहा है। संस्कार पीड़ित वही 'वासना'-रत हो रहा है।

वासना का काम से अभिन्न संबंध है। 'वासना' ही 'रति' काम की स्वकीया शक्ति है। (जो आकर्षण बन हँसती थी रति थी। अनादि वासना वही' ब्रह्म को बताया गया है। रति स्त्री पुरुष के परस्पर रमणेच्छा का नाम है। 'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वाद्यत्वं भवेत्' रसास्वाद के लिये वासना आवश्यक है, आदि भी द्रष्टव्य।

अदृश्यशक्ति 'काम' द्वारा मनु को अपने विकास के लिये 'श्रद्धा' को अपनाने का निर्देश मिल चुका है। प्रेम-कला का संदेश सुनाने के लिये ही सात्विकी श्रद्धा अवतरित हुई है, यह भी संकेत मिल चुका है। 'पथ कौन वहाँ पहुँचाता है ?' का उत्तर मनु को नहीं मिला। यह वैयक्तिक साधना की बात है। उधर श्रद्धा 'समर्पण लो सेवा का सार' का प्रस्ताव करके स्वीकारात्मक उत्तर की प्रतीक्षा में है। इधर मनु 'उस ज्योतिमयी को देव कहो कैसे कोई नर पाता है' श्रद्धा को प्राप्त करना चाहते हैं। बिंदु के समान नगण्य तथा रेखा के समान अनन्त प्रेम पथ एक प्रहेलिका है! "मिसाले शमा जिसने दिल जलाया तेरी दूरी में। तो उसने मंज़िले मक़सूद को ज़ेरेक़दम पाया;" 'पास रह कर भी अगर मिलने से वह मजबूर है। दूर है तो दूर है नज़दीक है तो दूर है;' 'दिल नहीं मिलता तो मिलने का मज़ा नहीं मिलता'; आदि अनेक काव्याभिव्यक्तियाँ इसको प्रमाणित करती हैं।

इसी प्रेम-पथ पर मनु और श्रद्धा दोनों ने पैर बढ़ाया। दोनों एक-दूसरे से मिलने के इच्छुक हैं किंतु दूरी काटे नहीं कटती। 'चलते चलते पग थका नगर रहा नव कोस, बीचहि में डेरा पड़ा कहो कौन का दोष' विचित्र स्थिति का सामना है!

१—दो—उपर्युक्त पंक्तियों में "अचिंत्यभेदाभेद' की झाँकी सजी है। दो शब्द 'द्वैता' का बोध कराता है।

किंतु अगली पंक्तियों में इस द्वैता को प्रतिभास मात्र माना है। "ऋतेऽर्थे यत्प्रतीयते" (श्रीमद्भागवत २–६–३३) में माया को प्रतीयमान कहा है। जैसे सरोवर में चन्द्र प्रतिबिंब। यहाँ "शिवशक्ति शिवाभिन्ना" की ओर संकेत है।

हृदय दो—"यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदेतद्धृदयं मम तदस्तु हृदयं तव" सामविधान ब्राह्मण। 'मेरा हृदय तुम्हारा हो जाय तुम्हारा हृदय हमारा हो जाय" की स्थिति का अभाव ही 'दो हृदय' की स्थित है।

चल पड़े—'विवशता' का भाव भी निहित है। परस्पर आकर्षण तथा रमणेच्छा तो है ही।

अश्रांत—ये निरतंर चलते रहने तथा न थकने का भाव है।

भ्रांत—(Astray) भूले हुये, यह न जानते हुये कि कहाँ जाना है।

हिन्दू संस्कृति में नर-नारी संबंध के सात अवयव हैं:—

"जन्मान्तरीय सम्बन्धस्तथा पाणिपविंत्रता
तपःप्रधाना नार्यश्च कन्यादानस्य श्रेष्ठता
स्त्रियः प्रसादाय कृतिः जायत्त्वमेकरूपता"

(१) जन्मान्तरीय संबंध (२) पाणि पवित्रता (३) नारी का तपोमय रूप (४) कन्यादान की श्रेष्ठता (५) स्त्री को प्रसन्न रखने का प्रयत्न (६) जाया पाद (७) दम्पति की एकरूपता।

'जो भटकते थे भ्रांत' में जन्मान्तरीय संबंध बोल रहा है। मनु और श्रद्धा में जन्मान्तरीय संबंध था, वे कालगति से विलग होकर एक-दूसरे को भ्रांतमत ढूँढते थे। अपने-अपने पथ पर भटकते हुये कालगति से उनमें पुनः भेंट होगई।

गृहपति—श्रद्धा मनु के गृह में है। घर का स्वामी मनु है। विवाह के पश्चात् कन्या वर के घर 'अतिथि' रूप आज भी आती है। हिन्दू विवाह में पति पत्नी को अपने गार्हस्थ्य का राज्य देता है। 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। भर्गोऽर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्य त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः"।

विगत-विकार—में तपोमय रूप तथा पाणि पवित्रता का समावेश हुआ है। श्रद्धा का रूप वर्णन पहले हो चुका है। "हृदय की अनुकृति बाह्य उदार" का उल्लेख भी हो चुका है। श्रद्धा में किसी प्रकार का विकार न था। सर्वांगों में शुभ कन्याएँ सदाचारिणी होती हैं, सत्यवादिनी होती हैं। स्मृतियों में इसी से अधिक रोमवाली, न्यूनाधिक अंग वाली कन्याओं से विवाह का निषेध इसी आधार पर है (मनुस्मृति अध्याय ३)। ऋग्वेद १-१८-८ १, ७१-२ भी द्रष्टव्य। ऋग्वेद २-३५-४ में अत्यन्त शुद्धिकारक जल के समान अहंकारशून्य कुछ मुस्कराती हुई जवान कन्या को युवक के पाने की बात आई है।

प्रश्न था यदि एक—स्कन्दगुप्त में स्वयं प्रसाद ने लिखा, "पुरुष कुतूहल है, प्रश्न है, तो स्त्री समाधान है, उत्तर है।" प्रश्न संशययुक्त जिज्ञासु के ज्ञानाभाव से उत्पन्न होते हैं। जब भावात्मक उत्तर प्राप्त हो जाता है, तब अभाव मिट जाता है। स्त्री के संयोग बिना पुरुष अभाव अनुभव करता है। उसके मिलने पर यह अभाव जाता रहता है। मनु के सामने यह अभाव प्रस्तुत है। "कैसे कोई नर पाता है?" में प्रश्न तथा अभाव दोनों का चित्र है। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। 'द्वेधारे स्वतंत्र रूपत्वात्' में बताया गया है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही स्त्री-पुरुष दो धारा चल रही है।

उदार—"अतिथि सविशेष है। विशेषण संयुक्त है। सगुण है। किन्तु गृहपति निर्गुण!" कवि की कला धन्य है! यही अंतर प्रकृति तथा पुरुष में है।

२ **जीवन सिंधु**—"गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न"

(रामचरित मानस)। वैदिक श्रुतियाँ पत्नी को पति की अभिन्न आत्मा बतलाती हैं (वाल्मी. ४।२४।३७-८।२।३७।२४)

["सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथ्वी त्वम्" ऋ८-३-३७। "सुभगे तुम हो ऋचा ज्ञान की, मैं हूँ स्वर का लास। तुम हो सुजला–सुफला धरणी मैं निर्मल आकाश"]

उद्दाम :—"अनियंत्रित, असीम, स्वैरिन्, अहंकारी" आदि सभी भावों का परिचायक है।

श्री (छवि, सौन्दर्य, गुण, वैभव, स्वाभिमान, प्रसन्न मुद्रा) आदि सभी भावों का द्योतक।

३ नव जलद्—"मेघों की बिजली ही मेघ के वायुमण्डल में अधिक वेग से प्रकट होती है, घन दामिनि का साथ है ही।" हृदयाकाश में उठने नये मोहातुर मनोभावों की ओर संकेत है।

पाश का रूप 'विद्युन्माला' का परिचायक है।

फाँस - 'आबद्ध' करने की प्रक्रिया की प्रारंभिक अवस्था को बिजली कहकर एकरूपता का बोध कराया है। तथा ब्रह्मचर्य जनित तेज का भी परिचय दिया है। अथर्वेद सूक्त ३।१८ में वर्णन मिलता है कि युवक युवती की आत्मा एक, मनोरथ एक तथा व्रत एक होना चाहिये। दोनों को परस्पर वशानुवर्ती होना चाहिये। दो पाश परस्पर आबद्ध होना चाहते थे किन्तु एक दूसरे की पकड़ाई में नहीं आते थे।

१-३—मनु के घर में श्रद्धा, विकृतियों से हीन श्रद्धा, अतिथि रूप रहती थी। दोनों प्रेमानुराग के पथ पर अग्रसर थे। किन्तु जिस प्रकार दो परस्पर मिलने के इच्छुक पथिक निरंतर बिना थके हुये चलते रहने पर भ्रांतमत् होने के कारण भटकते ही रहते हैं, एक दूसरे से नहीं मिल पाते, वही दशा मनु और श्रद्धा की थी। दोनों के हृदय एकाकार होना चाहते थे, किन्तु भ्रांतियों के कारण दोनों मिल नहीं पाते थे।

(अपने प्राकृत स्वभाव के कारण पुरुष नारी का उपभोग करना चाहता है। नारी अपने स्वभाव के कारण त्याग को ही जीवन मानती है। किन्तु त्याग और उपभोग दोनों ही भ्रांतिपूर्ण हैं। जब तक दोनों का समन्वय नहीं होता तब तक जीवन की सृष्टि ही नहीं होती।)

शक्ति-शक्तिमान्, नारी-पुरुष के परस्पर संबंध का वर्णन करने में वैदिक सूक्तियों में प्रायः ऐसे ही रूपक उपस्थित किये गये हैं। यजुर्वेद अध्याय ३८ द्रष्टव्य।

"सायंकाल के समय नदी तट पर क्षितिज के कोने में उठते हुये बादल में जैसे बिजली की दो रेखाएँ आपस में क्रीड़ा करती हुई सुन्दर एवं आकर्षक प्रतीत होती हैं उसी भाँति श्रद्धा और मनु की भावनाएँ एक दूसरे से उलझ रही थीं। दोनों का चैतन्य सजग था किन्तु एक दूसरे को आबद्ध करने की शक्ति किसी में नहीं आई थी।"

अप्रस्तुत-योजना का कितना मनोरम उदाहरण है!

अथर्वेद में विद्युत शक्ति का वर्णन अनेक भाँति से मिलता है। 'द्वेधारे स्वतंत्र-रूपत्वात्' का उल्लेख ऊपर हुआ है। सूक्त १४ में कन्यादान का वर्णन तथा उसका विद्युत् संबंधी अर्थ द्रष्टव्य। वहीं विद्युत को नियमित करने के लिए 'बध्यताम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ 'वश' में करना है। 'फाँस' में वश में करने का ही भाव है।

उपर्युक्त वर्णन में मनु श्रद्धा का वर्णन विभिन्न रूपों में हुआ है।

(१) गृहपति-अतिथि (२) प्रश्न-उत्तर (३) सिन्धु-लहर (४) आकाश-घन (५) दो बिजलियाँ (आकर्षण-विकर्षण)। अंश-अंशी, व्याप्य-व्यापक संबंध का सुन्दर उदाहरण।

४—प्रेम अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं में निष्काम नहीं होता। प्रेम का जन्म रूप के मोह से होता है! रूप का मोह कामनामय होता है। अतएव परस्पर प्रेम जगने पर भी आदान-प्रदान के भाव का लोप नहीं होता। प्रेमी प्रेम-पात्र पर बलित होकर भी उससे कुछ पाने की कामना करता है। "था समर्पण में ग्रहण" आदि का संकेत यही है कि मनु और श्रद्धा एक दूसरे को प्रेम करते थे और एक दूसरे का प्रेम-पात्र बनना चाहते थे। दोनों प्राणियों के बीच राग कौतुक कर रहा था। दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षित थे, किन्तु एक दूसरे से कुछ पाने का इच्छुक था। दोनों 'ग्रहण' के मनोभाव के कारण संकोच, संशय अथवा असमंजस पीड़ित थे। प्रेम की स्वच्छंद गति संकोच आदि से बाधित हो जाती है। 'अटकाव' इसी 'बाधा' का नाम है। मनु और श्रद्धा के बीच पारस्परिक प्रेम बढ़ रहा था किन्तु इस प्रेम-प्रवाह में संकोच बाधा उपस्थित किये हुए था।

सुनिहित :—(deep rooted) भलीभाँति छिपा हुआ था। समर्पण के अन्तर-तम में ग्रहण का भाव पूर्णरूपेण छिपा था। प्रेमपात्र पर अधिकार जमाने का मनोभाव कितनी सुन्दरता से चित्रित हुआ है।

[हेनरी वान डाइक के अनुसार प्रेम आदान नहीं, प्रदान है। वह न तो भोग विलास का सम्मोहक स्वप्न है और न वासना का उन्माद। "अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं मूकास्वादनवत्" का रहस्य जानने वालों का कहना है कि 'प्रेम हृदय की वस्तु है, परम गुह्य अनमोल। कथनी में आवै नहीं, सकै न कोऊ तोल।। रसमय आनंदमय विमल, दुर्लभ यह उन्माद। अकथनीय पै अति मधुर, गूँगे को सो स्वाद।"]

नियति :—प्रकृति की नियामक अथवा नियमन शक्ति का नाम है। रहस्य सर्ग में इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है। नारद पुराण में 'शैवदर्शन' तथा 'योग-वाशिष्ठ' में नियति का वर्णन मननीय।

[यजुर्वेद में (३८-१) 'देवस्य त्वा सविता' आदि में बताया गया है कि जैसे सूर्य भूगोलों का, प्राण शरीर का, उपदेशक सत्य का ग्रहण करते हैं उसी प्रकार अनु-

कूल सुख देने वाली भार्या को पति ग्रहण करता है। 'पाणिग्रहण-कन्यादान' में समर्पण तथा ग्रहण के अवयव है। किन्तु यह 'प्रस्ताव-स्वीकार', आदान-प्रदान हमारे कवि की पंक्तियों में वर्णित समर्पण-ग्रहण से भिन्न है। "सजल संसृति का यह पतवार" की बात ऊपर आई है। अथर्ववेद २-३६-५ में "भगस्य नावमारोहपूर्णमनुपदस्वतीम्। तपो प्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः" में बताया गया है कि कन्ये, जो वर तेरी अभिलाषा के योग्य है, तू उस सौभाग्यशील पति की पूरी विनाशरहित शरणदायिनी भवसागर के पार उतारने वाली नाव के समान शरण में चढ़ जावे उससे अपने पति को और अपने को भी भवसागर या ऋण से पार उतार।

अमोऽहमस्मि मात्वं मा त्वमस्यमोऽहम्
सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्
तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै
प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्
ते सन्तु जरदष्टय सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यामानौ
पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदं शतं श्रृणुयाम शरदः शतम्'

अ० ८-३-२७—बताता है कि प्रेम में मग्न होने के पीछे मङ्गलमय कामना खेलती है। "सामने है मंगलमय वृद्धि" में यही कामना वर्तमान है। श्रद्धा के समर्पण में यही 'ग्रहण' की भावना थी। किंतु मनु के समर्पण में अधिकार प्राप्त करने के भाव थे।

हिन्दू विवाह का 'जायापाद' इसी मंगलमय कामना की अभिव्यक्ति है।

"पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्या जायते पुनः" तथा "शिशु भूत्वा महादेवः क्रीड़ार्थं वृषभध्वजः। उत्सङ्गतलसुप्तो बभूव भगवान् भवः। जायेति तत्पादं तस्य सत्यार्थमीश्वरः" आदि मननीय। विवाह-संस्कार के समय कन्या जिन प्रतिज्ञाओं के साथ वर को आत्म समर्पण करती है और वह उसे स्वीकार करता है उसमें भी समर्पण तथा ग्रहण के भावों की ध्वनि आती है। दोनों ही अनन्यता का वचन देते हैं, आदि]

'श्रद्धा और मनु दोनों एक ही स्थान पर अपरिचित से रहते थे। दोनों ने एक दूसरे को भली भाँति नहीं पहिचाना था। दोनों एक दूसरे के प्रति आकर्षित थे किंतु संकोच रास्ता रोके खड़ा था। प्रेम की मधुर भावना दोनों के सूने हृदय में क्रीड़ा कर रही थी। नियति चाहती थी कि वे दोनों परस्पर मिल जायँ।'

५—दोनों साथ रहते थे। परस्पर व्यवहारों में एक दूसरे के मनोभावों का अधिक-अधिकतर समझते जा रहे थे किंतु फिर भी वे एक-दूसरे से पूरी तौर से मिल न पाते थे। उनके मन के अन्तरतम में छिपा 'प्रेम' का गूढ़ रहस्य प्रकट न हो पाता था। समीप रहकर भी वे एक-दूसरे से उसी भाँति दूर थे जैसे गहन वन के अंतिम छोर का

प्रकाश पथिक की दृष्टि में सर्वदा दूर ही होता जाता है। (श्रवण कुमार की "दूर इतनी दूर" शीर्षक की कविता तथा 'शैदा' की "असमंजस" नाम्नी कविता उद्धरणीय)।

६-७— कर्म का अवसाद दिन से कर रहा छल छंद
मधुकरी का सरस-संचय हो चला अब बंद
उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज से दीन
भेंटता अंतिम अरुण आलोक वैभवहीन
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा लोक
शोक भर निर्जन निलय से बिछुड़ते थे कोक।

इन पंक्तियों म कवि ने संध्या का सुन्दर चित्र अंकित किया है। साथ ही आगे के कथानक की पूर्व पीठिका भी प्रस्तुत की है। पूर्व पंक्तियों में प्रेम के शुक्ल पक्ष का चित्रण था, इन पंक्तियों में कृष्ण पक्ष का चित्रण है। इन पंक्तियों को रागमयी वृत्तियों के उद्दीपन रूप ग्रहण करना भूल होगी। प्रेम ईर्ष्यालु होता है। 'ना मैं देखूँ और को, ना तोहिं देखन देहुँ' की भावना प्रेम की अनन्यता का अङ्ग है।

निस्तेज गोलक—सहस्रश्रृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्
तेनां सहस्ये ना वयं निजनान्स्वापयामसि (ऋ० ७-५५-७)

(जो सहस्रों अनन्त किरणों वाला सूर्य समुद्र से उठता हुआ प्रतीत होता है, वही उसी प्रकार पुनः समुद्र में ही अस्त होता प्रतीत होता है)। हमारे कवि के सूर्यास्त वर्णन पर इसी ऋचा की छाप है। किंतु वर्णन बड़ा गंभीर एवं सुन्दर है।

सरस-संचय :—संचय इकट्ठा करने को भी कहते हैं और एकत्र-राशि को भी। मधुकरी रस का संचय नहीं करती। अतएव यह कहना कि मधुकरी ने रस-संचय बन्द कर दिया था, भ्रांतिमूलक है। मेरी राय में यह 'कमलकोष' का बोध कराता है।

धूसर—का अर्थ 'धूल भरा हुआ' भी यथार्थ नहीं। धूसर मटमैले रंग को भी कहते हैं।

दीन—दुःखपूर्ण, नैराश्यपूर्ण।

कोक—कामातुर पक्षी है (अथर्वेद ८-४-२२)। चक्रवाक मिथुन के बारे में प्रसिद्ध है कि रात को ये दोनों वियुक्त हो जाते हैं, दिन में साथ रहते हैं। (हिन्दी साहित्य की भूमिका पृष्ठ २२०)।

विष्णु पुराण द्वितीय अंश में सूर्य का वर्णन है। सूर्य का आविर्भाव और तिरोभाव भी उदय और अस्त है। अतएव 'सूर्यास्त' की संज्ञा भ्रांति दर्शन के कारण ही बनती है। (तरणि बिम्ब तिरोहित हो चला, गगन मंडल मध्य शनैः शनैः—प्रिय प्रवास) आगे चलकर हमारा कवि मनु की भ्रांतिपूर्ण मनोदशा का चित्रण करेगा इसीलिये उसने यह दृश्य सामने रखा है।

ऊष्मा, शौर्य, शक्ति, दीप्ति, कान्ति से हीन सूर्य गोलक मात्र रह गया था। वह क्षितिज के बराबर आ गया था। तिरोहित होता हुआ सूर्य ऐसा दिखाई दे रहा था मानों वह आकाश से फिसल कर समुद्र में गिरने जा रहा है और उसे बचाने वाला कोई नहीं। (कवि ने एक अन्य स्थल पर इस असहायता का चित्र उपस्थित करते हुए लिखा है कि सूर्य अपनी किरणों के कर फैलाकर पेड़ों की टहनियों को पकड़ रहा था)। किरणों का समूह बादलों के पर्दे में विलीन हो रहा था। सूर्य कार्य करते करते थक गया था और उसमे अपने कर्तव्य पर टिके रहने की क्षमता नहीं रह गई थी। अतएव वह दिन की आँख बचाकर ओझल हो जाता था। कमल कोष बंद हो रहे थे। क्षितिज से अंतिम वैभवहीन रक्तिम प्रकाश बिदा लेने के लिये उसे अङ्क भेंट रहा था। प्रिय-वियोग से दुःखग्रसित क्लांत क्षितिज के मुख पर स्याही दौड़ रही थी। क्षितिज और प्रकाश का यह वैभवहीन नैराश्ययुक्त मिलन (अंक भेंटना) एक करुण वातावरण की सृष्टि कर रहा था। कोक-मिथुन शोकाकुल अपने वास-स्थान को सुनसान बनाकर वियुक्त होने को तत्पर थे।

८—मनु अभी तक काम के संदेश पर ही ध्यानपूर्वक विचार कर रहे थे। "उसके पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो; वह शीतलता है शांतिमयी जीवन के उष्ण विचारों की"; आदि की ध्वनि उसके कानों में गूँज रही थी। ('तत्र प्रत्ययैकता-नता ध्यानम्' जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्ति का एकतार चलना 'ध्यान' है)। मनु श्रद्धा को ध्येय बनाकर एकाग्रचित्त उसके बारे में काम की बातों को ध्यान में रखते हुए विचार कर रहे थे।

इधर श्रद्धा ने घर में सभी उपकरण एकत्र कर दिये थे। उपकरण जो अधिकार-मूलक थे। खेती, धान्य, अन्न, पशु की व्यवस्था हो चली थी।

(स्वयं से ही स्वत्व होता है, वस्तु का ही स्वाम्य होता है—उपकरण अधिकार इसी से सार्थक है)। (अथर्ववेद तृतीयकाण्ड सूक्त २४—१ धान्य का संग्रह)।

[नृतत्व-विज्ञान से इतना पता चला है कि नारी ने ही सर्वप्रथम खेती का कार्य प्रारम्भ किया था। इसी कारण मानव के घूमते रहने की वृत्ति का अन्त हुआ था। नारी के कारण ही मानव का अद्भुत विकास हुआ। नारी रक्षणशील होती है, इस तत्व की ओर भी संकेत है। (यजुर्वेद मननीय)]

९— नई इच्छा खींच लाती, अतिथि का संकेत
चल रहा था सरल शासन युक्त सुरुचि समेत
देखते थे अग्निशाला से कुतूहलयुक्त
मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बंधनमुक्त

श्रद्धा का सुरुचिपूर्ण संकेत मनु पर सरल शासन कर रहा था। मनु श्रद्धा की इच्छाओं को उसका संकेत पाते ही पूरा करते थे। इस प्रकार श्रद्धा के सुरुचिपूर्ण

संकेत मनु के ऊपर सरल शासन करने लगे। मनु यज्ञशाला में बैठे कुतूहलपूर्ण आँखों से अपनी नियामक-शक्ति का बंधनहीन विस्मयकारी चमत्कारपूर्ण कौतुक देख रहे थे। टीकाकारों ने 'निज' का बल नहीं समझा। 'निजनियति' से तात्पर्य यहाँ 'श्रद्धा' से है। 'चमत्कृत' बताता है कि 'निजनियति' के बंधनमुक्त खेल से मनु की आँखें चमत्कृत हो गई थीं कारण कि 'खेल' चमत्कारपूर्ण था)।

१०—"मनु ने एक सम्मोहक दृश्य देखा। श्रद्धा के साथ एक पशु चला आ रहा था। ऐसा लगता था जैसे करुणा के साथ मोह चला आ रहा हो। श्रद्धा के करुणापूर्ण व्यवहारों से मोहयुक्त पशु अपने को सनाथ समझता था और उसके कारण उसमें जीवन आ गया था। करुणा की भावना से प्रेरित होकर श्रद्धा अपने कोमल कर पशु के शरीर पर चपलता से फेर रही थी, उसे सहला रही थी। पशु भी गर्दन उठाकर पूँछ हिला रहा था। मानो चाकर की भाँति चँवर डुला रहा हो।

११—कभी रोमाञ्चित होकर वह पशु उछल-उछल कर श्रद्धा के चारों ओर चक्कर काटने लगता था। ऐसा प्रतीत होता था कि वह श्रद्धा को अपने प्रेम-जाल में फँसा लेना चाहता है। कभी अतिथि के मुख पर भोली दृष्टि डालकर वह अपने हृदय का सञ्चित स्नेह नेत्रों से उस पर चढ़ा देता था।

१२--श्रद्धा भी स्नेहार्द्र होकर बड़े चाव से उसे पुचकारती थी। इस प्रकार उसकी ममता में हृदय का सदाशय मुखर हो जाता था। इस प्रकार दोनों थोड़ी देर में मनु के पास पहुँच कर सुदर, सरल, मधुर तथा मुग्धकारी खेल करने लगे।

माया—माया को शैवागमों में उपादान माना गया है। वह नित्य, एक और कल्याणमयी है। माया स्वभावतः मोहजनक होती है। अनेक शक्तियों से सम्पन्न माया पहले काल-तत्व की सृष्टि करती है, तदन्तर माया नियमन शक्ति-रूपा नियति की सृष्टि करती है आदि (देखिये नारदीय संहिता ३४०)। "एक माया"! का संकेत इसी मायाविभावनी शक्ति के कृत्यों की ओर है। माया ही असत् में सत् का प्रतिभास भर कर जीव को मोहित करती है। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" आदि मननीय! 'कामना, वासना, आशा, निराशा, माया का अन्तहीन जल है'। क्षुधा, तृषा, सुख-दुःख, स्नेह और प्रीति-प्यार, छल-प्रवञ्चना, हास्यरोदन—समस्त मनोवृत्तियाँ माया के प्रभाव से उत्पन्न माया के विलास हैं"। इसी माया के विलास का एक चित्र सामने है।

पशु मोह—शैव महातंत्रों में भोग, मोक्ष, क्रिया, चर्याचार पाद (साधन) कहे गये हैं और तीन पदार्थ पति, पशु एवं पाश माने गये हैं। जब तक स्वरूप के अज्ञान को सूचित करने वाले मोह आदि से संबंध बना रहता है तब तक इन जीवों की पशु संज्ञा मानी जाती है। पशु तीन प्रकार के होते हैं—विज्ञानाकल (मल-रूप पाश में बँधा), प्रलयाकल (मल-कर्म में बँधा), सकल (मल-माया-कर्म)। पाश

प्रकार के (१) मलज (२) कर्मज (३) माया जन्य (४) तिरोधान शक्तिज (५) विन्दुज। इस प्रकार 'पशु' के लिये 'मोह' की उपमा कितनी सार्थक है।

("देखते थे" में "मलज-पाश", 'अग्निशाला' में 'कर्मज पाश' विद्यमान है। आगे के वर्णन में 'मायाजन्यपाश' की कृति है। शरीर को आत्मा मानकर शरीर के पोषण में लगना 'तिरोधान शक्तिज' पाश है, उसका भी वर्णन आगे आवेगा। 'इच्छा' में चिद्रूपा शक्ति तथा विन्दुज पाश आदि का विश्लेषणात्मक अध्ययन कीजिये।)

करुणा—श्रद्धा का सात्विक गुण है।

दृष्टिमय—आँख के अर्थ में भ्रमवश प्रयुक्त !

शवलित—चितकबरा-चाव (मोह तममय है, काला है, स्नेह सात्विक है, उजला है। दोनों के मेल से चाव चितकबरा बनता है।

१३-ईर्ष्या—"ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमा प्रथमस्या उतापराम् अग्निं हृदय्यं शोकं सं ते निर्वापयामसि यथा भूमिर्मृतान्मृत मनस्तरा। यथेत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः। अदो यत्ते हृदि श्रित मनस्कं पतयिष्णुकम् ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरुष्माणं दृतेरिव" (अ० ६–१८) में बताया गया है कि दूसरे की उन्नति और समृद्धि को देखकर जो जलन पैदा होती है, वह ईर्ष्या का मूल है। फल शोक रूपी अग्नि है, जो हृदय को सदा जलाया करती है। ईर्ष्यालु के मन की भूमि से उपमा देकर फिर उसे भूमि से भी निकृष्टतर बताया गया है। उसके पश्चात् मरने वाले से समता दिखाई है। ईर्ष्या के भाव आपाततः सुखकारी प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में ईर्ष्या के कारण पतन ही होता है। अतः ईर्ष्या के भाव मन से निकाल देना चाहिये। अथर्ववेद ७।४४।२ में विचार को ही ईर्ष्या की एक मात्र औषधि बताया है। "अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्" में बताया गया है कि ईर्ष्या आग है, साधारण आग नहीं, यह सब कुछ भस्म करनेवाला दावानल है।

"जैसे राख में दबी चिनगारी पवन द्वारा राख के उड़ाये जाने पर सुदीप्त होकर जलने लगती है, उसी प्रकार मनु के मन में विराग-विभूति से छिपी जलन ईर्ष्या के पवन द्वारा विभूति के हट जाने से प्रज्वलित हो गई। जैसे कोई कड़ुवी वस्तु को गले से उतार हिचकी लेने लगता है, मरणासन्न स्थिति को प्राप्त होता है, वही दशा मनु की हो गई है। न जाने ईर्ष्या—वेदनामय ईर्ष्या—जलनमय ईर्ष्या—क्यों कैसे उत्पन्न होती है।"

विराग-विभूति :—"सुखानुशयी रागः" से विरक्त होकर 'विराग' प्राप्त होता है। "तद्वैराग्यादपि दोष बीजक्षये कैवल्यम्" आदि (योग० विभूतिपाद ३) द्रष्टव्य।

उपर्युक्त चार पंक्तियों को टीकाकारों ने मनु के विचार का अंग माना है जो भ्रांतिपूर्ण है। मेरी राय में यह वर्णन का अंग तथा कवि का कथन है।

१४—मनु, ईर्ष्यालु मनु, सोचने लगे, पशु और श्रद्धा में इतना सरल सुन्दर स्नेह है ! पशु और श्रद्धा दोनों मेरे ही अन्न से मेरे घर पल रहे हैं और मेरे ही प्रति उनके मन में उपेक्षा के ये भाव ! ये सब मुझसे तो अपना भाग ले लेते हैं किन्तु मेरे लिये बदले में केवल अपनी विराग भावना (उपेक्षा) देते हैं ?

१५—अरी कृतघ्नते, तू कितनी नीच है ! जैसे शिला पर काई जम जाने पर उस पर चलने वाला प्राणी गिर कर अङ्ग-भंग कर लेता है, उसी प्रकार कृतघ्नता काई है, जिस पर बिछल कर प्रेमी-हृदय टूक टूक हो जाता है। ओ नीच कृतघ्नते, तेरा यह कुटिल व्यापार कब तक चलेगा ? कितने दुःख की बात है कि ये हमारे राज्याधिकृत-स्वत्व का अपहरण करके महान अपराध भी करते हैं और मुझी से बाधारहित सुख की कामना भी करते हैं ?

कृतघ्नते :—Blow Blow thou winter wind
Thou art not so unkind
As man's ingratitude ;
Most friendship is feigning : most loving mere folly.

फेंक देते :—तिरस्कार, उपेक्षा का द्योतक।

राजस्व-अपहरण :—महान्-पातक है (मनुस्मृति)।

दस्यु :—वेदों में इन्द्र से दस्युओं की लड़ाई का वर्णन मिलता है। मनु की मनन-शैली में 'दस्यु' की उपमा पुरानी अनुभूत बातों के आधार पर कितनी सुन्दर बन पड़ी है।

१६—ईर्ष्याभाव के प्रबुद्ध होने से मनु में अहंमन्यता, अहंकार अथवा क्षत-आत्म-सम्मान की भावना जग उठी। उन्होंने स्थिर किया कि श्रद्धा का इस प्रकार पशु के प्रति स्नेह प्रदर्शन निश्चय ही उनके प्रति उपेक्षापूर्ण है। उन्हें प्रेम की अनन्यता, अधिकार के एकाधिपत्य में कमी का अनुभव हुआ। उनके दिल पर चोट लगी, लगा जैसे कलेजा दो टूक हो जावेगा। मननगति के तारतम्य ने उनके अहं को और उद्दीप्त कर दिया और वह सोचने लगे :—

"विश्व में जो भी भोग्य सरल सुन्दर वस्तुएँ उपलब्ध अथवा प्राप्य हैं वे सब मेरी हैं। मुझे उनसे कुछ न कुछ पाना है। मैं नित्य जलते रहते बड़वानल की भाँति हूँ। जैसे समुद्र की सभी लहरें समुद्र की बाड़व ज्वाला को शांत करने में लगी रहती हैं, उसी प्रकार संसार के सभी प्राणी मेरी इच्छा की पूर्ति करें।"

ऊपर बताया गया है कि काम का अनियंत्रित रूप "ओघ से भी संतुष्ट" नहीं होता। 'ईर्ष्या' का मनोविकार कितना उद्वेगकारी होता है !

"अहं राष्ट्री षड्गमनी वसूनां" आदि ऋक्० १०-१२५-३ मननीय। विशुद्ध सत्व-

गुण के परिणाम-रूप अन्तःकरण की वृत्ति, अभिमान स्वरूप "अहं" कहाती है। उसी का विकृत रूप आज मनु के मन में क्रीड़ा कर रहा है।

१७-१८--[गीता २-६२ में "कामात्क्रोधोऽभिजायते" की बात आती है। हृदय के प्रिय और अनुकूल भावों पर आघात होने से क्रोध का प्रादुर्भाव होता है। क्रोध स्थायी भाव है। "पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्टकः" के अनुसार "ईर्ष्या" क्रोध से ही उत्पन्न होती है।

[दृप्त—अहंकार के मद से उन्मादित]।

जैसे शिशु को अपनी भूलों का ज्ञान नहीं होता और वह भूल करता हुआ मनमस्त क्रीड़ा करता रहता है और उसे तनिक भी ज्ञान नहीं होता कि उसके भूल भरे व्यवहारों से कौन तुष्ट हो रहा है, कौन असंतुष्ट, ठीक उसी प्रकार का मासूम मन अपने काया कलेवर में छिपाये इससे अनजान कि मनु को उसके पशु के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहारों से आघात पहुँचा, उदार मन श्रद्धा क्रीड़ा करती हुई मनु के पास आ गई। मनु के समीप पहुँचकर स्वभावसिद्ध भोलेपन से श्रद्धा मनु से पूछने लगी, अभी तुम ध्यान में ही मग्न हो! किंतु आज तो तुम्हारा कुछ और ही रंग है। (ईर्ष्या से विवर्णता उत्पन्न होती है) ऐसा प्रतीत होता है तुम्हारा मन कहीं है, आँख कहीं है और कान कहां है। तुम एकाग्रचित्त नहीं देख पड़ रहे हो। [कि मुसीबत में जान है बिस्मिल, दिल कहीं है मेरा दिमाग़ कहीं]।

[प्रेम के साम्राज्य में विचित्र घटनाएँ आये दिन घटित होती रहती हैं। 'हश्र में भी जाके दामन छोड़ ही देना पड़ा। देख कर इतना कि मुँह उतरा हुआ कातिल का है' आदि]। [द्वेष के धात्वर्थ पर विचार कीजिये]।

जैसे बीन की मधुर ध्वनि सुनकर क्रोधोन्मत्त सर्प का अहंकार से उठा फण झुक जाता है, उसी प्रकार श्रद्धा की संगीतमयी मधुर वाणी से मनु की चित्त वृत्ति नयशील हो गई। उनका अहंकार नष्ट हो गया। श्रद्धा अपने कमनीय सुन्दर कमलवत् हाथों से मनु को सहलाने लगी। इस भाँति मनु के उद्विग्न मन को रूप-सुषमा से शान्ति मिली।

१९—फिर मनु शान्त भाव से बोले, 'अतिथि अब तक तुम कहाँ थे? किस अनजान दिशा में घूम रहे थे? मैं (तुम्हारा साथी) आज मन में भविष्य में मिलने वाले किसी सुख की कल्पना कर रहा था। सोचता था कि क्या करूँ जिससे मेरा भविष्य सुखमय हो। यों तो मुझे तुमसे सर्वदा गंभीर-स्नेह जैसी वस्तु मिल रही है किन्तु न जाने क्यों आज मेरा मन उसकी प्राप्ति के लिए अधिक विह्वल हो गया है?

गंभीर— जिसमें सरल चापल्य, तरलगति का अभाव हो। मनु इसी गंभीर वातावरण को हटाकर स्नेह की तरल गति की ओर संकेत कर रहे हैं।

२०—मैं जानना चाहता हूँ कि अपनी सौन्दर्य सुषमा से मुझे आकृष्ट करने वाले

तुम कौन हो। क्या कारण है कि मैं तुम्हें प्राप्त करने के लोभ में ज्यों-ज्यों तुम्हारी ओर बढ़ता हूँ त्यों-त्यों तुम पीछे हटती जा रही हो। धन्य है तुम्हारी रूप-माधुरी! चन्द्रमा से निर्मल प्रभा का निर्झर प्रवाहित हो रहा है। तुम्हारा रूप तेजपूर्ण है, जिससे आँखें तुम्हें पूर्णतया देखने में असमर्थ हैं। तुम्हारे बदन पर आँख जमाना चाहता हूँ, किंतु तेज के कारण आँखें टिक नहीं पातीं। तुम्हारा रूप क्षण-क्षण नवीन होता है, इसके कारण एक बार देखने से दूसरी बार पहचानना नहीं होता। मुझमें तुम्हें पहचान पाने की क्षमता ही नहीं रह गई है!

(क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। 'ज्यो ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई' आदि मननीय)

२१—["तृणानीव जगत्येवमिति दैत्याः सुरा इति। इति नागा इति नगा इत्याकल्पं कृता स्थितिः" आदि नियति-नृत्य का प्रकरण योग वाशिष्ठ में पठनीय] सांख्यकारिका 'पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमत्तिकप्रसंगेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगाद् नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्' में सूक्ष्म शरीर की नटवत् प्रवृत्ति का वर्णन है। पुरुष के प्रयोजन के कारण यह सूक्ष्म शरीर निमित्त और नैमित्तिक में आसक्ति से प्रकृति के सामर्थ्य सम्बन्ध से नट की तरह ठीक ठीक व्यवहार करता है। कभी देवता, कभी मनुष्य, कभी पशु, कभी वनस्पति आदि रूप इसी नट प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होते हैं। इसी निमित्त (धर्म अधर्म आदि) नैमित्तिक (शरीर) से संलग्न है प्रेम। उस प्रेम से ही सूक्ष्म शरीर एक रूप को त्यागते ही दूसरा धारण करता है। और जहाँ जाता है वैसा रूप धरने की सामग्री उसको प्रकृति से मिल जाती है।)

हमारा कवि इसी दार्शनिक पृष्ठिभूमि में डोलते हुए मनु को पाता है।

मनु श्रद्धा से पूछते हैं—"छविमयी, तुम कौन कोमल रहस्य हो? तुम्हारे अस्तित्व के पीछे कौन ऐसा रहस्य छिपा है, जिससे चित्त आर्द्र हो जाता है? लता तथा पादप में भी इसका आभास मिलता है। लता वीरुध से आलिंगनबद्ध होती है! इसी की छाया तुम्हारे अस्तित्व के पीछे भी है। पशु-पत्थर (चेतन तथा जड़) सभी में हास्य की वृत्ति व्याप्त है। सभी मुग्ध आलिंगन के इच्छुक हैं। आनन्द की उपलब्धि के लिए सभी नाचने की इच्छा से प्रेरित हैं। सभी एक-दूसरे से आलिंगन करना चाहते हैं। संग की लिप्सा सभी ठौर दिखाई देती है। सभी मिलनातुर हैं। ("रंगस्थं दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्तकी यथा नृत्यात्"—यही प्रकृति का रूप है। सांख्यकारिका ५९)।

२२–२४— प्रकृति में न जाने कब का एकत्र किया हुआ शान्ति समन्वित प्यार ढेर का ढेर बिखरा पड़ा है, जिस दिन संसार—जड़ जंगम—उधार लेकर ढोकर रखने में लगा है। संध्या समय क्षितिज पर लाल बादल छाये हुए हैं और उसकी शीतल छाया में सुन्दर लता नाच रही है। मैं इस दृश्य को चकित नेत्रों से देख रहा हूँ। और ऐसे में मन को मस्त करनेवाली वासन्ती निशा धीरता से पैर बढ़ाती हुई मंद गति से

चरण रखती हुई स्वाभाविक विलास के साथ उतर रही है। मेरे टूटे हृदय-मन्दिर का कोना कब से सुनसान पड़ा हुआ है जिसमें किसी भाव का आवास नहीं (जिसमें कोई भी आकर रहना नहीं चाहता) आज माया का स्थायी विश्राम-गृह बन गया है। मुझे सुख नींद-सी आ रही है। मेरे समस्त उज्ज्वल हँसी नाच रही है। मेरा मन अभाव पीड़ित रहा है किन्तु आज वह भावी सुख की कल्पना करके आशान्वित हो उठा है।

हे मेरे हृदय में विराजमान सौन्दर्य के मूर्ति-विग्रह, हे छविमयी, तुम कौन हो? क्या तुम मेरे मन में व्याप्त-वासना की साक्षात् छाया हो अथवा मेरी शक्ति हो? मेरे ओज बल वीर्य्य के लिये विश्रामस्थली हो? क्या तुम मेरी काल्पनिक सौन्दर्य-मूर्ति की साकार प्रतिमा हो? क्या मेरे मन को पूर्ण शांति तुम्हीं से मिलेगी।

२५—लगता है, तुम्हारा सौन्दर्य मेरी ओजस्विनी कामना की किरण से विमण्डित है। मैं तुम्हारा परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। क्या तुम वही हो जिसे मेरा हृदय बहुत दिनों से खोज रहा था? जिस प्रकार कुंद के पुष्प की भाँति तुम्हारी मन्द हँसी खुल कर चारों ओर सुषमा बिखेर रही है, उसी प्रकार मेरे हृदय का बन्द द्वार नहीं खुलता?

२६—[अतिथि—हिन्दू संस्कृति में अतिथि का बड़ा महत्व है। वह गृहस्थ से सत्कार पाने का अधिकारी है। (अथर्वेद ६–६–३–१) तथा मनु ४–२९ ।) अतिथि को आसन, शय्या, जल, फल आदि से सत्कृत होना चाहिये।] गृहस्थ जिसके घर अतिथि आता है उसे 'अतिथिपति' कहते हैं। श्रद्धा ने हँस कर कहा, मैं अतिथि हूँ, मेरा इतना ही परिचय पर्याप्त है, इससे अधिक परिचय की आवश्यकता नहीं। ["मैं अतिथि हूँ" में यह व्यञ्जना निहित है कि तुम मेरे पति हो। हँस कर उत्तर देने में यह व्यंजना और मुखर हो उठी है।] इसके पहले तो तुम मेरा पूर्ण परिचय पाने के लिये इतने उतावले न थे, उत्सुक न थे, व्यग्र न थे।

(विधु ग्रहों में सबसे तीव्रगामी है। यह समस्त वनस्पतियों का अधिदेवता और पोषक है। इसके रथ में मृग जुड़े हैं। यह अमृतरूप सुधाकर है। यह मन के अधिष्ठातृ-देव तथा विराट् पुरुष का मन है। इसकी उपासना से कफरोग की शान्ति, वीर्यरोग से निवृत्ति, तथा मन की एकाग्रता का सम्पादन होता है। चन्द्र-बिम्ब में संयम करने से भूमण्डल की समस्त घटनाओं का ज्ञान हो जाता है।)

[महर्षि अत्रि का ऊर्ध्वगामी रेत सोम में परिणत हुआ। ब्रह्माजी ने अंशभूत चन्द्रमा को उसमें स्थापित किया। इसे अनुसूया गर्भ में न रख सकीं। ब्रह्मा ने रथ पर बैठाया और शिव की कृपा से उन्हें चन्द्रलोक की प्राप्ति हुई। ज्योतिष के अनुसार चन्द्रमा वृष्टि के देवता हैं।]

['चन्द्रमा' उद्दीपन विभाव का अंग हैं। चाँद चाँदनी से शृंगार रस उद्दीप्त होता है। 'मर्चेन्ट आफ़ वेनिस' में शेक्सपियर ने चाँदनी रात में ही प्रेमालाप का चित्रण

किया है। कुमार सम्भव के आठवें सर्ग में भी चाँदनी का अवतरण हुआ है। 'मदालसा' में 'आश्विन राका शशि' का प्रसंग द्रष्टव्य। 'चैत मास की चाँदनी डारे किये अचेत' आदि प्रसिद्ध ही हैं।]

देखो मेघ-खण्ड पर सवार, मुख पर सरल हँसी सँजोये, चन्द्रमा चला आ रहा है। वह हमें ही बुलावा देने को आ रहा है। वह हमें 'स्वप्न-शासन' तथा 'साधना के राज्य' में ले जाने के लिए आहूत करने आ रहा है।

२७—सन्ध्या की धूमिल कालिमा दूर होने लगी और चाँद का प्रकाश फैलने लगा। रहस्यपूर्ण सूने सीमाहीन आकाश में नक्षत्र उदय होने लगे।

आओ हम इस सन्ध्या की सुन्दर अमृतपूर्ण मुस्क्यान को देखकर भावी काल्पनिक दुःखों को भूल जावें।

२८—देखो पर्वत की ऊँची चोटी आकाश के चुम्बन में कितनी अधीरता से निरत है। सूर्य्य की अन्तिम किरणें अस्ताचल को लौटने के समय किस प्रकार शिखर पर लोट रही हैं!

प्रकृति को उद्देश्य भोग तथा मोक्ष दोनों है। "पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः" (सांख्यकारिका २१) आदि मननीय। जब तक पुरुष प्रकृति के ही दृश्य को देखता है, तब तक यह उसे भोग देती है। यही प्रकृति का 'स्वप्नशासन' अथवा 'माया-राज्य' है। जब वह अपने स्वरूप को देखता है, तब वह उसे मोक्ष देती है, यही 'साधना का राज' है। प्रकृति पुरुष के संयोग से ही सृष्टि-क्रम का विकास होता है। सृष्टि के विकास में ही भोग-मोक्ष दोनों निहित हैं। श्रद्धा इसी 'संयोग' की ओर सङ्केत करती हुई मनु से समागम अथवा संगमन का प्रस्ताव करती है।

"चलो हम दोनो आज इस चाँदनी में उस लोक की सैर करें जहाँ प्रकृति का मायाराज्य है और जहाँ साधना का प्रभुत्व है। आओ हम दोनों मिलें, जिससे प्रकृति के दोनों उद्देश्य पूरे हों। तुम्हें भोग भी मिले और मोक्ष भी।"

[शचीन्द्र सान्याल ने लिखा है, "मानव सभ्यता-रूप कमल-दल के खिलने में नारी का जो मोहन स्पर्श काम करता है यह भी सदा रहस्यावृत हो रहा है। मानव ने अपनी भावना-कामना की रश्मि से ही नारी को आलोकित किया है। परन्तु वह भूल जाता है कि उसकी भाव-भगी, उसकी अवलोकन शैली, उसकी आँखों की ज्योति एवं उसकी विचार-धारा नारी के कोमल अनुराग से रंजित होकर ही अपने स्वरूप को प्राप्त होती है।...... विकासोन्मुख मानव सभ्यता की प्रथम अभिव्यक्ति जननी जाति की स्नेह माया से सिंचित होने से ही होती है।......नारी में रक्षणशीलता होती है—नारी द्वारा ही प्राचीन संस्कार भविष्य में उत्तराधिकारियों के पास पहुँचता है।"]

सृष्टि—ऊपर संकेत किया गया है कि 'संयोग' ही सर्ग का हेतु है। मनु और श्रद्धा ने सृष्टि-पथ पर पैर बढ़ाया, अतएव 'सृष्टि' का प्रसन्न होना स्वाभाविक है।

अनुराग—"तदनन्तर कला दृढ़ वज्रलेप के सदृश राग को उत्पन्न करती है जिससे पुरुष में भोग्य वस्तु के लिये क्रिया प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसीलिये इसका नाम राग है। 'सुखानुशयी रागः' का उल्लेख पहले हो चुका है। कामासक्त होने पर आँखें लाल हो जाती हैं। राग का लाल रंग है। ["कामासक्त नयन सी द्योतित थी जिस की अरुणाई" (समुद्र मंथन)]

पराग—उद्दीपन का अंग है:—

"क्यारिन में मह-मह महँकि लहि अलिगन-अनुराग
बन-बागन बिहरत रहत सरस-प्रसून पराग" (रस कलस १६८)

रंजित चन्द्रिका—कुमारसंभव में चाँद के प्रियङ्गु के फल के समान लाल होने की बात आई है। (८६१)।

श्रद्धा ने संयोग का प्रस्ताव करके मनु का हाथ अपने हाथों में थाम लिया और हँसने लगी। दोनों ने स्नेह की सामग्री लेकर 'स्वप्नपथ' (रहस्यपूर्ण पथ) पर पैर बढ़ाया। सृष्टि प्रसन्न हो उठी। सारे वातावरण में उल्लास छा गया। दोनों की आँखों में अनुराग झलकने लगा। दोनों की आँखें कामासक्त होने के कारण दीप्तिमती होगईं। पुष्पों से पराग उड़ने लगा। दोनों के मन की कलिकाएँ विकसित हो उठीं

३०—**गह्वर**—"झाड़ी जंगल"। 'गुफा' अर्थ भ्रांतिमूलक। गुफा में चाँदनी का प्रवेश कैसे?

सुधा में स्नात—'चारु-चंद की चाँदनी बिलसी भूतल माँहि
सुधा-धार धोवति अहै कैधों बसुधा काँहि'

जागरण की रात—"आज जागेगा गगन में चाँद सारी रात" (देवेन्द्र तिवारी) सुहागरात। उत्सव मनाने मे प्रायः **जागरण** की विधि है। "उत्सवः जागरणः"।

माधवो—लता विशेष जो वसंत ऋतु में खिलती है। इसके फूल श्वेत होते हैं जो बहुत ही झीनी सुगंध बिखेरते हैं।

देवदारु, लता-भवन, झाड़ी, जंगल, सभी सुधाकर की पीयूषवर्षिणी चाँदनी में नहा रहे थे। सब सजीव आनन्दानिमग्न थे मानों जग कर कोई उत्सव मना रहे हों। माधवी लता की मदकर गंध आरही थी। मकरंद भार बोझिल मधुछकित पवन के झोंके आने लगे। जैसे वर्षा काल में जलपूर्ण घन-पटल घिरते हैं उसी प्रकार पवन में सुगंध उमड़ रही थी।

३१—ओस कण की शय्या पर रजनी की कांत छाया थक कर सो रही थी। उसी झुटमुट में जहाँ छाया मधुर कुतूहल उत्पन्न करती थी भावना बहकी-बहकी चलने लगी।

३२— मनु ने कहा, 'मैं तुम्हें लगातार देखता आ रहा हूँ, किन्तु तुम मेरी आँखों में इतनी छविमती इसके पूर्व कभी भी नहीं दिखाई पड़ी। आज तो ऐसा लग रहा है जैसे तुम छवि के भार से दबी जा रही हो।'

दबी छवि के भार—व्रीड़ा की अवस्था का वर्णन है।

स्पृहणीय—वांछनीय।

मेरा अतीत इतना हृदयग्राही था कि उस समय वर्षा की मस्त करने वाली घटाओं को देखकर प्रेम-वांछा पूरित मदिर गाने स्वरों में गुंजार करने लगते थे। आज ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे बातें मेरे विगत जीवन की नहीं वरन् पूर्वजन्म की हैं। आज मेरे मन में उसका संस्कार-मात्र है।

३३—उस अतीत जीवन के सुखानुभव से वंचित मैं अपने को सर्वथा चेतना-हीन तथा भावुकता से पूर्णतः रिक्त पा रहा हूँ। मेरा जीवन आज जड़वत् है, पशुवत् है। तुम्हारी व्रीडा तथा मंदस्मित में उसी अतीत के संकेत अंकित हैं। फिर विगत-जीवन को पाने का मधुर स्वप्न सामने है।

[उपर्युक्त पंक्तियों में "जन्मान्तरीय संबंध" के तत्व तो हैं ही, हमारे कवि ने 'सव्रीड़-सस्मित' से 'मध्या' का चित्र कितनी कुशलता से उपस्थित किया है।

'नार नवाइ, सकाइ रही, मुसकाइ रही, दृग मोरि लजाइ के']

मेरे मन में यही विचार सुदृढ़ हो रहा है कि 'मैं तुम्हारा हूँ, मुझे तुम्हारा होके रहना है, मुझे तुम्हारे सामने आत्मसमर्पण करना चाहिये। मेरी चेतना में यही विचार चक्कर काट रहा है।

परिधि:—सूर्य चन्द्रमा के चारों ओर नीहारिका का गोलाकार परिवेषण—परिधेर्युक्ति इवोष्णदीधितिः (रघुवंश ८-३०)। संस्कृत में परिधि पुल्लिङ्ग है। हमारे कवि ने इसी संस्कृत अर्थ में प्रयोग किया है इसी से 'का' सार्थक बनता है।

देहतत्व विज्ञान के मर्मज्ञ बताते हैं कि सुषुम्ना नाडी के अन्तर्गत एक और नाड़ी ऊपर को उठती है उसका नाम 'वज्रा' है। वज्रा नाड़ी के मुख प्रदेश में मूलाधार पद्म की कर्णिका में एक त्रिकोण यंत्र है, वह विद्युत के समान दीप्तिमान् है। वह सुकोमल विलास वैचित्र्यमय है। सुधासञ्चरण समीर प्रवाह के समान एक मनोहर शक्ति का स्थान है यह कमल केन्द्र। इस शक्ति का नाम है **कन्दर्प-समीर**। कन्दर्प-समीर **जीवात्मा को घेरकर प्रवाहित होता है**। यह गुणातीत पुण्य शक्ति है। इसका प्रभाव राजसिक क्षेत्र में कुत्सित काम है। कन्दर्प-प्रभा भास्कर रश्मि को भी विनिन्दित करती है, वह रक्त वर्ण है। इस मंत्र के मध्य में अधोमुख स्वयंभू लिंग है। वह गले हुए स्वर्ण के समान कोमल है उसकी किरणों में पूर्ण चन्द्रवत् वर्ण में नव-पल्लव की आभा है। स्वयंभूलिंग के उर्ध्वदेश में जगन्मोहिनी माया है।"

"चेतना का परिधि बनता धूम चक्राकार" में इसी 'कन्दर्प-समीर' का वर्णन है। हमारे कवि ने मूल सिद्धान्त के तत्वांशों से सजाकर रमणेच्छा का कितना मनोरम चित्र उपस्थित किया है। आगे वाली पंक्तियों में उपर्युक्त विवेचन की स्पष्ट छाप है।

३४—आज सारा वातावरण काममय है। चन्द्रमा की सुकुमार किरणें सिहरती मधु बरसाती पवन में डूब रही हैं और पवन भी मिलनानन्द से हर्ष-मद विह्वल रोमांच अनुभव कर रहा है और मधु के बोझ से मन्दगति से चल रहा है।

(कन्दर्प प्रभा कन्दर्प वायु पर पड़ रही है।)

("मनु के मन में सिहरन कम्पन है तथा कामसुख का भावोन्मेष है", इसका प्रकृति के व्यापारों से कितनी अभिव्यंजनाओं से पूर्ण वर्णन सामने है !)

मेरी इस अशान्त मनोदशा का क्या कारण है ? तुम मेरे पास हो, फिर तुम्हें प्राप्त करने की अपूर्ण इच्छा का अनुभव क्यों ? मैं एक बेसुधी अनुभव कर रहा हूँ। मेरे घ्राण ने जाने कौन गंध-मदिरा पी ली है, जिससे प्राणों को नींद आ रही है।

[सुरभि पद्म तथा गंध दोनों को कहते हैं।]

'काम-प्रश्न', 'मूर्छा', 'उद्वेग', 'प्रत्यक्षदर्शन' तथा 'वियोगानुभव' का सम्मिश्र चित्र'।]

३५—मुझे ऐसा व्यर्थ सन्देह क्यों हो रहा है कि तुम मुझसे रूठ गई हो। मान कर रही हो। (अतीत की प्रशंसा करके मध्यममान, गुरुमान तथा लघुमान सभी की स्थिति कवि उत्पन्न कर चुका है, कला की यही सफलता है)। और मेरा जी चाह रहा है कि मैं तुम्हें मनाऊँ, रिझाऊँ। किंतु न जाने क्यों मैं ऐसा करने में भ. समर्थ नहीं हो पा रहा हूं। मुझे तुम्हारे समीप जाने में एक असमथता-सी अनुभव हो रहा है। मैं नसों में रक्त के संचार के साथ एक वेदना (कामपीड़ा) अनुभव कर रहा हूँ। ['तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि' का उल्लेख हो चुका है]। [कामाग्निसंदीपन से यही दशा होती है !]। हृदय का स्पन्दन तीव्र-मन्द गति से हो रहा है। मेरा मन एक हल्के बोझ से उद्विग्न है। [निकालूँ किसके उर में हाय······अपने उर का भार]।

[कलाकार की लेखनी ने किस संयम से अकथ कहानी कही है ! सारा रीतिकालीन साहित्य भावाभिव्यक्ति का ऐसा संयमित वर्णन उपस्थित करने में असमर्थ है]

३६—(**रंगीन-ज्वाला परिधि**—कन्दर्प वायु का उल्लेख ऊपर हुआ है। वायु से ही अग्नि की उत्पत्ति है। कन्दर्प-वायु विकृत होकर कामाग्नि बनता है।)

मेरी चेतना कामवासना की मोहक अग्निल परिधि में घिरी हुई दिव्य-सुख का अनुभव करती आनन्दनिमग्न कुछ गुनगुन गा रही है। (अनाहत पद्म के प्रभावित होने से ही स्वर निकलते हैं !)। इस प्रकार मेरा रोम-रोम इस वेदनामय परिस्थिति में भी प्रसन्नतापूर्वक सुखानुराग में लिप्त है। जिस प्रकार अग्नि कीट अग्नि में रहकर न

जलन का अनुभव करता है, न उसके शरीर में छाले पड़ते हैं, उसी प्रकार मैं भी 'शीतलदाह' का अनुभव कर रहा हूँ।

३७—हे अपरिचित, तुम जगन्माया के मायावी कौतुक की साकार मूर्ति-सी प्रतीत हो रही हो। मैं जानना चाहता हूं कि तुम कौन हो, क्या हो ?

"वज्रा नाड़ी के अन्तर्मार्ग में बहने वाली ब्रह्म-नाड़ी है। महामाया अपना मुँह फैलाये ब्रह्मनाड़ी से प्रवाहित सुधाधार पान कर रही है। वह प्रज्वलित दीप्ति-राशि-स्वरूप है। नवीन तड़ित माला के सदृश उसकी कांति है। सर्पिणी के समान साढ़े तीन कुण्डली मारकर स्थित है। यह कुण्डलिनी है। रूप राग-रस आदि सभी इसी के कार्य हैं। वह आधार पद्मदल में निभृत रहकर मत्त मधुप की भाँति गुञ्जार कर रही है। वह समस्त प्राणियों को जीवन (प्राण) प्रदान कर रही है। त्रिगुणमयी प्रकृति कुण्ड-लिनी के अधीन होकर ही विश्व की अधीश्वरी हो रही है।]

प्राण सत्ता—'पञ्चवायव:' के अनुसार प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान पाँच वायु हैं। प्राण (उत्तम जीवन) देह के उपरिभाग में रहता है। ऊपर की इन्द्रियों का काम उसके आश्रित हैं। अपान निचले भाग में स्थित है। मध्यभाग में समान रहता है जो सब अङ्गों को रस आदि बाँटता है। व्यान स्थूल सूक्ष्म अतिसूक्ष्म नाड़ियों में घूमता हुआ रुधिर का सचार करता है। उदान जीवात्मा को शरीरान्त या लोकान्तर में ले जाता है। प्राणसत्ता का दूसरा नाम 'असु' है। ऐतरेयोपनिषद् ३-२ में "यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्प: क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति" की बात आती है, जिसमें सभी शक्तियों को ही एक सत्ता परमात्मा का विभिन्न नाम होना कहा गया है। इन्हीं शक्तियों में प्राण भी है। 'असु' प्रतिबिम्ब को भी कहते हैं।

["द्रष्टा दृशिमात्र: शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य:" के अनुसार चेतनमात्र द्रष्टा है, यह यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है तो भी बुद्धि के अनुसार अनुरूप देखने वाला है। द्रष्टा दृश्य का संयोग ही हेय का हेतु है। द्रष्टा के लिए दृश्य उपस्थित करना ही प्रकृति का कार्य है। चित्त को वस्तु के उपराग की अपेक्षा है। 'माया' का रूप समझने के लिए इस दार्शनिक तथ्य पर मनन आवश्यक]।

सुकुमार—"प्रकृते: सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति" (कारिका ६१) प्रकृति से बढ़कर कोई सुकुमार नहीं, लज्जालु नहीं।

हृदय—'हृदयेचित्त संवित' हृदय चित्त का स्थान है। मन, अहंकार, बुद्धि यही तीन अन्त:करण हैं। मन का कार्य संकल्प, अहंकार का अभिमान तथा बुद्धि का निश्चय है। यह इनके पृथक् पृथक् कार्य है। इनका संयुक्त कार्य प्राण-संचार है।

"स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या। सामान्यकरणवृत्ति प्राणाद्या

वायवः पञ्च" । (कारिका २६) । बाह्यकरण इन्द्रियाँ हैं । प्रत्यक्ष में चारों कार्य करते हैं । प्रत्यक्ष में तीन । तीन अंत:करणों में बुद्धि प्रधान है ।

"तुम्हारे रूप में महा मोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेव कार्येनियुङ्क्ते" का आभास है । जैसे माया द्वारा प्रेरित होने से निर्विकार आत्मा बुद्धि में आत्मबुद्धि कर लेता है अर्थात् जड़ को चेतन मान बैठता है (बुद्धिगत: परं पुरुषमाकारः । सांख्य सूत्र १३) जिसमे 'रंगस्य दर्शयित्वा' (कारिका ५६) की अवतारणा होती है, जिसमें प्रकृति कार्य करती है और जीव जीवन की तरङ्गिणी प्रवाहित होती है उसी प्रकार तुम्हारे रूप-सम्मोह ने मुझे अनुप्राणित कर दिया है । जैसे माया के प्रभाव से जीव सुखानुभव करता है, उसी प्रकार तुम्हारी समीपता (छाया) में मुझे आनन्द मिल रहा है और मन प्रगाढ़ निद्रा का अनुभव कर रहा है ।

(दृष्टादृश्य की अभेद प्रतीत हो भोग है)

(माया तत्व के जानने वाले माया के तीन रूप "योगमाया, जीवमाया और जगन्माया मानते हैं । माया ब्रह्म को ढक कर उसे एक से बहु बनाकर विश्व में परिणत करती है । यही माया का जादू है, इन्द्रजाल है । इन्द्रिय माया है, मन माया है, बुद्धिमाया की निरूपण शक्ति है, अहंकार माया का स्वर्ण सिंहासन है, चित्त माया का आलोक राज्य है, काम क्रोधादि माया के किंकर हैं") ।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'जगन्माया जीव माया' के वर्णन की स्पष्ट छाप है ।

३८ हास—"मुकुलों के अधर विहंसते" (आँसू)

मनु की इन उक्तियों को सुनकर श्रद्धा मन्द-मन्द मुसका पड़ी, ऐसा जैसे नीलाकाश में मधुऋतु की रश्मियाँ छा गईं अथवा प्रशांत सागर में हल्की लहर उठी अथवा मलयानिल का हल्का झोंका आ गया । अर्धविकसित कली के चिटखने की क्षीण ध्वनि में श्रद्धा मनु से मधुर संभाषण करने लगी और मनु अनुरागपूर्ण उसे सुनने लगे ।

[मुकुल : प्राण का भी नाम है । इस में यह व्यञ्जना निहित है कि श्रद्धा के संभाषण में प्राणों के अव्यक्त स्वर भी सम्मिलित थे । 'अव्यक्त' प्रकृति का प्रथम रूप भी है !] ।

३६—सखे —"सखे सप्तपदाभवं सख्यं ते गमेयम् । सख्यं ते मा योषा: सख्यं मायोष्ठा" का उल्लेख पहले हुआ है ।

अधीर—(धीरता पुरुष का स्वाभाविक गुण है । मनु कामवासना से पीड़ित अधीर हो उठे हैं) ।

उच्छ्वासमय संवाद—स्वरभंग, कंप आदि अनुभाव ।

सखे ! भावोच्छ्वास की तरंगाकुल स्वर लहरी में तुमने मधु विकंपित स्वर में जो कुछ कहा उससे पता चलता है कि तुम्हारा मन अधीर है, अतृप्त है, तृप्ति चाहता है, इसीसे तुम्हारी मनोदशा उन्माद की अवस्था को पहुँच गई है और तुम्हारे इस उन्माद का

कारण केवल अभाव का दुःख है, क्षोभ है। [वियोगावस्था में संयोगोत्सुक हो बुद्धि-विपर्यय पूर्वक वृथा व्यापार करने, जड़ चेतन विवेक रहित होने और व्यर्थ हँसने रोने को 'उन्माद' कहते हैं। 'क्षोभ' उद्वेग का दूसरा नाम है]। सखे ! शांत हो जाओ, कुछ कहने पूछने की आवश्यकता नहीं। देखो आकाश में कौन सोलहो कलाओं की पूर्णिमा के निर्मल पूर्णेन्दु का रूप धारण किये चुपचाप बैठा है।

४०—तुम देखते नहीं हो कि प्रकृति का नीला परिधान उसके वैभव की मत्तता के कारण ढीला होकर अस्त-व्यस्त होगया है और उसमें ये तारे धान के मंगलपूर्ण लावा के समान बिखरे हुए हैं। रजनी के रक्त कमल के समान चरणों में पुजापा में अर्पित तारों के फूल की ढेर की ढेर बिखरी पड़ी है। [कौन ? के प्रश्न में सङ्केत के प्राण डोल रहे हैं। श्रद्धा ने मनु को बताया कि तुम्हारे मनःव्योम में जिस मयङ्क की चाँदनी है, आज वह स्वयं विकल है। वासना से उसके नीले वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये हैं। उसके अंग अधखुले हैं, आदि। अपनी वर्तमान दशा का कितनी व्यञ्जनाओं से पूर्ण परिचय श्रद्धा दे रही है !]।

स्तब्ध—में 'स्तंभ' नामी अनुभाव खेल रहा है।

* मंगल खील—'लाजा होम' में धान के लावा का प्रयोग होता है।

४१—मनु ज्यों-ज्यों अनंत आकाश में प्रगाढ़ता से फैलने वाली यामिनी की रूप-प्रभा को देखने लगे, त्यों-त्यों उन्हें प्राणों को मत्त करने वाली ज्योति की अनंत स्निग्ध कणिकाएँ अविरल बरसती दिखाई पड़ीं। ऐसे वातावरण में मिलन , संयोग का श्रीमंत (शुभ संगीत प्रारंभ होगया। (दो हृदयों के तार एक स्वर में बोलने लगे)

संगीत—स्वरों के मेल ; विवाह के समय संगीत होता ही है। संगीत का ज्ञान स्त्री को आवश्यक (वात्स्यायन काम सूत्र)।

('नवोढा वधू विस्त्रम्भण क्रिया' जिसका उल्लेख वात्स्यायन काम सूत्र में मिलता है संपन्न हो चुका है मेरे कतिपय मित्र इस प्रसंग को अनुपयुक्त बताते हैं और उन्हें 'कामसूत्र' पढ़ना चाहिये। पुरुष को इस विषय में कितनी धीरता तथा सावधानी से काम लेना चाहिये। मनु अधीर नहीं किंतु' विस्त्रम्भण क्रिया में ऐसा मान होता है। इसी को 'मन में मन' मिलाना कहते हैं। संभोग में स्त्री को कोमल उपक्रमों से प्रवृत्त करना चाहिये। रात्रि का एकान्त वातावरण इनके लिये उपयुक्त माना गया है, आदि अनेक बातों पर मनन करना इस दृश्य की कलात्मकता को समझने में सहायक होगा]।

४२—काम प्राबल्य से विनीत मनु की दशा का कितना सुन्दर चित्रण चार पंक्तियों में हुआ है ! मनु उत्तेजित हो उठे, वासना के वेग से संयम खो बैठे। उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। उनका शरीर तमक उठा। उनकी छाती काँपने लगी। श्वास की गति तीव्र होगयी उनके मनमें आँधी तूफ़ान का आवेश छागया। वह धैर्य खो बैठे।

(भागवत में "मोहिनी तथा शिव" का प्रसंग तथा कुमार संभव में "पार्वती तथा शिव" का संयोग वर्णन द्रष्टव्य)।

४३—इस प्रकार काम वासना से पागल होकर मनु ने श्रद्धा का हाथ पकड़ लिया और उससे कहने लगे कि आज मुझे तुम्हारे रूप में कुछ और ही माधुरी दिखाई पड़ रही है (वासना की छाया में रूप निखर उठता है)। यह छवि माधुरी पहले से भिन्न है। लगता है जैसे तुम वही छवि हो, हाँ, हाँ, वही छवि हो (जिससे मेरा पूर्व परिचय था); किंतु मैं अब तक तुम्हें न पहचान सका। धूल के सागर में याद की नाव चक्कर काट रही थी, कारण कि उससे तट नहीं मिल रहा था। (आँसू में भी 'कूलकिनारा' की बात विस्मृति के संबंध में आई है) जन्मान्तरीय संबंध की ओर संकेत है।

४४—मेरी एक जन्म साथी थी, वह काम की पुत्री थी। उसका प्यारा नाम श्रद्धा था। उसे देख कर ही मेरे मन को सतत शान्ति मिलती थी। उसकी रूप माधुरी को बढ़ाने के लिये स्वयं फूल उसे अपने मकरंद का अर्घ चढ़ाते थे।

४५—हमारी मिलनेच्छा तृप्त नहीं हो पाई थी अतएव उसके ही लिये हम दोनों प्रलय में ही जीवित बच रहे। और संसार के इस सूनेपन में आ मिले। जिस प्रकार घने कुहासे को चीर कर ज्योत्स्ना (चाँदनी) निकल आती है, उसी प्रकार प्रलय निशा को पार कर वह श्रद्धा मेरे पास आ गई है। जैसे चाँद ज्योत्स्ना का स्वागत तारों का हार अर्पित करके करता है, उसी प्रकार मैं अपनी स्मृतियों के भावोन्मेष (प्रेम, विश्वास, आकांक्षा) लेकर तुम्हारा स्वागत करता हूँ।

(चाँद-चाँदनी में व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार हमारा तुम्हारा सम्बन्ध भी **अविच्छेद्य है**—वात्स्यायन काम सूत्र में 'बालकोपक्रम' नाम से कन्या प्राप्ति का वर्णन द्रष्टव्य—मनु श्रद्धा में ऐसा ही प्रेम सम्बन्ध है। 'लड़िकइयाँ की यारी छुटै नाहीं" **लोकोक्ति है**)।

४६—**कुटिल**—कुंचित: ७०-६ कुटिल अकल छुटि परत मुख (बिहारी)। कुंचित केश सुखकर होते हैं (बृहत्संहिता)। [जो ताबे जादेमिश्कीनश चे खूँ उल्फाद दरदिल हा—हाफिज)। उपर्युक्त पंक्तियों में आलंबन विभाव की झाँकी है।

काल—अपने शक्तियों से सम्पन्न माया पहले 'कालतत्त्व' की सृष्टि करती है। "कौन हो तुम विश्व माया कुहक-सी साकार" में श्रद्धा को 'माया' 'जगन्माया' कहा है। "माया को उपादान माना गया है। वह नित्य, एक और कल्याणमयी है, उसका आदि है न अन्त'। वह माया अपनी शक्ति द्वारा मनुष्यों और लोकों की उत्पत्ति करती है। माया अपने कर्मों द्वारा स्वभावतः मोहजनक होती है। **उससे भिन्न परामाया है जो सूक्ष्म एवं व्यापक है**। विद्या के स्वामी शिव भगवान् शिव जीव के कर्मों को देखकर अपनी शक्तियों से माया को क्षोभ में डालते और जीवों के भोग के लिये माया के द्वारा

ही शरीर एवं इन्द्रियों की सृष्टि करते हैं। अनेक शक्तियों से सम्पन्न माया पहले कालतत्व की सृष्टि करती है।" संक्षिप्त नारद पुराण ३४१)

वही श्रद्धा—काम-बाला—नीहार पार कर ज्योत्स्ना-सी निकल आई। उसके कुटिल (कुंचित) केश-पाश ही काल-माया-जाल की सृष्टि होती है। भूत भाविष्यत् वर्तमान जगत् का संकलन तथा लय 'काल' द्वारा ही होता है। काल का आयुध पाश है। जैसे काल-माया-जाल में फँस कर जीव भ्रमता रहता है—जन्मजन्मान्तर की परिधि से भ्रमता रहता है, उसी प्रकार मन उसके केशपाशों में उलझ कर उसी में उलझा रहता है, मुक्ति का रास्ता नहीं निकाल पाता। वही श्रद्धा अपनी आँखों की कालिमा से अन्धकार युक्त रजनी की सृष्टि करती है। जिस प्रकार अंधकार में वस्तु का तिरोभाव हो जाता है, उसी प्रकार श्रद्धा की आँखों की सामयिक कालिमा से मोह की सृष्टि होती है, ज्ञान का तिरोभाव होता है। जैसे नींद आने पर चेतना सो जाती है, जीव संज्ञाहीन हो जाता है, उसी प्रकार श्रद्धा की दृष्टि पड़ने पर सम्मोहन की सृष्टि होती है, जो मानव को चेतना हीन बनाती है। जैसे नींद रहस्यमय तमपूर्ण वातावरण की सृष्टि करती है, उसी प्रकार श्रद्धा की दृष्टि मोह-रहस्यपूर्ण मोह, तम पूर्ण मोह की सृष्टि करती है, जो दुर्भेद्य है जिसका रहस्य समझना, जिसको पार करना कठिन है। जैसे स्वप्न का संसार क्षणिक तथा सुख-पूर्ण दुःखपूर्ण होता है (बृहद्०-३.४-३-१०) वैसे ही श्रद्धा की हँसी चंचल अस्थायी है, जो प्राणी के मन में संकल्प-विकल्प, आशा-निराशा अंकुरित करती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'सांग-रूपक' की झाँकी भी है।

[मनु "श्रद्धा" की स्तुति, प्रशंसा कर रहे हैं। इसी प्रकार स्त्री को रति के लिये तत्पर करना चाहिए। "**अनुकूल पति**" की यही विशेषता है (रस कलस १७४)]। 'स्वप्न' की मीमांसा के लिए "वेदान्त दर्शन" अध्याय ३ देखिये।

४७—पूर्व पक्तियों में नारी को 'रजनी' रूप कहा है। इन पंक्तियों में मनु अपने को 'सूर्य' रूप बताते हैं। वैदिक साहित्य में पुरुष का यही रूप वर्णित है। नारी मूर्ति अत्यन्त रम्य है। मन उसमें रमण करता है। नारी रमणी है। संसार की निखिल सुकुमारता को सजाकर ही स्रष्टा ने सुन्दर नारी रूप की रचना की है। संसार की सारी सुकुमार वस्तुओं मे उसे अविचल स्थान प्राप्त है। अन्य सुकुमारताओं में चचंलता है, निर्बलता है, किन्तु नारी सुकुमार होते हुए भी 'दृढ़' है। वह पतिप्रीता होती है। उसकी निष्ठा अचल होती है। नारी को ही केन्द्र बनाकर पुरुष उत्साहपूर्वक जीवन की अनेक साधनाओं में रत होता है। परलोक साधना भी इसी के अन्तर्गत है। अथवा यों कहिये समस्त साधना का चरमोत्कर्ष नारी रूप में केन्द्रित है।

मैं सूर्य के समान दिन भर परिश्रम करके थक गया हूँ और जैसे शिशु माता की गोद में सुख पाता है, सूर्य रात्रि की गोद में विश्राम करता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारी गोद—सुख गोद—के लिये भटक रहा हूँ।

शिशु—(शिशुर्भूत्वा महादेवः क्रीडार्थं वृषभध्वजः । उत्सङ्गतलसंसुप्तो बभूव भगवान् भवः । जायेति तत्पदं ख्यातुं तस्य सत्यार्थमीश्वरः— मननीय । हिन्दू विवाह का 'जायापाद' इस प्रसग में समाविष्ट है) ।

दृढ़—Frailty thy name is woman' के विपरीत हमारा कवि नारी को सुकुमार तत्वों से निर्मित दृढ़ता का प्रतीक मानता है । नारी में एकनिष्ठता, श्रद्धा की प्रचुरता होती ही है ।

साधना—'गृहस्थ-आश्रम' का बडा महत्व है । बिना ऋषिऋण, देवऋण, पितृ-ऋण से मुक्त हुये जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त नहीं होता । **पितृऋण** से मुक्त होने के लिए पुत्रोत्पत्ति की आवश्यकता है । यज्ञों का अनुष्ठान भी बिना स्त्री के नहीं होता । देवऋण से भी त्राण पाने का मार्ग विवाह है, आदि बातें माननीय । "क्रियाणां खलु-धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्" । कुमार संभव १३)

४८-४६ कांत :—"तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या" (कुमार संभव ७-७४)

विजयिनी :—' अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः

क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ"—कुमार संभव (५-८६) ।

तुम पूर्णेन्दु की विश्रामदायिनी रात्रि की ज्योतिर्मती ज्योत्स्ना बाला के समान हो । जैसे थके को चाँदनी रात में आराम मिलता है, उसी प्रकार मुझे विश्राम देने में तुम समर्थ हो । मैं श्रांत क्लांत विजित हूँ, तुम विजयिनी हो तथा मधुरता-सी शांत हो । जैसे पगडंडी—पदाघातों से पीडित—पगडंडी—किसी शस्य श्यामला भूमि से मिलकर शांति पाती है उसी भाँति मैं दुनिया से ठुकराया हुआ हूँ । मेरा हृदय भी पगडंडी की भाँति शांति चाहता है । मैं तुम्हें आत्मसमर्पण करना चाहता हूँ । और इसी आत्मसमर्पण में मैं अपनी कामनाओं की तृप्ति निहित देख रहा हूं ।

हे संसार की शसिके, सुन्दर रमणी, तुम्हें अपनाने में ही जगत् की वस्तुओं का मूल्य आँका जा सकता है । आज तुम मेरे भाव–मेरे हृदय के इस दान को स्वीकार करो (अथर्वेद १४–२–६३, १४–१–३८) **नारी**–पाणिग्रहण के पश्चात् 'नारी' शब्द का प्रयोग हिन्दू विवाह में होता है ।

समर्पण—श्रद्धा पहले ही "समर्पण लो सेवा का सार" का प्रस्ताव कर चुकी है । आज मनु भी आत्मसमर्पण कर रहे हैं । यही दंपति की "एकरूपता" है ।

रानी :—यजुर्वेद में नारी को 'राणी' कहा है ।

५०—जाड़ों की रात में जैसे कुहरा रूपी लता ऊपर से झरते ओस बिन्दुओं के बोझ से आकाश रूपी वृक्ष पर नहीं चढ़ पाती, उसी प्रकार श्रद्धा अपनी ही सुकुमारता और लज्जा के भार से नत होकर पुरुष के क्रीड़ामय उपचार (शृंगारी चेष्टाओं) से दब

गई। खुलकर आलिंगन न कर पायी, पर वक्षस्थल से चिमटी रही! (कुमार संभव आठवां सर्ग द्रष्टव्य)।

५१-५३ **मूल मधु अनुभाव**—"अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः" भाव के सूचक लक्षणों को अनुभाव कहते हैं। केलि (रति) ही नारी का मधु अनुभाव है। 'मूल' शब्द के प्रयोग से आभ्यन्तरिक (मानसिक) अनुभाव का बोध होता है। मन संबंधी आमोद-प्रमोद का नाम मानसिक अनुभाव है। "मानस में मोद-सुधा हिलोरें लेति प्रीति गांठ जोरे लेति बोति मनि माल की"। 'गिर रहीं पलकें' आदि में कायिक अनुभाव वर्तमान है। 'गद्‌गद् बोल में' सात्विक अनुभाव (स्वरभंग) वर्तमान है। 'ललित कपोल' में 'वैवर्ण्य' अनुभाव (सात्विक) है। पुलक में 'रोमांच' नामी सात्विक अनुभाव।

मधुर—सब दशाओं मे रमणीय रहना 'माधुर्य' है।

लगा करने रास—में 'प्रगल्भता' है।

कान तक—"कान परसन लागे नयन नवेली के।"

उपर्युक्त पंक्तियों में 'मुग्धा' का चित्र है।

चिंता—हित की अप्राप्ति के कारण (संचारीभाव)।

व्रीड़ा—मानस संकोच के साथ कारण विशेष से लज्जा (संचारी भाव)।

(स्त्रीणां भूषा सलज्जता : बृहद्धर्म पुराण)

कूजन—मन्द शब्दोच्चरण। (देखिये कामसूत्र) मैथुन कर्माङ्ग है।

सोहाग रात के प्रथम-मिलन आलिङ्गन, चुंबन, प्रेमालाप की झाँकी "नर्ममय उपचार" में सजी है। नारी स्वभाव से लज्जालु होती है। श्रद्धा दब गई लाज के भार।

नारी की सृष्टि सूर्य की तीसरी किरण से मानी जाती है, क्योंकि नारी का स्वभाव (स्त्री का तत्त्व) इसी तीसरी किरण को खींचता है। सूर्य की तीसरी किरण में तमोगुण की प्रधानता होती है। इसी से नारी में विश्वास भावना की प्रबलता होती है। "अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः" (भर्तृहरि) इस संबंध में मननीय। विश्वास ही प्रीति है, भक्ति है। नारी के मन में श्रद्धा, विश्वास है। इसी का चरमोत्कर्ष प्रेम-साधना है। प्रेम ही नारीत्व का मूल मधुर अनुभाव है। प्रेम का ही दूसरा नाम रति है। मन के अनुकूल अर्थों में सुख-प्रसूत ज्ञान का नाम रति है।

५४—लज्जा, सुकुमारता तथा पुरुष के नर्ममय उपचार से सहमी-सकुची श्रद्धा के हृदय में सन्निहित स्वभावसिद्ध रति भावना आभ्यन्तर उत्सुकता को तीव्र बनाती हँस पड़ी। उसके मन को गुदगुदी लगी।

संकोच सम्मिश्रित लज्जा, चिंता और उल्लास से परिपूर्ण होकर हृदय का आनन्द (रसानुभूति) नाच उठा। [अनुभावादिभिरपुष्टाश्च न रसत्वं किन्तु भावत्वमेवेति भावः] अनुभाव आदि से जो पुष्ट नहीं होते, उनको रसत्व प्राप्त नहीं होता। आनन्द की सहज अभिव्यक्ति ही 'रस' है। (आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा

तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया)। मन में उदित सात्विक मनोभाव शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार में व्यक्त हो उठे।

५२—आँखें बन्द होने लगीं (स्तंभ में अंगों की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है); नाक की नोक झुक गई, भौंहें स्वभावतः कान से मिल गईं। लज्जा के कारण उसके गालों-कानों पर लाली दौड़ गई। कदंक पुष्प की भाँति रोमांच से रोमावलि खड़ी हो गई। स्वरभंग से हर्ष विकंपित बोली भारी हो गई।

५३—मन में रति का भाव उदय होने पर मनु से श्रद्धा पूछने लगी—

देव, आज मैं तुम्हारे चरणों में आत्म-समर्पण कर रही हूँ। किन्तु मेरा यह आत्म-समर्पण मेरे नारी-हृदय को सर्वदा के लिए क्यों एक स्थायी बंधन में बांध सकेगा? (गंठ बंधन का यही महत्व है "न छूटे काल से भी गाँठ कुछ ऐसी बँधा दे")। तुम मुझे अपना प्रेम दान दे रहे हो, क्या मैं प्रेम के इस दान को ग्रहण करने में समर्थ हूँगी? क्या मैं अपने इस उत्तरदायित्व को निभा सकूँगी? मैं अबला हूँ। क्या मैं प्रेम का दान, जिसका उपभोग करने में प्राण-विकल हो जाते हैं, ग्रहण कर सकूँगी।

ऋग्वेद ८-३-३७ पाणिग्रहण प्रतिज्ञा इस संबंध में मननीय :—

"जीवन के इस पुण्य पर्व में धरता हूँ मैं हाथ
रहो सुहाग भरी चिर दिन तुम सुभगे मेरे साथ
सुन्दरि तुम से मुझे मिलाया है देवों ने आज
तुमको देता हूँ मैं अपने गार्हपत्य का राज
तुम लक्ष्मी हो मैं तो अब तक था लक्ष्मी से हीन
सचमुच तुम लक्ष्मी हो मैं था बिना तुम्हारे दीन
सुभगे तुम हो ऋचा साम की मैं हूँ स्वर का लास
तुम हो सुजला सुफला धरणी मैं निर्मल आकाश
आओ बाँधें प्राण परस्पर ले विवाह का सूत
दें दुनिया को मिलित शक्ति से रचकर कई सपूत
हम दोनों सुन्दर छवि लेकर रहें प्रेम में मग्न
दोनों के मानस होंगे मंगल भावों में लग्न
देखें शत शरदों की शोभा जियें सुखी सौ वर्ष
सुनें कोकिलों के कलरव में सौ वसंत के हर्ष।"

या "नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत्
पतिव्रता प्रतिप्राण सा नारी धर्मभागिनी।" स्त्री पुरुष का प्रेम-दान लेकर 'पातिव्रत्यधर्म' पालन पर विवश होती है। पातिव्रत्य के पालन से ही नारी जीवन-साधना में सफल होती है।

—:✽✽:—

लज्जा

६—लज्जा

"स्त्री शब्द 'स्त्यै' धातु से बना है। यास्क के मत में 'स्त्यै' का अर्थ 'लज्जा' से सिकुड़ना है। दुर्गाचार्य की टीका के अनुसार 'लज्जार्थस्य लज्जन्तेऽपि हि ताः।' नारी की स्त्री संज्ञा उसके लज्जालु होने के कारण है। 'लज्जा' लज् धातु से बनती है। लज् का अर्थ छिपना छिपाना है। "व्रीड़ा है यह चंचल कितनी विभ्रम से घूँघट खींच रही। छिपने पर स्वयं मृदुल कर से क्यों मेरी आँखें मीच रही" की बात पहले आ चुकी है। ऋग्वेद १०-७१-४ में बताया गया है कि नारी को इस प्रकार रहना चाहिये कि दूसरा मनुष्य उसका रूप देखता हुआ भी न देख सके, वाणी सुनता हुआ भी न सुन सके। यही 'लज्जा' का चित्र है। लज्जा कुलललना का गुण है। "सलज्जा गणिका नष्टा लज्जाहीनाः कुलस्त्रियः" की बात तो लोक-विख्यात है।

"लज्जा (व्रीड़ा) संचारी भाव है। जो भाव रस के उपयोगी होकर जल की तरंग की भांति उसमें संचरण करते हैं, उनको संचारी भाव कहते हैं। कारण विशेष से जिस लज्जा का हृदय में संचार होता है उसे व्रीड़ा कहते हैं। इसके लक्षण मानस-संकोच, सिर का नीचा होना आदि है।" लज्जा स्त्री की शोभा है 'सुंदरता के सजन को है अति सुन्दर साज। है कुलीनता की तुला कुल ललना की लाज॥ संचारी भाव आविर्भूत होकर कार्य करके तिरोहित हो जाता है। रति (वासना) स्थायी भाव है। यह तिरोहित नहीं होती। यह स्वभावसिद्ध है। इसके विपरीत 'लज्जा' अस्थायी भाव है।

इसके पहले काम-वासना सर्गों की व्याख्या उपस्थित की जा चुकी है। मानव-हृदय काम-रति परायण है। काम, रति में पति-पत्नी संबंध है। "एक राका मयंक है तो दूसरी उसकी चाँदनी।" दोनों में अनन्य संबन्ध है। रति-काम का मिलन ही ब्रह्मसहोदर-रस-निष्पत्ति है।

भक्ति रहस्य के मर्मज्ञों का कहना है कि भावसाधना की प्रथम अवस्थाओं से ही दो आवरण विद्यमान रहते हैं, एक प्रमेय का, दूसरा प्रमाता का। सांसारिक प्रेम में यही आवरण 'लजा' और 'संकोच' बनते हैं।

सांख्य कारिका ६१ में बताया गया है कि प्रकृति से बढ़कर लजालु और कोई नहीं है जो कि 'मैं देखी गई हूँ' ऐसा जानकर फिर उस पुरुष के सामने नहीं आती।

हमारे सामने इसी 'लज्जा' का चित्र है। पूर्व सर्ग में उसका अवतरण हो चुका है, 'स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल'।

प्रसाद मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में समर्थ हैं। काम की दशों दशाओं का वर्णन किस चातुरी से पहले हुआ है उसकी ओर यथास्थान संकेत किया गया है। काम की दश दशाएँ हैं—(१) स्त्री के दर्शनान्तर प्रीति या आसक्ति (२) आसक्ति का मन में स्थायी स्थान कर लेना (३) संकल्पोत्पत्ति प्रेम भावना का सदैव चिंतन (४) निद्रानाश (५) तनुता (कृशता) (६) विषय व्यावृत्ति (चिंतन की अधिकता) (७) लज्जानाश (८) उन्माद (९) मूर्च्छा (१०) मरणासन्न अवस्था। अब हमारे सामने 'लज्जा' का मनोवैज्ञानिक चित्र है।

लज्जा सर्ग के पूर्व 'वासना सर्ग' पर मनन किया गया है। लज्जा वासना की प्रतिकृति है। प्रतिकृति शब्द का अर्थ जहाँ प्रतिमा छायाचित्र होता है, वहीं उनका अर्थ प्रतिषेध भी होता है। प्रतिकार, प्रतिषेध भेषज का भी नाम है।

लज्जावृत्ति का वर्णन करते हुए कवि ने कथोपकथन द्वारा वर्णन को नाटकीय कलेवर देने के लिए लज्जा का छाया रूप अवतरण कराया है। ऐसा करने से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में रस आ गया है। कवि यह कार्य स्वगत द्वारा भी सम्पन्न करा सकता था किन्तु रस-सृष्टि के लिए नूतन शैली अपनाना आवश्यक हुआ। लज्जा का छाया रूप अवतरण उसके **संचारी-भाव** होने का भी द्योतन करता है।

कला की दृष्टि से लज्जासर्ग बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। लज्जा क्यों? और क्या? का ही उत्तर इस सर्ग में है।

कलिका—लेमिनिस का कहना है—'a woman is a flower that breathes its perfume in the shade only' (नारी एक ऐसा पुष्प है जो छाया में ही अपनी सुगन्धि फैलाती है) तथा वर्ड्सवर्थ ने लिखा 'the flower of sweetest smell is shy and lovely' मधुरतम गंध वाला पुष्प लज्जालु और ललित है। 'कलिका' पुष्प होने की पूर्व अवस्था है। पूर्ण विकसित होने के पूर्व 'कलिका' की यही स्थिति होती है। स्त्री के पुष्पवती होने की अवस्था का भी सांकेतिक वर्णन है।

स्वर—प्रकाश, दीप्ति।

उन्माद—संचारीभाव है। मन की दशा विशेष। अनुराग की प्रगाढ़ता।

स्वप्न—भी संचारीभाव है। निद्रा में विषयानुभव—

निखरता-सा—अधिक प्रबल अथवा स्पष्ट होता-सा। स्वप्न में चेतना दुहरी होती ही है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

विस्मृति—स्वप्नावस्था में बाह्य-वृत्तियों के निरोध से विस्मृति होती ही है। 'बेसुधी' इसका दूसरा नाम है।

कुतूहल—रमणीय वस्तु के देखने के लिये चञ्चल हो उठना।

माधव—वसंत (प्रेमी की ओर भी संकेत)।

माया में लिपटी—माया का कार्य ही आवरण की सृष्टि है।

निशीथ—अर्धरात्रि।

उंगली धरे हुये—सोच-विचार की मुद्रा।

"रहि रहि उमगत रहत उर सकुच ताहि गहि लेति; तिय चाहति पिय सों मिलन लाज मिलन नहिं देति" की अवस्था विचित्र होती है। पूर्व सर्ग में "नर्ममय उपचार" का उल्लेख हुआ है। उस अवस्था पर पुनः मनन कीजिये!

'जिगर' मुरादाबादी ने लिखा, "जवानी आते ही उन पर कयामत की बहार आई। नजर बेगानावार उठी, हया मस्तानावार आई"। लज्जा का एक चित्र 'शैदा' की लेखनी से यों अवतरित हुआ है—

"नत मस्तक सहमी सकुची सी भू पर आँख गड़ाये
मूक वेदना-आँचल में सब मन के भाव छिपाये
भींगी पलकों में रोके अव्यक्त स्नेह का पानी
लिखती और मिटाती सी पद नख से मर्म कहानी
परछाईं से सिहर सिहर आहट से कँप-कँप जाती
अकस्मात् घबराई सी घूँघट में बदन छिपाती
नवयौवन के नव-विकास में रस मदिरा मदमाती
मंद-मंद सम्मोहक गति से लज्जा रानी आती"

लज्जा-बोझिल, सव्रीड़, सुकुमारता के भार दबी श्रद्धा का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन सामने है। श्रद्धा मनु का नर्ममय उपचार यौवन बसंत में पाकर अपने में एक परिवर्तन का अनुभव करने लगी। यों तो श्रद्धा लज्जा से प्रश्न पूछती दिखाई पड़ रही है किंतु व्यञ्जना बताती है कि लज्जा की छाया में प्रतिष्ठित श्रद्धा का ही कलामय चित्र कवि प्रस्तुत कर रहा है। छायावादी-साहित्य की यह एक ऐसी देन है जिसकी जितनी भी सराहना की जाय कम है। 'नायिकाभेद' के मर्मज्ञ अधिकतर बाह्य-वर्णन पर ही अपनी लेखनी चलाते थे, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण की ओर कम झुकते थे। हमारे कवि ने मनोविज्ञान के समावेश में इस दिशा में अपूर्व सफलता पाई है।

१—स्त्री के पुष्पवती होने की अवस्था तथा यौवन वसंत दोनों का बोध "कोमल किसलय के अंचल में नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी" के पढ़ते ही हो जाता है। लाज से सिकुड़ने की व्यञ्जना भी 'कलिका' के प्रयोग में मुखर हो गई है। पुष्प-सी विकसी नायिका लाज के कारण 'अली कली ही से बिंध्यो' का आकर्षण ग्रहण कर लेती है। लाज-लाली में डूबी आभा में श्रद्धा का अस्तित्व किसलय अंचल में नन्हीं कलिका के अतिरिक्त और क्या है? 'उत्प्रेक्षा' का सजीव चित्र सामने है।

(नये-नये कोंपल में मंजरी लसी है मंजु, न्यारी हो गई है छटा दिपत दिगन्त की)

उद्दीपन-विभाव, व्रीड़ा संचारीभाव, उत्प्रेक्षा अलंकार तथा मध्या नायिका का सम्मिश्र चित्र किस संहृति तथा अभिव्यञ्जना से अंकित हुआ है। लज्जा की अवस्था में कामिनी छुई-मुई की भाँति सिकुड़ जाती है जिससे शरीर की कांति मुरझा जाती है किंतु बदन-द्युति दमक उठती है। 'गोधूली के धूमिल पट में दीपक के स्वर में दिपती सी' में यही अवस्था वर्णित है। घूँघट की ओट में चमकते नेत्र की ओर भी संकेत है। इसी को गागर में सागर भरना कहते हैं।

२—स्वप्न मंजुल तथा भयप्रद दो प्रकार के होते हैं। मंजुल स्वप्नों में विस्मृति की मात्रा सुखानुभव के कारण अधिक होती है। मन में दबी हुई तीव्र आकांक्षाएँ या कामनाएँ स्वप्न सुखानुभव में सजग हो उठती है। उसी प्रकार लज्जा की छाया में सुन्दरता अधिक सम्मोहक हो जाती है। इसी प्रकार कमल-श्रेणी को छूती हुई लहरों की छाया में बुद्बुद् रम्य लगता है, आभा निखरता है।

३—"माया में लिपटी" में 'मोह' नामी संचारीभाव बोल रहा है। 'कुतूहल" अनुभाव है ["अली जहाँ है बज रही मुरली सब-रस-मूल। चलु चलु अवलोकन करैं सो कालिंदी कूल"]। 'मोह' और 'कुतूहल' (आनन्द) का मेल 'मद' नामी संचारीभाव की सृष्टि करता है। "अधरों पर उँगली धरे हुए" की चित्रात्मकता का क्या कहना! सूक्ष्म भाव मूर्त हो उठा है। सावधान करने की मुद्रा तथा संकोच की मुद्रा का भान होता है। "आँखों में पानी भरे हुये" स्नेहिल रसपूर्ण लजीले नयन की ओर संकेत है। 'आँखों का पानी गिरना' निर्लज्जता है ही।

४—"आलिंगन का जादू पढ़ती", लाज गहि लेत' का ही चित्र है किंतु यह भी व्यञ्जना है कि आलिंगन की इच्छा लज्जावती के मन में घर करती है, उसे वशीभूत बनाती है। इस प्रकार विश्लेषणात्मक दृष्टि डालने पर वर्णन की रम्यता मुखर हो उठती है।

१-४—लज्जा को अपनी ओर छाया के समान पैर बढ़ाते हुए देखकर श्रद्धा उससे पूछ बैठती है:—

"जैसे (क्षीणकाय) लतिका अपनी कोमल बांहों को फैलाये तरु की ओर आलिंगन के लिये बढ़ती है उसी प्रकार इस निर्जन अर्धरात्रि में मेरी ओर अंक भेंटने की मुद्रा में बाँहें फैलाए मुझे अपने अंक में भरने (मुझे आलिंगन के लिये विवश करने) के लिए आनेवाली तुम कौन हो? तुम्हारा परिचय क्या है? तुम्हारी प्रकृति-आकृति तुम्हारा आगमन बड़ा ही सुन्दर तथा मनोरम है। जैसे मृदुल-पल्लवों की झुरमुट में नन्हीं कलिका अपना अस्तित्व छिपाने की मुद्रा में स्त्री की भाँति मुँह पर अंचल डाले छिपने में दिप जाने का उपचार लिये सम्मोहक प्रतीत होती है उसी भांति तुम भी सुन्दर लग रही हो। जिस प्रकार सायंकाल की बढ़ती अंधेरी में दीपक की दीप्ति छिपती-प्रकटती सुन्दर लगती है उसी भाँति तुम्हारा अस्तित्व भी आकर्षक है। जैसे निद्रावस्था की बेसुधी में चलने वाले सुखपूर्ण सुन्दर सपनों की छाया में मन के अनुराग की

प्रगाढ़ता बढ़ जाती है और भोग विषय रम्य लगते हैं, उसी भाँति तुम भी मनोहर प्रतीत हो रही हो। जैसे कमल-श्रेणी को छूकर बहने वाली सुगन्धिपूर्ण लहरों की छाया में बुदबुद अपना विभव बिखेरते हुए रम्य लगता है उसी भाँति तुम भी रमणीय हो।

जैसे कलिका, दीपक-स्वर, उन्माद तथा बुल्ले के उपर्युक्त चित्र माया में लिपटे होते हैं, उनमें मोह की प्रधानता होती है, किन्तु उसमें अपने अस्तित्व का प्रकट करने में संकोच एवं एक सावधनता होती है, उसी भाँति तुम्हारा अस्तित्व भी मोह संयुत है, किन्तु तुम विह्वल नहीं होतीं, धीरता नहीं खोती। जैसे वसंत के सरस आनन्द से आँखें आनन्दनिमग्न हो जाती हैं वैसे ही तुम्हारी आँखें भी स्नेह-जल से रसपूर्ण हैं और तुम भी अपने धव से मिलने की लालसा अपने मन में रखती हो।"

५—इन्द्रजाल—"महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्यें नियुङ्क्ते" (महामोहरूपी इन्द्रजाल से प्रकाशशील चित्र को ढाँप कर उसी का अकार्य में लगाती है)। इसके पूर्व "जादू" का उल्लेख हुआ है। इन्द्रजाल भी मायिक होता है। मोह-माया की सृष्टि करना, असत् में सत् का प्रतिभास भरना इन्द्रजाल है।

सुहाग-कण—सुहाग-कण-रागभरे = [सिन्दूर; सुहाग=पति का पूरा प्रेम, सौभाग्य-सूचक-कण; फूल का सौभाग्य-कण उसका 'पराग' है।

विवाहकाल में कन्यादान, पाणिग्रहण के पश्चात् लाजा होम में कन्या अपने लिए सर्वप्रथम 'नारी' शब्द का प्रयोग करती है। अथर्ववेद (१४–२–६३)। नारीत्व को प्राप्त करते ही वह दो प्रधान आदर्श अपने सामने रखती है—

(१) आयुष्मान् मे पतिः।

(२) एधन्तां ज्ञातयो मम।

मेरा पति पूर्ण आयु संपन्न हो और मेरी जाति की अभिवृद्धि हो। ऋ० १०–८५–३६ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्याजरदष्टिर्यथासः" तथा १०–८५, ४ -४२ भी द्रष्टव्य। सौभाग्य का प्रधान अर्थ पति की नीरोग स्थिति है (ऋ० १०–७६–११)।

"बस सिन्दूर विन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल"

राग—लालरंग; अनुराग, सुख की प्रतीति; भोग्य वस्तु के लिए क्रिया प्रवृत्ति, शैवागम में 'कला' द्वारा इसकी सृष्टि होती है। यौन मनोभाव। प्रथम दर्शन से ही यदि नायक-नायिका में एक-दूसरे के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति पैदा हो गई हो और सम्मिलन के लिये उन में तीव्रोत्कण्ठा हो और उभयपक्ष से पोषित मध्यस्थों द्वारा वे अपने कार्य में सफल हों तो उसे रागवत्-रत कहते हैं (काम सूत्र)।

मधु-धार—मधुर भाव की ओर संकेत है।

"तुम अपना सिर नीचा किये किन इन्द्रजालिक सम्मोहन से पूर्ण पुष्पों से रंग में

डूबे पराग लेकर ऐसी माला बना रही हो जिससे मंद-सुगन्ध की धारा प्रवाहित होती है ?"

कदंब—वृक्ष तथा पुष्प दोनों ही को कहते हैं। पुष्प की आकृति खड़ी रोमाली का उपमान है। हर्ष विकंपित रोमांच होने से रोंगटे कदंब-पुष्प की पखंड़ियों की भांति खड़े हो जाते हैं। [ऊपर घटा घिरी थी नीचे पुलक कदंब खिले थे। झूम-झूम रस की रिमझिम में दानों हिले मिले थे—मैथिलीशरण]।

"मैं यह तो ही मैं लखी भगति-अपूरब बाल। लहि प्रसाद माला जु भो तनु कदंब की माल।"—(बिहारी)

फलभरता—फलों का भार, भावाक्रान्ति।

डर—फलदार डाली को झुका कर फल तोड़ते हैं। कहीं ऐसा करने से डाली टूट न जाय इस डर से वह झुक जाती है। 'बलात्' प्रेम के भय से नारी नर का प्रेमाह्वान लज्जापूर्वक स्वीकार करती है।

"तुम्हारे स्पर्श से उर-अन्तर में एक सात्विक अनुभाव का उदय होता है। जैसे आनन्दानुभव से रोमांच हो जाता है उसी प्रकार तुम्हारे स्पर्श से मेरे मन में हर्ष पुलक छा जाता है और जैसे फलों के बोझ से लदी डाली टूट जाने के भय से झुक जाती उसी प्रकार मैं बोझिल हो झुक गई हूँ।

नीली किरनों— 'ओ नील आवरण धरता के' पर पहले विचार किया जा चुका है। सहस्रांशु सूर्य की सात किरणों को प्रधान माना जाता है। सप्तरंगी इन्द्रधनुष में सूर्य की यही सात किरनें क्रीड़ा करती हैं। इन्हीं किरणों में एक किरण नील-वर्णा भी होती है। यह तृतीय किरण है। बाह्य सूर्य की भांति हमारे शरीर में भी सूर्य की स्थिति है। लज्जा की सृष्टि इसी तीसरी किरण से है अतएव नारी का स्वभावसिद्ध गुण 'लाज' है" (सूर्य-किरण विज्ञान)। "छिप्यौ छबीलो मुँह लसै नीलै अंचल चीर। मनौ कलानिधि झलमलै कालिन्दी के नीर"।

हल्का लज्जा का आवरण झीना होता ही है, जिसमे परदेवाला स्वयं देख सके किन्तु उसे और कोई न देख सके। यह बात काले नीले हलके पर्दे से अधिक सुविधा से हो जाती है।

("डाल दो साया अपने आंचल का : नातवाँ हूं कफन भी हो हल्का" की अतिशयोक्ति नहीं वरन् हमारे कवि का वर्णन यथार्थ की गोद में प्रतिष्ठित है)।

वरदान—मनोकामना पूर्ति में सहायक लाज-पट वरदान नहीं तो और क्या है ? लाज असंयम रोकती है, यह बरदान का दूसरा पक्ष है।

"**सौरभ**—मुग्धकर होता है। सौगन्धिक कमल (भावसुमन)। लाज की मोहकता तथा सबको वशीभूत करने के गुण का बोध कराता है।

"तुम मेरे मनोभावों पर धुँधले प्रकाश से बुना नीला झीना अंचल डाल रही हो। यह अंचल मेरे लिए वरदान सदृश है।

(सिन्दूर-दान तथा माँथ ढाकने की प्रचलित प्रथाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में हुआ है।

८—टीकाकारों ने 'गीत' शब्द को निरर्थक मानकर अर्थ किया है। "परिहास-गीत" प्रचलित गाली गाने की प्रथा को समाविष्ट करता है।

[हास्यरस का वर्ण श्वेत है। विकृत आकार, विचित्र वेशभूषा आदि हास्य के अवयव हैं। अगभंगी भी हास्य का अंग है। उपर्युक्त पंक्तियों में इन अवयवों का समावेश है। मोम श्वेत वर्ण है]।

"मेरे सभी अंग मोम के समान कोमलता से विनिर्मित प्रतीत होते हैं। इसी कोमलता के कारण मेरे शरीर में लचीलापन आ गया है। मैं अपनी विचित्र स्थिति का स्वयं अनुभव करती हूँ। जैसे मेरी अन्तरात्मा ही मेरी विचित्र स्थिति पर परिहास-गीत गाती है, जिसे सुन में सकुचित हो जाती हूँ।"

९—**स्मित**— 'मुसुकावति आवति है ललना अँखियान सुधा बरसावति सी।' जब नेत्रों कपोलों पर कुछ विकास हो और अधर आरंजित, तब स्मित होता है।

हसित (हँसी में दाँत भी दिखाई पड़ते हैं।

तरल रागपूर्ण, स्वच्छंद, चंचल आदि भावों का बोधक।

नयन—'करि सैनन उपजावहीं मैनँहु के मन मैन।
पनी-नयनी के नये नीके ए दोउ नैन।'

सपना—निद्रा-निमग्न प्राणी का सुखानुभव। स्थूल जगत् सपना सा लगता है। मानसिक हर्षोन्माद है।

बाँकपना—'कटाक्ष', तिरछे नयन का बोधक ' कुटिल बंक भ्रुव संग भये कुटिल बंक गति नैन" (बिहारी)। "कान कामिनी की करै बंक गामिनी दीठि"

"मैं स्वच्छन्दतापूर्वक खिलखिलाकर हँसना चाहती हूँ, किन्तु ऐसा नहीं कर पाती। इस प्रकार मेरा हास्य गंभीर बन जाता है और केवल मंद-मंद मुस्कराकर ही रह जाती हूँ। मैं सीधे दृष्टिपात करना चाहती हूँ, किन्तु मेरे नयन तिरछे हो जाते हैं। वस्तुओं को प्रत्यक्ष देखकर भी मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं स्वप्न देख रही हूँ।"

१०—स्वप्नकाल (रात्रि) के समाप्त होने पर पक्षी जग कर कलरोर करने लगते हैं, पवनवृत्तियों में लाली (अनुराग) दौड़ने लगती है और सारा संसार दूर से चलकर आये नवोदित सूर्य के अभिवादन को उठता है, उसी प्रकार मेरी स्वप्निल कल्पनाओं के अन्त में मेरे भाव जगत् में जागरण हो गया। मेरी भावनाएँ गुनगुनाने लगीं, मेरी सुखानुभूति प्रेमिल वातावरण में थिरकने लगी।

११—मेरी तरुण अभिलाषाएँ अपनी पूर्ण शक्ति और साहस से अपने प्रेम-पात्र का सत्कार करने को उठीं।

१२—किन्तु तुमने मुझे इस प्रकार खुल खेलने नहीं दिया। मैं आनन्द-शिखर पर चढ़ना चाहती थी। शिखर तक पहुँचने का एक मात्र माध्यम रस का निर्झर है। किंतु मैं इसमें तिर नहीं सकती। मेरे लिए प्रेमावगाहन कठिन था। मैंने देखा शिखर से मुझ तक निर्झर के आर-पार एक किरनों की डोर है। वह डोर साहस की है। मैंने उसके सहारे आनन्द-शिखर पर रस निर्झर पार करके चढ़ना चाहा किंतु ज्यों ही मैंने आगे पैर बढ़ाया तुमने साहस की रज्जु खींच ली और मैं आनन्दशिखर तक न पहुँच सकी। (धूम लतिका-सी गगन तरु पर न चढ़ती दीन' आदि वासना सर्ग)।

१३—मैं अपने साकार स्वप्नों को छूना चाहती हूँ किंतु मन का संकोच मुझे ऐसा करने से रोकता है। मैं झिझक जाती हूँ। जब मैं उस रूपमाधुरी को छकना चाहती हूँ, मेरी आँखें बन्द होने लगती हैं। मेरे मन में माधुर्य तथा परिहास भरी भावनाएँ उठती हैं, मैं हँसना चाहती हूँ खुलकर गुनगुनाना चाहती हूँ। मैं अपने मनोभावों को शब्दों में व्यक्त करना चाहती हूँ किंतु मेरे सभी मनोभाव ओठों तक आकर रुक जाते हैं। मैं स्पष्टत: कुछ कह नहीं पाती।

१४—सिहरन से खड़ी रोमाली मानों संकेत द्वारा मुझे ऐसा करने से रोकती है। मेरे मनाभाव मेरी काली भौंहों की चंचलता में व्यञ्जित हो उठते हैं किंतु जिस प्रकार संकेत-लिपि वही पढ़ सकता है जो उसका जानकार हो, अन्य तो भ्रम में ही रह जाता है, वही दशा मेरी भ्रू-व्यञ्जना की है।

१५—मेरे हृदय को इस प्रकार अपने वश में करने वाली मेरी सारी स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाली तुम कौन हो? मेरे जीवन वन में जो फूल अपने आप स्वच्छन्दता से खिले थे, उन्हें तुम क्यों तोड रही हो? मेरे मन की रागोत्फुल्ल भावनाओं को तुम इस प्रकार क्यों नष्ट भ्रष्ट कर रही हो?

१६ – श्रद्धा ने अपने में लज्जा के कारण जिस परिवर्तन का अनुभव किया उसका उल्लेख ऊपर हो चुका। उसके मन के भाव प्रश्नसूचक शब्दों में व्यक्त किये जा चुके। अब उसके प्रश्नों का उत्तर प्रारम्भ होता है। ये उत्तर लज्जा श्रद्धा को देगी। लज्जा कोई पृथक् वस्तु ता नहीं, वह केवल उसके वासनामय मनोभाव की प्रकृति है। इस बात को प्रकट करने के लिए कवि ने किस सावधानी से "सन्ध्या की लाली .. देती-सी" छं० १६) की बात कही है।

सन्ध्या का समय था, उसी की लाली की छाया मानों श्रद्धा के लज्जालु वदन में परिलक्षित थी। उसी लाली में साकार होती अथवा शरीरी बन कर (लाली क्या थी लज्जा का छाया-शरीर था।) श्रद्धा की ओर बढ़ने वाली छाया-प्रतिभा (लज्जा) श्रद्धा के प्रश्नों का रागात्मक उत्तर देने लगी! 'सी' शब्द की व्यवहृति से सत् के

आभास का बोध होता है। कोई उत्तर देनेवाला न था किन्तु श्रद्धा को ऐसा लगा जैसे उससे कोई बात कर रहा हो।

१७—**चमत्कृत**—जब कोई अलौकिक घटना घटित होती है, तब उसे हम 'चमत्कार' की सञ्ज्ञा देते हैं। जैसे जब योगी 'सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्व' आदि की सिद्धि से बिना क्रिया के फल का प्रदर्शन करता है, तब उसे हम 'चमत्कार' कहते हैं। चमत्कार देख कर मानव 'चमत्कृत' हो जाता है।

बाला—युवती, षोडशवर्षीया।

पकड़—"सकुच ताहि गहि लेत", रोक।

हे बाले! मुझे देखकर तुम इस प्रकार क्यों चौंक रही हो? मुझे, मेरे कृत्यों को आश्चर्य की दृष्टि से न देखो। मैं तुमसे भिन्न कोई अलौकिक वस्तु नहीं। मुझे समझो और मेरे निर्देशों पर चलकर अपने मन को भूल में न पड़ने दो। इसमें तुम्हारा हित-निहित है। मैं केवल तुम्हें असंयम के पथ पर पैर बढ़ाने से रोकती हूँ। मैं तुम्हें सचेत करती हूँ कि आत्म-समर्पण करने के पहले उसके परिणाम पर भली-भाँति सोच लो। 'सहसा करि पीछे पछिताहीं' की स्थिति अहितकर है। सौंदर्य बड़ा चञ्चल होता है। इसी सौंदर्य का वर्णन छंद १८–२७ में हुआ है।

१८—आकाश से बातें करने वाली हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों से जिस प्रकार बिजली की भाँति चमचम करती धारा जड़त्व को प्राण पिन्हाती कलकल छलछल के स्वर में भीषण गर्जन भरे डग धरती उन्मत्त प्रवाह में बहती है, वही दशा सौंदर्य के उमंगों की है। यौवनकाल में एक जीवन्मय स्फूर्ति का अनुभव होता है। मन में मधुर भावनाओं की रस-धार बल-वीर्य संयुक्त प्रवाहित होती है जिसका वेग रोके नहीं रुकता।

वेदों में नारी की सृष्टि जलतत्व से होना कहा गया है (आपो हिष्ठा···आदि यजु० ११–५०)। जल में विद्युत् का वास होता है। (यजु० ३६–२१)। विद्युत् तेज का ही रूपान्तर है। तेज ही प्राण का कारण है। 'अतएव विद्युत् की प्राणमयी धारा' को हम परम्परागत कह सकते हैं। "प्रथमं शैलपुत्रीति" में जिस नारी शक्ति का वर्णन है, वह भी हमारे कवि के वर्णन में समविष्ट हो गया है। शक्ति का वर्णन करते हुए 'विद्युद्दाम समप्रभां' की बात आती है। "विद्युत् की प्राणमयी धारा" पर उसकी छाप है। [चञ्चला स्नान कर आवे चाँदनी पर्व में जैसे (आँसू); भूतल में निकली कहूं बिज्जुलता की लोय' आदि मननीय।]

जैसे नदी की धारा में कलरव और कोलाहल दोनों होता है, इसी प्रकार नारी में माधुर्य और सौंदर्य के साथ वीर्य एवं ऐश्वर्य भी होता है। बिना माधुर्य के नारीत्व चञ्चल (चपल) हो रहा है।

वीर्य, ऐश्वर्य, विक्रम, तेज जब निर्द्वन्द निर्भीक और सहज भाव में रहते हैं जब उनमें

कोई चञ्चलता, रुक्षता, तीक्ष्णता, और कदर्यता नहीं रहती, जब वे अपनी प्रतिद्वन्दी शक्तियों के प्रति हिंसात्मक संग्राम में नियुक्त होकर ज्वालामय नहीं हो जाते और स्वच्छन्द रूप में अपने को प्रकट कर सकते हैं, तभी वे सौंदर्य-माधुर्य मण्डित होते हैं और तभी उनमें नारीत्व का विकास होता है······विश्व, विधान के मूल में जो एक कल्याणमयी शक्ति लीला कर रही है—प्रेम, आनन्द, सौन्दर्य और कल्याण ही उसका स्वरूप है" (अक्षयकुमार बन्दोपाध्याय) । "भारतीय साधकों ने इस विश्व-प्रकृति की विश्वजननी विश्वरूपिणी महाशक्ति की अशेष सौन्दर्यमयी नारी के रूप में उपलब्धि की" । लज्जा सर्ग में इन तत्वांशों का कलामय समावेश हुआ है ।

"न जातु कामः कामानामुपभोगात्प्रशाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते", 'केनान्दं रतिं प्रजातिम्; उत्तुदस्त्वोत्तुदन् मा धृथाः शयने स्वः इषु कामस्य या भीमानया विध्यामि त्वा हृदि" आदि में नारी सम्भोग्या रूप में नहीं देखी गई है । नारीत्व का चरमोत्कर्ष प्रजातन्तु अनवच्छिन्न रखना है । अतएव नारी गृहिणी है । वह गृहस्थी की पुजारिन है । "कुलललना की लाज" का उल्लेख ऊपर हो चुका है ।

"मैं उसी चपल की धात्री हूँ" की बात आगे आवेगी । लज्जा का यहाँ संकेत है कि सौन्दर्य के मद में नारी कहीं हो जीवन का उद्देश्य कामोपभोग को न मान ले ।

१६—**मंगल कुंकम**—"मगंल बिंदु सरंगु, मुख ससि केसरि आड़ गुरु
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत" (बिहारी)
"बरनै कहा सीस सेंदुर को कवि जु रह्यो पचि हारि
मानहुँ अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर बिदारि"—सूर
नीकौ लसत लिलार पर टीकौ जरित जराइ ।
छविहिं बढ़ावतु रवि मनौ ससि मण्डल में आइ ।।
कहत सबै बेंदी दियैं आँकु दस गुनो होत ।
तिय लिलार बेंदी दियैं अगनित बढ़त उदोत ।।"
'सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा यायास्तं वि परेतन'

"सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सु शेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः" आदि वैदिक मंत्रों का उच्चार करते हुये 'सिन्दूर दान' कराया जाता है । यह सिंदूर सौभाग्य का लक्षण है । यह बताता है कि स्त्री ने किसी पुरुष की भार्या होना स्वीकार कर लिया है । विवाह संस्कार से ही नारी का कल्याण होता है, उसका जीवन सफल होता है । विवाह के अनन्तर उसे गार्हपत्य का राज्य मिलता है । नारी सौन्दर्य का उत्कर्ष इसी विवाह सूत्र में बंधने में निहित है । "प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" ही भारतीय संस्कृति में विवाह का मूलाधार है । "दांपत्य की नीव इसी पूत भावना पर है । "तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै । प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून् (अ० ८-३-२६)—अर्थात्

"आओ बाँधे प्राण परस्पर ले विवाह का सूत; दें दुनिया को मिलित शक्ति से रच कर कई सपूत" । अतएव 'मंगल' कामना ही 'बिंदु' का तात्पर्य है ।

श्री —' इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः" । एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे (अथ० २-सूक्त ३६-७) में 'भग' श्री तथा सौभाग्यसूचक मंगल कुंकुम दोनों के लिए प्रयुक्त । सौभाग्य लक्ष्मी-उपनिषद् में वर्णित श्रीसूक्त मननीय ।

१—स्त्रियः श्रियश्च लोकेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन (मनु० ९–२६) स्त्री श्री में कोई भेद नहीं ।

उषा —'आ घा योषेव सूनर्युषा यति प्रभुंजति' (ऋ० १–४८–५) प्रसन्नतायुक्त उषा एक सुन्दरी रमणी-सी आ रही है ।

सुहाग —"सुवाना पुत्रान् महिषी भगवति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु" यह नारी पुत्रों को उत्पन्न करती हुई पूजनीय रानी के समान हो । और पति के पास जाकर सौभाग्यवती होकर नाना प्रकार से और विशेष रूप से शोभा प्राप्त हो । स्त्री के सधवा रहने की स्थिति । सौभाग्य सिंदूर । सौन्दर्य संपन्न होने पर नारी के अंग-अंग में अरुणाभा छा जाती है । शरीर की शोभा और कांति बढ़ जाती है । जैसे मंगल-कुंकुम लगाने से रूप निखर उठता है उसी प्रकार यौवनावस्था में श्री (कांति) बढ़ जाती है । यौवनावस्था में स्त्री का सौन्दर्य सरसता-संपन्न आनन्द उल्लास पूर्ण हरा भरा होता है । लगता है उसमें उसका भोला सुहाग कौतुक रूप इतराता फिरता है । [संकेत यह है कि जवानी मंगल-कुंकुम चाहती है, सौभाग्य सिन्दूर चाहती है, जो कभी धूमिल न हो, सर्वदा हरा भरा रहे ।]

२०—सौन्दर्य जिसे देखकर देखने वाले प्रसन्न होते हैं, अपना जीवन सफल मानते हैं । फूल विकसित होकर जिस प्रकार आनन्द प्रदान करता है उसी प्रकार सौन्दर्य, सुमन-सा खिला हुआ सौन्दर्य, आनन्द देता है । जिस प्रकार वसंत ऋतु में विभव-संपन्न वन में पिक का पंचम स्वर में कूकना अच्छा लगता है, उसी प्रकार सौन्दर्य का स्वर भी मोहक होता है ।

पंचम स्वर—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, मन्द्र (पञ्चम), क्रुष्ट (धैवत), तथा अतिस्वार (निषाद) । (पंचम हाँ पंचम के स्वर में कोमल उठे तराना ।—नूरजहाँ)

सुमन सा विकसा—"प्रसन्न वदना" का रूप है ।

२१—जिस प्रकार मधुर ध्वनि नस-नस में प्रतिध्वनित हो एक बेसुधी उत्पन्न करती है, उसी प्रकार सौन्दर्य का स्वर श्रोता को मूर्च्छित (बेसुध) कर देता है । साँचा आकार प्रदान करता है, उसी प्रकार सौन्दर्य आँखों में उतर कर रमणीय (आकर्षक) रूप धारण करता है ।

रूप—'रूप का रहस्य' कल्याण वर्ष ३० अंक १२ में द्रष्टव्य ।

मूर्च्छना—सातस्वर, तीनग्राम, इक्कीस मूर्च्छना, तथा उनचास तान से स्वरमण्डल बनता है। मूर्च्छना संगीत का शब्द विशेष है। स्वरों के उदात्त, अनुदात्त उच्चारण, स्वरों का आरोह-अवरोह। इसकी गति द्रुत-विलंबित होती है, इसी से "मचलता" सार्थक होता है।

२२—जिस प्रकार नीलम की घाटी में छाई बदली में बाहर बिजली की कौंध और भीतर शीतलता प्रदान करने वाला पानी होता है, उसी प्रकार अंजन अंजित नयनों में सौंदर्य का बादल समाया रहता है। जिसमें बिजली की चमक तथा सरसता का जल होता है।

२३—सौन्दर्य में वसंत ऋतु की आनन्द-हलोर भरी होती है। चारों ओर प्रसन्नता का वातावरण होता है, मस्ती होती है। जैसे गोधूली के समय सभी दुखद परिश्रम से मुक्त होकर अपने परिवार से आ मिलते है, गायें रंभाते बच्चे के पास लौटती हैं, उसी प्रकार सौन्दर्य ममतापूर्ण होता है। जैसे रात्रि बीतने पर जागरण-प्रात आता है। उसी प्रकार शैशव के अज्ञान के पश्चात् सौन्दर्य-काल मन को चेतना प्रदान करने उपस्थित होता है। जैसे दोपहर को सूर्य पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त होता है उसी प्रकार सौन्दर्य युवाकाल में।

२४—सौन्दर्य का अस्तित्व उस पुर्णेन्दु की नूतनता प्राप्त चाँदनी के सदृश है जो इधर-उधर चकित दृष्टि डालती हुई मानस की लहरों पर बिछलती फिरती है। जिस प्रकार चाँद का रूप मानस में थिर नहीं रहता, उसी प्रकार सौन्दर्य प्रेमी के उर में।

२५—जैसे स्वागतार्थ चंदन-कुंकुम तथा पुष्पाञ्जलि दी जाती है उसी प्रकार सौन्दर्य के स्वागत को प्रेमी अपनी सुमन-मनोरथ-अंजलि देता है जिसमें अनेक सात्विक रागपूर्ण भाव होते हैं।

२६—जैसे कोमल पल्लवों के मर्मर स्वर से वसंत का जयघोष होता है, उसी प्रकार सौन्दर्य-काल में किसलय रूपी अधरोष्ठ सौन्दर्य की जयजयकार करते हैं। सौन्दर्य-काल में दुख-सुख रूपी प्रतिगामी शक्तियाँ मिलकर आनन्दोत्सव मनाती हैं। अर्थात् दुख सुख की चेतना नहीं रहती।

> अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्त्ववस्थासु यद्
> विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः
> कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
> भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते (भवभूति)

(यह प्रेम सुख में और दुख में अद्वैत अर्थात् एकाकार रहता है। समग्र अवस्थाओं में अनुकूल रहता है, इससे हृदय को विश्राम मिलता है। बुढ़ापा इसके आनन्द को हरण नहीं कर सकता। समय के बीतने पर आवरण हट जाने पर, यह परिपक्व स्नेह सार में

स्थित रहता है। वही यह कल्याणकारी भद्र प्रेम है और किसी भाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त होता है।

२७—**वरदान**—"अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्। आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्काररसाह्वया।"

(अर्थात् जिसको वेदान्त में अक्षर, परब्रह्म, सनातन, अज, व्यापक, चैतन्य और ज्योति स्वरूप कहा गया है, उसका सहज आनन्द जब कभी प्रकट हो जाता है, तब उस अभिव्यक्ति को चैतन्य, चमत्कार या रस कहते हैं; अग्नि पुराण)। इसी दृष्टि से कवि सौंदर्य को चेतना का उज्ज्वल वरदान मानता है। **सौंदर्य चिन्मय** है, यही हमारे कवि की स्थापना है।

अभिलाषा—स्त्री में लालसा की प्रबलता होती है। इसी से इसका एक नाम 'ललना' है। (अभिलाषमय कल्पनाओं के उदय का यही सौंदर्य काल है। सौंदर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है। यह अनंत स्वप्निल अभिलाषाओं से आपूर रहता है।

२८—**धात्री**—वासना सर्ग में आया है कि वासना स्वय रति का दूसरा नाम है। लज्जा इसी रति (प्रीति) के साथ छाया के समान रहती है। रति के छाया शरीर (लिङ्ग शरीर) का ही नाम लज्जा है। हिन्दू संस्कृति में नारी का बड़ा महत्त्व है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" आदि शब्दों में नारी की प्रतिष्ठा का उपदेश करने वाले आर्यों ने नारी को केवल कामिनी भामिनी के रूप में ही नहीं देखा, वरन् जाया तथा माता के रूप में भी समझा। 'मातृदेवो भव' की मनन शैली की जन्मदात्री हिन्दू-संस्कृति नारी के माता रूप पर अधिक बल देती है। 'सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणाति-रिच्यते" में माता के गौरव को पिता के गौरव से हजार गुना बढ़कर कहा है। "पितु-रप्यधिका माता गर्भधारणपोषणात्। अतो हि त्रिषु लोकेषु नास्ति मातृसमो गुरुः" (माता के समान कोई गुरु नहीं)। "मैं उसी चपल की धात्री हूँ" में यही मातृत्व बोल रहा है। "पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः" के अनुसार पति भार्या के गर्भ में प्रविष्ट होकर पुत्र नाम से पुनः उत्पन्न होता है, यही जायात्व है।

"शिशुर्भूत्वा महादेवः क्रीडार्थं वृषभध्वजः
उत्सङ्गतलसंसुप्तो बभूव भगवान् भवः
जायेति तत्पदं ख्यातुं तस्य सत्यार्थमीश्वरः"

में इसी विचार धारा की छाप है। "या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।" "जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी। दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोस्तु ते।"

चपल—चंचल, पहले व्याख्या की गई है।

गौरव—वैदिक शब्द 'मेना' नारी वाचक है जिसका अर्थ मान्या का है। जिसका लोग आदर करें, मान करें। 'माता' का भी अर्थ आदरणीया है।

महिमा—'महिला' में 'मह्' का अर्थ पूजना है। अतएव 'महिमा' प्राप्त करने पर नारी पूजनीया बनती है। कल्याण नारी अंक पृष्ठ १३१ पर मिलता है :—

"स्त्री ही शोभा है। रमणीयता का नाम ही नारी है। जो वस्तुएँ नारी को प्रिय हैं, वे सुन्दर हैं। जिन वस्तुओं से नारी के अवयवों का साम्य है, वे रुचिर हैं। नारी में सौंदर्य,सौन्दर्य में प्रेम, प्रेम में अनन्यता और अनन्यता में आनन्द है। आनन्द नारी में है। पर जैसे प्रकाश के पीछे अन्धकार, धूप के पीछे छाया छिपी रहती है वैसे ही नारी की रम्यता के पीछे चञ्चलता, उसके प्रेम की ओट में घृणा, उसकी करुणा के पीछे क्रूरता और उसके आनन्द रस में विषाद का बीज भी छिपा रहता है। इस स्वार्थ से ऊपर उठकर मानव ने नारी को उन शब्दों से भी संबोधित किया है जो नारी के आध्यात्मिक स्वरूप को व्यक्त करते हैं। वह श्री है। वह चिति है। उसकी मुसकान में सर्जन, उसके दूध में स्थिति, उसकी आह में प्रलय छिपा है। वह मान्य है, पूज्या है, आराध्या है। उसके मोह में स्नेह, बन्धन में दान, और जीवन में उत्सर्ग है। वह देवी है। वह अपूर्ण में पूर्ण है। वह भक्ति है, श्रद्धा है।" हमारे कवि के वर्णन में उपर्युक्त सभी बातें समाविष्ट हुई हैं।

'लज्जा ने श्रद्धा से सौंदर्य का, किशोर-सुन्दरता का परिचय दिया और बताया कि इस सौन्दर्य में प्राकृतिक, भौतिक, मानवीय तथा दैवीय संभूति सभी छिपी हैं, किंतु इसके स्वभाव में चंचलता है, स्थिरता नहीं है। मैं संरक्षिका की भांति इससे तुम्हें सचेत करने आई हूँ कि तुम इस प्रकार आचरण करो जिससे तुम्हें, संसार में गौरव तथा महिमा मिले। तुम पूज्या और मान्या बन सको।' मैं आँख खोलकर चलना सिखाती हूँ जिससे ठोकर खाकर गिर न पड़ो।

२६–३०—देवसर्ग में मुझे लोग रति-रानी कहते थे। प्रलय के पश्चात् मेरा अपने पति कामदेव से वियोग हो गया (वे अमर रहे न विनोद रहा। चेतनता रही अनंग हुआ; काम सर्ग)। ('द्रावण, शोषण, तापन, मोहन, उन्मादन' से पञ्चबाण की मूर्ति बनती है) मैं इन शक्तियों से वंचित हूँ। मैं इसी से दीना हो गई हूँ, मुझ से मेरा विभव छिन गया है। मैं आवर्जना रूप हूँ। नयशील हूँ। कामोपभोग का निषेध करने वाली हूँ। मैं देव सर्ग में कामोपभोग रत रह कर भी अतृप्त रही। मेरी अतृप्ति अपनी अतीत असफलता रूप अब केवल अनुभव में केन्द्रीभूत हो गई है। जैसे भोगोपरान्त श्रम से चूर होने पर मन में खिन्नता, तन में थकावट का अनुभव होता है, उसी प्रकार मेरी शक्ति क्षीण हो गई है। ("देव सृष्टि में रति भले ही सांग रही हो किन्तु मानव सर्ग में वह केवल अनुभव साध्य है")। रति-विलास की खेदमयी अवसादपूर्ण लीला है। ('वासना' सर्ग देखें)

३१—शालीनता—नय, नम्रता, विनय, व्रीड़ा सभी के भाव हैं। 'शालीन' गृहस्थ को भी कहते हैं। शालीनता में गृहिणी के गुण हैं।

प्रतिकृति (प्रतिमा, छाया, औषध)।

नूपुर—पैर की अंगुली में पहनने का आभूषण। सुहाग-चिन्ह ('मानव' ने नृत्य का अपनी टीका में दृश्य उपस्थित करके अनर्थ कर दिया है)

मेरा नाम लज्जा है। मैं रति का छाया शरीर धारण किये उसकी प्रतिमूर्ति हूँ। मैं वासनामय विकारों का उपशयन करती हूँ। मैं सुन्दरता को नयशील बनाती हूँ। सुन्दरता को स्वैरिणी बनने से रोकती हूँ। मैं कुमार्ग पर पग धरने से रोकती हूँ। मैं चंचल पदों में नूपुर बनकर लिपट जाती हूँ और नारी को सौभाग्यवती गृहिणी का रूप प्रदान करती हूँ।

३२—मैं सरल कपोलों को लाली से आरंजित करती हूँ और आँखों को अंजन-अंजित बनाती हूँ। (लजीली आँख अंजन-अंजित लगती है) जैसे घुँघराली अलकें मन में मरोर उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार मैं मन में मरोर उत्पन्न करती है।

३३—जब वयःसंधि के समय सुन्दरियों का मन चंचल हो उठता है (वासना के वेग से) तब मैं उनकी रक्षा करती हूँ। मैं उन्हें मर्यादा विमुख नहीं होने देती। दोषी को चेतावनी देने के लिये कान मसले जाते हैं, जिससे कान लाल हो जाते हैं। लज्जा की लाली वही कान की हल्की मसलन है।

३४—लज्जा की उपर्युक्त बातें सुनकर श्रद्धा ने कहा—देवि, जो कुछ तुमने कहा वह सब यथार्थ है, सत्य है। किन्तु मैं तुम से शास्त्रीय परामर्श नहीं चाहती, व्यावहारिक निर्देश माँगती हूँ। संसृति मायामय है। चारों ओर रजनी का प्रगाढ़ अंधकार छाया है। मैं किस ओर पैर बढ़ाऊँ, यह समझ नहीं पा रही हूँ। मुझे अपना पथ निश्चय करने में कठिनता हो रही है। मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है। क्या तुम पथ का निर्देश करके मुझे आलोक प्रदान करोगी। मुझे अपना भावी जीवन अंधकारमय दीखता है, क्या तुम मुझे कोई ऐसी युक्ति बताओगी जिससे वह आलोकित हो उठे।

[पुत्र की उत्पत्ति के बिना मनुष्य अन्धकारमय होता 'पुन' में जाता है। केवल भोगलिप्सा में संसृति का पथ अन्धकारमय होता है। श्रद्धा का प्रश्न यही समाधान ढूंढ रहा है !]।

३५—मेरी समझ में आज आ गया कि मैं नारी हूँ, अबला हूँ। मेरे शरीर का घटन कोमल है। मैं सुकुमाराङ्गी हूँ। इसी कारण मेरे तन पर जय प्राप्त करना सरल है। (वासना-सर्ग की घटना से संबंधित)

३६—किन्तु न जाने क्यों आज मेरा मन पराजित-सा लग रहा है। मेरी मेघ-खंड सदृश आँखें न जाने क्यों आज करुणार्द्र हो रही हैं।

[सीता ने कहा था। (भाव साम्य के लिये उद्धृत)।

"मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरा
त्वया तु नरशार्दूल क्रोधमेवानुवर्तता
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम्
न पाणिर्बाल्यो बालेन पीडितः
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम्"

"मनुष्य उसी वस्तु के लिए उत्तरदायी होता है जिस पर उसका अधिकार हो। मैं अपने हृदय की स्वामिनी हूँ, उसे मैंने अपने वश में कर रखा है। वह सतत आप के चिंतन में निरत रहा है। अंगों पर मेरा वश नहीं। वे पराधीन ठहरे। यदि रावण ने बलात् उसका स्पर्श कर लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध, मेरे चरित्र पर लांछन लगाना कदापि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़ कर आगे किया है। परन्तु मेरे सबल अंश को आपने पीछे कर दिया है। नारी का दुर्बल अंश है उसका नारीत्व और उसका सबल अंश है पातिव्रत आदि।]

रघुवंश

३७—"धर्ममर्थं तथा कामंच लभन्ते स्थानमेव च। निस्सपत्नं च भर्तारं चार्यः सद्वृत्तमाश्रितः" 'विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया"; न जातु कामः कामानामुपभोगात्प्रशाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते" आदि पर विचार करने वाले जानते हैं कि हिन्दू संस्कृति में दांपत्य की नींव त्याग तितिक्षा पर दी गई है। "पतिव्रता पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी" में नारी के एकचारिणी होने की मर्यादा की स्थापना है। "यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदेतद्धृदयं मम् तदस्तु हृदयं तव" ही पत्नी, सहधर्मिणी, अर्द्धाङ्गिनी द्वारा आदि को सार्थक बनाता है। श्रद्धा को इसी तथ्य का दर्शन हो रहा है।

प्रसाद ने हिन्दू संस्कृति के मूल सिद्धान्तों को मनोविज्ञान की कसौटी पर परखा है और उन्हें स्वभावसिद्ध सार्वभौम तथा प्रकृति-चरित सिद्ध किया है।

माया—नर नारी का स्वभाव अन्य नैसर्गिक आकर्षण 'माया' (मोह) का ही रूप है। किंतु इस-मोह के अन्तरतम में ममता भी छिपी होती है। सृष्टि-क्रम चलने के लिए ही भगवान् ने इस स्वाभाविक आकर्षण की सृष्टि की (शैवागमों में माया, कला, तथा राग के क्रम पर विचार करने से माया ममता से अनन्योश्रित संबंध मिलेगा) रति तथा सन्तति दोनों ही इस आकर्षण से सिद्धि प्राप्त करते हैं।

सर्वस्व समर्पण—एकचारिणी अपना सब कुछ पति के चरणों में समर्पण करती है। तन, मन, कर्म (मनसा-वाचा-कर्मणा) सभी उसके न रहकर पति के हो जाते हैं। उसे विश्वास होता है कि पति ही उसका परमेश्वर है। वह पति की इच्छा के

प्रतिकूल किसी प्रकार भी नहीं जाना चाहती। इसी में उसको शांति, आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार कामवासना प्रीति में परिवर्तित होती है जो अनन्य भक्ति बनती है। मानो निदे च वक्तवेऽर्योरन्ध्रीर राष्णे। त्वे अपि क्रतुर्मम्" ऋ० ६-११-५ में आत्म-निषेध का उपदेश है [मेरे कर्म आप के लिये ही हों]। श्रद्धा आज इसी स्थिति में है उसका मन मनु के प्रति आर्द्र हो चुका है। वह उसे पति रूप में स्वीकार करने की बात सोच रही है। एकचारिणी बनकर मनु की चरण शरण में जीवन व्यतीत करने का निश्चय करने जा रही है। इस प्रकार की प्रबल इच्छा उसके मन में है, किन्तु ऐसा क्यों है, यह उसके लिए प्रश्न है, पहेली है।

विश्वास-महातरु—"बट विश्वास अचल निज धर्मा।"

"नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः
दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः" (वाल्मीकीय)

यह स्थिति विश्वास से ही उत्पन्न हो सकती है।

जैसे ताप पीड़ित प्राणी बड़े वृक्ष (वट) की छाया में चुपचाप विश्राम लेना चाहता है, चुपचाप पड़ा रहना चाहता है, वही स्थिति मेरे मन की है। (यही विश्रब्ध नवोढा का चित्र है)। मैं चाहती हूँ कि मैं मनु की छत्रच्छाया में ही अपना जीवन व्यतीत करूँ। अपना सब कुछ उन पर न्यौछावर कर दूँ। मनसा-वाचा-कर्मणा उन्हीं की सेवा में अनुरक्त रहूँ। मेरे मन की मोहमयी वृत्तियाँ सात्विकी रूप धारण करके 'ममता' में परिवर्तित हो जावें, यही इच्छा मेरे मन की है। ऐसा क्यों है, मैं नहीं जानती। मैं तर्कबुद्धि से वंचित हूँ। मेरा मन विश्वासी है। क्या है जानती हूँ, क्यों है नहीं जानती। [यही 'श्रद्धा' का रूप है]।

३८—"विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया" पर विचार करनेवालों से छिपा नहीं कि स्वाधीनभर्तृका, अखण्डिता, स्वकीया का कितना सुन्दर चित्र हमारे कवि ने उपस्थित किया है। "शुचाविद्‌ध्वा व्योऽषया शुष्कास्याभिसर्पया। मृदुर्निन्युः केवली प्रियवादिन्युव्रता" की बात अथर्ववेद ३-२५-४ में आती है। 'हे प्रियतमे, नाना प्रकार से या विशेष रूप से दहन करने या तपाने वाले शोक से संतापित या पीड़ित होकर, विरह वेदना में अन्न और जल छोड़ देने के कारण सूखे कण्ठ वाली होकर भी, एक मात्र तू ही प्रिय वचनों को बोलती हुई, सुमधुर भाषिणी और अनुव्रता, मेरे मनोनुकूल सब गृह कार्य और गृहस्थ व्रतों का पालन करती हुई, अति कोमल शरीर वाली, मृद्वंगी शिरीषकुसुम कोमलाङ्गी हार्दिक क्रोध का परित्याग करके, मेरे समक्ष उपस्थित हो।" ('अनुव्रता' और 'निर्मन्यु' में 'निरीहता श्रमशीला' के ही अवयव हैं। मृदु में कोमलता विराजमान है, आदि)।

छाया-पथ में जिस प्रकार नन्हीं तारिका निशि जागरण करके श्रमशीला बनकर अपने अस्तित्व को व्यक्त करने की इच्छा न रखते हुये मन्द प्रकाश बिखेरती है, उसी प्रकार के मनोभाव मेरे मन में भी क्रीड़ा कर रहे हैं। मैं पुरुष के प्रकाश में अपनी द्युति को तारिका के समान बनाकर रखना चाहती हूँ। श्रमपूर्वक गृह-कार्य करना चाहती हूँ, निष्काम प्रेम करना चाहती हूँ।

३६—मुझे भावी जीवन की यह कल्पना अत्यंत सुन्दर लग रही है। चाहे मेरी यह कल्पना स्वप्न-सी सारहीन ही क्यों न हो, फिर भी मैं जगना नहीं चाहती। इसी स्वप्न में बेसुध रहती हूँ। मैं मानस की गहराई में कूद पड़ी हूँ, तिर रही हूँ। जानती हूँ कि मैं निराधार हूँ, किसी भी समय डूब सकती हूँ, किन्तु इसकी मुझे चिंता नहीं! (यदि मेरा आत्मसमर्पण मनु को न प्रभावित कर सका, तो डूबना ही है!)।

४०— चित्र—रंगों के अनुपात, कलापूर्ण अनुपात, से ही चित्र का निर्माण होता है। जिससे उसमें रम्यता, भव्यता तथा आकर्षण आता है। 'अनुपात' ही 'सकल' है। चित्र में विकल रंग नहीं होता।

विकल रंग—अपूर्ण जो शीघ्र फीका पड़ जाय, उड़ जाय। (रजस्वला का नाम 'विकला' भी है)

अस्फुट—अस्पष्ट।

क्या नारी का अस्तित्व केवल 'अस्फुट रेखा की सीमा' मात्र है? क्या वह इतनी सरल है! क्या उसकी उसी प्रकार कोई सार्थकता नहीं, जैसी अस्फुट रेखाओं की। जैसे अस्फुट रेखा-चित्र में विकल रंग भरने से भी एक चित्र बन जाता है, उसी प्रकार तुम नारी की काया में अपनी लाली बिखेर कर उसे नारी का पूर्ण चित्र कहती हूँ। फीके रंगों के मिट जाने पर जिस प्रकार रेखाएँ निरर्थक हो जाती हैं उसी प्रकार क्या तुम्हारी लाली हट जाने पर नारी जीवन निरर्थक है? क्या हम विकल रंग-संयुक्त रेखा सीमा को कलापूर्ण चित्र कह सकते हैं? क्या हम केवल लज्जाशील नायिका को ही नारी का आदर्श रूप मान सकते हैं? नहीं, जिस प्रकार चित्र की स्थायित्व, रम्यता, कलात्मकता के लिये सकल रंग की आवश्यकता है, उसी प्रकार नारी में त्याग, तितिक्षा, दया, क्षमा, ममता, लज्जा आदि का आनुपातिक सम्मिश्रण होना आवश्यक है।

४१—"संकल्प कुल्मलाम्" (अथर्वेद ३-२५-२) में जिस संकल्प-विकल्प की बात है वह काम-बाण बेधित होने से संबंध रखती है।

मैं अनुभव करती हूँ कि मेरे अंतर में कोई वृत्ति ऐसी है जो अनुदित पागलपन की बातें मुझे सुनाकर संकल्प-विकल्प में डालना चाहती है। मैं कभी-कभी उसकी बातों को सुनकर अपने पथ पर बढ़ने से रुक जाती हूँ, ठहर जाती हूँ, किंतु अधिक देर तक उन बातों पर सोच विचार नहीं कर पाती, वरन् विवश आगे पैर बढ़ाती चलती ही जाती हूँ।

४२—मैं पुरुष के गले में भुजपाश इसलिए डालती हूँ कि मैं उसे अपने वश में कर लूँ, फँसा लूँ, किंतु मैं अपने इस प्रयत्न में असफल रहती हूँ; उसे फँसाना तो क्या, मैं स्वयं फँस जाती हूँ।

४३—जैसे लता अशक्त होने के कारण तरु से उलझकर झूलने लगती है उसी प्रकार मैं नर-उर पर झूलने लगती हूँ [बरसाने गई दधि बेचन को तहँ आपहि आप बिकाय गई]।

पहले संकेत किया जा चुका है कि रूप का मोह कामनामय होता है किंतु प्रेम का त्यागमय। (निष्कामी है प्रणय-शुचिता-मूर्ति है सात्विकी है। होती प्रथित उसमें आत्म उत्सर्ग का है—प्रिय प्रवास १६-३४) ।

मैंने मनु को आत्मसमर्पण करने का निश्चय कर लिया है फिर सोच विचार कैसा ! सोच-विचार तो तब करती जब मुझे उनसे कुछ लेना होता। मैं तो उत्सर्ग करना चाहती हूँ। अपने समर्पण के बदले उनसे कुछ नहीं चाहती। मुझे यही पथ सरल तथा सुगम दिखाई पड रहा है।

४४—संकल्प—अंजलि में जल भर मंत्र का उच्चार करते हुए किसी भी कर्म के सपादन का संकल्प होता है। दान भी कर्म विशेष है उसके पूर्व भी संकल्प होता है 'कन्यादान' की प्रथा ब्राह्म विवाह में प्रचलित है। स्वयंवर में कन्या स्वयं दान करती है। (प्रेमपूर्वक स्वयंवर विधान के लिये देखिये अथर्वेद २–३)। 'शिवसंकल्पमस्तु' से शिवार्पण होता है।

(पार्वती ने शिव से कहा था, मन तो प्रथम से ही आप को समर्पण कर चुकी हूँ, अन्तः करण के तीनों भाग चित्त, बुद्धि और अंहकार अब समर्पण करती हूँ। श्रद्धा की भी वही स्थिति है)।

श्रद्धा की बातें सुन कर लजा बोली—नारी ! जो कुछ तुम कह रही हो उससे ज्ञान होता है कि तुमने अपने आर्द्र-स्वभाव-जन्य अश्रु की जलांजलि से अपने जीवन-सुख के सपनों को पुरुष-चरणों में चढ़ा दिया है।

४५–४७—"को श्रद्धा वेद" ऋ० १०–१२९-६—में 'श्रद्धा' का प्रयोग यथार्थ ज्ञान के अर्थ में हुआ है। "भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ" में नारी श्रद्धा है। 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी। अंचल में है दूध और आँखों में पानी" (मैथिलीशरण)। हमारे कवि चित्र में इन सभी का समावेश है।

मुंशीराम का कहना है कि श्रद्धा के रूप में प्रसाद जी ने नारी का वह महामहिम उदात्त गुणशाली रूप उपस्थित किया है जो उसे पुरा काल में प्राप्त था और भविष्य में प्राप्त होना चाहिये।

श्रद्धा के चरित्र-चित्रण में आदर्श तथा यथार्थ का अपूर्व समन्वय हुआ है। यजुर्वेद १९-७७ में बताया गया है, परमेश्वर देखकर, साक्षात्कार द्वारा सच और झूठ

दो रूप लक्षण पृथक्-पृथक् करता है। परमेश्वर झूठ में अश्रद्धा धारण कराता है, सत्य में श्रद्धा। 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षया प्रीतिदक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्वमाप्यते' पर मनन करने से पता चलता है कि मनुष्य का श्रद्धायुक्त होना ही सत्य का धारण करना है। 'बाह्य चेतनाजन्य बोध को आन्तरिक बोध को अस्वीकार कर सकता है। तथापि अन्तरात्मा में सच्चा ज्ञान एवं सहज स्फूर्ति ज्ञान निहित है। अन्तरात्मा कहती है, मैं जानती हूँ, मैं युक्ति नहीं दे सकती, पर मैं जानती हूं' क्योंकि इसका ज्ञान मानसिक अनुभव पर आश्रित या प्रमाणों से सत्य सिद्ध किया हुआ नहीं होता। यह प्रमाण पाने पर ही विश्वास करती हो ऐसी बात नहीं है। अन्तरात्मा का ज्ञान सहजस्फूर्त एवं प्रत्यक्ष होता है और ऐसी अन्तरात्मा की क्रिया को ही श्रद्धा कहते हैं"। "मनुष्य को चाहिये कि श्रवण और दर्शन से काम लेकर श्रुत जगत् और दृष्ट जगत् का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। तथा मनन द्वारा तर्क से काम लेकर इन्द्रियों की पहुंच से परे जगत् का चिंतन करे और उसका भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। श्रवण-मनन-दर्शन द्वारा प्राप्त ज्ञान को धारण कर लेना ही श्रद्धा है। इन्द्रियों के ज्ञान की सीमा इन्द्रियानुभूत जगत् ही तक सीमित रहती है। तर्क की सीमा मतव्य जगत् तक सीमित रहती है। उसके बाद निदिध्यासन (अनुभव कर लेना, स्वाद चख लेना) आत्मा का ज्ञान बाकी रहता है।" आदि हमारे कवि का मत है कि नारी का आध्यात्मिक रूप श्रद्धा का है। जैसे श्रद्धा के बिना सत्य का धारण करना नहीं होता, उसी प्रकार नारी के बिना जीवन का यथार्थज्ञान नहीं होता।

रजत-नग-पद-तल—हिमाच्छादित गिरिशिखर की घाटी में जैसे पार्वती गंगा अपनी अमृत धारा बहाती प्रवाहित होती है, जो पापनाशिनी तथा जीवनदायिनी है, उसी प्रकार नारी विश्वास रूपी पर्वत की जीवन-तलेटी में बहने वाली श्रद्धा-सरिता है जो मानव को अमरत्व देती है, पुत्र-पौत्र की शृखला से। हिमालय पर्वत से निकलते हुए झरने का जल हृदय की जलन, हृदय-शूल, नेत्र-जलन को नष्ट करता है—यह वर्णन अथर्वेद चिकित्सा ६६ में मिलता है)।

देवों की जीत—देवासुर संग्राम की शृंखला सर्गारंभ से ही चली आती है। देवों की विजय दानवों की पराजय हुई। मानव मन में देवासुर संग्राम की यह धारा सत्-असत् संघर्ष में जीवित है। विजय होती है, होगी, दैवी भावनाओं की ही।

स्त्री-पुरुष की दो धाराएँ परस्पर विरोधी हैं। किंतु उनमें युद्ध होना उचित नहीं। नारी-नर में संधि होना ही श्रेयस्कर है। नारी को दुःख सहन करते हुए आँसू से अंचल भिगोते हुए भी हँसते रहना है। सर्वस्व समर्पण का यही भाव पुरुष के लिये अमरत्व का कारण बनेगा।

हे नारी! विश्वास हिमाच्छादित हिमगिरि है। तुम उसकी तलेटी में बहने वाली पीयूषसलिला गंगाधार सम श्रद्धा हो। जिस प्रकार गंगा हिमालय की चरण-सेविका है

उसी प्रकार तुम विश्वास की चरण-सेविका बनी रहो। जिस प्रकार गंगा की धारा समतल में बहती है उसी प्रकार तुम जीवन में बहो। जिस प्रकार गंगा अमरत्व प्रदान करती है, उसी प्रकार तुम पुत्र-पौत्र की शृंखला से मानव को अमरत्व प्रदान करो। माना, तुम्हारे मन में भी अंतर्द्वन्द की लीला, देवासुर संग्राम की लीला, चल रही है, तुम पुरुष के प्रतिकूल रहना चाहती हो, किन्तु इसमें अकल्याण है। अतएव तुम्हें कष्ट सहते हुए भी अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहना है और दुःखों की छाया में भी मुस्कराते हुए पुरुष से सन्धि करके चलना होगा।"

***

कर्म

७—कर्म

कर्म—"क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्यवेदनीयः" (योग० साधनपाद १२) तथा गीता अध्याय ४ मननीय। कार्य कारण संधान से ही विश्व परिचालित है। "कर्म प्रधान बिस्व करि राखा" तो विख्यात ही है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं। प्रारब्ध, सञ्चित तथा क्रियमाण। यहाँ 'क्रियमाण' कर्म विद्यमान है। कर्म में स्थूल कार्य के अतिरिक्त भाव तथा विचार की भी क्रिया होती है। स्थूलदेह, वासनादेह तथा मनोमय कोष सभी की सामूहिक क्रिया से कर्म होता है।

सोमलता—वेदों में सोमलता का वर्णन मिलता है। सोमवल्ली में पन्द्रह पत्ते होते हैं। वे सब शुक्लपक्ष में दिन-प्रति-दिन एक-एक निकलकर पूर्णिमा को पन्द्रह हो जाते हैं कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक पत्ता गिर जाता है जिससे अमावस्या को केवल वल्ली रह जाती है। इसी से इसका नाम "सोमलता" पड़ा। सुश्रुत के मतानुसार सोमरसपान करने से आयु तथा बल की वृद्धि होती है।

अथर्ववेदीय चिकित्सा पृ० ३३ पर मिलता है कि सोमवल्ली सर्प काटे विष को दूर करने की महौषधि है। मूर्च्छा आदि मानसिक रोगों, अयोग्य हीनदृष्टि और दूषित वाणी को ठीक करती है। स्त्री के अति प्रसङ्ग से हुए उरःक्षत राजयक्ष्मा को दूर करती है। क्षेत्रीय अर्थात् माता-पिता से प्राप्त या जन्म के रोगों को नष्ट करती है, सर्वरोग नाशक रसायन है। सोमवल्ली का एक प्रकार प्रश्नी तथा एक पर्णमणि तथा अन्य जङ्गिड़मणि भी है। "तैलं दधिपयः सोमो यवागूरोदनं घृतम्। तण्डुलाः फलमाषश्च दश द्रव्याण्य-कामतः" (तेल, दही, दूध, सोमलता, यवागू—जौ की लप्सी, भात, घी, चावल, फल तथा जल—ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञों में देवताओं के प्रीत्यर्थ त्यागने में आते हैं)

"अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किन्नूनमस्मान् कृणादरातिकेयु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य (ऋ० ८-४८-३)।" मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोक में आया। देवताओं को जान लिया। अब शत्रु मेरा क्या करेंगे? और मुझ अमर लोक को प्राप्त व्यक्ति का जरा क्या कर सकती है!

धनु—कर्म का प्रतीक है। धनुष को कर्म कार्मुक या कार्मुक कहते हैं। कार्मुक का एक अर्थ कर्म करने की योग्यता रखने वाला, कुशलता से कार्य पूरा करने वाला भी होता है। अतएव इन पंक्तियों में 'धनु' की उपमा का अवतार कितना सुन्दर है।

सांग रूपक है। जीवन धनु है; यज्ञ कर्म उसकी डोरी है; मनु स्वयं तीर हैं। संकेत यही कार्मुकभृत्त (धनुष चलाने वाला) है। यही ईश्वर का रूप है जो कर्माध्यक्ष माना जाता है। कर्म का नियम उसकी इच्छा है।

२—यज्ञ—"वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म तथाविधि। पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकी गृही" (मनु ३-६७)।

"यदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्तानि"। आदि मननीय।

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानार्थक्यमतदर्थनाम्" के अनुसार वेद यज्ञानुष्ठान के लिए हैं। अतएव यज्ञ भावना से हीन जो विषय हैं, वे अनर्थक हैं।

पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ भेद से यज्ञ तीन प्रकार के हैं।

"अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम इति सप्त सोम संस्थाः" के अनुसार सोम-यज्ञ सात प्रकार के होते हैं।

धर्म की परिभाषा करने वाले धर्म के दो अंग बताते हैं। अभ्युदय तथा निःश्रेयस। अभ्युदय का कारण है कर्मानुष्ठान तथा निश्रेयस का कारण है ज्ञान साधना। दोनों के समन्वय से ही धर्ममार्ग का निर्माण होता है।

यज्ञ की महिमा समझने के लिए गीता अध्याय ४ तथा मुण्डकोपनिषद् द्वितीय खण्ड मननीय।

मनु अभ्युदय पथ पर अग्रसर हो रहे हैं कर्मानुष्ठान करने जा रहे हैं।

कटु—"क्लेशमूलः कर्माशयो" की ओर संकेत है।

काम सर्ग की अन्तिम पंक्तियों को पुनः स्मरण कीजिये—"उस लताकुञ्ज की झिल-मिल से हेमाभरश्मि थी खेल रही, देवों के सोम सुधारस की मनु के हाथों में बेल रही।" काम ने मनु को श्रद्धा को पाने के लिए योग्य बनने का उपदेश किया। मनु यह पूछते हुए जगे, 'पथ कौन वहाँ पहुँचाता है"। किन्तु कोई उत्तर न मिला। इतने में ही प्रातः हो गया। लता-कुञ्ज में सुनहली किरणें क्रीड़ा करने लगीं और वह सोमवल्ली जिससे देवता लोग सोम-रस तैयार करते थे मनु के हाथों में थीं। जैसे किसी अदृश्य शक्ति ने यह संकेत किया हो कि कर्म करो। कारण कि सोमवल्ली सोमयज्ञ में प्रयुक्त होती थी और यज्ञ ही सार्थक कर्म है जिससे अभ्युदय होता है। अतएव मनु ने अपने हाथ में सोमलता पाकर यह समझा कि उसे अदृश्य से आधिदैविक सङ्केत कर्म करने का मिला है।

सोम लता ने मनु को कर्म करने का संकेत दिया। कर्म की डोरी जीवन धनु पर चढ़ गई और मनु उससे छुटे तीर की भाँति कर्म मार्ग पर लक्ष्यनिष्ठ बढ़ने लगे। उनके मन में 'यज्ञ करो-यज्ञ करो' तीव्रता से गूँजने लगा। कोई चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है यज्ञ करो यज्ञ-करो। मनु विवश हो उठे, उन्हें शान्त स्थिर बैठना असंभव हो गया।

३—"रह न सके फिर थिर वे" में "चपलता" नामक संचारी भाव का समावेश हुआ है। तो "भरा कान" में 'स्मृति' का समावेश है। स्मरण, अभिलाषा चिंता' आदि मनोदशाओं का भी वर्णन समाविष्ट है। मनन करें।

"अदृश्य" "आधिदैविक" अथवा 'अतिमानवीय' (Supernatural) शक्तियों का अवतरण तब तक सफल नहीं माना जाता, जब तक वह नायक की कार्य प्रवृत्ति का अंग न बन जाये। काम का कथन मनु की प्रेरणा का अंग बन गया। यह हमारे कवि की सफलता का द्योतन करता है।

मनु के कानों में काम का उपदेश गूँज रहा था। "उसके (श्रद्धा के) पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो" (काम सर्ग), उसे रह-रह कर यह ध्वनि सुनाई पड़ती थी। मनु के मन में श्रद्धा को पाने की इच्छा तीव्र तर हो उठी। उनके मन में रंगीन आशा तीव्रता से उमड़ रही थी। मनु उस संबंध में विचार करने लगे।

४—मनु के हृदय में सोम-पान की प्यासी लालसा ललक रही थी उन्हें जीवन विभवहीन तथा उदास लगता था सोमपान के बिना।

५—"विज्ञान का नियम है कि क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया समान बल की होती हैं किंतु विपरीत दिशाओं की होती हैं। यह नियम सब लोकों में एक-सा है। हमारे प्रत्येक कार्य के अतिरिक्त भाव तथा विचार की भी क्रिया होती है। प्रथम हम किसी कार्य के संबंध में सोचते हैं, तब वह विचार सोची वस्तु पर पहुँच कर वहाँ क्रिया करता है, उस विचार के आते ही हमारे मन में—वासना, देह में—वैसा भाव—क्रोध, लोभ, स्नेहादि वैसे भाव उत्पन्न होते हैं और बाहर निकलकर दूसरों पर वैसा प्रभाव डालते हैं। इतनी क्रिया सूक्ष्म रूप से हो चुकने पर स्थूल कर्म अपना कार्य स्थूल जगत् में करता है। इस प्रकार प्रत्येक कर्म का विपाक स्थूल देह में, वासनादेह में तथा मनोमय कोश में हम पर होगा"

हमारे कवि के वर्णन में उपर्युक्त दार्शनिक आधार विद्यमान है।

जैसे प्रतिकूल पवन में नौका पीछे लौटकर गहरे जल में पड़कर एक गंभीर स्थिति उत्पन्न कर देती है और नाविक जीवन-रक्षा के लिए अधिकतम उत्साह से नौ-चालन में लग जाता है, ठीक वही दशा मनु की थी। ज्ञान पथ पर अग्रसर होता हुआ मनु निवृत्ति से प्रवृत्ति (कर्म भावना) की ओर लौट पड़ा था। वह जीवन प्राप्ति के लिये उत्साहपूर्ण अविराम साधना में रत होने का निश्चय कर चुका था।

६—भ्रांत—चित्त के नव विक्षेपों में एक "भ्रांति दर्शन" भी है। भ्रांति दर्शन के कारण यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता वरन् मिथ्या ज्ञान ही होता है।

बने ताड़ थे तिल के—तर्क-वितर्क में आस्तिक बुद्धि (श्रद्धा) का लोप हो जाता है।

श्रद्धा ने मनु के अवसादपूर्ण हृदय को सान्त्वना देते हुये बताया था कि केवल तप ही जीवन सत्य नहीं है। 'कर्म का भोग भोग का कर्म' जड़ का चेतन आनन्द है। और फिर 'समर्पण लो सेवा का सार' 'विधाता का मंगल वरदान' 'विजयिनी मानवता हो जाय' आदि का प्रस्ताव भी रखा। श्रद्धा के वचन से मनु के मन में उत्साह उत्पन्न हुआ। फिर काम ने बताया कि श्रद्धा प्रेम का संदेश सुनाने आई है, यदि तुम उसे प्राप्त करना चाहते हो तो उसके योग्य बनो। काम की इन बातों से मनु ने प्रेरणा प्राप्त की।

श्रद्धा की उत्साहित करने वाली बातों तथा काम की प्रेरणा देने वाली बातों ने मिलकर मनु के मन में एक भ्रांत भावना की सृष्टि की। वह उनका यथार्थ अर्थबोध न पा सके। और उसी भ्रांत भावना में तर्क-वितर्क रत होकर वे तिल का ताड़ बनाने लगे।

("नूरजहाँ" में भी आधिदैविक शक्तियों का अवतरण परियों के रूप में हुआ है, किंतु वह इतना निष्प्राण है कि उसको कोई भी महत्व नहीं दिया जा सकता)।

७-**सिद्धान्त**—पूर्व पक्ष के खण्डन के पश्चात् जो सत्य स्थिर होता है उसे सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धान्त तर्क द्वारा सभी आपत्तियों का तर्कपूर्ण समाधान के पश्चात् स्थिर किया हुआ सत्य है। सिद्धान्त प्रमाणित, विभावित तथा अनुभवसिद्ध होते हैं। न्याय की दुनिया में ऐसा ही होता है किन्तु भावना के संसार में इसके विपरीत होता है। मन पहले किसी सिद्धान्त को तत्सत्ग्रहण कर लेता है, स्थिर कर लेता है, फिर भिन्न-भिन्न रूपों से उसकी पुष्टि करता है, बुद्धि सर्वदा उसको सिद्ध करने के लिये तर्क द्वारा प्रमाण ढूँढ़ती है। जैसे मनुष्य ऋण लेकर उसके भरने के प्रयत्न में लगता है, उसी प्रकार तत्सत्ग्रहण किया हुआ सत्य भी ऋणात्मक (अभावात्मक) होता है, जिसको मानव विवश होकर यथार्थ प्रतिपादित करता है।

८—मन जब कोई निश्चित धारणा बना लेता है, तब सर्वदा उसको यथार्थ सिद्ध करने के लिये बुद्धि तथा भाग्य के सहारे विभिन्न कल्पनाएँ करता है।

९—मानव अपने मन की छाप बाह्य जगत् में देखने का स्वभाव रखता है। अतएव जब उसके मन में कोई बात घर कर लेती है, तब वह उसी बात की पुष्टि के लिये बाह्य परिस्थितियों के प्रत्येक अंग-अंश पर अपने ही भाव का आरोप करता है, अपने ही अंतरतम की भावना उसे अनल, जल तथा आकाश के व्यापारों में दिखाई पड़ती है।

१०—तर्क शास्त्र की परंपरा द्वारा भी वह अपने मनःकल्पित सिद्धान्त की पुष्टि करता है। और वह सम्यक् प्रकारेण यह ध्रुव समझने लगता है कि जो कुछ उसने दृढ़ किया है वही एक मात्र सत्य है, अभ्युदय का मार्ग है।

गहन—गूढ़, कठिन, दुर्बोध।

११—सत्य—"तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि,' (छान्दोग्य ६-८-७) 'श्रद्धया सत्य-माप्यते' (यजु १६-३०) तथा "दृष्ट्वा व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः" यजु० १६-७७ में जिस सत्य का उल्लेख है वह सत्य सरल, ऋजु तथा सृष्टि नियम के अनुकूल होता है। असत्य इसके प्रतिकूल होता है ।

मनःकल्पित सत्य में सत्य का प्रतिभास होता है इसी से वह दुर्बोध तथा गहन होता है ।

और सत्य ! यह एक शब्द आज समझने के लिये किन्तु निगूढ़, रहस्यमय तथा कठिन हो गया है । जैसे पिंजड़े का पक्षी पिजड़े की सीमित परिधि में ही डोलता है, उसी प्रकार सत्य भी सत्य की कल्पना करने वाले की बुद्धि की परिसीमाओं के भीतर ही प्रतिपादित रहता है । अपनी बुद्धि जिसे सिद्ध कर ले स्वीकार कर ले बस वही सत्य बन जाता है । इस प्रकार सत्य सापेक्ष बन जाता है ।

१२—ओ सत्य ! तुम को पाने के लिये सभी उतावले हैं, सभी तुम्हारी माला जपते हैं, सभी तुम्हारी खोज में रहते हैं, सभी तुम्हें जानना चाहते हैं। किन्तु जैसे छुईमुई का पौधा छूते ही कुम्हला जाता है उसी प्रकार जिस सत्य की कल्पना कर ली जाती है अथवा जिसे अपनी बुद्‌धि के अनुसार सत्य मान लिया जाता है उसे यदि तर्क द्वारा प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया जाता है तो वह एक क्षण भी ठहर नहीं पाता।

मनु की दशा आज यही है। उसने श्रद्धा की बातों तथा काम के उपदेश का यथार्थ अर्थ नहीं समझा। श्रद्‌धा ने "विजयिनी मानवता हो जाय" में समष्टि हित-चिंतन तथा प्रजा-वृद्‌धि की ओर संकेत किया, काम ने "यह लीला जिसकी विकस चली—प्रेम कला" की बात बना कर नारी असि का मूल्यांकन कर उसे अपनाने का उपदेश किया किन्तु मनु ने उसका उलटा अर्थ समझा और पार्थिव ऐहिक सुख-समृद्‌धि तथा कायामाया के प्रेम को ही साध्य मान बैठे।

जीवन (पार्थिव ऐहिक जीवन) को विभवहीन पाकर उसके ही समृद्‌ध बनाने को जीवन-लक्ष्य मानकर वह जीवन-वैभव, शारीरिक सुख की सामग्रियों की प्राप्ति तथा एकत्रीकरण में लग गया। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" का मार्ग छोड़कर वह प्रत्यक्ष से प्रेम करने का निश्चय कर बैठा और परोक्ष प्रेम की सत्ता ही भूल बैठा। अभ्युदय के मार्ग पर निःश्रेयस का ध्यान उसे नहीं रह गया। इस प्रकार वह भ्रम में पड़ गया। छान्दोग्योपनिषद् में विरोचन की कथा मिलती है, जिसने प्रजापति के संकेत का वितथ अर्थ किया और शरीर को आत्मा मान बैठा। मनु भी इसी आसुरी बुद्‌धि द्वारा पराजित हो गया।

१३—असुर—लौकिक अभ्युदय की कामना, शरीर में आत्मबुद्‌धि ये ही असुरत्व के लक्षण हैं। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित इन्द्र-विरोचन की आख्यायिका इस सम्बन्ध में मननीय।

मनु ने वितथ सिद्धान्त दृढ़ कर लिया। उसके मन में असुरत्व का बीजारोपण हो गया। जब क्षेत्र अनुकूल मिलता है तभी विकृतियाँ सुगमता से अपना कार्य कर पाती हैं। मनु की आसुरी मनःस्थिति में असुर पुरोहितों से भेंट हुई। वे किलात और आकुलि थे। ये किलात-आकुलि असुर पुरोहित भी जलप्लावन से बच गये थे। इन्होंने अनेक कष्ट सहे थे और इधर-उधर आश्रयहीन भटक रहे थे।

किलात-आकुलि—[किलाताकुली इतिहासुर ब्रह्माणावासतुः तौ होचतुः—श्रद्ध देवो वै मनुः—आवां नु वेदावेति। तौ हागत्योचतुः- मनो। याजयाव त्वेति] ब्राह्मणों में भी इस घटना का उल्लेख है, इस प्रकार यह वर्णन ऐतिहासिक है। देवासुर संग्राम अनादि एवं शाश्वत है। आसुरी कर्मकाण्ड को अपना कर ही दैवी सभ्यता का सर्वनाश हुआ। मांस, मदिरा, मैथुन, हिंसा आदि से ही जलप्लावन की घटना प्रसूत हुई। देव-पुत्र मनु आज पुनः असुरों के चंगुल में फँस गया।

१४—**आमिष लोलुप**—मांस भक्षण, सुरापान आदि आसुरी सम्पदा है। वेदों में जहाँ कहीं भी इनका वर्णन हुआ है, वह असुर ऋषियों द्वारा ही हुआ, पशु बलि भी असुर कर्मकाण्ड का ही अंग है।

मनु के पशु को देख-देख कर किलात-आकुलि की मांस-प्रिय-जिह्वा चञ्चल हो उठती थी और वे पशु की ओर लालच भरी दृष्टि से इस प्रकार देखते, जिससे उनके मन का भाव स्पष्ट प्रकट हो जाता था।

१५—आकुलि ने किलात से कहा, भाई बहुत दिनों से घास खाकर जी रहा हूँ। सामने पशु को देख रहा हूँ किंतु इसे भक्षण नहीं कर पा रहा हूँ। यह बड़ी कष्टप्रद अवस्था है।

१६—क्या कोई ऐसा ढंग नहीं है जिससे यह पशु प्राप्त हो सके और इसका मांस हम खा सकें। कहीं ऐसा होता कि बहुत दिनों के पश्चात् हमें पुनः आमिष भोजन का सुयोग मिलता और मैं पूर्णतः तृप्त होकर सुखानुभव कर सकता।

घूँट लहू के पीऊँ—यह टुकड़ा कितना सुंदर बन पड़ा है !

१७—बड़ी ही शिथिल पंक्तियाँ हैं। काव्य का रसत्व समाप्त हो गया है। आशय भिन्न प्रकार से व्यक्त हो सकता था किंतु लेखनी ही तो है, पथ न सूझ पड़ा। छंद १५, १६ में किलात को संबोधित किया गया है। निश्चय ही संबोधित करने वाला आकुलि है, क्योंकि वहां इन दोनों को छोड़कर कोई तीसरा नहीं। इन छंदों का उत्तर छंद १७-१८ में दिया गया है। यह उत्तर किलात की ओर से होना चाहिए, पर प्रसाद ने प्रमाद से लिख दिया—'आकुलि ने तब कहा।'

एक मृदुलता की—संस्कृति की रक्षिका स्त्री है। आकुलि को इसका ज्ञान है, इसीलिए वह श्रद्धा को अपने पथ में बाधा मानता है और कहता है कि नारी, जो दया,

क्षमा, प्रेम आदि गुणों की अधिष्ठात्री है, मनु के साथ है। यदि हमने मनु को जीत भी लिया, तो क्या नारी उसे पथ-भ्रष्ट होने देगी?

१८-१९—वह आलोक के समान तम को दूर भगा देने वाली है। जैसे सूरज की किरण बादलों के आर पार हो जाती है, वैसे ही उसके द्वारा मेरी काली माया बिद्ध हो जाती है। मेरा उसके सामने कोई वश नहीं चलता फिर भी चलो, आज कुछ किया जायगा। जो होगा, देखा जायगा।

२०—आकुलि और किलात इस प्रकार का निश्चय कर उस लतागृह के द्वार पर आये जहाँ मनु बैठ कुछ सोच रहे थे।

२१ कर्म—"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते

अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः चामृतम्" (मुण्डको० १०-८)

सुख दुःख रूपी फल भोग कर्मों के ही आश्रय से प्राप्त होता है।

यज्ञ—"ॐ अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्" ऋग्वेद का प्रथम मंत्र में ही यज्ञ का उल्लेख है। यज्ञ कर्मानुष्ठान का अंग है। कर्मानुष्ठान ही अभ्युदय का हेतु तथा धर्म का अंग है। "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करो" का उपदेश विभिन्न श्रुतियों में मिलता है। 'देवों भूत्वा देवं यजेत्' की बात विख्यात है। "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः (गीता ३-१०)। "यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः" (अथ० ९-१०-१४)।

स्वर्ग—'स्वर्गकामा यजेत्'। "अपाम सोममृता अभूमागन्म ज्योतिर्विदास देवान्" (ऋ० ४८-३) (मैंने सोम पान किया, अमृत हो गया स्वर्गलोक में आया, देवताओं को जान लिया) आदि से सिद्ध है कि यज्ञ का फल स्वर्ग ही है।

"यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्

अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्"

जिसमें दुःख का सम्पर्क नहीं, उपभोग के पश्चात् जो दुःखग्रस्त नहीं होता तथा इच्छामात्र से बिना इच्छा किये जो प्राप्त होता है, इस प्रकार का सुख स्वर्ग कहलाता है।

"पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः" (मुण्डको० १–६) में भी आहुतियों द्वारा स्वर्ग प्राप्ति की बात कही गई है।

विपिन—"तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः" (मुण्डको० २–११) में वन में रहनेवाले शान्त स्वभाव वाले विद्वानों द्वारा भगवत्प्राप्ति की बात आई है। यह निश्रेयस् मार्ग है।

(ऊपर कहा गया है कि मनु ने जीवन का लक्ष्य ही भ्रांतिपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित किया)

मनु विचार कर रहे थे कि कर्मानुष्ठान यज्ञकर्म से हमें जीवन में वे स्वर्ग सुख सद्यः-सुलभ हो जावेंगे जिनकी हम कल्पना करते हैं, जिनका हम स्वप्न देखते हैं। जिस प्रकार

तपोवन में तपस्वी साधना जगाकर भगवत्प्राप्ति करता है और पूर्णकाम होता है उसी प्रकार इस विपिन में निर्जन स्थान में मैं यज्ञानुष्ठान करके सफल मनोरथ बनूँगा। मेरे मन की आशा-कली इसी विपिन में खिलेगी।

२२—मनु ने यज्ञ करने का निश्चय तो कर लिया किंतु यजमान मनु के लिये पुरोहित कहाँ मिलेगा। यदि यज्ञ किया गया तो वह किस रीति, किस विधान से संपन्न होगा।

२३—श्रद्धा—'व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते। य० १९–३०।

व्रत से उत्तम अधिकार (योग्यता), योग्यता से आदर, आदर से श्रद्धा प्राप्त होती है। ऋक्० १०–१५१ के २ से ५ मंत्र मननीय।

मेरे साथ केवल एक प्राणी श्रद्धा है किंतु वह मेरी प्रिय है, साध्य है, इष्ट है! फिर इस निर्जन में यह कार्यभार कौन सँभालेगा ! मैं पुरोहित रूप में किसे पाने की आशा करूँ ? किसे खोजूँ, कहाँ खोजूँ ?

मनु इस विचार में डूब-उतरा रहे थे कि असुर पुरोहित (किलात-आकुलि) सामने आये।

२४—मित्र—"सर्वा आशा मम मित्र भवन्ति" (अथ० १९–१५–६); "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" (यजु० ३६–१८) में मित्र हितकारी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। "धीरज धर्म मित्र अरु नारी, आपद-काल परिखिये चारी" की बात तो लोक-विदित है।

जिनके लिये यज्ञ होगा—यज्ञानुष्ठान देवताओं की प्रसन्नता के लिये होता है। "यज्ञो ह देवानामन्नम्", यज्ञ ही देवों का अन्न है।

किलात आकुलि ने बिना पूछे ही मनु के मन की बात जान ली। इससे सिद्ध है कि 'सर्वज्ञातृत्व' आसुरी संपदा भी हो सकती है। "स्थान्युपनिमन्त्रेण सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्" इस संबंध में मननीय (योग० ३–५१)

मनु सोच-विचार में निमग्न ही थे कि असुर पुरोहित उनके सामने आये और उनसे गंभीरमुद्रा में कहा कि मनु जिन देवताओं की प्रसन्नता के लिये यजन करना चाहते हो उन्हीं देवताओं ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है।

२५—यदि तुम यज्ञ करना चाहते हो तो करो। तुम्हे पुरोहित चाहिये तो हमलोग पुरोहित का कार्य करने को तैयार हैं। तुम्हें यज्ञ का विधान नहीं ज्ञात है, तो हम विधान बतायेंगे। हमको विदित है कि तुम पुरोहित के लिये विकल हो। इस आशा में कि कोई पुरोहित तुम्हें मिले, तुमने बड़ा कष्ट सहा है।

२६-२७—मित्र वरुण—"ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः" (तैत्तिरीयोपनिषद् शान्ति-पाठ)। मित्र दिन और प्राण के अधिष्ठाता तथा वरुण रात्रि और अपान के अधिष्ठाता हैं। मित्र वरुण वैदिक देवता हैं। "देव-जगत् पर विश्वास हिन्दू धर्म का अङ्ग है। यह

स्थूल जगत् सूक्ष्म दैवी जगत् के अधीन होकर सुरक्षित होता है। अनन्त कोटि-ब्रह्माण्ड नायक सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् के प्रतिनिधि होकर हमारे इस चतुर्दश लोकमय ब्रह्माण्ड के सृष्टि-कार्य में भगवान् ब्रह्मा, रक्षा कार्य में भगवान् विष्णु और प्रलय कार्य में भगवान् शिव नियुक्त हैं। उनके अधीन रहकर वसु नामक अनेक देवता, रुद्र नामक अनेक देवता और आदित्य नामक अनेक देवता अपने-अपने पदों पर नियुक्त हैं'। मित्र वरुण भी द्वादश आदित्यों में हैं।

ज्वाला की फेरी—"यदा लोलायते ह्यर्चिः समृद्धे हव्यवाहने" में लपलपाती ज्वालाओं का उल्लेख है। यज्ञानुष्ठान 'वेदिकरण' तथा 'अग्निसम्मार्जन' की विधि है। जलती हुई अग्नि में ही हवि का यजन होता है।

इस जगत् में मित्र और वरुण भगवान् के प्रतिनिधि हैं। मित्र दिन के अधिष्ठाता हैं। दिन का उजाला उन्हीं का प्रतिबिंब है। वरुण रात्रि के अधिष्ठाता है। अन्धकार उनकी प्रतिच्छाया है।

वे ही मित्र-वरुण हमारे पथ-प्रदर्शन बनें। हमें विश्वास है कि हम 'अग्निउद्धरण' से 'ब्रह्मदर्पण' की सभी विहित विधि को नियमपूर्वक संपादित करेंगे और हमारा यज्ञानुष्ठान सफल होगा। आओ चलो आज फिर यज्ञवेदी पर अग्नि प्रदीप्त करें।

[इस प्रकार किलात-आकुलि ने अपनी कार्य-कुशलता, विद्वत्ता तथा कर्मकाण्डी होने का परिचय दिया। मनु को विश्वास हो गया और उन्होंने यज्ञ किया]

२८-३१ कर्म—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" (ईशा० २) में शास्त्र-विहित कर्मों को करते सौ वर्ष जीने की बात कही गई है।

"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञित." (गीता ८-३) के अनुसार कर्म ही सृष्टि-मूलक है।

मानव के शुक्ल, अशुक्ल तथा शुक्लाशुक्ल कर्मों के विपाक से वासनाओं की सृष्टि होती है। वे कर्म संस्कार रूप से अन्तःकरण में संग्रहीत रहते हैं। ये ही संचित कर्म हैं। हमारे समस्त पूर्वकर्म संचित कर्म हैं, उसमें जितना कर्म देवता इस जन्म से हमसे भुगतवाना चाहते हैं, वही प्रारब्ध बनकर क्रियमाण कर्मों की प्रेरणा बनता है। उन कर्मों में से जो कर्म जिस समय फल भोग भराने के लिये तैयार होता है, उस कर्म का जैसा फल होने वाला है, वैसी ही वासना उत्पन्न होती है, अन्य कर्मों के फल-भोग की नहीं। जाति, देश और काल तीनों का व्यवधान रहने पर भी कर्मों के संस्कार में व्यवधान नहीं होता, क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों एकरूप होते हैं। स्मृति और संस्कारों की एकता होने के कारण जो फल मिलता है उसी के अनुकूल भोग-वासना अर्थात् स्मृति उत्पन्न हो जाती है। (योग दर्शन का अध्ययन आवश्यक)।

हमारे कवि की उपर्युक्त पंक्तियों के पीछे इसी दार्शनिक मनन का बल है। यज्ञ के प्रस्ताव से सहमत होकर मनु सोचने लगे :—

२८—पूर्वजों-वंशजों के क्रम से क्रमिक विकास को प्राप्त कर्मों (यज्ञानुष्ठान) की श्रृंखला कितनी सुन्दर है। इसी कर्मजाल में जीवन-साधन की सुखमय घड़ियाँ उलझी हैं। इन्हीं कर्मों द्वारा जीवन को सुखमय बनाने की सामग्री छिपी है।

२९—इसी कर्म-संस्कार में अनेक कृतियाँ संग्रहीत होकर मानव की कर्म-प्रेरणा बनाती हैं। यही संस्कार रोमांचकारी फल प्राप्ति के लिए मन को मस्त करने वाली स्मृतियाँ बन कर उदय होते हैं।

३०—हम भी इसी यज्ञ कर्म में लगेंगे, जिससे जीवन की साधारणता में विशेषता का रंग भर जावेगा, जीवन को शिथिल गति में उसी प्रकार तीव्रता तथा मधुरता आजावेगी, जैसे मादक स्मृतियों अथवा द्रव्यों से स्फूर्ति आ जाती है। उत्सव की लीला से निर्जनता की उदासी दूर हो जावेगी।

३१—श्रद्धा के हृदय में भी एक विशेष प्रकार का कुतूहल भर जावेगा। "हमारे पूर्वज देवगण ने भी यज्ञ किया था और इसी यज्ञ द्वारा उन्होंने अपना जीवन सुखमय बनाया था। उन यज्ञों की स्मृतियाँ अब भी अवशिष्ट हैं। उनका ध्यान आते ही मनु सुखी, रोमांचित तथा मस्त हो जाता है।" उपर्युक्त पंक्तियों से यह ध्वन्यात्मक बोध भी होता है।)

यह सोचते-सोचते मनु का मन, जो नितप्रति नवीनता चाहता था, प्रसन्नता से नाच उठा।

३२—यज्ञ समाप्त हो चुका था किन्तु वेदी पर अग्नि धधक रही थी। यज्ञस्थली का दृश्य भयानक तथा हृदय को कँपा देने वाला था। कहीं रक्त के छींटे पड़े थे, कहीं हड्डियों के टुकड़े।

३३—यज्ञस्थली का वातावरण देखकर मन में उसी प्रकार घृणा उत्पन्न हो रही थी जैसी किसी कुत्सित (पापात्मा) व्यक्ति को देखकर उत्पन्न होती है। बलि किये जाने वाले पशु का कातर स्वर और बलि करने वालों की हँसी परस्पर मिलकर वातावरण में गूँज रहे थे, जिससे उक्त घृणित वायु-मण्डल की सृष्टि हो रही थी।

३४—मनु के आगे सोम से भरा पात्र रखा था और हुतशेष मांस भी पड़ा था। श्रद्धा वहाँ न थी जिससे मनु के सोये भाव पुनः जाग उठे। (ये भाव अधिकार तथा अहम्मन्यता के थे।)

पुरोडाश—होम करने के पश्चात् बची हुई सामग्री।

[वेदों का मनमाना अर्थ करने वालों ने तथा असुर ऋषियों प्रक्षेपकों से यज्ञ के साथ बलि—पशु-बलि—की प्रथा चली। वस्तुतः 'आहवनीये मांसप्रतिषेधः' ही विहित मार्ग था।]

३५—मैं इस यज्ञ से श्रद्धा को प्रसन्न करना चाहता था, उसे प्रसन्न मुद्रा में देखना चाहता था, किन्तु श्रद्धा ने इसमें भाग नहीं लिया, वरन् वह इससे विलग होकर

दूर जा बैठी। फिर इस यज्ञ से क्या लाभ हुआ। मनु की अहंकार-भावना तीव्र हो उठी और वे रुष्ट होकर जोर-जोर से कहने लगे।

३६—जिस श्रद्धा को मैंने अपने जीवन के सारे सुखों की सुन्दर साकार प्रतिमा समझ रखा है, उसका ऐसा व्यवहार। फिर मैं उसे स्पष्ट अपना कैसे मानूँ? अपने पर तो स्वत्व है, अधिकार है, अपनत्व है, स्ववशता है। श्रद्धा पर मेरा वश नहीं, वह मेरी अनुगामिनी नहीं, फिर उसे मैं निर्बाध अपनी कैसे घोषित करूँ?

३७—मैं जिसे प्रसन्न करना चाहता था, वही प्रसन्न न हो सकी? हो न हो इनमें कोई रहस्य अत्यन्त गहराई में छिपा है। जिस पशु ने जीते जी मुझे श्रद्धा का अनन्य का प्रेम नहीं पाने दिया, क्या वही पशु मर कर भी मेरे सुख में बाधा उत्पन्न करेगा।

३८—श्रद्धा रुष्ट हो गई, अब मुझे क्या करन चाहिये? हम उसे मनाने का प्रयत्न करें या चुप रहें, इस आशा में कि कालान्तर में वह स्वयं मान जायेगी। मुझे इन दोनों मार्गों में से किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये?

३९—मनु हुतशेष मांस का खाने तथा सोम रस का पान करने लगे। इस प्रकार श्रद्धा की अप्रसन्नता से उत्पन्न अपने मन के अभाव की पूर्ति मद्य-पान से करने लगे।

४०—सन्ध्या की धुँधली छाया में पर्वत की चोटी जहाँ आकाश से मिली हुई दिखायी देकर रेखा बनाती है, उसी स्थान पर क्षितिज से मिली चन्द्रमा की मलिना क्षीण लेखा की आकृति दिखाई दे रही थी।

उपर्युक्त पंक्तियों में द्वितीया के चन्द्रमा का चित्र अथवा चन्द्रमौलि का चित्र अंकित है। इससे व्यञ्जित होता है कि मनु ने यज्ञ अमावस्या को किया था। "अमावस्या तथा पूर्णिमा को दर्शपौर्णमास यज्ञ अनुष्ठित होते थे। यजुर्वेद में पहले इन्हीं यज्ञों के मन्त्रों का विधान है। इस याग में पहले उपवास करके यजमान और उसकी पत्नी को संयम-पूर्वक रात्रि व्यतीत करनी पडती थी। दूसरे दिन यज्ञ का सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया जाता था। अमावास्या को अग्नि देवता के लिए पुरोडाश, इन्द्र देवता के लिए दधि द्रव्य तथा इन्द्र देवता के लिए पयोद्रव्य के त्याग रूप तीन याग होते थे। पूर्णिमा को पहला अग्नि देवता सम्बन्धी अष्टकपाल वाला पुरोडाश याग, दूसरा अग्नि और सोम सम्बन्धी आज्य द्रव्य वाला उपांशुयाग और तीसरा अग्नि देवता सम्बन्धी एकादश कपाल वाला पुरोडाश यज्ञ होता था। इस प्रकाश दर्शपौर्णमास के कुल छः याग होते थे।" (शतपथ ब्राह्मण)।

प्रकृति के अनुसार गीता में भगवान् ने मनुष्य मात्र को दो वर्गों में विभक्त किया है। देवता और असुर। मनु को असुर पुरोहित यज्ञ कराने को मिले। असुर नास्तिक बुद्धि वाला कुकर्मी होता है। वह सर्वनाश, पतन की ओर ही बढ़ता है। वितथ सिद्धान्तों को स्थिर करके वह स्वेच्छाचारी बन जाता है। अपनी स्वार्थसिद्धि के

लिए वह कोई भी छल, कोई भी वंचना कर सकता है। 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा न करो। यह वेद की स्पष्ट आज्ञा है। हिंसा और पशुवलि को वैदिक मानने की कुरुचि—आसुरी रुचि—ने शब्दों को वे अर्थ पिन्हाये, जिनसे उनकी कुरुचि का पोषण हो। संस्कृत वाङ्मय की जटिलता से ही ऐसा सभव हुआ। हमारा कवि भी पशुवलि को आसुरी वृत्ति मानता है। वह तो देव सर्ग के नाश का कारण ही पशु-यज्ञों को मानता है।

"देव यजन के पशु यज्ञों की वह पूर्णाहुति की ज्वाला
जलनिधि में बन जलती कैसी आज लहरियों की माला"

मनु के मन में इन कुकृत्यों की प्रतिक्रिया हुई थी किन्तु उसका ज्ञान श्मशान-ज्ञान ही तो था। वह पुनः वासना-प्रेरित हो वही कुकृत्य आसुरी प्रेरणा से कर बैठा।

४१—श्रद्धा को पशु बलि से दुःख हुआ। उसका मन विराग की भावनाओं से बोझिल हो गया। उसके मन में यज्ञ, मनु और जीवन सभी के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। वह अपनी उस गुफा में जिसमें वह सुख नींद सोती थी, लौट कर आई और मन [illegible] ने लगी।

४२—सूखी लकड़ी की गांठ जल रही थी जिससे क्षीण [illegible] रहा था। जिससे उस अंधेरी गुफा में हल्की आभा फैल रही थी।

४३—यह अग्नि ठंडी हवा पाकर कभी विप्रभ [illegible] ती थी और कभी जुगजुगा उठती थी। इस प्रकार वह मनमाना जल-बुझ रही थी।

४४—श्रद्धा किसी पशु का कोमल चर्म बिछाकर उस [illegible] र लेटी थी। ऐसा लगता था मानो श्रम स्वयं शिथिल होकर आलस्य के भार से वि[illegible] करने को लेटा हो।

४५—जगत् धीरे-धीरे अपने सीधे रास्ते, सुनिश्चित नियमानुसार अपने पथ पर चल रहा था। क्रमानुसार तारे उगने लगे और चन्द्रमा के रथ में मृग जुत गये अर्थात् चन्द्रमा निकल आया, अपने पथ पर चलने लगा।

मृग—चन्द्रमा के रथ में मृगों की कल्पना पौराणिक है। (देखिये कल्याण ब्रह्मपुराणांक २-२१)

सुभग मृगों के रथ पर चलकर चन्द्रदेव सुखदायक—(समुद्र मंथन)

४६—('आँसू' में भी यह चित्र है)।

रजनी ने चाँदनी के लंबे आँचल को लटका दिया, जिसकी छाया में दुःखी जगत् को सुख मिलता है।

४७ पर्वत की ऊँची चोटियों पर चंचल प्रकृति किशोरी हँस रही थी। उसका उज्ज्वल हास ही जगत् में कोमल चाँदनी के रूप में बिखर रहा था।

४८—(इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः (गीता २-६१)। मन को यह

प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार हर लेती हैं। "मथ डाला किस तृष्णा से उर में बड़वानल जलता।"

श्रद्धा के मन में दुर्दनीय वासना उमड़ रही थी, किन्तु वह अपने मनोभाव को लज्जा के कारण व्यक्त करने में असमर्थ थी। उसका मन उन्मादित हो रहा था और उसके हृदय में काम-जन्य पीड़ा हो रही थी जो उसके मन को मथ रही थी।

उन्माद—वियोगावस्था में संयोगोत्सुक हो बुद्धि विपर्यय-पूर्वक वृथा व्यापार करने को उन्माद कहते हैं (रसकलस २६४)।

व्रीड़ा—कारण विशेष से लज्जा का संचार (रसकलस ५३)।

लालसा—इच्छा।

पीड़ा—व्याधि का अंग है (रसकलस ५६)। अथर्ववेद में काम के उद्वेग का वर्णन 'तीर से बिंधने' की उपमा से किया गया है। फोड़े में 'मथन' की क्रिया होती है। काम-पीड़ा अनुभव की वस्तु है।

४९—उसके हृदयाकाश में विराग प्रेरित आकुलता की बदली घिरती थी, जिस से आँसू वर्षा होती थी, किन्तु उसके मन में मनु के प्रति प्रेम की जलन व्याप्त थी, जो इसी बदली के गलने से भी प्रशमित नहीं होता था। पानी और बिजली का साथ होना स्वाभाविक ही है।

५०—श्रद्धा विवशता की भावना लिये कभी आँखें खोलती, कभी भीषण दृश्य की स्मृति से उसे बन्द कर लेती थी। मन की भी दशा आँखों की-सी थी। मनु उसका स्नेह-पात्र था, किन्तु पशुबलि के नृशंस कृत्य से श्रद्धा के मन में उसके प्रति कटुता उत्पन्न हो गई थी, कारण कि उसने कुटिल व्यवहार किया था।

५१—कितने दुःख की बात है कि जिसे मैं चाहती हूँ, प्यार करती हूँ, वह मेरे अनुकूल नहीं वरन् इस भाँति प्रतिकूल है। मैंने अपने मन में इनके प्रति सुन्दर धारणा दृढ़ाई थी, इनके प्रति मेरे मन में मृदुल भावनाएँ थीं, किन्तु वे सब अब वितथ कल्पना-मात्र ही प्रतीत हो रहे हैं। मेरे मानस के भावों का स्थूल चित्र न बन सका, वे साकार न हो सके, वरन् उसी भाँति असत्य सिद्ध हुये जिस प्रकार स्वप्न में देखी वस्तुएँ।

५२—मेरा हृदय इनके प्रति प्यार संजोकर वसंतोपम श्री प्राप्त कर चुका था। शान्ति शीतलता का यह वातावरण आज क्षुब्ध हो उठा है। इनके अप्रिय व्यवहार से मेरे मन के मधुवन में भयंकर आग लग गई है। उसे मैं किस प्रकार बुझाऊँ ? कौन मुझे उपदेश करेगा विहित मार्ग का ? यह दूसरा कौन है ! सुनसान वातावरण ! निर्जन स्थान !

५३—जो वेदना इस सीमाहीन भुवर्लोक को अपना घोंसला बनाये हुए हैं अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है वही वेदना आज मेरी पलकों में थकन और लाली बनकर समा गई है।

(रातभर की प्रतीक्षा पर भी प्रिय-प्राप्ति न होने पर आँखों में लाली और थकावट विद्यमान हो जाती है। 'अलस सवेरा' का टुकड़ा इसी का बोध कराता है)।

५४—पवन में प्रकंपन है। चारों ओर व्यापक सन्नाटा छाया है। सभी दिशाओं से एक मलिन उदासी के वातावरण की सृष्टि हो रही है, जो नभ में परिव्याप्त हो रही है।

५५—मेरा मन प्यार पाने को प्यासा है। उसके न बुझने से बेनी के साथ प्यास की तीव्रता भी बढ़ गई है। ऐसा लग रहा है कि मैं युगों से असफलता का ही अनुभव करती आ रही हूँ और इस अनुभव के कारण प्यास की मात्रा और भी अधिक हो गई है।

५६—सारा संसार भयंकर जलन से भयभीत हो उठा है और उसी के अन्तरतम की जलन के धुएँ से घनी नीलिमा उठकर नीले आकाश की सृष्टि कर रही है।

५७—समुद्र अशांत है और लहरें व्याकुल होकर करवट बदल रही हैं। तम और प्रकाश को विभक्त करने वाली क्षीण रेखा जलकर काली पड़ी दिखाई दे रही है। [चक्रवाल चन्द्र के परिवेश को भी कहते हैं—अन्य टीकाकारों ने चक्रवाल का यही अर्थ ग्रहण किया है। किन्तु रेखा शब्द हमें दूसरा अर्थ लगाने पर विवश करता है]। चक्रवाल क्षितिज को भी कहते हैं।

५८—घने धुएँ के गोलाकार आवर्तन में ज्वाला इस प्रकार नाच रही है। आकाश में तारे यों चमक रहे हैं, जैसे अंधकार का सर्प स्वय अपनी मणियों की माला धारण किये हो। (कुंडलिन् सर्प को कहते हैं क्योंकि वह कुण्डल बनाकर बैठता है। धूम्र-चक्र की निर्मिति भी इसी प्रकार होती है)।

५९—संसार में फैली विषमता (असमानता ही विषमयी है। इसी से सारा संसार दुखी है, सारा जग हाहाकार मचा रहा है, सारा जग रो रहा है। देखने में मनुष्य सरल प्रकृति का लगता है किन्तु उसके हृदय में कपट तथा दयाशून्यता बसती है। बाह्य और अन्तर में यह असमानता दूसरों को छलती तथा दुःख में डुबाता है।

६०—पूर्वोक्त छल निर्ममता विषाक्त डंक के सदृश चुभने पर बड़ी ही आतुर बनानेवाली पीड़ा उत्पन्न करते हैं जो निरन्तर टीसा करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे पाप निरन्तर आँखों के सामने नाचा करता है एक क्षण भी विलग नहीं होता।

६१—मानव जब कुशल सजग चेतना के पथ से हट जाता है तो वह भ्रांति में पड़ जाता है। अवचेतना या अर्धचेतना में वह विहित पथ भूल जाता है। इसी क्रिया को भूल की संज्ञा दी जाती है। भूल चाहे नगण्य बिन्दु-सी सूक्ष्म ही क्यों न हो, उससे सर्वदा दुःख और अवसाद की नदियाँ उमड़ा करती हैं।

६२—वही भूल अपराध की संज्ञा भी प्राप्त करती है। मानव की दुर्बलताएँ ऐसा मायाजाल रचती हैं कि मानव से भूल तथा अपराध हो ही जाते हैं। अतएव अप-

राध को यदि दुर्बलता की माया कहें तो यथार्थ नहीं होगा। अपराध संसार की वह मादकता है जो निषिद्ध है अथवा यों कहिये कि अपराध संचिततम वासना की छाया है।

६३—हे देव ! यह चन्द्र का खप्पर नील गरल से भरा हुआ है। इस गरल को तुम ताराओं की शान्तिमय निमीलित आँखों से पान कर रहे हो। अर्थात् विषपान करके भी शान्त चित्त रहते हो।

६४—देव ! संसार की समस्त विकृतियों का विष पीकर तुम सृष्टि को पुनः जीवित रहने का वरदान देते हो। किंतु तुम में इतनी शीतलता कहाँ से आई जो अगाध पाप की ज्वाला तुम्हें तनिक भी दुःख नहीं पहुँचाती।

(कपाल—सोमयज्ञ में प्रयुक्त होते हैं, उसमें सोम भरा होता है)

६५—हे देव, नीलाकाश की लहरों पर अडिग आसन लगाये हुए तुम कौन हो ? तुम हो तो अदृष्ट किन्तु तुम्हारे तन से निकलते गिरते स्वेद-कण सदृश ये तारे तुम्हारा पता बता रहे हैं।

'स्थिर सुखमासनम्' (योग० २-४६)। गीता अध्याय ६-११ से १३ में आसन की स्थिर अचल स्थापना की बात है। आसन बैठने के ढंग तथा जिस पर बैठा जाय दोनों को कहते हैं।

योगी का चित्र है। गीता अध्याय ६ मननीय। वर्णन से शिव के विषपान का बोध होता है। देखिये "समुद्र मंथन"।

६६—कर्म कुसुम की अंजली—पूजा में पुष्पांजलि समर्पण की जाती है। भक्ति-भाव युक्त कर्म की ओर संकेत है। किन्तु भक्तिभावयुक्त सकाम कर्म से परधाम की प्राप्ति नहीं होती, वरन् फिर संसार में लौटना होता है।

गीता ८-१६ में बताया है कि ("आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन") ब्रह्मलोक से लेकर सर्वलोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं अर्थात् उनके प्राप्त करने पर फिर इस लोक में लौटना होता है।

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (गीता); इष्टापूर्वमन्यमानावरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति (मुण्डको० १-२०)। आदि मननीय।

लोक-पथिक—संसार यात्रा करने वाले प्राणी।

छायापथ—तारकमण्डल; आकाशगंगा।

देव मर्त्यलोक से थके कितने पथिक छायापथ में विराजमान लोकों को प्राप्त करके तुम्हारे चरणों में अपनी कर्म-पुष्पांजलि भेंट करने के लिए आते हैं।

६७—किंतु कठिनता से प्राप्त होने वाली तुम्हारी स्वीकृति उन्हें कहाँ मिलती है ! तुम

इनकी कर्म-पुष्पाञ्जलि को कहाँ स्वीकार करते हो ? और उन्हें उसी प्रकार तुम्हारे द्वार से लौटना पड़ता है ।

६८—"पल्लिवत पुष्पित नवल नित संसार विटप नमामहे" में तुलसीदास ने 'क्षण क्षण होती प्रकट नवीना बनकर उसकी 'काया' का ही भाव अङ्कित किया है। केवल रूपक का अंतर है । तुलसीदास ने परंपरा-प्राप्त विटप का रूपक लिया किन्तु हमारे कवि ने विज्ञान-जगत् से नर्तनशील कणिकाओं द्वारा जगत् निर्माण के सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए प्रेरणा ग्रहण की। विलासबुद्धि का अवचेतन भी इस प्रेरणा में सहायक है। नर्तकी का दृश्य भी सामने है। श्रमशीला नायिका का अङ्ग नर्तन के पश्चात् और निखार पर आ जाता है, मांसपेशियों का शैथिल्य नाश होने से। उसी प्रकार माया सृजित विश्व अविरल विनाश के प्रखर नर्तन से क्षण-क्षण नवीनता प्राप्त करता है।

६६—विनाश की लहरों में सृष्टि का यह क्रम बताता है कि नाश होने वाले अणु अपनी पूर्णता-प्राप्ति के प्रयास में मिटाकर पुनः बनाते रहते हैं। इसीसे जीवन जर्जर नहीं होता, उसका यौवन बना रहता है अथवा यों कहिये कि इसी से जग प्राप्त जीवन पुनः जवान हो जाता है। भूल अथवा अपराध पूर्णत्व प्राप्त करने का साधन तो नहीं है ?

७०—लय-सृजन का यह व्यापार महान् वेग से निरंतर चलता रहता है, कभी भी विराम नहीं लेता। विनाश क्षणिक हैं, इनमें शाश्वत कल्याण (जीवन) सर्वदा मंद हास करता रहता है। अर्थात् इसके मूल में शाश्वत आनन्द के भाव क्रीड़ा करते रहते हैं।

(इस संबंध में "तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्" योग० ४-१ मननीय।)

७१—क्या मानवता (मानवधर्म) यही है कि एक प्राणी दूसरे प्राणी के प्रति सहृदयता की भावना न रखकर अप्रेम की भावना रखे ? प्राणी के प्रति प्राणी निर्दयता का व्यवहार करे, क्या यही उचित है ? लगता है, प्राणी के मन में दूसरे प्राणी के प्रति हृदयहीनता का भाव ही अब बच रहा है ? [यदि ऐसा न होता तो मनु ने पशुबलि क्यों की !]।

७२—एक की हँसी, तुष्टि दूसरे के रोदन का कारण क्यों बनती है ? एक मनुष्य दूसरे को रुलाने में ही क्यों सुख का अनुभव करता है ? प्रत्येक रुकावट से प्रगति को स्फूर्ति मिलती है जैसे कमर कसने से शरीर में स्फूर्ति आती है। इस प्रक्रिया में कौन-सा रहस्य निहित है ?

७३—कोई प्राणी दूसरे के अपने प्रति किये दुर्व्यवहारों को कैसे भूल सकता है ? दूसरे के अप्रिय व्यवहारों को कोई किस प्रकार प्रिय बना पावेगा ? विष को अमृत बनाने का कौन उपाय है ?

यही जीवन के व्यंग हैं ! कविता कितनी बलवती हो गई है, इन अभिव्यञ्जनापूर्ण वाक्यों में ! दर्शन की जटिल समस्याएँ सरल तरल बन कर इन पंक्तियों को सरस बना रही हैं। मनन करते ही अर्थ का बोध हो जाता है। तर्क बुद्धि विश्लेषण में चाहे समर्थ न हो, आत्मा तथ्य का साक्षात्कार कर लेती है। कलाकार का कला रसत्व का सर्जन करने में जब समर्थ होती है, तभी शब्द, अर्थ तथा रस ध्वनि मात्र से हृदय में उतर पाते हैं। कामायनी का सबसे बड़ा चमत्कार उसी को ध्वन्यात्मकता है। "ध्वन्यालोक" की कारिकाओं का ज्ञान इस दिशा में सहायक होगा।

श्रद्धा अपने कक्ष में मनु के कटु व्यापार (पशुबलि) से खिन्न होकर "कितना दुःख" से "अमृत बना पावेगा" तक सोचती हुई जीवन दर्शन की अनेक समस्याओं से उलझती है और कुछ के प्रश्नात्मक उत्तर भी पाती है। ये उत्तर उसके प्रश्नों में ही निहित हैं। मनु ने श्रद्धा के प्रिय पशु की हत्या यज्ञ में की ! पशु की कातर वाणी श्रद्धा ने सुनी और हत्या के पश्चात् असुर पुरोहितों का हँसना भी। उसकी मनोव्यथा को समझना सबके बस की बात नहीं। वह अपने शयन-कक्ष में सोचती है कि मनु को मैं इतना प्यार करती हूँ, मनु भी जानते थे कि यह पशु मुझे कितना प्यारा है, फिर उन्हें मेरे कष्ट की तनिक भी चिन्ता न हुई। मनन की गति तीव्र होने पर वह पाप-पुण्य, सुख-दुःख, लय-सर्जन के रहस्यों मे आ उलझी और अन्त में पूछ उठी कि प्रिय के अप्रिय व्यवहारों को कैसे प्रिय बनाया जा सकता है विष को अमृत बनाकर पीना सरल तो नहीं !

७४—[इसके पहले की पंक्तियों मे विराग भावना की सृष्टि होती है; ठीक उसके पश्चात् अनुराग—तरल वासना—। डूबी पंक्तियों का अवतरण खटकने की बात है किन्तु कलाकार वस्तुस्थिति से विवश है]।

वासना—"जितने स्थायी अथवा संचारी भाव हैं वे वासना रूप से सदैव मानव मात्र के हृदय में उसी प्रकार विद्यमान रहते है जैसे पृथ्वी में गंध। किन्तु पृथ्वी की गंध वृष्टि होने पर ही विदित होती है। इसी प्रकार भावोदय भी विशेष कारणों से होता है।"

तरल वासना—रति की भावना।

मनु ने यज्ञ किया, पुरोडाश के साथ सोम का पान किया। यज्ञ के पश्चात् 'श्रद्धा' को वहाँ न देखकर मनु ने कुछ सोच-विचार भी किया।

'श्रद्धा रूठ गई तो फिर क्या उसे मनाना होगा
या वह स्वयं मान जायेगी किस पथ जाना होगा'

की समस्या भी सामने आई, किंतु मनु उसे छोड़कर सोमपान में लग गये। सोमपान के पश्चात् मनु के मन में मादकता भर गई। उन्होंने श्रद्धा के रूठने से जो अभाव (रिक्ति) अनुभव किया, वह अभाव मादकता भरने से पूरा हो गया। फिर जो अप्रिय

व्यवहार करने की हिचक थी वह भी जाती रही, सोमपान ने रति की भावना को बल दिया, जगा दिया। अतएव उसी के आवेश में मनु निर्बाध गति से श्रद्धा के कक्ष में आये।

७५—श्रद्धा सोच-विचार में डूबती-उतराती सो गई थी। मनु ने श्रद्धा को सुप्त अवस्था में देखा। मनु ने इस समय जिस रूप-माधुरी का दर्शन किया उसका मनोरम चित्र आगे की पंक्तियों में वर्तमान है। चित्र क्या है भाव, अनुभाव, विभाव की एक रूप-राशि!

श्रद्धा के खुले चिकने तथा मनोरम कंधों में बड़ा आकर्षण था ऐसा लगता था जैसे वे दर्शक को अपने पास बुला रहे हों! उसके उन्नत उरोजों को देखकर हृदय में सुख की लहर उठती थी जिसमें आलिंगन के भाव तैरते थे। अथवा यों कहिये कि उसके उन्नत उरोजों को देखकर ऐसा सुख मिलता था जो दर्शक को आलिंगन पर विवश करता था।

७६—जान कीट्स ने साँस की बढ़ी गति का वर्णन किया है—

"Pillowed upon my fair love's ripening breast
Thus to feel for ever its swift rise and fall"

श्रद्धा के उरोज निःश्वासों के कारण नीचे होकर फिर ऊपर उठते दिखाई देते थे, जिस प्रकार चाँदनी से पानी में ज्वार उठता है।

[लार्ड बाइरन ने लिखा—

"She walks in beauty like the night
Of cloudless climes and starry skies"

यद्यपि वह सुकुमारी सो रही थी फिर भी उसका सौन्दर्य जग रहा था। सुप्तावस्था में उसका सौन्दर्य सजग तथा चैतन्य था। जैसे रात चाँदनी के मेल से उजली लगती है, उसी प्रकार रूप की चाँदनी से वह जगमगा रही थी।

७८—श्रद्धा के हृष्ट-पुष्ट शरीर के प्रत्येक परमाणु से किरण फूट रही थी, जिससे बिजली का प्रकाश फैल रहा था। रूप की मधुरिमा मन को फाँस रही थी, विवश कर रही थी।

७९—(कल्पना का विलास मात्र है) श्रद्धा के मुखमंडल पर पसीने की बूँदें छाई हुई थीं। लगता था, निकट भूत में श्रद्धा जिन विचारों में व्यस्त थी उसी के श्रम के परिणाम-रूप ये स्वेद-कण निकले थे। ये कण मोती की भाँति झलक रहे थे, जिससे करुण कल्पना माला पिरो रही थी। सहज सौन्दर्य ने दुखद विचारों के श्रमजन्य स्वेद-कणों को अतीव सुन्दर बना दिया था और ये स्वेद-कण मोती के समान लगते थे किंतु मन की करुण भावना भी इनमें सम्मिलित थी।

८०—**कंटकित**—सात्विक अनुभाव रोमांच।

मनु ज्यों-ज्यों श्रद्धा को छूता था त्यों-त्यों बेलि के सदृश उसके शरीर में रोमांच के काँटे छा रहे थे। उसका शरीर लता के समान था, लता जो स्वयं गहरी व्यथा की लहरों के समान थी।

८१—जगती को उस सुख ने जो मनुष्य को पागल बना देता है विराट् रूप धारण कर लिया था। काम-वासना तीव्रतम हो चुकी थी (सात्विक प्रेम में मोह तम का मिश्रण हो चला था)। हलके प्रकाश तथा हल्के अंधकार से बना एक चँदोवा सामने खड़ा था। वातावरण उत्तेजक एवं उपयुक्त था।

८२—कामायनी की निद्रा कुछ-कुछ भंग हो चुकी थी, किंतु उस पर बेसुधी छाई थी। उसके मुख की आकृति के बनाव-बिगाड़ में उसके मनोभाव झलक रहे थे। एक भाव प्रकट हुआ, मिटा, फिर दूसरे का आविर्भाव-तिरोभाव हुआ।

८३—'यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता' के मनोभाव से इस पंक्ति का क्या मेल हमारा कवि तो एक सहज सरल बात कह रहा है। जो अपना है उसी के पराया बनने की चिंता होती है, उसी का दूर जाना खलता है या यों कि उसी के दूर जाने का अनुभव होता है। जिसे हम अपना समझते हैं, जिससे हमारा सम्बन्ध होता है, उसी के अप्रिय व्यवहार खटकते हैं।

८४—जिसे हम प्यार करते हैं, जो हमें प्रिय होता है, उससे नाता तोड़ करने पर भी उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता। उसके प्रति एक मोह होता है जो मन को अपने माया-जाल में उलझाये रहता है। जैसे शिला से टकराकर दूर फेंका हुआ जल लौट कर फिर वहीं चक्कर काटता है उसी प्रकार प्रेम की विपाटित भावनाएँ घूम-घूमकर पुनः प्रेम-तट पर लौटती हैं।

८५—**अपने कर में ले ली**—कन्या-दान के समय वर के हाथ पर कन्या का हाथ रख कर उस पर शंख से जल डाला जाता है। 'पाणिग्रहण' की छाप है।

कंपित—सात्विक अनुभाव है।

वर्षाऋतु की वायु से काँपती हुई नवीन पत्ती के समान श्रद्धा की अरुण हथेली को मनु ने धीरे से अपने हाथ में ले लिया।

(कम्प और स्वेद का शास्त्रीय चित्रण सामने है। वर्षाऋतु की वायु तरल होती है, उसके छूने से पत्ती भींग जाती है। श्रद्धा की हथेली पसीजी थी, यह भी भासित होता है।)

८६—वाणी में विनम्र याचना और आँखों में उलाहना के भाव वर्तमान थे। मनु ने श्रद्धा से पूछा, मानिनी! तुम ने मान करने की यह कैसी माया फैला दी है?

अप्सरा—गन्धर्व-स्त्री, आकाश में रहती है। नहाने की प्रेमी, अपना रूप बदल

सकती है। मानवेतर शक्तिसंयुक्त होती है। ऋषियों, मुनियों को भी कामासक्त बना देती है।

८७—तुम्हें पाकर मैंने जीवन में स्वर्गिक सुख पाने की कल्पना की। तुम मेरी उस कल्पना को विफल न बनाओ। तुम गन्धर्व कुमारी, अप्सरा हो। स्वर्ग की तुम विभूति हो। विगत जीवन के यश गान तुम फिर से करो।

८८—चन्द्रमा से शोभित चाँदनी से खिले हुए प्रकाश के नीचे इस विजन में हमारे तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। फिर तुम आँखें क्यों मूँदे हो, लज्जा का कोई प्रयोजन नहीं।

८९—भोग्य—अप्सराएँ उन वीरों को मिलती हैं जो रणस्थली में वीरगति पाते हैं, 'वीरभोग्या वसुंधरा' विख्यात ही है।

विश्व आकर्षण से भरा है। इसमें सुन्दर-सुन्दर सम्मोहक वस्तुएँ भरी पड़ी हैं जो हमें आकर्षित करती हैं। ये सभी वस्तुएँ हमारे भोगने के लिए ही बनी हैं। हम इसके भोगने के अधिकारी हैं। हम दोनों जीवन के दो कूल हैं, इन दोनों के बीच वासनाधारा बहे, जिससे दोनों अभिन्न रूप मिल सकें।

"जीवन सरिता क्या बीच वहीं हम तुम हो गये किनारे दो
दे दुबा पुनः संयोग सलिल यह द्विविधा हमें डुबोती है" (भक्त)

९०-९१—संसार में श्रम तथा अभाव के कारण आकुलता का अनुभव होता है। चेतनता ही इस भयावह यातना का कारण है। जिस समय हम इस चेतना से त्राण पा सकें, अचेत बेसुधी का अनुभव कर सकें, उसी समय स्वर्ग-सुख पा सकते हैं। हमारी इस बेसुधी में ही स्वर्ग के अनन्त सुख मुस्का पड़ते हैं। यह बेसुधी दो बूँदों के सेवन से प्राप्त हो सकती है। जीवन का सारा रस इन्हीं दो बूँदों से अनायास त्वरित होता है।

९२—ये दो बूँदें सोम रस की हैं। वह सोमरस सामने है। इसमें मधु मिला है। तिक्त नहीं मधुर है। घृणित और अपावन नहीं है, वरन् देवों को अर्पित करने से पावन प्रसाद बन गई है, लो इसे होंठों से लगाओ। आओ इसे छककर हम दोनों मस्ती के झूले पर झूलें, आनन्द मनाएँ।

नोट—(१) मधुपर्क विवाह समय छका जाता है।

(२) "एक घूँट बस एक घूँट बस जीवन गति पहिचाने
उसको बाधा नहीं कहीं जो मेरा कहना माने"—समुद्रमंथन (वारुणी)

९३—श्रद्धा की नींद टूट चुकी थी, फिर उसमें एक मस्ती भरी थी। उसके मन में, तन में आसङ्ग-लिप्सा, कामकेलि की भावना उदय होकर उसे रस-सिक्त बना रही थी।

९४–९६— कितना मधुर उपालम्भ है। श्रद्धा ने सरल स्नेहयुत शब्दों में भोलेपन से उत्तर दिया, "यह तुम क्या कह रहे हो। आज तुम वासना के वेग में ये बातें कर रहे हो, प्रेम जगा रहे हो। कल यदि तुम्हारा भाव बदल गया तो फिर तुम कोई नूतन यज्ञ किसी नये साथी के साथ करोगे और उसमें फिर किसी की हत्या करोगे। देव-यजन के बहाने अपनी सुख साध पूरी करना, कितनी बड़ी वञ्चना है ?

९७—संसार में प्रलय से बचे जो प्राणी शेष रह गये हैं, क्या उनकी कोई सत्ता नहीं, क्या उसके कोई अधिकार नहीं ?

९८—मनु, क्या तुम्हारा मानव-धर्म इसी से धवल कीर्ति पायेगा। क्या उसमें सर्वथा भोग भावना ही रहेगी; त्याग का तनिक भी समावेश न होगा। अन्य के स्वत्व का सर्वापहरण, पूर्ण स्वार्थपरता की नींव पर आधारित यह नव-संस्कृति प्राणहीन शव के समान होगी।

९९-१०५—रोम हर्ष हो उस ज्योत्स्ना में मृदु मुस्क्यान खिले तो
आशाओं पर स्वयं निछावर होकर गले मिलें तो
विश्व माधुरी जिसके सम्मुख मुकुर बनी रहती हो
वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है यह तुम क्या कहती हो
जिसे खोजता फिरता मैं इस हिम-गिरि के अंचल में
वही अभाव स्वर्ग बन हँसता इस जीवन चंचल में
वर्तमान जीवन के सुख से योग जहाँ होता है
छली अदृष्ट अभाव बना क्यों वहीं प्रकट होता है
किन्तु सकल कृतियों की अपनी सीमा हैं हम ही तो
पूरी हो कामना हमारी विफल प्रयास नहीं तो'

इन पंक्तियों में मनु व्यक्तिवाद का भौतिक दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। वह श्रद्धा से कहते हैं—

९९ —श्रद्धे, अपना सुख भी हेय नहीं है। 'अल्प' नहीं है। उसकी भी स्वतंत्र सत्ता है। जीव क्षणिक है, नश्वर है। इस अल्पकालीन जीवन का चरम साध्य, परम आदर्श, केवल अभीष्ट तथा मात्र लक्ष्य यही आत्म-सुख है।

१००——–इन्द्रियों की सारी कामनाएं जहाँ पूरी होती है, जहाँ हृदय तृप्त होकर चैन-सुख का गीत गुनगुनाता है, जहाँ मधुर मुस्क्यान की चाँदनी से रोमांच होता है, पुलक छा जाता है, जहाँ प्रेम मयी आशाओं पर प्राण बलिहार हो जाते हैं और उसी तृप्ति के लिए आलिंगन में बँधकर साँसें एक दूसरे में लीन होने लगती हैं, जहाँ संसार की सारी मधुरिमा में अपने ही सुख की छाया दिखाई देती है, जैसे दर्पण में मुख, वैसे ही विश्व-माधुरी में आत्मसुख, वहीं स्वर्ग बसता है। जब संसार की सारी माधुरी हमारे ही सुख-साधन की सामग्री है, तब इस सुख का नाम स्वर्ग नहीं, तो स्वर्ग और क्या है !

१०३—इस हिमालय के अंचल में मैं जिसे खोजता फिर रहा हूँ, जिस अभाव का अनुभव कर रहा हूँ, वही अभाव इस परिवर्तनशील जीवन में स्वर्गीय सुख की कल्पना जगाता है। यदि इस अभाव की पूर्ति हो सके तो स्वर्ग-सुख प्राप्त ही है।

१०४—अपने वर्तमान जीवन में जहाँ सुख प्राप्त हुआ वहीं अदृश्य की कोई शक्ति उसमें कोई अभाव उत्पन्न कर देती है।

१०५—फिर भी हम सारे कर्म अपने विकास, अपने अभ्युदय के लिए हो तो करते हैं। यदि हमारी इच्छाएँ पूरी न हो सकीं, तो हमारे प्रयत्नों की कोई सार्थकता नहीं है।

('छली अदृष्ट अभाव' में वासनाओं की चिर अतृप्ति सामने आ जाती है किन्तु मनु उससे बचकर निकल जाता है !)

उपर्युक्त पंक्तियों में 'लोकायत दर्शन' की छाप है। चार्वाक सिद्धान्त लोकायत दर्शन का दूसरा नाम है। देहात्मवाद आसुरी परंपरा का अंग माना जाता है। इसके अनुसार चेतना शरीर से कोई भिन्न कोई वस्तु नहीं है। उचित-अनुचित का विचार न करके जिस प्रकार हो सके शारीरिक 'सुखप्राप्ति ही मानव का परम पुरुषार्थ है। स्वर्ग केवल कल्पना है। आदि।

'कामोपभोग परमा' की भूमि पर स्थित मनु की बुद्धि का ह्रास हो गया है। बौद्धिक ह्रास के साथ मनुष्य भोग को प्रधानता देता है। मनु की आज यही स्थिति है। अहंकार ने उसे विमूढ़ात्मा बना दिया है। कहना न होगा कि मनु की बुद्‌धि में असुर पुरोहितों के संग-दोष से विकार उत्पन्न हो गया है।

१०६-१०७—**भेद-बुद्धि**—जगत् को ब्रह्म से पृथक् समझना।

निर्मम—बाह्यजगत् से सर्वथा असम्बद्ध। 'मानव' ने इसका अर्थ 'घोर मोह' किया है, जो भ्रमपूर्ण है।

मनु की बातें सुनकर श्रद्‌धा ने मनु से नम्रतापूर्वक कहना प्रारंभ किया—

'प्रलय के अनन्तर प्रकृति पुनः सर्ग तो केवल यह सोच करने लगी कि तुम्हारे भीतर अभी आस्तिक बुद्‌धि शेष है, जो भौतिक तथा दैविक संपत्ति में भेद कर सकती है। है। अथवा जो निःस्वार्थ प्रेम का मूल्य समझती है। किञ्चित् यही कारण है कि प्रलयङ्करी लहरों ने तुन्हें जीता छोड़ दिया, नहीं तो स्वार्थरत वासना-परायण देवताओं के साथ तुम्हारा नाश हो गया होता।"

१०८-११६—"न वा उ देवाः क्षुधमिद्‌वधं ददुरूताऽशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः। उतो रयिः पृणतो नो पदस्य त्युताऽपृणान् मर्डितारं न विन्दते" (ऋ० १०-११७-१) आदि अनेक मंत्रों में परोपकार की महिमा गाई गई है। "लोगों को यह भ्रम चित्त से निकाल देना चाहिए कि भूख ही मारने वाली है। मौत तो भर पेट खाने वाले को भी आती है। प्राण छूटने के अतिरिक्त एक मौत और भी है वह है जीते जी दुखी

रहना। जिसने किसी को प्रसन्न करने का किसी, को कभी सुखी करने का यत्न ही नहीं किया उसे प्रसन्नता या सुख कैसे मिल सकता है। यदि प्रसन्न होने की अभिलाषा हो तो दूसरों को प्रसन्न करने का यत्न करो। मनुष्य के संसर्ग में अधिक सुखी रहता है उसके लिए मनुष्यों का संग्रह करना चाहिए जिन पर मनुष्य कभी दया करता है, कभी आपत्ति के समय जिनकी सहायता करता है ऐसे मनुष्य ही समय पड़ने पर उपकारी का सुख बढ़ाने वाले बनते हैं। दान देने से धन नहीं घटता (धन का फल सुख है)। सुख परोपकार से बढ़ता है, अतः मनुष्य को सदा परोपकार में लगा रहना चाहिए।" स्वामी वेदानन्द ने ये शब्द उपर्युक्त मत्र को समझाते हुए लिखे हैं। (ऋग्० ११०-११७-४, ५, ६) भी इस सम्बन्ध में मननीय। "शतहस्तः समाहर सहस्र हस्तः संकिर" सैकड़ों हाथों वाला होकर एकत्रित कर हजारों हाथों वाला होकर बिखेर" वैदिक विधि है।

संज्ञान सूक्त 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' आदि में समष्टि हित चिन्तन, समष्टि के विकास प्राण निहित हैं।

"मनु के शब्दों में यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मी-भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" की ही प्रतिध्वनि थी। श्रद्धा का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। वह 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" में विश्वास करती है। गोलवल्कर जी के शब्दों में "वैयक्तिक जीवन की संकुचितता से ऊपर उठकर समष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव होना समाज के व्यावहारिक जीवन में वास्तव सुख और शान्ति का निर्माण करता है। जब व्यक्ति संकुचितता को छोड़कर वैयक्तिक वासनाओं पर विजय पाकर त्यागी जीवन को अपना कर इस बात को पहचान लेता है कि सारा समाज अपने जैसे व्यक्तियों ही का है, एक ही सत्त्व से प्रकट हुआ है, अपने में और अन्य व्यक्तियों में अभेद रूप से वह सत्त्व भरा हुआ है, तभी वह वास्तविक प्रेम करने में समर्थ होकर समाज के साथ तादात्म्य का अनुभव कर सकता है और इस तादात्म्य से विशाल होकर सुखी होता है।"

श्रद्धा के शब्द इसी विचार धारा से अनुप्राणित हैं। वह कहती है—

१०८—"सारी सुख-सामग्रियों को अपना ही भोग्य समझकर सारे सुखों को अपने में ही केन्द्रित करके व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं। स्वार्थ की एकान्तिक भावना का परिणाम बहुत ही भयङ्कर है। व्यक्ति इससे अपना ही नाश करेगा। दूसरे को नष्ट करने की भावना में स्वयं अपना नाश निहित है।

१०९—जब प्रत्येक व्यक्ति अपना भला सोचेगा, तब अन्य का नाश होगा। अतएव सत्पथ यही है कि दूसरों को प्रसन्न मुद्रा में देखने का प्रयत्न करो। दूसरों के सुख में सुखी होकर अपनी सुख-वांछा को विस्तीर्ण करो और सबको सुखी बनाने की साधना में लग जाओ।"

११०—श्रीमद्भगवद्गीता ३-९, १०, ११, १२ में "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" आदि की बात आई है। वहीं बताया गया है कि यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाला श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटता है और जो पापी लोग अपने शरीर पोषण के लिए ही पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं। मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि परमात्मा से सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न हुआ, सूर्य उसकी समिधा है, आदि।

"तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्यः पृथिव्याम्
पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्प्रसूताः"

पर मनन करने से पता चलेगा कि यज्ञ रचना-मूलक तथा सृष्टि का कारण है। शतपथ १४-४-२।१२ में भी "तद्-तद् इदमाहुः अमुं यज अमुं यज—इदं एकैकं देवम् एतस्यैव सा विसृष्टिः एव उह्येव सर्वे देवाः" की बात आई है।

यज्ञपुंस, यज्ञपुमान, यज्ञपुरुष विष्णु के नाम हैं।

"निर्माण करने वाली, रचने वाली यह सृष्टि स्वयं यज्ञ पुरुष परमात्मा का एक यज्ञ है। हमारे द्वारा की गई संसृति की सेवा से सृष्टि का उसी प्रकार विकास होगा, जिस प्रकार आहुतियों से यज्ञ का। [यज्ञ त्यागमूलक है। अमृतत्व का कारण केवल त्याग है]। सृष्टि का कारण उसकी समृद्धि का हेतु, यज्ञपुरुष की यज्ञनिष्ठा ही है। यज्ञ द्वारा ही रचना होती है। संसार के जीवों की सेवा यज्ञमूलक है। सृष्टि का विकास इसी सेवा भाव से सम्भव है।

[कैवल्योपनिषद् में इसी ने कहा है कि कर्म से नहीं, धन से नहीं, प्रजा से नहीं, केवल त्याग से कोई-कोई अमृतत्व को प्राप्त होते हैं]।

१११—'परिग्रह' और भोग की भावना मनुष्य को स्वार्थी बना देती है। वह परहित चिंतन की भावना ही खो बैठता है।

"मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्रसोमिनः
मान्तः स्थुर्नो अरातयः"

"हम ऐश्वर्यसंपन्न होकर सन्मार्ग से दूर न जायें। हे परमेश्वर! हम यज्ञ से, परोपकार से दूर न जायें। दान न देनेवाले हमारे बीच न ठहरें"।

आदि अनेक वैदिक मन्त्रों में परोपकार की, त्याग की महिमा गाई गई है। "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा," "श्रद्धया देयम्" आदि मन्त्रों में भी इसी मनोवृत्ति पर बल दिया गया है। अपरिग्रह के प्रचार-प्रसार का उपदेश केवल इसी दृष्टिकोण पर आधारित है कि स्वार्थपरता से मनुष्य संवेदनाशील नहीं रह जाता।

११२-१३—मुद्रित-बन्द, बिना खिली। आमोद—गंध, सुख।

ये बंद कलियाँ यदि अपनी पंखुडियों के भीतर ही सारी गंध बन्द रखें और मकरंद की बूँदों का रस खुल कर न बिखेरें, तो इनकी मृत्यु हो जावे। कारण कि विकास का अवसर न पाने पर ये सूखकर झड़ जावेंगी और उनकी गंध तभी मिलेगी जब वे सूखकर

भूमि पर गिरने के पश्चात् पैरों से कुचल जाने पर उनकी पंखुड़ियाँ खुलेंगी। किन्तु यह गन्ध कुचली गन्ध होगी। इसमें शुष्कता होगी सरसता नहीं। फिर पृथ्वी पर रसमयी गन्ध असंभव ही होगा। संसार को सुख रस-सिक्त बनाने का एक ही उपाय है कि तुम अपनी "हुस्न तीनत से दुनिया को मुअत्तर कर दो," वसुधा के कण-कण को अपनी सरसता से, सहृदयता से मह-मह महँका दो।

(महाकवि मिल्टन ने अपने "कोमस्" में शाहजादी को प्रलोभन देते समय कोमस् से ऐसी बातें कहलाई हैं। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन एक ही तथ्य से विभिन्न निष्कर्ष निकालने का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।)

११४—सुख का संग्रह मूलतः इसीलिए नहीं किया जाता कि उससे अपनी परितुष्टि होती है। सुख-संग्रह का मंतव्य यह है कि दूसरे उसे देख सकें।

११५—स्वार्थपरता में लिप्त मानव अपने को सबसे विलग कर लेता है, उसकी दशा उस मानव की होती है जो निर्जन में अकेले हो। भला ऐसी अवस्था में तुम कैसे सुख प्राप्त कर सकोगे। दूसरे किसी प्राणी को इससे प्रसन्नता मिलने की नहीं।

११६—भले ही वह तुम्हारा स्वायत्त सुख हो, पर उसकी हवा पाकर उसका संस्पर्श करके मानवता की धारा बनकर संसृति का विकास होता है।

११७—उत्तेजना—उत्साहपूर्ण बातों का भी नाम है। किसी बात पर ओजपूर्ण विचार से खून में गर्मी आ ही जाती है। कामोद्दीपन में भी यही दशा होती है। हमारे कवि ने कलात्मक दशा से यह चित्र उपस्थित किया है। ऊपर जो कुछ श्रद्धा ने कहा वह सब 'मान' का ही अंग है। 'मान' के पीछे प्रणय का तीव्र वेग होता है। कोप के पीछे अपनत्व का भाव होता है।

इस प्रकार बातें करते-करते श्रद्धा का हृदय उत्तेजित हो चला। दिल की धड़कन, खून की तेजी बढ़ गई। उसके अधर सूखने लगे। उसके मन में उद्वेग भरा था जो उसे जलाने लगा और उसके ओंठ सूखने लगे। [अन्तर 'कामोद्दीप्त' हो उठा]।

११८-१९—मनु ने देखा श्रद्धा अब थक चली, उसे जो कुछ कहना था, वह कह चुकी, साथ ही अब उसका हृदय उसके प्रति स्नेहिल हो रहा है। इस प्रकार उपयुक्त समय उपस्थित देख मनु ने कहा, "हाँ मैं मानता हूँ कि अकेले सुख-भोग में कोई मज़ा नहीं। श्रद्धे! अब मैं तुम्हारे ही कहने के अनुसार कार्य करूँगा। हाँ, लो सोमपान करो। इससे मानसिक-उद्वेग जो बुद्धि को कुण्ठित करता है मिट जाता है। मनु के इस प्रकार प्रिय-संबोधन करते ही श्रद्धा ने प्याले को मुँह से लगा लिया।

मनुहार—क्रोध शान्ति के निमित्त विनम्र निवेदन आदि।

१२०—श्रद्धा ने मनु की आँखों में आँखें डालीं, उसके अधर सोम-पान से अरुण हो रहे थे। उसका हृदय यह सोच कर प्रसन्न था कि मनु पर उसकी बातों का प्रभाव

पड़ा और उसने उसका कहना मान लिया। इससे उसके अङ्ग-अङ्ग में स्फूर्ति की लहर दौड़ गई। (सोमपान से स्फूर्ति का होना आवश्यक ही है)।

१२१—शिशु समान छद्महीन सरल हृदय रखने वाले भोले मनुष्यों को छलपूर्ण बातें इसी प्रकार ठगती हैं और मन पर नियंत्रण रखने वाली मनोवृत्ति को इसी प्रकार भ्रम में डालकर बालकों की भाँति क्रीडारत करती है। जैसे बालक को मीठी बातों से फुसला कर खेल में लगाया जाता है उसी प्रकार निर्मल सद्भावों से भरे हृदय को मीठी छलपूर्ण बातों से ठगा जाता है।

विभुता—आत्म-नियंत्रण (Self-Control).

१२२—छलभरी वाणी अपने एक मधुर संकेत के द्वारा क्षण मात्र में जीवन के उद्देश्य से, लक्ष्य की ओर ले जाने वाली दिशा से हमें विमुख करके प्रतीप दिशा में जा सकती है।

१२३—वाक्छल की उसी शक्ति का सहारा इस समय मनु को मिला, जो अपने बनावटी हाव-भाव से मन में सुख की संभावना जगा कर उसे अपने वश में कर लेती है, फाँस लेती है।

१२४—श्रद्धे, जैसे भयंकर काली रात चन्द्रोदय होने से जगमगा उठती है, उसी प्रकार तुम्हारे प्रेम को पाकर मेरा सूना अंधकारमय अभावपूर्ण जीवन विभव-संपन्न हो जावेगा। मैं चाहता हूँ कि तुम मेरे जीवन की समस्त सुख कल्पनाओं की साध्य बन जाओ। अर्थात् मेरे समस्त सुख तुम में ही सीमित हो जावें। तुम्हें पाकर मैं जीवन के समस्त सुख पालूँगा. ऐसी मेरी धारणा है, ऐसा मेरा विश्वास है।

१२५—प्रेयसि ! तुम लजा रही हो, हिचक रही हो। किञ्चित् तुम्हें पता नहीं कि लज्जा प्राण के शुद्ध भावों को प्रकट नहीं होने देती, वरन् उस पर एक आच्छादन डाल कर उसे ढक देती है। लज्जा तम-विनिर्मित भी है, जो सत्य को ढक लेता है। इसी लज्जा के कारण प्राणी एक-दूसरे से खुल कर नहीं मिल पाते। दो मिलन-उत्सुक प्राणों के बीच एक बाधा उत्पन्न कर देना लज्जा का ही काम है। इसी लज्जा के कारण हम प्रेम धन से वंचित रहकर अंकिचन से लगते हैं।

१२६—अभी तुम कुचले सौरभ की बात कर रही थीं। मैं कहता हूँ कि इस लज्जा के कारण ही हमारा आनंद कुचल उठता है। लज्जा के कारण हम खुल कर खेल नहीं सकते, पूर्ण सुख प्राप्त नहीं कर पाते। अतएव मेरा कहना मानो और इस लज्जा की बाधा को दूर करो। हम दोनों के मनोभाव आज एक दूसरे के अनकूल हैं तुम मुझ से मिलने को उत्सुक हो, मैं तुम से मिलने को। फिर हिचक कैसी, झिझक कैसी। अतः आओ हम तुम दोनों प्रेमालिंगन करें। हमारा तुम्हारा खुलकर मिलन हो।

१२७—ऐसा कह कर मनु ने श्रद्धा का कस कर चुम्बन किया। चुम्बन जिससे प्राण रति के लिये व्याकुल हो उठते हैं, जिससे रक्त में गर्मी आ जाती है और कामाग्नि

प्रदीप्त हो जाती है। जिससे शांत शीतल प्राण भी जल उठता है, उत्तेजित हो जाता है, अपनी प्यास बुझाने के लिये।

१२८—जैसे दो काठों की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होकर बुझ जाय, उसी प्रकार मनु-श्रद्धा के परस्पर संभोग से कामाग्नि प्रशमित हो गई। जैसे जागने पर स्वप्नावस्था में देखे गये सुखदायक सपने समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार संभोग के पश्चात् उत्सुक मिलनेच्छा बेरंग होगई।

याद रखने की बात है कि इसी सर्ग में (छंद ४२) प्रसंगतः 'सूखी काष्ठ सौंध में पतली अनल शिखा जलती थी!' की बात आई है। और वहां दो काठों की संधि की व्यञ्जना द्वारा प्रकट बात भी कह दी गई है।

ईर्ष्या

८—ईर्ष्या

१ चंचल--वायु, प्रेमी तथा कामुक सभी का नाम है। वायु अस्थिर होता है, प्रेमी के रूप का मोह भी अस्थिर होता है, कामुक का प्रेम भी अस्थिर होता है। अतएव 'चंचलता' अस्थिरता का बोधक है।

श्रद्धा अपनी क्षणिक दुर्बलता के कारण आत्मसमर्पण कर बैठी। आज उसकी निष्ठाओं भावों, विचारों तथा समस्त इच्छाओं का स्वामी मनु हो गया। अब उसे अपने ऊपर तनिक भी अधिकार न रह गया। उसने सुख रजनी में सोचा था कि उसके सुखस्वप्नों की चाँदनी सदैव निर्मल बनी रहेगी, उसका कभी तिरोभाव न होगा। किन्तु स्वप्न सत्य से कुछ दूर ही रहता है। श्रद्धा का वह स्वप्न देर तक स्थिर न रह सका। उसे 'प्रेम करि काहू सुख न लह्यो' का सामना करना पड़ा। अब उसे प्रतीत हुआ कि उसका प्रेम असफल हो गया। उसे भविष्य अंधकारमय दिखाई देने लगा।

नोटः--"आँसू" में "काली चादर का खुलना" की बात द्रष्टव्य।

२—श्रद्धा के ऐसा अनुभव करने का कारण था। मनु की अनुरक्ति अब उसमें न थी। (कायमाया का चुंबन, शरीर का प्रेम क्षणिक होता है, जो शरीर पर विजय प्राप्त करते ही मर जाता है। मनु पशु स्वभाव के थे ही। उन्होंने प्राणों की भाषा तो पढ़ी न थी। उनके मन में श्रद्धा की कायसंपदा, रूपलावण्य के प्रति मोह था, जो श्रद्धा के आत्मसमर्पण के पश्चात् समाप्त हो गया। अब उनका मन केवल आखेट में रमता था। उनका एक मात्र कार्य आखेट रह गया था। आखेट के अतिरिक्त भी उन्हें कुछ करना है, इसका न उन्हें ज्ञान था, न उसकी वे कल्पना ही कर सकते थे। पशुओं की हिंसा में उन्हें गर्व-सुख का अनुभव होता था। हिंसा के पश्चात् वे अनुभव करते थे, कि वे बल विक्रमशाली है, सब प्राणियों से श्रेष्ठ हैं। उनके मुँह में लोहू लग गया था। उनमें हिंसा की रुचि जग गई थी। पशुओं की हिंसा करके उनका मुखड़ा प्रसन्नता से तमतमा उठता था, लाल हो जाता था। उन्हें हिंसा में मजा मिलता था।

३—किन्तु हिंसा ही उनका मात्र लक्ष्य नहीं था। वे अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। वे समझते थे कि दुख-विषाद को नाश करने में केवल अधिकार-लिप्सा ही समर्थ है। वे अपने प्रभुत्व की धाक स्थापित करना चाहते थे। वे सर्वत्र अपने ही अधिकार की स्थापना करके अपने सुख को सीमा बढ़ाना चाहते थे। वे समझते थे कि जितना ही उनका अधिकार क्षेत्र बढ़ेगा, उतना ही उनके सुख की मात्रा भी बढ़ेगी।

४-दीन—अवसादयुत्, फीका।

नित नूतन अधिकार प्राप्ति की इच्छा जगने पर मनु को उस वस्तु में कोई रुचिरता

नहीं दिखाई देती थी, जिस पर उसे अधिकार प्राप्त हो चुकता था। श्रद्धा भी उन्हीं वस्तुओं में थी। श्रद्धा पर अधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्हें उसमें कोई नवीनता नहीं मिलती थी। अतएव श्रद्धा की चुलबुलापन-हीन अथवा चंचलता-हीन बातों, व्यवहारों में उन्हें कोई आकर्षण न रह गया। उन्हें श्रद्धा की सरल मनोरंजनकारी-बातों में एक फीकापन भासित होने लगा। उन्हें प्रेम का मधुवन सूना लगने लगा। अब श्रद्धा 'उनके जीवन के सुख की सीमा न रह गई'। [पुरुष का हृदय प्रायः इतना ही कुटिल होता है जैसा मनु का? यह निर्णय देना सरल नहीं।]

५-दुर्ललित—जिसका शमन कठिन हो, अधिक दुलराई हुई।

जैसे आकाश में सुन्दर कांतियुत् इन्द्रधनुष अपने आप उगता तथा स्वतः विलीन होता है, उसी भांति श्रद्धा के हृदय में दुर्दमनीय कामनाएँ, अधिक दुलार चाहने वाली मनोरम इच्छाएँ उठतीं, किंतु उनका समादर करने वाला कोई नहीं था; अतएव वे कामनाएँ वे इच्छाएँ स्वतः अपने उद्गम स्थान में ही विलीन हो जाती थीं।

(कामायनी जैसे काव्य में उपर्युक्त १० पंक्तियाँ अशोभन लगती हैं। इतना नीरस वर्णन उस लेखनी से, जिसने 'आंसू' की प्रत्येक पंक्ति में जादू जगाया। प्रबन्ध-काव्य की ये ही दुर्बलतायें कभी-कभी 'गीति-काव्य' को श्रेष्ठतम काव्य घोषित करने पर मनुष्य को विवश करती हैं। यदि सर्ग का प्रारम्भ 'निज उद्गम का मुख बंद किये' से होता तो किञ्चित् कला अधिक मनोरम होती)।

उद्गम—ऊपर मुँह उठाना, बढ़ना : विकास।

६—मनु सोचते हैं—मेरे प्राण वर्तमान सुख मदिरा छककर शिथिल हो गये हैं तथा जड़ तुल्य चेतना-विहीन निद्रा में निमग्न हैं, किंतु यह स्थिति कब तक रहेगी? जीवन स्थिरता में, जड़ता में नहीं, वरन् गति तथा चेतनता में बसता है। जीवन प्रगति चाहता है, शाश्वत आंदोलन चाहता है। मेरे मन में आगे बढ़ने, ऊपर उठने की कामनाएँ निरंतर उठ-उठ कर स्वतः विलीन हो रही हैं। अभिलाषाएँ कब तक इस प्रकार असफलता के अनुभव से शिर धुनेंगी, रोएँगी, चिल्लाएँगी।

७—श्रद्धा ने मुझे सरलता से प्रेम किया, मेरी ओर झुकी, मुझ में आसक्ति दिखाई, मेरा विश्वास किया। किंतु उसके सभी व्यापारों में एक शुष्क आकर्षणहीन अचंचल मुद्रा के अतिरिक्त क्या था, क्या है? न तो उसके आलिंगन भुजबंधन में आकुलता ही दिखाई देती है, न उसकी बातचीत में चुलबुलापन ही। क्रिया-चातुरी तथा वचन-चातुरी से शून्य श्रद्धा में क्या है, जो मेरे प्राण उसी में मद-छकित लिप्त रहें। [क्रिया-विदग्धा तथा वचन-विदग्धा नायिका में व्याकुल आलिंगन तथा कुशल सूक्ति होती है]।

८—मुझे देखकर वह किसी उत्साह, प्रसन्नता का प्रदर्शन नहीं करती। उसके ओठों पर क्षण-क्षण नवीनता में डूबी मुस्कुराहट डोलती नहीं दिखाई पड़ती। ऐसा नहीं होता कि उसकी मुस्कान की एक लहर ज्यों ही दबे, त्यों ही दूसरी नवीन लहर उठे।

न तो वह अपनी ओर से कोई नया अनुरोध उपस्थित करती है, न किसी प्रसन्नता का प्रदर्शन करती है। उसमें कुछ भी ऐसा नहीं जो जीवन में नव वसंत लाने में समर्थ हो। बस एक रीति है जो चली जा रही है, जीवनहीन, आकर्षणहीन।

९—कभी वह ऐसी बातें नहीं करती, जिसमें मन का चाव क्रीडा करता हुआ दिखाई पड़े। उसकी बातों में विलास-विनोद का कुछ भी अंश नहीं। उसके हावभाव-हीन सामान्य व्यापारों म कोई नवीनता नहीं, कोई आकर्षण नहीं।

१०—जब देखो तब तत्परता से धान की बालियाँ चुना करता है या बिना थकावट का अनुभव किये अन्न के ढेर लगाया करती है।

११—बोने के लिये बीज बचाकर रखती है। और जब सामान्य गृहस्थी के इन कार्यों से छुटकारा मिलता है तब तकली कातती गीत गाती है। इस प्रकार घरेलू काम-धंधों में उसे पूर्ण सुख मिलता है। वह उन्हीं कामों में संतोष का अनुभव करती है। उसकी दृष्टि में मेरा कोई महत्त्व नहीं रह गया है। मेरे प्रति उनकी जो व्याकुलता थी, आसक्ति थी, सभी समाप्त हो गयी। प्रेम का वह जीवन अब विगत हो गया एक बीती कहानी बन गया।

१२—मनु मृगया से थके हुए लौटे, गुफा द्वार पर पहुँचे, पर और आगे बढ़ने की उनकी इच्छा ही नहीं हुई।

१३—मनु ने मरे मृग को जमीन पर फेंक दिया; धनुष भी डाल दिया। उनका शरीर शिथिल हो रहा था। धनुष, बाण, प्रत्यंचा, शृंग सभी आयुध यत्र तत्र बिखर गये।

१४—'पश्चिम दिशा में छाई संध्या की लाली धीरे कालिमा में बदल रही है, किंतु अब तक अहेरी (मनु) घर नहीं लौटे। प्रतीत होता है, आज उन्होंने किसी चपल (तीव्रगामी) जंतु का पीछा किया, और उसका पीछा करते-करते दूर निकल गये, इसी से अभी तक नहीं लौटे।

१५—श्रद्धा तकली कातती हुई इस प्रकार सोच रही थी। यही सोचते-सोचते उसका मन उदास हो गया। उसकी अलकें खुली थीं जो उसके चिंतानिमग्न होने की अवस्था में उसकी एँड़ी पर लहरा रही थीं और उसे इसका तनिक भी ध्यान न था।

१६—उसका मुँह केतकी के फूल के अन्तर-भाग की भाँति पीला था। उसकी अलसाई आँखों से स्नेह टपक रहा था। उसका शरीर दुर्बल हो गया था, उस पर नये प्रकार की लज्जा छा रही थी। उसका शरीर लतिका की भाँति काँप रहा था।

१७—वह माता होने वाली थी, अतएव उसके भारी स्तन कुछ झुके हुये थे। वह उन्हें काले कोमल ऊनों की पट्टिका से कसे हुये थे। वह पट्टिका सुन्दर सजीली थी जो शृंगार कार्य करती थी।

१८—पयोधरों पर बँधी पट्टिका ऐसी लगती थी जैसे सोने की रेत पर यमुना लहराती हुई बह रही हो। अथवा आकाश गगा में नील कमलों की पंक्ति खिली हो।

१६—(उसास से वक्षस्थल दबता उभरता है जिससे पयोधर पर बंधी पट्टिका लहरों-सी लगती थी) पयोधरों पर जैमा वसन था कटि में भी वैसा ही वसन था। गर्भ की मीठी पीड़ा उसे असह्य थी, किन्तु जननी होने की कामना में वह पीड़ा उसे मधुर थी, अतएव वह उसे प्रसन्नता से झेल रही थी।

२०—माता होने का रसमय गर्व उसके ललाट पर पसीना बन कर झलमल-झलमल कर रहा था। संतानोत्पत्ति के महापर्व के आने पर ये श्रमिबिन्दु फूल बन कर बिखर रहे थे।

२१—मनु ने श्रद्धा की खेदपूर्ण आकृत देखी। उसकी वासनामया इच्छाओं से उसका कहीं से कोई मेल नहीं था। वरन् विरोध था। उसमें कोई नवीनता न थी।

२२—मनु कुछ भी न बोले। केवल अधिकार भावना से उसकी ओर देखते रहे। श्रद्धा उनकी ओर देखकर मुस्कुरा उठी, मानो उसने मनु के विचारों को जान लिया।

२३—श्रद्धा मीठे-मीठे प्रेमपूर्ण शब्दों में मनु से बोली, 'तुम दिन भर कल कहाँ भटकते रहे? तुम्हारी पशुओं की हत्या करने (आखेट) में इतनी रुचि हो गई है कि तुम उसके पीछे बेसुध इस प्रकार पड़े रहते हो जिससे न तुम्हें यह चिंता रही है कि इसका तुम्हारे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ रहा है और न यही ध्यान रह जाता कि घर लौटना है।

२४—मैं यहां अकेली बैठी तुम्हारा रास्ता देखती रहती हूँ और तुम्हारी प्रतीक्षा में उस समय भी विह्वल रहती हूँ जब तुम अशांत अपने अहेर के पीछे दौड़ते रहते हो उस समय भी मुझे तुम्हारी पद-चाप सुनाई पड़ती है। लगता है जैसे तुम आ गये।

२५—पीले रंग वाला दिन ढल गया, सायंकाल होने को आया; किंतु तुम रक्त के प्यासे हिंसा सुख से उत्तेजित लाले मुखड़ा लिये अभी तक अस्तव्यस्त घूम रहे हो।

रक्तारुण— { रक्तारुण—रक्त= { क्रीडारता; लाल } अरुण= { लाल, अस्त व्यस्त, प्रातः कालीन सूर्य }
प्रभात कालीन सूर्य तथा रक्तालु स्वभाव और रक्ताक्त वदन, सभी } की अभिव्यञ्जना से पूर्ण है। देखते नहीं हो कि पंक्षियों के जोड़े अपने-अपने घोंसलों में अपने-अपने नन्हें बच्चों को चूम रहे हैं, प्यार कर रहे हैं। उन्हें घर का, परिवार का सुख प्राप्त हो रहा है।

२६—पक्षियों के घोसलों में कोलाहल मचा है चहचहाहट हो रही है; किन्तु हमारा गुफा-द्वार सूना-सूना-सा है। न जाने तुम्हें यह कौन-सी कमी खटकती है जिससे तुम

घर पर नहीं टिक पाते, वरन् दूसरे स्थान पर जाते हो ? (व्यञ्जना यह है कि किञ्चित् तुम्हें शिशु का अभाव खटकता है)

२७—मनु ने उत्तर दिया, "श्रद्धे, चाहे तुम्हें कमी न खटकती हो; किंतु मुझे तो अभाव का अनुभव हो रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे मेरी कोई प्यारी वस्तु खो गई है, जिसकी मृदु स्मृति मन में ऐसा घाव करती है, जिसमे मैं विकल हो उठता हूँ।

२८—पुरुष बंधनों में फँसना नहीं जानता। वह स्वभावतः सर्वदा बंधनमुक्त डोलना चाहता है, रहना चाहता है। वह अपनी प्रगतिशील इच्छाओं को दबाकर उदासीन अकर्मण्य बना परतंत्र रहकर कब तक जड़ बना एक स्थान पर डीह की भाँति पड़ा रहे ? माना डीह की पूजा होती है, फिर भी उसमें जीवन कहां, गति कहाँ, स्फूर्ति कहाँ ?

(गतिहीन, पंगु-सा, पड़ापड़ा, डीह, सभी निरीह की विवृति है)

२६—श्रद्धे आज मैं अपने को परतंत्र, बँधा हुआ, प्रगतिहीन पा रहा हूं। ऐसा जीवन मुझे अप्रिय है, असह्य है !

जब प्राणों को शरीर के मोह के निष्प्राण बंधन से बाँध दिया जाता है, तब वह कुछ सीमा तक उसे सहता है, किंतु जब उसे उत्तरोत्तर और जकड़ने का प्रयास किया जाता है, तब वह धैर्य खो बैठता है और वह बंधन की सभी गांठों को तोड़कर मुक्त हो जाना चाहता है।

३०—जैसे झरने के कलकल में एक मधु-संगीत होता है, जिसमें इतनी प्रसन्नता भरी होती है, जिसको सुनकर प्रान उल्लसित हो जाते हैं; ठीक उसी प्रकार की मादक मीठी वाणी में मनु हँस कर बोले :—

३१—"तुम्हीं बताओ, तुम्हारे मन में मेरे प्रति वह प्रेम, वह आकुलता अब कहाँ शेष रह गई है, जिसमें इतनी बेसुधी थी, इतनी अनन्यता थी कि किसी अन्य वस्तु का ध्यान ही नहीं रह जाता था। तुम तो तकली कातने में इतनी तल्लीन रहती हो कि लगता है तुम्हारी आशा इच्छा का कोमल तार तकली कातने से ही उलझ कर रह गया हो।

३२—तुम तकली क्यों कातती रहती हो ? क्या तुम्हें जानवरों के कोमल बच्चों के नरम चमड़े मैं लाकर नहीं देता ? शरीर को ढकने के लिये क्या ये चमड़े पर्याप्त नहीं ? अन्न बीनने की भी क्या आवश्यकता ? क्या मेरे आखेट कर्म में शिथिलता आ गई है, जो तुम्हें खाने को नहीं मिलता ?

३३—एक बात और; तुम पीली क्यों पड़ती जाती हो ? बुनने में तुम इतना श्रम क्यों करती हो कि थक जाओ ? मैं जानना चाहता हूँ कि यह सब तुम किसके लिये कर रही हो ? तुम्हारे इस परिश्रम का क्या रहस्य है ?

३४-३५—मनु की बातें सुनकर कामायनी ने कहा कि मैं यह तो समझ सकती हूँ कि हिंसक पशुओं से बचने के लिये अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग किया जाय; किंतु जो पशु किसी से कुछ नहीं चाहते, यो हीं अपने भोलेपन में घूमा करते हैं और हमारा कुछ उपकार भी कर सकते हैं, वे जीवित क्यों न छोड़े जावें, उनकी हत्या क्यों की जाये; उन्हें जीवित छोड़कर अपने लिये उपयोगी क्यों न बनाया जावे ?

३६—क्या उनके चमड़े को उनके लिये छोड़ कर हम उनके ऊनों से अपना काम नहीं चला सकते ? यदि वे मोटे ताजे बने रहें और हम उनका दूध लेकर अपने उपयोग में लावें, तो इसमें क्यों बुराई है ?

३७—जिनका पालन-पोषण करके हम अपना काम चला सकते हैं, उन्हें मारने की क्या आवश्यकता है ? यदि हम पशु नहीं, वरन् उनसे ऊँचे हैं, तो हमारा कर्तव्य है कि हम भव-पारावार में पुल बनें अर्थात् संसार में उद्धार (रक्षा) की गति-विधि उत्पन्न करें, न कि विनाश की।

३८—मनु ने उत्तर दिया कि मैं इस पक्ष में नहीं कि जो सुख सरलता से प्राप्य हो, उसे छोड़ दिया जावे और उसको प्राप्त करने के लिये व्यर्थ श्रम किया जावे। मैं इस पक्ष में भी नहीं कि जीवन संघर्ष में मैं विफल रहूँ या छला जाऊँ !

३९—मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि मैं तुम्हारी आँखों में बसा रहूँ और इसे ही अपनी परम गति मानूँ और यह भी नहीं चाहता कि मेरे मानस के दर्पण में केवल तुम्हारा ही प्रतिबिंब सैदव बसा रहे।

४०—श्रद्धे ! तुम जो जीवन को नये साँचे में ढालना चाहती हो; अहिंसा, उपकार, उपयोग की बात चला रहती हो; ये मनोभाव, ये विचार फलित नहीं हो सकते, पूर्ण नहीं हो सकते। जीवन क्षणिक है, उसका कुछ ठिकाना नहीं, इसी से वह जीवन अमूल्य है। जीवन का सुख पीपल के पत्ते की भाँति अस्थिर है, अतएव हमें शीघ्रातिशीघ्र भोग करना चाहिये। इस दिशा में विलंब करना अवांछनीय है।

४१—क्या तुमने नहीं देखा कि देवताओं का सुख किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो गया। प्रलय के महानाश में, भयंकर ताण्डव में, सब कुछ कैसे स्वाहा हो गया, क्या इसे तुम भूल गई ? जब संसार का अन्तिम परिणाम नाश तथा मृत्यु है तब तुम्हें जीवन के प्रति इतनी आस्था, इतना विश्वास क्यों ? तुम जीवन को सारयुत, सत्य क्यों मान बैठी हो ?

४२—जब सब कुछ नश्वर है, विनाशोन्मुख है, तब तुम्हारे मन में स्थायी शांति और कल्याण की कामना क्यों सजीव और सजग हो उठी है। तुम अपने हृदय में स्नेह की राशि क्यों इकट्ठी कर रही हो ? तुम्हारे मन में किसके प्रति इतना अनुराग है ?

४३ रानी—स्त्री के राणी रूप के लिए ऋ० १४-१-१३ द्रष्टव्य "स्वात्वं सम्राज्येधि पत्युरस्तं परेत्य" यजुर्वेद १५-१० में "राड्यसि" की बात भी द्रष्टव्य।

रानी, दुलार जीवन का वरदान है। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा समग्र प्रेम मेरे ही लिए हो। तुम्हारे चित्त में मेरे अतिरिक्त किसी भी अन्य प्राणी के प्रति प्रेम न रहे, मैं यही चाहता हूँ।

४४—तुम्हारे हृदय में केवल मेरा निवास हो और तुम्हारा चित्त वहाँ एक ऐसे संसार की सृष्टि करे जो सब प्रकार मधुरिमा से पूर्ण हो जिसमें रस-सरिता कल्लोल कर रही हो। उसकी प्रत्येक लहर (मनोभाव) मेरे लिए हो।

४५—मनु की बातों का उत्तर न देकर, श्रद्धा मनु का हाथ पकड़ कर शीघ्रता से यह कहती हुई आगे बढ़ी, चलो चलकर देखो मैंने एक कुटिया बनाई है।

४६—गुफा के निकट ही पुआल की छाजन, शांतिमयी छाजन थी, जिससे लटकती हुई लताओं की डालियों से कुंज-सा बन गया था।

४७—उसके छप्पर की दीवारें पत्तियों की बनी थीं, जिसमें झरोखे कटे हुए थे। उनमें से होकर हवा तथा बादल दोनों आसानी से भीतर आते और बाहर चले जाते थे।

४८—कुटिया के भीतर बेंतों का एक सुन्दर झूला पड़ा था। भूमि पर फलों का चिकना सुगंधित कोमल पराग बिछा था।

४९—उस कुटिया में श्रद्धा की अनेक मधुर कामनाएँ शांत विचरण कर रही थीं। उसके कोनों में कितने मंगलमय मीठे गाने गूँज रहे थे। वह झूला, कुटिया की वह सज्जा बताती थी कि श्रद्धा वहाँ बैठ कर अपने मधुमय भविष्य की कल्पनाएँ किया करती थी, जब उसका शिशु पालने झूलेगा, घुटनों डोलने लगेगा, जब वह उसे लोरी गा-गा कर सुनायेगी।

५०—मनु गृह-लक्ष्मी श्रद्धा के इस गृह-विधान को चकित दृष्टि से देख रहे थे। उन्हें श्रद्धा की कला सुन्दर लग रही थी किंतु उन्हें कुछ अच्छा न लगता था। उसका मन प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता था। वह सोचने लगे, इन सुख की सामग्रियों का कौन गर्वपूर्वक उपभोग करेगा?

गृह-लक्ष्मी—'सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्' आदि वैदिक मंत्रों में स्त्री को घर की वृद्धि करने वाली, घर को सम्राज्ञी, घर को धन, धान्य, पुत्र, पौत्रादि से भरने वाली कहा है। आधुनिक अनुसंधानों से पता चला है कि 'घर' बनाकर रहने की बात सर्वप्रथम नारी को ही सूझी थी। हमारे कवि की भी यही कल्पना है।

वैदिक काल में नारी की समाज में क्या स्थिति थी इसके लिए यजुर्वेद अध्याय १५, १६, १७ पढ़ना चाहिए। भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान आदि काल से ऊँचा रहा है। "अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी। ममदेनु क्रतुं पतिः सेहनाया उपाचरेत" (ऋ० १०—१९—२) 'स्त्री घर का निशान है, पति को उसके अनुकूल

आचरण करना चाहिए। स्त्री को चाहिए की पुत्रों में वीरता का भाव भरे आदि। "कल्याण" का नारी-अंक भी पठनीय।

हिन्दू संस्कृति में विवाह का प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति ही है।

"आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्
स वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः" (अ० १४।२।१४)

द्रष्टव्य। "आत्मिक शक्ति युक्त मनस्विनी अवन्ध्या यह स्त्री आई है। हे नर, उसमें बीज बो। यह स्त्री वीर्य्यसेचन समर्थ पुरुष के वीर्य्य को धारण करती हुई तुम्हारे लिए संतान पैदा करे।"

५१—मनु सोच रहे थे, उन्होंने कुछ नहीं कहा किन्तु श्रद्धा स्वयं कहने लगी, 'प्रिय! घोंसला तो मैंने बना लिया, किन्तु इसमें चहचहाने वाले शिशुओं की चंचल भीड़ अभी नहीं जुड़ी है। हम लोग अभी संतानहीन हैं।'

५२—जब तुम दूर चले जाते हो, उस समय मैं एक सूनेपन का अनुभव करती हूँ और उसी सूनेपन को दूर करने के लिए मैं तकली चलाती रहती हूँ।

५३—ज्यों-ज्यों तकली चलती है त्यों-त्यों मैं उसके घूमने के स्वर में निमग्न होकर गीत गाती हूँ कि 'मेरी तकली धीरे-धीरे घूम मेरे प्रियतम आखेट खेलने गये हैं।' (इस प्रकार तुम्हारी याद करती रहती हूँ)।

५४—तेरी मंजुलता के ही समान जीवन का धागा निरंतर बढ़ता जाय। नंगा नर तेरी सुघरता में ढक जाय, पूरा हो जाय।

"संतान तंतु को व्यवच्छिन्न न करो" वैदिक मान्यता है। "तंतु" का प्रयोग इस सम्बन्ध में कितना सुन्दर है।

५५—उज्ज्वल=श्वेत, प्रेमपूर्ण। निर्वसना=नङ्गी। आवरण=पर्दा।

जैसे सूर्य अपनी किरणों से प्रभात की सृष्टि करके नङ्गी प्रकृति के कोमल गात को प्रकाश से ढक कर उसे सुन्दर बना देता है, उसी प्रकार ए तकली, तू अपने श्वेत धागों से ऐसा वस्त्र बना, जिससे मेरा नवजात शिशु (जीवन का प्रात) अपने कोमल तथा नवीन शरीर को ढक कर और भी रम्य दिखायी पड़े।

५६—नंगे शरीर को देख कर आँखें वासनापूर्ण हो जाती हैं, जब वह नङ्गा शरीर तेरे द्वारा बुने हुए वस्त्र से ढक जाता है तो वासनायुक्त आँखों के लिये वस्त्र पर्दा का काम करते हैं। जैसे लतिका में खिला कुसुम लतिका का सौन्दर्य बढ़ा देता है, इसी प्रकार वस्त्र में शरीर सुन्दर लगता है।

५७—भविष्य में जो आगन्तुक इस गुफा में आने वाला है, वह पशु-सा नङ्गा नहीं रहेगा। वह जड़ की भाँति अपने अभाव से अनुभवशून्य न रहेगा वरन् उसे अपने अभाव की अनुभूति होगी और अभावपूर्ण जीवन से कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहेगा।"

[इन पंक्तियों के पूर्व की पंक्तियाँ तकली पर का गीत बनाती हैं। "चलरी तकली धीरे-धीरे" से "वह रह न सकेगा कभी मग्न' तक फिर पढ़िये।]

श्रद्धा ने मनु को बताया कि जब तुम यहाँ नहीं रहते तो मैं तकली कातती हूँ और उस पर यह गीत गाती हूँ और उसी में उसने यह संकेत भी किया कि मैं अब पुत्रवती होने वाली हूँ। मनु मैथुनी सृष्टि से परिचित नहीं, इसीलिए उन्हें श्रद्धा की कृशता, पीलापन आदि समझ में नहीं आया। श्रद्धा मनु को बातों-बातों में पता देती है सन्तानोत्पत्ति का। और कहती है--

५८--जब तुम कहीं चले भी जाओगे, तो मेरा यह छोटा-सा संसार कभी सूना न रहेगा। अपना नवजात शिशु मेरे साथ रहेगा। जब तुम नहीं रहोगे बाहर चले जाओगे, तब मैं अपने बच्चे के लिए फूलों के पराग का रसमय बिछौना तय्यार करूँगी।

५९--मैं उसे झूला झूलाऊँगी। उसका दुलार करूँगी। उसका मुखड़ा चूमूँगी। अपनी छाती से लिपटा कर उसे इस घाटी में घुमाऊँगी।

६०--वह अपने सुन्दर कोमल बालों को लहराता हुआ मेरी ओर मलय की मन्द-गति में डोलता हुआ आवेगा। उसके लाल ओठों से हँसी उस प्रकार फैलती हुई दिखाई देगी जैसे कोमल लाल किशलय से नवलतिका फैलती है।

'प्रवाल' नवीन रक्त किशलय को कहते हैं।

६१--वह अपनी कोमल जिह्वा से ऐसी मधुर बातें करेगा जो मेरे दुखते मन के घाव पर सरस सुगन्धित सुमन विलेपन का काम करेगा, अर्थात् जिसकी मधुर तोतली भाषा से मेरे आत्मा को शान्ति मिलेगी।

६२--जब मैं उसके विकार हीन नयनों में अपनी ही ममता का प्रतिबिम्ब देखूँगी, उस समय मेरा दु:ख भी सुख में बदल जावेगा।

हमारे कवि ने उपर्युक्त पंक्तियों में माता के वात्सल्य का चित्रण किया है। प्रसंगानुकूल वर्णन अभव्य नहीं है। किंतु हम उसे कामायनी के अन्य स्थलों के समान नहीं कह सकते। हमारा कवि शृंगार तथा शांत का सफल कवि है। रौद्र, भयानक में भी वह प्रायः सिद्धहस्त है। कामायनी का अध्ययन इस कथन की पुष्टि करेगा।

अथर्वेद ६।१८ में आता है :—

"ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्
अग्निं हृदय्यं शोकं सं ते निर्वापयामासि (१)
यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः (२)
अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव (३)

'ईर्ष्या के पहले वेग को और पहले पीछे होने वाले दूसरे अर्थात् ईर्ष्या के फलस्वरूप हृदय में होने वाले तेरे शोक रूप उस अग्नि को हम बुझाते हैं। जैसे भूमि मरे मन वाली, मुरदे के मन के समान है और मुरदे से भी अधिक मुरदादिल है, जैसे मुमूर्ष, मरणोन्मुख का मन होता है, इसी भाँति ईर्ष्यालु का मन मुर्दा होता है। यह जो तेरे हृदय में सुखाभास किन्तु पतनशील गिरने वाला तुच्छ मन है। वहाँ से तेरी ईर्ष्या को छुड़ाता हूँ जैसे धौंकनी से गरमी को निकालता हूँ।"

दूसरे की उन्नति और समृद्धि को देख कर जो जलन पैदा होती है वह ईर्ष्या का मूल और फल शोक रूपी अग्नि है। ईर्ष्यालु के मन को भूमि से उपमा देकर फिर उसे भूमि से भी निकृष्टतर बतलाया गया है। उसके बाद मरने वाले के मन से समता की है। ईर्ष्या के भाव आपाततः सुखकारी प्रतीत होते हैं, किंतु ईर्ष्या पतन का कारण ही होती है। अतः ईर्ष्या के भाव चित्त से निकाल देने चाहियें। ईर्ष्या की एक ही औषधि मन्यु (विचार) है।

वासनामय प्रेम बड़ा ही ईर्ष्यालु होता है। वह अनन्यता चाहता है और वह भी ऐसी अनन्यता जिस पर उसका ही आधिपत्य हो, अधिकार हो। ईर्ष्या की औषधि विचार है, विवेक है। यह विवेक आत्म-नियंत्रण तथा इन्द्रियनिग्रह से प्राप्त होता है। किंतु भोग-विलास कामोपभोग की वासना से इन्द्रियाँ क्षीण होती हैं। इन्द्रियों के क्षीण होने से अहम्मन्यता बढ़ती है, विवेक का ह्रास होता है। मनु की आज वही स्थिति है, उसकी आत्मा अहंकार से विमूढ़ हो चुकी है। उसका हृदय पशु के प्रति श्रद्धा का झुकाव देख कर ईर्ष्यालु हो चुका था। वह ईर्ष्या उस पशु की हत्या के पश्चात् भी न गई। अब श्रद्धा ने उसकी ईर्ष्या को और तीव्र बना दिया, यह संकेत देकर कि वह नवजात-शिशु की कामना कर रही है, अपेक्षा कर रही है। और उस शिशु पर वह अपना प्रेम चढ़ायेगी। मनु को यह अवस्था असह्य लगी। 'शिशु क्या जन्म लेगा' उसके प्रेम-साम्राज्य का बंटवारा होगा। अतः वह कहता है:—

६३—"जैसे लतिका फूलों से लदी कँपती हुई अपनी सुगंध की लहरें बिखेरती है, उसी प्रकार तुम सुख के अनुभव से प्रसन्न होकर अपने सुख की तरंग बहाओगी। तुम्हारे लिये तो शुभ-सुगंध इस प्रकार सुलभ हो जावेगी, किन्तु मैं सुगंध की खोज में कस्तूरी मृग की भांति बन-बन घूँगा, व्यग्र, व्यस्त! जैसे कस्तूरी मृग सौरभ की खोज में चारों ओर भटकता फिरता है वही दशा मेरी होगी। मुझे सुख के लिये अहेरी ही बनना है।

६४—मैं यह जलन नहीं सह सकता। मुझे अपना प्यार चाहिए और प्यार जिसमें केवल मेरा ही आधिपत्य भरा हो। जैसे संसार के पंच भूतों में केवल एक तत्व एक सत्ता परिव्याप्त है उसी प्रकार रंग, रूप, रस, गंध तथा स्पर्श के संसार का मैं एकाधिपत्य चाहता हूँ। मैं संसार की समस्त वस्तुओं का अनन्य उपभोग चाहता हूँ।

६५—एक से दो होने की कल्पना मेरे लिये असह्य है। मैं तो इन दो प्रकार की वांछाओं को प्रेम-साम्राज्य के बँटवारा करने का ढंग ही मानता हूँ। मुझे प्रेम का भिखारी बनकर नहीं रहना है। मुझे यह स्थिति असह्य है कि मेरी प्रेमवांछा तुम्हारी स्वेच्छा पर निर्भर करे, जैसे भिक्षुक दाता की इच्छा पर निर्भर करता है। मैं तुम्हारी इच्छानुसार प्रेम प्राप्त करके कदापि सुखी नहीं रह सकता। यदि आज यही स्थिति है तो मुझे अपने विचार को बदलना होगा। मुझे इस प्रेम को ही समाप्त करना होगा।

६६—सकल—पूर्ण।

मैं नहीं चाहता कि आनन्द व्योम में तुम वर्षा ऋतु की बदली-सी छा कर सभी को आनन्द-कण बाँटती फिरो। यदि तुम्हें ऐसा व्यवहार प्रिय है, तो तुम ऐसा करो। मैं तो शरद् पूर्णेन्दु की भाँति निर्मल आकाश में अकेला विचरना चाहता हूँ।

६७—तुम मायवी हो! अपनी माया द्वारा निर्मित महामोह में मुझे उलझाना चाहती हो, बाँधना चाहती हो। तुम चाहती हो कि कभी-कभी भूले भटके मेरी ओर हंसकर आकर्षणपूर्ण दृष्टिपात करो और मैं तुम्हारी उसी मुस्कान को अपने लिये वरदान समझूँ। मुझसे यह नहीं होने का। मैं तुम्हारे इस मायावी व्यापार को घुटने टेक कर स्वीकार करने में असमर्थ हूँ।

६८—श्रद्धे! तुम मुझे अपना भिखारी बना कर रखना चाहती हो, तुम समझती हो कि तुम मेरे प्रति एक दानी—दाता की भाँति अनुग्रह की भावना रखकर मुझे आभारी बनाने में समर्थ हो सकोगी। तुम्हारा यह विचार, तुम्हारा प्रयत्न सफल नहीं होने का।

६९—अच्छा तो तुम अपने सुख को स्वयं भोगो। मुझे दुःख उठाने के लिये स्वतंत्र छोड़ दो। मैं तुम्हारे वश में रह कर परतंत्रता का जीवन नहीं बिताना चाहता। मैं अब इसी एक मंत्र का जाप करूँगा कि मन की पराधीनता के समान संसार में और कोई दुःख नहीं है।

७०—मैंने आजतक संवेदनशीलता का, प्रेम की अनुभूतियों का जो बोझ इकट्ठा कर रखा था, उसे यहीं छोड़ जाता हूँ और एकाकी-पथ पर विचरण करने जा रहा हूँ।

तुम्हें तुम्हारी सुरभित कुटिया, तुम्हारा फूलों से लदा आवास शुभ हो; मैं निर्जन वन में काँटों की सेज पर ही सोकर अपने को धन्य मानूँगा।

७१—[मनु का नाटकीय ढंग से प्रस्थान कितना मार्मिक है। और उससे अधिक मार्मिक हैं उपर्युक्त चार पंक्तियाँ। भावुक हृदय के लिये इन पंक्तियों में बड़ी सामग्री है साधारणीकरण करके देखें]

इतना कह कर मनु ईर्ष्या की अग्नि से दग्ध मानस लेकर चले गये। वह स्थान सूना हो गया। श्रद्धा अधीर होकर रोई, चिल्लाई, मनु को बार-बार पुकारा दुःख से आर्त, करुणा से विभोर। इस कृत्य में वह थक गई।

कहानी का पूर्वार्ध इस दृश्य के पश्चात् समाप्त होता है।

———

झड़ा

९—इड़ा सर्ग

इकतीस गीतों का इड़ा सर्ग कला की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। प्रत्येक गीत में किसी घटना विशेष का परिचय दिया गया है। ये गीत मुक्तक होते हुए भी अनुस्यूत हैं।

'वाच ऋगूरस: ऋच: सामरस: साम्न उग्दीथो रस:' (छान्दोग्य उपनिषद् १।१।२।) के अनुसार वाक् का सौन्दर्य कविता है। अर्थात् वाक् छन्दबद्ध होने पर मनोरम हो जाता है। काव्य का रस उसके ज्ञेय होने में है। गीतों में लयनाद की समरसता होती है। गीत तभी सफल होते हैं जब उनमें उद्गान के गुण वर्तमान हों। अर्थात् जब उनके बाह्य कलेवर के अभ्यन्तर में प्राणों का निस्पन्द भी समाविष्ट हो। इस दृष्टि से मनन करने पर "गीत कविता के श्रृंगार हैं।" गीतों की साधना से आनन्द की सिद्धि प्राप्त होती है।

> "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्
> अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः
> ततः स्वयम्भूर्भगवान् व्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्
> महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः (मनु० १—५,६)

में बताया गया है कि यह समस्त संसार पहले अंधकार प्रकृति में लीन था, यह दिखाई नहीं देता था, इसका कोई प्रत्यक्ष रूप नहीं था, जिसको कोई तर्क द्वारा कल्पना कर सके। वहाँ तक ज्ञान की गति न थी, सर्वत्र गाढ़ निद्रा की अवस्था विराजमान थी। तब अव्यक्त स्वयम्भू भगवान् अंधकार का नाश करते हुए पञ्च महाभूतों के साथ अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा वायु को प्रकट करते हुए स्वयं भी प्रकट हुए।

नासदीय सूक्त ऋ० १०—१२९ में इसी अवस्था का वर्णन "किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गंभीरं" आदि में मिलता है। पुराणों में 'सर्ग' संबंधी परिच्छेदों में बताया गया है कि 'उस समय न रात्रि थी, न दिन, न प्रकाश, न अंधकार, आदि।' यह अवस्था वर्णनातीत है। आर्षग्रन्थों में श्रद्धा के बल पर ये बातें सरलता से कह दी गईं किंतु सामान्य बुद्धि के लिये यह विषय और भी गहन है। हमारे कवि ने इस सर्ग के प्रथम गीत में इसी सर्गारंभ से पूर्व की अवस्था तथा सर्ग की प्रक्रिया से भाव लेकर वर्णन किया गया है। "किस गहन गुहा" का टुकड़ा गहनं गभीरं' को प्रतिध्वनित करता है।

वर्णन कवित्वपूर्ण है "झंझा प्रवाह" को मूर्तिमंत बनाते हुये जीवन का मानवीय चित्र सामने आ जाता है।

मनु श्रद्धा का परित्याग कर एकांत भ्रमण करते हुए किसी शून्य प्रदेश में हैं। श्रद्धा के गुहा द्वार से वे आँधी-पानी की भाँति भगे थे। आज वह सोच रहे हैं जीवन कितना रहस्यमय है, बुद्धि इस गुत्थी को सुलझाने में असमर्थ है। जीवन का उद्गम कहाँ है? जीवन कहाँ से उद्भूत हुआ है? कौन बता सकता है:—

"जैसे शून्याकाश से पवन व्याकुलता से प्रकंपित होकर आँधी का रूप धारण करके प्रचण्ड वेग से प्रवाहित होता है, उसी प्रकार जीवन भी किसी गहन गुहा से विक्षुब्ध होकर निकला हुआ प्रतीत होता है।

यद्यपि उस गुहा का यथार्थ ज्ञान नहीं एवं इसकी कल्पना विस्मय एवं रहस्य का विषय है। किंतु इसकी आकली, इसका मनोवेग, इसका विक्षोभ सभी उपर्युक्त उद्भव की ओर संकेत करते हैं। जैसे हवा के साथ आँधी, पानी, गर्द-गुबार सभी होता है, उसी प्रकार जीवन के साथ पंच महाभूतों के कण भी रहते हैं। इन कणों में भी आकुलता है, जो सदैव अस्थिर तथा चंचल रहते हैं।

प्राणी, जीवधारी सभी से डरता है और स्वयं भी दूसरों को भय देता है। इस प्रकार भय की ही सेवा-पूजा करता, वह सदा भय के ही व्यापारों में लगा रहता है। इस प्रकार वह संसार में अप्रियता, अशांति, द्वेष को फैलाते हुये संसार को अधिक दुखी बना रहा है। वह अपनी बनाने और बिगाड़ने की सामर्थ्य का प्रदर्शन करता है जब से वह शरीर धारण करता है, तब से वह अन्य जीवधारियों से संघर्ष कर रहा है। कभी वह किसी पर द्रवित होकर उस से प्यार करता है, कभी सबसे विरक्त हो जाता है।

प्राणी का जीवन एक तीखे तीर के समान है। सत् रूपी धनुष से यह तीर छूट कर न जाने किस लक्ष्य की ओर शून्य चीरता हुआ बढ़ा जा रहा है।

जिस प्रश्न का समाधान उपनिषदों में "प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्मल्लक्ष्यमुच्यते" तथा "धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयति आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि" में किया गया है, वही प्रश्न मनु के सामने उपस्थित है। जीवन का उद्गम कहाँ है? इसका लक्ष्य क्या है?

विषमतीर – निशित (तीक्ष्ण किया हुआ) को ही प्रतिध्वनि करता है (मुण्ड० २-२-३)।

गुहा—"आविः सनिहितं गुहाचरं" आदि मननीय (मुण्ड० २-२-१)। ब्रह्म के बारे में "सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्" की बात है और वहीं यह बताते हुए कि ब्रह्म समस्त प्राणियों की बुद्धि से परे है, ब्रह्म को **गुहाचर** कहा गया है। जीवन उसी गुहा से निकला है, जिसमें 'गुहाचर' रहता है किन्तु वह बुद्धि से परे, जानने में न आने योग्य है।

भय की उपासना—"यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति"

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" (कठो० ३-२,३)

में परमात्मा की कल्पना 'महानभय स्वरूप' शब्द से की गई है। वहीं यह भी बताया गया है कि किसी महान् भय स्वरूप परमेश्वर के भय से अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु, मृत्यु, सभी अपने-अपने कार्य कर रहे हैं।

निकला—उपर्युक्त मन्त्र के 'निसृतम्' का ही अनुवाद है। हमारे कवि ने इन दार्शनिक विचारों को जिस कुशलता से काव्यात्मक रूप दिया है, उसकी सराहना शब्दों में सम्भव नहीं।

इस गीत में परम्परागत विचारों की ओर सूक्ष्म संकेत तो है ही, साथ ही इसमें उस विकल मन का प्रतिबिंब भी है, जो संसार में फैली कटुता तथा विषमता से संसार को त्राण दिलाने की कल्पना करता है। इस गीत में समाविष्ट भावों पर मनन करने से ही आत्मा के ऊर्ध्वमुख होने की सम्भावना है।

२—मनु के मन में 'जीवन का उद्देश्य क्या ?' का विचार उठा। तर्क-वितर्क का ताँता बँधा। कभी उन्होंने सोचा, मुझे गृहस्थ का ही जीवन बिताना था, एक सहचरी मिली थी, उसकी अनुरागमयी दुनियाँ में रहता था; फिर विचारों ने पलटा खाया और उन्होंने सोचा क्या गृहस्थ जीवन जड़मय नहीं, उसमें गति कहाँ, प्रगति क्या ! इसी वितर्क-बुद्धि के चिंतन की झाँकी अगले गीत में सफलता एवं प्रगल्भता से कवि ने सजाई है।

मनु सोचते हैं—"मैंने पहाड़ों की गतिहीन हिमराशि से विमंडित सुन्दर चोटियों को देखा है। वे अपनी उस अवस्था में एक स्वतन्त्रता, बंधनहीनता का अनुभव करते हुए अपनी ऊँचाई के कारण अपने में उदासीनता तथा उपेक्षा का भाव लिये आशा-हीन कामनारहित दिखाई देती हैं। वे निश्चेतन निष्क्रिय गौरव की प्रतीक हैं, जो वसुधा की कामना न करते हुये उसका तिरस्कार करके उसका अभिमान चूर्ण करते हैं। ऐसा लगता है जैसे अडिग समाधि में स्थित हैं। उनके नेत्र अचंचल, स्थिर हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे कामनाहीन हैं, क्लेश कर्म से निवृत्त होकर क्रोधहीन हैं, शोक-रहित हैं। नदियों में उनके दुखाश्रु नहीं, उसके पसीने के कण प्रवाहित होते हैं। किंतु मैं इस 'निष्क्रिय निष्कल' की जड़ स्थिति नहीं चाहता। इस स्थिर मुक्ति तथा प्रतिष्ठा में क्या धरा है ? मैं गतिहीनता का इच्छुक नहीं। मैं तो मरुत की भाँति सदैव अबाध गति चाहता हूँ। जिस प्रकार पवन अपने इच्छानुसार जहाँ चाहता है, जाता है, उसी प्रकार मैं भी वही करना चाहता हूँ जो मेरे मन को अच्छा लगे। मैं चाहता हूँ कि मेरी स्वतंत्रता में किसी प्रकार की बाधा न उत्पन्न हो। मरुत में कंपन की तरंग है, वह निरंतर गतिमय है। वह अपने पथ की सभी वस्तुओं को चूमता हुआ आगे बढ़ता है, कहीं एक स्थान पर नहीं रुकता। मुझमें भी प्राणों की सिहरन है। मैं भी ऐसी ही गति, ऐसा ही जीवन

चाहता हूँ। सूर्य भी निरंतर चलता रहता है, रुकता नहीं। जलता हुआ तपता हुआ वह आगे ही बढ़ता जाता है, चलता ही रहता है, कभी भी विश्राम नहीं करता।

मेरे जीवन का आदर्श शैलशृंगों का जीवन नहीं, वरन् वायु का जीवन है, सूर्य का जीवन है।

[श्रद्धा अचल हिमानी ही तो थी। वह मुझे अपने प्रेम-पाश में बाँध कर समाधिस्थ करना चाहती थी। मुझे जड़ता में जकड़ना चाहती थी। किन्तु मैं ऐसे जीवन से कैसे सन्तुष्ट होता। मैं उससे विमुक्त होकर हवा की भाँति स्वच्छन्द हो गया, सूर्य की भाँति स्वतंत्र। माना, मेरे मन में कंपन है वायु की भाँति, जलन है सूर्य की भाँति, फिर भी मुझ में गति है, जीवन है, चेतना है, कामना है। यही स्थिति मेरे भावानुकूल है।]

(अँगरेजी के कवि कीट्स की Bright Star शीर्षक कविता पढ़ें और तुलना करें)

[गत शोक क्रोध—"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"

मुक्ति—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"।

समाधि—"तत्र क्लेश कर्मनिवृत्तिः"—धर्ममेघ समाधि से ही क्लेश और कर्मों का नाश होता है। आदि अनेक दार्शनिक तथ्यों से मनु के विचार टकराते तथा उनकी उपेक्षा करते हैं।]

३—'वह ज्वलनशील गतिमय पतंग' की कल्पना ही 'ज्वाला से कर प्रकाश' की बात को जन्म देती है। मनु सोच रहे है—सूर्य अपनी ही ज्वाला से प्रकाश प्राप्त करता है, मुझे भी तो आलोक अपनी ही ज्वाला से मिला। मेरे हृदय में ईर्ष्या की अग्नि प्रज्वलित हुई और मैंने उसी के प्रकाश से भावी जीवन का पथ देखा। जीवन के प्रारम्भ में मुझे श्रद्धा मिली, उसने मेरे लिए निवास बनाया। किन्तु ईर्ष्या ने उसे भस्मसात् किया, मैंने उस रम्य स्थल का परित्याग किया। और अब वन, गुहा, कुञ्ज, मरुस्थल आदि में घूमता हुआ अपनी उन्नति का मार्ग ढूँढ़ रहा हूँ। किन्तु क्या मेरे यह व्यापार मेरे पागल होने, विकलबुद्धि होने का परिचय नहीं दे रहे हैं? मैंने अब तक किसी पर भी दया न की। पशुओं, पक्षियों का निर्मम बध तो किया ही, उस सरल-हृदया श्रद्धा के साथ भी तो ममत्व नहीं निबाह सका? निष्करुण मैंने उससे नाता तोड़ लिया। मैंने किसी के भी प्रति उदारता नहीं दिखाई। मैं किसी पर भी द्रवित नहीं हुआ, किसी की ओर भी नहीं झुका, किसी से भी प्रसन्न नहीं हुआ। मैंने सभी से संघर्ष किया, सभी का कट्टर प्रतियोगी, विरोधी बना। यही कारण है कि आज एकाकी इस निर्जन में चीत्कार कर रहा हूँ। मेरी प्रतिध्वनि चारों ओर गूँजती है, किन्तु कोई उत्तर नहीं मिलता। कोई भी मेरे साथ संवेदना प्रकट करने वाला नहीं है। जिस प्रकार सभी पदार्थ जो लू के सम्पर्क में आते हैं झुलस जाते हैं; उसी प्रकार मेरे संपर्क में आने वाली सभी वस्तुएँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। मेरे व्यवहारों से कोई भी अनुरंजित न हो

सका। मैं वास्तविकता से दूर स्वप्न-जगत् में ही विचर रहा हूँ। कल्पना के सहारे जीवन के मधुमय चित्र बनाता हूँ, किन्तु मेरे सभी स्वप्न विफल हो जाते हैं। मेरा जीवन नितांत पतझड़ का जीवन है, जिसमें कभी वसंत नहीं आया!

(१) "क्यों आती लौट क्षितिज से है शून्य प्रतिध्वनि मेरी" (आँसू) तथा "विजन प्रांत में विलख रही मेरी पुकार उत्तर न मिला" में चित्र साम्य है। लगता है इन दोनों में कवि के वैयक्तिक जीवन का कोई रहस्य निहित है।

(२) 'लू' में सूर्य और हवा दोनों के गुण हैं जिन्हें मनु ने अपना आदर्श माना है।

४—मनु सोच रहे हैं—

मेरा जीवन अंधकारपूर्ण है। मुझे जीवन में प्रकाश पाने की कोई आशा नहीं है। जैसे लता-जाल को पार करके प्रकाश हम तक आ पाता है, उसी प्रकार हमारा सुख आकाश के उस पार छिपा है, जो आकाश के नीलावरण को पार करके मुझ तक नहीं आ पाता। और मेरा पथ आलोकित न करके आँखों के आगे अंधकार की दीवार खड़ी करता है। इस प्रकार बाह्यजगत् विभ्रम की मुद्राएँ उपस्थित करके मुझे छल रहा है। सुख से निराश मेरा मन पास में इधर-उधर गिर काँटों को कलियाँ समझ बैठता है। मैं अगम मार्ग पर पैर बढ़ाये चलता जाता हूँ जब चलते-चलते अधिक थक जाता हूँ, तब कहीं थक कर पड़ रहता हूँ। जब मैं अपनी विस्थापित अवस्था से अशांत होकर घर से निकाले हुए की भाँति रोता हूँ, तब ये दुःख-हीन पर्वत-श्रेणियाँ मुझ पर हँसती हैं, मेरा मुँह चिढ़ाती है। यह सब प्रकृति की नियामक शक्ति की क्रीड़ा की छाया है। विभिन्न मायावी रूप धारण करके विश्व गति बनी हुई है। जिससे इस अपार शून्यता में स्थित विश्व में असफलता का ही नृत्य हो रहा है। मेरे मन में वर्षाऋतु की काली रात के समान निराशा परिव्याप्त है। मैं चाहता हूँ कि जगमग करते खद्योतों के समान यत्किंचित् क्षीण प्रकाशों को एकत्र करके अपनी उस नैराश्य-रात्रि को प्रकाशित करूँ, किन्तु जैसे जुगनूँगण प्रकाश तो कर नहीं पाते, मर कर हत्या का पाप शिर पर मढ़ जाते हैं, उसी प्रकार आशा के ये क्षुद्रकण विनष्ट होकर केवल अयश छोड़ जाते हैं, सुख की सृष्टि नहीं कर पाते।"

५—मनु सोच रहे हैं, मेरा जीवन कालरात्रि के समान है, निराशापूर्ण है। जैसे संध्या होने पर नीले आकाश में घना कुहरा नीलसमुद्र की भाँति एक छोर से दूसरे छोर तक छा जाता है, उसी प्रकार मेरे जीवन का आशा-सूर्य अस्त हो गया है और चारों ओर निराशा का ही साम्राज्य हो गया है। जैसे रात्रि के आने से विकारहीन किरणें सुन्दर समुज्ज्वल अंधकार के समुद्र से डूब जाती हैं, उसी प्रकार हमारी चेतना भी नैराश्य-सागर में डूबती जाती है। चेतना, जो जीवन, बुद्धि आदि सभी की परिचायक है, रात्रि की अँधियारी सारे संसार में घना अटूटतम भर देती है और यह तम इतना

(मादक) मस्त करने वाला होता है कि जीव शिथिल होकर सो जाता है। निराशा भी इसी प्रकार अपने प्रभाव से मनुष्य को आलसी तथा निष्क्रिय बना देती है। कुछ काल के लिए ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रतिपल बदलती जगती में निरंतर होने वाला परिवर्तन रुक गया है। निराशा का रूप धारण करने के पश्चात् परिवर्तन की रहस्यमय गति शिथिल प्रतीत होती है। मानो यह मूर्तिमंत निराशा अब बदलेगी ही नहीं।

इस निराशा में प्रेम या अनुराग की क्षीण रेखा वैसी ही भली लगती है, जैसे सुहागिन के लहराते केशों के बीच सिंदूरी माँग भली लगती है। यह आशा अनुराग की रेखा ठीक वैसी ही होती है, जैसे प्रभातकालीन प्रकाश तम की छाती पर एक पतली लाल रेखा बनाता है। इस प्रकार निराशा माया-रानी का केश-कलाप ही है। अनुराग उसका सिन्दूर है। प्राण को इसी निराशा में नींद आती है, सुख मिलता है। सच तो यों है कि मोहरूपी बादलों की छाया, उदार छाया का ही दूसरा नाम निराशा है। कारण कि निराशा ही उसे त्राण देती है।

६ —मनु सोच रहे हैं, जैसे जलने के साथ धूम्र का अनिवार्य संबंध है, उसी प्रकार अभिलाषा के साथ निराशा का अटूट संबंध है। जैसे आग से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार अभिलाषा से अपूर्ण लालसा, कसक की चिनगारियाँ फूटती हैं, जिसके कारण मनुष्य रोता-चिल्लाता है पूर्ति तथा शांति के लिए। जिस प्रकार यमुना मधुवन के ओर-छोर मापती बहती है, उसी प्रकार जवानी अपनी सरसता (प्रेम भावना) चारों ओर बिखेरती आगे मुँह बढाती है। जैसे बच्चे अपनी कागजी नौकाएँ यमुना में बहाकर उसपार भेजना चाहते हैं, किंतु सफल नहीं होते। उसी प्रकार मन अपनी कल्पना-क्रीड़ा में लगा क्या क्या सोचता है किंतु उसका कोई मनोरथ सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार मायाविनी नारी के विस्फारित नयनों में आँजन की काली रेखा मन को मोहती है, उसी प्रकार निराशा अंधकारमयी होने पर भी इसलिये आकर्षक प्रतीत होती है कि भावी आशा का छल उसमें छिपा होता है। जैसे नील पटपर धूमिल रेखाओं से ही नये चंचल चित्र की सृष्टि होती है, उसी प्रकार निराशा में धूमिल आशा से ही मधुमय भविष्य का रम्य चित्र बनता है।

जैसे हरियाली लताओं से आच्छादित निकुंज में कोयल अपनी दर्द भरी कूजन से अनंत आकाश को प्रतिध्वनित करती है, उसी प्रकार पुनः अपने मूल स्थान पर न पहुँचने से निराश प्राण दुःख से पीड़ित होकर कराहता, रोता चिल्लाता है; उसका स्वर उसके प्रवास-पथ के धुँधले पनमें प्रतिध्वनित होता है।

[उपर्युक्त दोनों गीतों में निराशा का सुंदर वर्णन है। वर्णन की शैली, भाव, उपमान आदि सभी पर 'आँसू' के छंदों की छाप है भाव के साथ चिंतन के मेल ने इस पंक्तियों को कुछ दुर्बोध अवश्य बना दिया है फिर भी ये दोनों गीत भावुक प्राणों को छूने में समर्थ हैं]।

७—इस गीत से पता चलता है कि मनु घूमते-फिरते सारस्वत प्रदेश में पहुँचे।

सारस्वत नगर के भग्नावशेष में पहुँच कर मनु सोच रहे हैं -

"उजड़े सारस्वत नगर का यह कोना (भाग) अपने अङ्क में सुख-दुख का इतिहास सँभाले हुए है। इसका सूनापन सुख-दुख की कहानी कह रहा है। इसके खण्डहर बताते हैं कि इसका निर्माण कुशल शिल्पियों द्वारा हुआ था। इसने सुख-वैभव के दिन देखे थे किंतु कालगति से इसका सर्वनाश हुआ और इसे दुःख के दिन भी देखने पड़े। इससे स्पष्ट है कि सुख कितना क्षणभङ्गुर है।

मानव जीवन की भी यही कहानी है। इसमें सुख को स्थिरता नहीं। 'चार दिन की चाँदनी फिर अंधेरा पाख,' शाश्वत सत्य है। जैसे इस भग्नावशेष की रेखाएँ अस्तव्यस्त नष्ट-भ्रष्ट दिखाई पड़ रही हैं। वही दशा भग्नाश मानव की है। उसके भाग्य की रेखाएँ इसी प्रकार विकृत (भावनाओं-लालसाओं से प्रभावित) तथा वक्र (स्थिर न रहने वाली) होती हैं, जो मानव मन में सदैव अशांति तथा दुःख भरा करती हैं। इन खण्डहरों में अभी तक अनेक अपूर्ण इच्छाओं तथा लालसाओं की सुख भरी स्मृतियाँ चारों ओर मंडरा रही हैं, अर्थात् यह भग्नावशेष कितनी सुख भरी अतृप्त साधों के विलीन हो जाने की याद दिलाता है। जैसे सूखी पत्ती डाली से टूट कर मिट्टी में दब कर पड़ी रहती है इसी प्रकार इस भग्नावशेष के इन ढेरों में दुःख की घृणित लालसाएँ भी दबी हुई हैं। [सुख की रुचि दुख की कुरुचि में ठीक उसी प्रकार बदलती है जैसे सुंदर पत्र सूखने पर अनाकर्षक हो जाते हैं]।

इस भग्नावशेष को देख कर यह भली भाँति अनुमान किया जा सकता है कि इस सूने कोने में दुलार की भावनाओं ने स्मृति की हिचकी लेते हुए किस प्रकार अंतिम हिचकियाँ ली होंगी। कानों में आज भी उन हिचकियों की प्रतिध्वनि गूँज रही है। कितनी वेदना, कितनी टीस भरी थी उन हिचकियों में। आज भी देखनेवाले का मन उसकी याद करके करुणार्द्र हो जाता है।

आकाश-बेलि जिस पेड़ पर छा जाती है, उसे सुखा देती है; किन्तु स्वयं हरी-भरी रहती है। इसी प्रकार यह नगर अपनी कुप्रवृत्तियों द्वारा ही धँस गया, ध्वस्त हो गया। किन्तु उसकी वे प्रवृत्तियाँ (कामनाएँ) स्मृति-संगीत में आज भी जीवित हैं, अमिट हैं, अमर हैं।

समाधि दीप जिस प्रकार कुछ क्षण जलने के पश्चात् बुझ जाता है उसी प्रकार इस भग्नावशेष में स्मृतियाँ, मनोभाव जगकर स्वत: विलीन हो जाते हैं। जीवन की यही दशा है। सुख-दुख की स्मृतियों का एक ताँता है, जिसे जीवन कहते हैं। और ये स्मृतियाँ भी चिरस्थायी नहीं!

[इस गीत में 'हिचकी' शब्द ने क्या-क्या जौहर जगाये हैं]।

नास्तिक बौद्ध दर्शन क्रिया के साथ सत्ता की समाप्ति मानता है तथा क्षणिक होने के नाते सब को 'दुःख रूप' कहता है। उपर्युक्त गीत में मध्यम बौद्ध दर्शन की छाप है। पहले कई बार संकेत किया जा चुका है कि मनु में 'आस्तिक-बुद्धि' वर्तमान नहीं है। वे बुद्धिवादी नास्तिक हैं। श्रद्धाहीन वे आज घोर नास्तिकता की ओर जा रहे हैं। उनके प्रत्येक तर्क में सत्य से आँखमिचौनी होती है, किन्तु वे उसे पकड़ नहीं पाते।

उपर्युक्त सात गीतों में मनु की मनःस्थिति का वर्णन है। आगे वाले गीत में कथा-शृंखला स्थापित की गई है।

८—मनु थक कर लेटे हुए उपर्युक्त बातें सोच रहे थे। जब से वे श्रद्धा के शान्ति-पूर्ण गृह का, जिसमें सुख की सभी सामग्रियाँ थीं, परित्याग करके बाहर निकल पड़े थे, तब से वे इधर-उधर रुकते तथा भटकते रहे, अन्त में वे इस उजड़े नगर के किनारे आये। यह नगर सरस्वती नदी के किनारे स्थित था। सरस्वती तीव्र गति से बह रही थी। काली रात की नीरवता फैल रही थी। आकाश के तारे भूमि की अवदशा विस्मय-पूर्ण अपलक नेत्रों से देख रहे थे। सरस्वती का जन बहुल तट आज सुनसान दिखाई पड़ रहा था। इन्द्र ने असुरों पर इसी स्थान पर विजय प्राप्त की थी। इसकी स्मृति मनु को और दुखी बना रही थी। चारों ओर अंधकार छाया था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे श्रीहीन मुरझाया सारस्वत नगर दुःस्वप्न देख रहा हो।

डाक्टर फतेह सिंह ने कामायनी सौन्दर्य में लिखा है 'वे (मनु) निर्निमेष तारों को देख रहे थे।' यह अर्थ भ्रमपूर्ण है। 'यों' का संकेत समझने में भी भूल हो गई है।

'वृत्रघ्नी' का अर्थ 'मानव' ने इन्द्र किया है। यह भी गलत है। वृत्रघ्नी सरस्वती का दूसरा नाम है, कारण कि इन्द्र का वज्र सरस्वती के फेन में डुबोया गया था। वैदिक साहित्य में 'वृत्र' के संहार में सरस्वती के योग-दान की बात आती है। (कामायनी-सौन्दर्य पृष्ठ ६१ द्रष्टव्य)। [ध्वांत=अंधकार]।

६-१०—अगले दो गीतों में देवासुर-संग्राम की पूर्व पीठिका है। देवासुर संग्राम का मुख्य कारण देवताओं और असुरों की आस्थाओं की विभिन्नता थी। दोनों के जीवन-दर्शन अथवा जीवन के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर था। दोनों ही द्विविधाग्रस्त थे।

६—इसी प्रदेश (सारस्वत प्रदेश) में जीवन के प्रति नये दृष्टिकोण के कारण देवों और असुरों में युद्ध हुआ था, संघर्ष चला था। एक प्राणों की पूजा करता था, शरीर में आत्मबुद्धि रखता था। वह सोचता था कि जिस प्रकार हो जीवन की रक्षा की जाय। जिस प्रकार हो प्राणों (चेष्टाओं) को तृप्त किया जावे। इनकी गति प्राणमय कोष तक ही सीमित थी। देववृन्द आत्मविश्वास की पूजा करता था। वे अपने को ही परम सत्ता मान बैठे थे। उनकी गति आनन्दमय कोष तक थी, किंतु उनमें अहंकार, अहमन्यता आ गई थी।

असुर देहात्मवादी थे। वे अविद्याग्रस्त थे। किंतु देवता भी 'अहंकार विमूढात्मा' के ही प्रतीक बन गये थे। उनको अपने पर ही भरोसा था। वे विश्वास करते थे कि मैं ही सब कुछ हूं। मुझ से परे कोई शक्ति नहीं। मैं ही सर्वदा पूजनीय हूँ। वे सर्वदा इसी भाव में निमग्न रहते थे कि मेरा आत्मकल्याण हो। वे सोचते थे कि शक्ति का आदि स्रोत मुझ में ही है। उल्लास मुझ से ही फूटता है। फिर हम किस की शरण जायँ। हम से बड़ा कौन है। वे विश्वास करते थे कि शक्तिस्रोत–जीवन का उद्गम–आनन्द है। जीवन म नित्यशः विकसित होने की विचित्र शक्ति है। जीवन नष्ट नहीं होता वरन् रूप बदलता, नये नये रूप धारण करता, सर्वदा विश्वगति को अक्षुण बनाये रखता है। अतएव देव आत्मवादी थे किन्तु उनका आत्मवाद स्वार्थपरायण था। असुर भी शरीर में आत्मबुद्धि रखने के कारण स्वार्थी थे। वे अपने ऐहिक सुख के साधनों को ढूँढ़ते थे और उसके लिये योजनाएँ तथा नियम बनाते थे, जिससे उनका जीवन परतंत्र होता जा रहा था। जाने या बे जाने वे स्वयं अपने नियमों द्वारा विवश हो रहे थे।"

१०—दूसरे गीत में भी प्रायः यही बात दुहराई गई है—

असुर लोग तुच्छ शरीर को पूजा करते थे। सब प्रकार से शारीरिक सुख साधन में लीन थे। और उधर देवता लोग अपूर्ण आत्मवादी होते हुए भी अपने को बुद्धिमान समझते थे। दोनों ही दुराग्रह से पीड़ित थे। दोनों ही अपनी-अपनी आस्थाओं पर अटल थे। असुर अविद्या से पीड़ित थे, तो देवगण अस्मिता से। दोनों ही तर्क द्वारा अपने दृष्टिकोण की पुष्टि करते थे और जब एक दूसरे को तर्क के बल से पराजित न कर सके तो शस्त्र का सहारा लेना ही पड़ा। इस प्रकार युद्ध अनिवार्य हो गया। उन दोनों में संघर्ष प्रारम्भ हुआ, अशान्ति बढ़ी। उनका विरोध अब तक वर्तमान है। मेरे भीतर भी अधिकार लिप्सा से भरी अहंता की भावना से पूर्ण आत्ममोह विद्यमान है। मैं स्वतन्त्रता-निर्बाध स्वतन्त्रता चाहता हूँ, जो मुझे उच्छृंखल बनाये हुए है। प्रलय ने मुझे भयभीत बना दिया है। शरीर की रक्षा के लिए मैं दूसरी शक्ति की पूजा करने को व्याकुल हूँ। इस प्रकार मैं देहात्मवादी तथा अपूर्ण आत्मवादी दोनों हूँ। मेरी अवदशा मेरे दुःख का कारण, मेरे ही मन का द्वंद है, जो मुझे राग-द्वेष में लगाये हुए है। मेरी आस्तिक बुद्धि का लोप हो गया है। सचमुच आज मैं, 'श्रद्धा' से विलग हूँ। श्रद्धा मुझसे छूट गई है मुझमें श्रद्धा का अभाव हो गया है।"

उपर्युक्त दो गीतों में जीवन दर्शन की दो प्रमुख भित्तियों का कितना सुन्दर चित्रण है। साथ ही 'नारी तू केवल श्रद्धा है" की परिपुष्टि भी होती है। देहात्मवाद तथा अपूर्ण आत्मवाद के द्वंद का शमन श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) द्वारा ही होता है। 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु० १९।३०) तथा 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं' के अनुसार यथार्थ बोध का कारण श्रद्धा ही है। श्रद्धा का ही दूसरा रूप नारी है। मानव मन के द्वंद का शमन

नारी के साहचर्य से ही होता है । हमारे कवि ने इन सभी तत्वों को उपर्युक्त गीत। समाविष्ट किया है ।

११—"सचमुच मैं श्रद्धाविहीन" के मर्मस्पर्शी अनुभव ने मनु को बेसुध बना दिया । अतिमानसिक अतीन्द्रिय अवस्था में इन्हें अनुभव हुआ जैसे कोई उनके कानों में कह रहा है, "मनु तुम श्रद्धा को भूल गये । श्रद्धा पूर्ण आत्मविश्वासमयी है । उसका आत्मवाद अपूर्ण नहीं वरन् सम्यक् प्ररेणा पूर्ण है । वह जीवन को संसार को सत् समझती है । किन्तु तुम्हें विश्वास है कि संसार असत् है । प्रत्येक वस्तु क्षणिक और नश्वर है, क्रिया के साथ सत्ता की समप्ति हो जाती है । अतएव तुम उन्हीं क्षणों को सार्थक समझते हो, अस्तित्व मूलक मानते हो, जो सुख की साधना में बीतें । अतएव तुम्हारे हृदय में 'कामोपभोग' की लालसा जगी, तुमने वासनातृप्ति को ही स्वर्ग मान लिया । तुम्हारी बुद्धि भ्रम में पड़ गई और तुमने विपर्यय को ज्ञान मान लिया । तुम पुरुष हो और तुमने केवल पुरुषार्थ को ही सत्ता-संयुत माना । तुम मोह में पड़ गये । तुम यह नहीं समझ पाये कि नारी की भी कुछ सत्ता है । तुमने यह नहीं समझा कि अधिकार और अधिकारी समरसत्व के सम्बन्ध में बँधे हैं । अधिकारी अपना अधिकार तभी रख सकता है जब वह अधिकार का अर्थ समझे, अधिकृत के साथ समरसता का व्यवहार करे !"

उपर्युक्त मर्मस्पर्शी बातें निस्सीम हृदय-आकाश को व्याकुल करती, कँपाती, गूँज उठीं, जिससे मनु के हृदय में पीड़ा व्याप्त हो गई, कसक होने लगी । लगा, किसी ने उसके हृदय में काँटा चुभो दिया ।

('मानव' ने 'अधिकार' का अर्थ 'सेविका' दिया है जो भ्रम-पूर्ण है ।)

१२—मनु को बोलने वाले का स्वर कुछ परिचित सा लगा । उन्होंने काम की बोली पहिचान ली । उन्होंने कहा यह तो वही 'काम' फिर बोल रहा है । इसी ने तो मुझे भ्रम में डाल कर मुझ से जीवन की सुख-शान्ति छीन ली । इसकी वाणी सुनते ही अतीत के भूले क्षण याद आने लगे । बीते दिनों की वरदान-रूप सुखानुभूति हृदय में कंपन उत्पन्न कर रही है । और यह वरदान आज मेरे लिए अभिशाप बन गया है । उसके स्मरण मात्र से मेरे मन और शरीर दोनों जलने लगे हैं । मनु ने काम से पूछा, 'क्या मैं आज तक मिथ्या साधन में नहीं लगा रहा ! तुमने मुझे स्नेह-पूर्ण उपदेश किया कि तुम श्रद्धा को प्राप्त करने का प्रयत्न करो । मैंने तो उसे प्राप्त किया, उसने भी मुझे आत्म-समर्पण किया । अपना अमृतमय हृदय मुझको दिया । किन्तु मैं इतने पर भी संतुष्ट न हो सका, इसका क्या कारण है ?

१३—काम ने उत्तर दिया 'मनु ! श्रद्धा ने तुम्हें अपना प्रेमपूर्ण विकारहीन (सरल) हृदय, जिसमें जीवन की प्रतिष्ठा, आत्म-सम्मान तथा अभिमान संनिहित था, दिया । ऐसा हृदय दिया जिसमें केवल ('जीवन) चेतनता ही सुस्थिर बैठी, अपनी शान्त

प्रभा से आलोक बिखेरती है। किंतु तुमने उसके उस हृदय को कब ग्रहण किया, कहाँ पाया ? तुमने उसके आत्म-समर्पण को नहीं समझा। तुम तो केवल उसके सुन्दर जड़ शरीर को ही पा सके। सुन्दर शरीर में छिपे सुन्दरतम मन से तुम्हारी भेंट ही नहीं हुई। तुम्हारे सामने सौंदर्य का सागर लहराया, अमृतमय, विषमय। किंतु तुमको अमृत न मिला, तुमने अपने पात्र में विष ही भर लिया, तुम बड़े अज्ञ हो। तुम नहीं समझ सके कि तुम अपूर्ण हो और तुम्हारी इस अपूर्णता को पूर्णत्व प्रदान करने वाला केवल विवाह है। किंतु तुमने 'परिणय' से मुँह मोड़ कर अपने विकास का पथ रोक दिया। 'अधिकार' की भावना राग पूर्ण है, स्वार्थ पूर्ण है। और यह भावना पूर्णत्व को संकुचित करती है, सीमित करती है। सच तो यह है कि यह अज्ञान की उपज है। मानस अथाह सागर है उसे स्वार्थ को रागात्मिका वृत्ति की छोटी-सी नौका में बैठ कर पार नहीं किया जा सकता, मनु !'

१४—"मनु तुम स्वतंत्र बनने के लिए सारा दोष औरों के सिर मढ़ कर जीवन के प्रति अपना एक पृथक् मत रखना चाहते हो। अपने तो बनाये हुए नियमों से शासित होना चाहते हो। किन्तु यह तो अटल सिद्धांत है, अकाट्य रहस्य है कि द्वंदों की सृष्टि निरंतर निर्बाध गति से होती रहती है। डाली में काँटे और सुमन् दोनों मिलते हैं। मनुष्य अपनी रुचि की तीव्र प्रेरणा से विवश फूल या काँटे चुनता है। प्राणों को विकल करने वाली ज्वाला में प्रेम का प्रकाश भी है, वासना की जलन भी। तुमने प्रकाश का तिरस्कार किया और जलन अपनाया। तुमने जीवन के भ्रमपूर्ण अंधकारमय पहलू को प्राथमिकता दी। तुम अशांति का प्रवर्तन करना चाहते हो। यह प्रवर्तन नियति चक्र की भाँति दुखदायी सिद्ध होगा। मनु तुम्हारे प्रजातन्त्र की भावना निश्चय ही अभिशापयुत सिद्ध होगी'।

काम ने मनु के मन की बात जान ली थी। उसे यह भी ज्ञान था कि मनु ने उसके उपदेश की अवहेलना की और श्रद्धा को न पा सके। उन्होंने श्रद्धा की रूपलावण्य मय काय संपदा से प्रेम बढ़ाया, किन्तु उनके प्राणों को न छू सके। उन्होंने अमृत के स्थान पर विष का वरण किया। अतएव उसने मनु को शाप दिया कि मनु तुम नीति पथ छोड़कर अधिकार-लिप्सा में नव राज्य स्थापित करने की बात सोच रहे हो। प्रजा वर्ग पर शासन करके अपनी वासनाओं की तृप्ति करना चाहते हो। जाओ राज्य स्थापित करो। तुम्हारा राज्य शांतिमय न होगा। उसमें सर्वदा अशान्ति बसेगी। नियति का चक्र जिस प्रकार नीचे ऊपर होता रहता है वैसे ही तुम्हारा राज्य भी उलट फेर देखेगा।

१५—मनु तुम्हारी नई प्रजा जो आगे मानव-समाज के नाम से प्रसिद्ध होगी, उसमें उसी भाँति भेद-भाव रहें, जिस प्रकार तुम्हारे मन में अधिकारी और अधिकृत का भेद-भाव वर्तमान है। परिणाम-स्वरूप मानव समाज अपने को वर्गों, जातियों, में

विभाजित करे। जातियों की वृष्टि सी हो, अनगिनत जातियाँ उत्पन्न हों। यह मानव-समाज अपने आप अनेक समस्याओं को बे समझे बूझे जन्म दे और उसी उलझन में उलझ कर स्वयं नाश को प्राप्त हो। मानव-समाज की एकता मिट जावे, भेद बढ़ता ही जावे और आपसी द्वेष, झगड़ा, अशांति अनंत काल तक चले, इनका कभी अंत न हो। मानव मन अपनी वांछित वस्तु प्राप्त न कर सके। हाँ, उसे ऐसा दुखदायी कष्ट मिले, जिसकी कोई भी कभी इच्छा नहीं करता। मानव इतना जड़ अज्ञानी हो कि उसका तम उसे दूसरे के हृदय को देखने न दे। मनुष्य अपनी कुभावनाओं–अपने मोह के कारण, दूसरे के मनोभावों को न समझे। परिणाम यह हो कि संसार की गति एकतार न चले। इसकी स्थिति सर्वदा डावाँडोल रहे। मनुष्य सुख सामग्री की सभी विधियाँ प्राप्त करने पर भी संतुष्ट न हो। उसकी दृष्टि उदार न होकर सर्वदा स्वार्थरत तथा संकुचित रहे। फलस्वरूप उसे दुःख मिलें।

१६—मन में लगातार अनेक उमंगे उठती रहें। मानव मन की पहाड़ों की चोटियों सी ऊँची महत्वाकांक्षायें असफल हों। उन पर सर्वदा आंसू के बादल मंडराते रहे। जिस प्रकार पहाड़ी भूमि में वर्षा के पश्चात् पहाड़ी नदी जल प्रवाह के बेग से ऊँचे नीचे रास्ते से हाहाकार करती शोर मचाती बहती है, उसी प्रकार आँसू वर्षा से भरकर जीवन नदी बीहड़ प्रान्तों से होकर निकले, जिसमें हाहाकार की ध्वनि उठे और जिसमें सर्वदा पीड़ा की लहरियाँ खेलें। जवानी की उमंगों के दिन पतझड़ से नीरस रहें। अर्थात् जवानी यों ही ढल जाय उसमें किसी प्रकार का उल्लास न आवे। मानव मानव का विश्वास न करे। एक दूसरे के प्रति संदेह की भावना रखे। और संदेह से पीड़ित त्रसित अपने लोगों में ही द्वेष की भावना बढ़े, जिससे अज्ञान की कालिमा का अंधकार ऐसा व्याप्त हो कि एक दूसरे को न देख सके। स्वार्थ के तम में परार्थ का लोप हो जावे।

अन्न से हरी भरी प्रकृति-लक्ष्मी दरिद्रता के हाथों नष्ट भ्रष्ट हो कर दुखी हो। दुःख की बदली में मनुष्य इन्द्र धनुष की भांति अपने अङ्ग सजावे सर्वदा रंग बदलता रहे और शीघ्र विनाश को प्राप्त हो। जैसे पतंग ज्वाला में जलता है, उसी प्रकार मनुष्य तृष्णा की लव पर न्योछावर होकर विनष्ट हो।

१७—प्रेम की पावनता दूषित हो जावे। निःस्वार्थ प्रेम की मनोवृत्ति का लोप हो जावे। प्रेम की सात्विकता, उत्सर्ग शीलता नष्ट हो जावे। कोई निःसंकोच निर्भयता से प्रेम न कर सके। मनुष्य अपने स्वार्थों से इतना घिरा हो कि उसे पदार्थ परमार्थ का ध्यान भी न आवे। परिणाम स्वरूप प्रेम,—जो जीवन का सर्व सिद्धिदाधर्म है, जो जीवन का मंगल वरदान है,—अपनी उदारता खो बैठे, अपनी निर्भीकता खो बैठे, जिसके कारण मिलन संभव न हो। सारे संसार में विरह-वेदना ही परिव्याप्त हो जावे। मानव जीवन भर दुःख के ही गीत गाता रहे।

कामनाओं का समुद्र निराशा के रक्त वर्ण क्षितिज से जा मिले। उम्मीदों अरमानों का खून हो। विफल प्रेम सदा खून के आँसू रोये। मानव अशांत मन से संसार में आसक्ति अनासक्ति प्रदर्शन करे। एकाग्रता एकनिष्ठता की मनोवृत्ति विपाटित होकर सहस्रों धाराओं में फूट निकले। मानव एक से ही नहीं वरन् अनेक से राग विराग करे। बुद्धि और भावना में अतद्वंद हो। एक दूसरे के विपरीत चलें, दोनों में परस्पर समरसता न हो। बुद्धि एक ओर ले जाय, तो हृदय दूसरी ओर। समय रोते ही कटे। बीते युग के सुख के क्षण स्वप्न मात्र रहें। उनका वास्तविक जीवन से कभी मेल न हो। मानव के जीवन में हार जीत बराबर आती रहे। झूले के पेंग के समान कभी वह एक छोर छुये, कभी दूसरा।

१८—मानव की शक्ति सीमाहीन है, निस्सीम है। उसका तीर लक्ष्य भेदन में पूर्णतया समर्थ अथवा अचूक है। किंतु अब यह शक्ति सीमित हो जावे। अनन्य भक्ति में जीवन मात्रा में सुविधा सुगमता उत्पन्न करती आई है। किन्तु अब इस भक्ति में भी दोष आ जावे। भक्ति में भेदोपासना आ जावे। भक्ति में भी अनन्यता न रह जावे, वरन् विभिन्नता आ जावे। मानव समाज विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो जावे परिणाम रूप द्वंदों का जाल बिछ जावे, जिससे जीवन पथ कंटकाकीर्ण हो जावे। मानव अपनी अपूर्ण अहंता में ही अनुरक्त होकर अपने को सर्व शक्तिमान मान लेवे। भाग्य वादी बनकर अपनी शक्ति, महान शक्ति, का अनुभव न करे। उसका विकास रुक जावे। वह अपनी ही बनाई सीमाओं में अपने आप घिर जावे और उस परिधि के बाहर न आ सके। ज्ञान के अमित भण्डार से थोड़ा अंश पाने वाले ही अपने को विद्वान समझें, काव्य रचना अथवा कुछ तुकबंदी करें। ललित कलाओं की पूर्ण निर्मिति अस्थायी हो, अपूर्ण रहे, छाया की भाँति नाशवान हो। आत्मा नित्य है, अमर है, कालातीत है किंतु मानव उस नित्यता के टुकड़े करे, उसे पलविपल में विभाजित करे, और समझे कि समय बीत रहा है। इस भ्रम में वह नित्यता का अनुभव न करके व्यर्थ समय बितावे। तुम यह न समझ सकोगे कि अनिष्ट की भावना की अपेक्षा शिव संकल्प में अधिक बल है। तुम्हारी युक्ति तर्कसंयुक्त होते हुए भी सफल नहीं होगी कारण कि इसके पीछेहै शुभ-इच्छा का बल नहीं होगा।

१६—मनुष्य का जीवन युद्ध करते हुए ही बीते। ऐसे भयंकर युद्ध हों जिस में अग्नि और रक्त की वर्षा हो, जिसके कारण संसार से सात्विकता समाप्त हो जावे। सभी भाव विकृत हो जावें अशुद्ध हो जावें।

तुम अनेक प्रकार की शंकाओं को जन्म देकर अपने आप अपनी व्याकुलता का कारण बनोगे। अपने ही अपना वैरी बनकर अपना अहित करोगे। तुम सर्वदा अपने सच्चे स्वरूप को छिपाओगे और बनावटी स्वरूप का प्रदर्शन करोगे, जिससे तुम्हारा वास्तविक स्वरूप आँखों के आगे न आ सकेगा इस प्रकार कृत्रिम रूप धारण करके तुम

अहंता के भाव में भूले, ऊँचे होने के अहंकार में दंभ-स्तूप की भाँति विचरोगे। तुम्हारा जीवन गौरव, प्रतिष्ठा, उच्चता के कृत्रिम मनोभाव के कारण दंभ का जीवन बन जावेगा।

श्रद्धा इस सृष्टि की रहस्य है। बिना श्रद्धा के सृष्टि का विकास सम्भव नहीं। श्रद्धा ने व्यापक तथा विशुद्ध विश्वास पूर्ण आस्था के साथ तुम्हें आत्म-समर्पण किया। उसने अपना सर्वस्व, अपना समस्त नवोदित मनोभाव, तुम्हें सौंपा, किन्तु तुम ने उसके साथ छल किया। तुमने वर्तमान की अवहेलना की और कल्पित भविष्य का पीछा किया। अब तुम्हारा जीवन ऐसा ही होगा। वर्तमान सुख से वंचित होकर तुम अब भविष्य के सुखों में ही अटके रहोगे। इस प्रकार सृष्टि का सारा प्रपंच ही विकारपूर्ण हो, अशुद्ध हो।

[ऊपर की पंक्तियों में कथा-सूत्र के साथ, 'उपमिति' का भी निर्वाह हुआ है। एक ओर श्रद्धा की अवहेलना की ओर संकेत है, दूसरी ओर यह भी संकेत है कि श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) का जीवन में क्या स्थान है। सजग होकर मनन करने से बड़ा आनन्द मिलता है]।

२०—तुम वृद्धावस्था और मृत्यु के भय से सदा दुखी रहोगे। अब तक यह विश्वास था कि संसार के परिवर्तन की गति नित्य है; बदलते हुए भी इसे नित्यता प्राप्त है। इस परिवर्तन का कहीं भी अन्त नहीं है। और इसी विश्वास ने अमरत्व की कल्पना को सार्थक बनाया। अबतक परिवर्तनशील जगत् के प्राणी अपने को अमर मानते आये, किंतु अब यह आस्था न रहेगी। मानव अपने इस दृष्टिकोण को भूल जावेगा आदर्श-च्युत होकर अब वह संसार को नश्वर बतायेगा। तिरोभाव तथा आविर्भाव की बातें तुम भूल जाओगे और प्रत्येक परिवर्तन को वस्तु का नाश समझोगे। तुम चिर दुख और चिंता की पूर्ति बने रहोगे। तुमने श्रद्धा से बंचना की है। तुम सदैव अशांत रहोगे। तुम्हें कहीं भी चैन न मिलेगा। तुम्हारी-प्रजा ऐसा अंध विश्वास करेगी कि उसकी भाग्य-रेखाएँ ग्रहों के किरण-जाल से बंधी हुई हैं, उसी के प्रभाव से बनती बिगड़ती हैं। वह परंपरा परिपाटी का अंधानुसरण करेगी।

तुम्हारी प्रजा यह न जानेगी कि यह लोक कल्याण भूमि है, कारण कि यह रहस्य-ज्ञान श्रद्धा के बिना संभव नहीं। नियमों शुद्धाचारों का उल्लघन करने वाले उच्छृंखल लोग इस लोक को मिथ्या मानकर परलोक में विश्वास करके संसार से वंचना करेंगे।

आशाएँ पूरी न होंगी। निराशा का ही सामना होगा। अपनी बुद्धि के बल का सहारा लेने से वह सदा भ्रम में रहेगा। उसे सच्चा ज्ञान उपलब्ध न होगा। वह थक कर भी चलता ही रहेगा। उसे शांति कभी नहीं मिलेगी।

[तुलनात्मक अध्ययन के लिये शेक्सियर के 'Venus and Adonis' को पढ़े उसने भी Venus ने संसार को श्राप दिया है]।

२१—कामदेव की अभिशापयुत वाणी रुक गई। जैसे सागर में विक्षुब्ध लहरें उठाकर महामत्स्य फिर सागर में डूब जाता है, उसी प्रकार आकाश को विक्षुब्ध बनाकर काम की वाणी भी विलीन हो गई। जैसे महामत्स्य के डूबने पर सागर फेनिल हो उठत है और बुदबुद श्रेणी झलाझल करती है, उसी प्रकार काम के तिरोहित होते ही वायु की तरंगों में झिलमिलाते मंद तारों की कतारें सज उठीं। रात का समय था। सारा संसा शांत तथा नीरव था। लगता था उस सुनसान स्थान को नींद आ गई हो। जैसे रात्रि के अंधकार में साँय-साँय की ध्वनि फूटती है, उसी प्रकार मनु उस नीरव वातावरण में अधीरता से साँसें ले रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मनु साँसें नहीं ले रहे थे, वरन् रात्रि के तम की पिण्डीकृत राशि से ही ध्वनि फूट रही है।

मनु इस प्रकार अशांत मन आहें भरते सोच रहे थे कि जिस अदृश्य शक्ति ने मेरे जीवन को आजतक विफल बनाया, वही काम आज फिर मेरे भविष्य का निर्देश कर गया। मेरे भाग्य का लेखा निश्चित कर गया। अब कोई अन्य उपाय नहीं, अब तो न समाप्त होनेवाली यातनाओं का ही सामना करना है।

२ —जैसे सांसारिक विषयवासना से उदासीन निर्लिप्त भाव सुखदुख के कूलों के बीच बिना उससे प्रभावित हुए आनन्द-विभोर बहता है, उसी प्रकार सरस्वती उस श्यामल घाटी में आवेशरहित, आवेगरहित मधुर ध्वनि करती शांत सुस्थिर गति से बह रही थी।

जैसे निष्काम-भाव के जाग्रत होने पर संसार के विषयभोग से उदासीन मन अपनी आत्मा के आनंद में निमग्न डोलता है, उसी प्रकार सरस्वती अपने किनारे पर पड़े पत्थर के जड़ शोकरूपी टुकड़ों को तिरस्कृत करती हुई आगे बढ़ रही थी। उसके उर में आनंद की हिलोर, उसके कंठ में मधुरगान भरे थे। नदी क्या थी प्रसन्नता का प्रस्रोत थी।

वह बिना रुके निरंतर अपने कर्म में लगी थी, मानो वह विश्रामहीन कर्म की सजीव प्रतिमा हो। उसको देखकर प्रतीत होता था कि अनंतज्ञान उसके वश में है। 'प्रसन्नतापूर्वक कर्म करते हुए जीवन बिताना ही अनंतज्ञान की साधना है', इसका उसे पूरा बोध था।

अपने अनुभव अपने ज्ञान से अपना पथ निर्धारित करनेवाला प्राणी जिस प्रकार तर्क-वितर्क मनमनांतर के झगड़ों से अपीड़ित, शांत, आनन्द निमग्न, आलोक प्राप्त करते हुए जीवनयात्रा करता है, उसी प्रकार सरस्वती अपनी हिम सदृश शीतल लहरों से अपने कूलों को चूमती बह रही थी। उसकी लहरों पर सूर्य की लाल किरणें एक विचित्र आलोक की सृष्टि कर रही थीं। जैसे ज्ञानी अपने पथ पर जग को संदेश देता हुआ

बहता है, उसी प्रकार सरस्वती आनंद का संदेश दे रही थी। (तुलनात्मक अध्ययन के लिये रवीन्द्रनाथ ठाकुर की Fugitive पुस्तक के 'कचदेवयानी' शीर्षक कविता में 'बेनुमती' का वर्णन देखें)।

२३—पूर्व दिशा में मधुर लाली छा गई। उस लाली के घेरे के भीतर एक कमल खिल उठा, जिसमें सुनहला पराग भरा था। जिसकी गंध से व्याकुल अंधकार में निमग्न पक्षी चहचहाने लगे। उषा के प्रकाश की किरणों से बुने अंचल में प्रातःकाल का मधुर पवन चारों ओर पुष्प-रस बिखेरने के लिये भारी हलचल मचाने लगा। उस सुन्दर रमणीय वातावरण में एक सुन्दर नवयौवना इस प्रकार प्रकट हुई जैसे सुन्दर चित्रपटी पर कोई आकर्षक चित्र खिंच उठे। नारी क्या थी विकसित कमल की एक माला थी। उसके अंग-अंग कमलवत् थे। वह नारी 'नयनमहोत्सव' की प्रतीक थी।

उसका मुखमण्डल सौन्दर्य पूर्ण था, जिस पर मुस्कान छाने पर हृदय में अनुराग इस प्रकार छा जाता था जैसे सूर्यमंडल के हृदय से संसार पर सुन्दर अरुणिमा छा जाती है। उस रुपमा धुरी सोम्य-सुषमा की प्रतिमा को देख मनु के मन में संसार के प्रति जो विराग भावना उत्पन्न हो गयी थी उसका तिरोभाव हो गया।

२४—उसकी अलकें (केश पाश) लंबी तथा घुँघराली थीं। जैसे तर्क से बातें लम्बी तथा उलझी हुई हो जाती हैं, उसी भाँति उस नारी के केशपाश लम्बे तथा घुँघराले थे। जैसे तर्क जाल मोहक तथा आकर्षक होता है, उसी भाँति उसकी अलकें मोहने और फँसने वाली थीं। जैसे आकाश में अर्धचन्द्र विश्वमुकुट की भांति शोभित होता है, उसी भांति उसका ललाट अलकों में स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था। उसके दोनों नेत्र कमलपत्र की बनी दो कटोरियों के समान थे, जो दर्शक को राग-विराग का प्याला ढालकर पिला रहे थे। उसका मुँह कली सदृश था और उसकी बोली भ्रमर गुञ्जार के समान। जब वह बोलती तो ऐसा लगता जैसे कली पर भौंरा गुनगुना रहा हो। उसके युगल उरोज ऐसे कसे थे जैसे संसार की सभी ज्ञान-विज्ञान-निधि एकत्र करके बाँध दी गई हो। अर्थात् भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ज्ञान की सिद्धि उसके उरोजों से प्राप्त हो सकती थी। उसके एक हाथ में कर्म-कलश था जिसमें सांसारिक जीवन का रस-सार भरा था, जो संकेत करता था कि संसार में सुखी होने का रहस्य कर्म-कौशल में है। उसका दूसरा हाथ विचारों के आकाश को मधुर निर्भय सहारा दिये हुए था। अर्थात् उसके दूसरे हाथों में निर्भीकता तथा उच्चता का परिचायक 'अभय' था।

उसकी त्रिबली (नाभि के ऊपर उदर प्रदेश के तीन बल) देखकर ऐसा लगता था मानो सत् रज तम तीनों गुण तीन धाराओं में साथ बह रहे हों। उसने अपने

शरीर पर प्रकाशमय शुभ्र वस्त्र तिरछे टेढ़े बाँध रखा था। उसके चरण इस प्रकार नपे तुले समय से उठते थे मानों वे ताल के अनुसार बढ़ रहे हो।

(इड़ा बुद्धि की प्रतीक है अतएव वर्णन में बुद्धि संबंधी उपमानों मे ही काम लिया गया है। यही काम लिया गया है। यही वे थल हैं, जो "कामायनी" के रूपक-काव्य मानने की भ्रांति उत्पन्न करते हैं)।

२५—मनु के प्राण मूक तथा शांत थे। जैसे रात्रि में अपार कुहरा छाने पर सरोवर में लहरियाँ नहीं उठतीं और वह स्थिर (जड़) प्रतीत होता है वैसे ही मनु की भी दशा थी। उसमें तरंगों (भावों के उद्वेल) का अभाव था। मनु के चारों ओर निराशामय अंधकार छाया था। तालाब में लहरों के न उठने कारण तो यह होता है कि चंचल पवन की गति बंद हो जाती है। लगता है जैसे वह आलस्य कारण कहीं सो गया हो। इसी प्रकार मनु के मन की आशा सो गई थी जिससे वे मनोभावों के अभाव में इच्छा-हीन तथा निष्क्रिय हो गये थे।

जैसे बंद कमल अपना मकरंद अपने अन्तर में छिपाये रखता है तथा उसका उप-भोग अपने ही करता है, उसी भाँति मनु अपनी रागमयी इच्छाओं को अपने उर में छिपाये मौन बैठे थे। उनका कोई साथी संगी न था। उनकी रागमयी इच्छाएँ उनके मन में भार रूप थीं, फूट निकलना चाहती थीं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मुकुलित कमल का मकरंद। मनु एक नीरव वातावरण में अपने को बंदी रूप में बँधा हुआ पाते थे। उस नारी को देख कर वह अकस्मात् बोल उठे। उनके मुँह से ये शब्द बिना किसी प्रयत्न के निकल पड़े। "यह सुनहली छवि बिखेरती बालिका कौन है? जिसकी मंद-मुस्कान में प्रकाश की द्युति भरी है। जो साकार चेतनता है"।

रात बितने पर जैसे नींद टूटती है और सपनों का तिरोभाव हो जाता है और चारों ओर प्रकाश की छटा छा जाती है उसी प्रकार मनु की निराशा का अंत हो गया और उनका मन आशा से उद्वेलित हो उठा। जैसे प्रभात के आते ही समीर के डोलने से जल में लहरियाँ नाचने लगती हैं, उसी प्रकार आशा के उद्भव से मनु का हृदय इच्छाओं की तरंगों से आंदोलित हो उठा। इड़ा के दर्शन से उनके मन में दुलार भर गया, हर्ष से रोमांच हो गया, लगा जैसे बीते दिन उनके सामने नाच रहे हों। वह अतीत की सुधि से विह्वल हो गये।

२६—अपनी सहज प्रसन्न तथा सुन्दर मुख से वह बोली, मेरा नाम तो 'इड़ा' है; किंतु इस प्रकार प्रदेश में भ्रमण करने वाले तुम कौन हो?" इड़ा ने जिस समय यह प्रश्न किया। उस समय उसकी नुकीली नासिका के पतले पुट फरक रहे थे और उसके अधर पर विलक्षण मुस्कान खेल रही थी। मनु ने उत्तर दिया, "हे बाले मेरा नाम मनु है। संसार पथ का मैं एक ऐसा पथिक हूँ जो पथ में संकट झेल रहा है।"

इड़ा ने कहा, "मैं इस स्थान पर तुम्हारा स्वागत करती हूँ। तुम्हारे सामने जो यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश है, यही मेरा प्रदेश है। यहाँ एक बार भौतिक हलचल हुई, जिससे यह प्रदेश नष्ट भ्रष्ट हो गया। किंतु मैं आज तक इसी आशा में हूँ कि कभी तो मेरे दिन फिरेंगे। मनु बोले, "देवि, मैं तो भयाकुल हूँ। मुझे भविष्य में विश्वास नहीं है। मैं चाहता हूँ तुम मेरे भय को दूर करो और मुझे जीवन के उद्देश्य से परिचित कराओ।

७—इस शून्य अवकाश में जिसने महामोहमय इन्द्रजाल का खेल रचकर ग्रह, तारा, विद्युत् तथा नक्षत्रों की श्रेणी का प्रसार किया है, वही महाकाल समुद्र की अति संक्षुब्ध लहरों के समान यह सारा कौतुक कर रहा है क्या उस निष्ठुर काल ने छोटे-छोटे प्राणियों को भयाकुल बनाने के लिये ही यह कठोर रचना की है—रचना जिसमें कोमल भावों का लेश नहीं। तो क्या विनाश की ही विजय होती है? यदि यही सत्य है, तो मूर्ख (दार्शनिक) आज तक विनाशमयी रचना को सृष्टि की संज्ञा क्यों देते आये हैं। इस विश्व का नियन्ता, अधिपति कौन है? इसकी चिंतना करना ही व्यर्थ है। उसे जानकर होगा ही क्या, जो अब तक दुखिया की पुकार न सुन सका। सुख के घोंसले के चारों ओर दुःख का घेरा पड़ा रहता है। न जाने किसने संसार पर यह असत्य का पर्दा डाल दिया। जो क्षण भर भी नहीं उठता।

"महामोहमयेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्येनियुङ्क्ते" (सांख्य सूत्र १८) तथा "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" (ईशा० १५) आदि मननीय।

२८—मनु ने कहा—सामने बहुत ही दूर शनि का नीला लोक है। उसी शनि की छाया मात्र (यह शोक रूपी गगन) चारों ओर छाया हुआ है। लोग कहते हैं इस शनि से भी बहुत आगे कोई महा प्रकाश का पुञ्ज है। (उसे सब ईश्वर कहते हैं।) क्या वह इतनी दूर से नियति के चक्कर में फँसे हम प्राणियों पर किरन डाल दर हमें भाग्य की यातना से मुक्त कर, हमें अपना भविष्य स्वतंत्रतापूर्वक अपने आप निश्चय करने में सहायक हो सकता है।

इड़ा ने उत्तर दिया वह चाहे असत् हो, चाहे सत्, उसे क्या पड़ी है जो वह तुम्हारी सहायता करे, तुम्हारी पुकार सुनकर उत्तर दे। मनुष्य अपने पागलपन में उसका भरोसा करता है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने बलाबल को समझता हुआ अपने पथ पर चले, पैर बढ़ाये। हाथ फैलाकर दूसरे से सहायता माँगना यथार्थ नहीं। पैरों पर खड़ा होना चलना अपना ही भरोसा करना नीति पथ है। जिसे चलने की धुन है उसे कौन रोक सकता है?

२९—इड़ा कहती गई—तुम स्वयं अपने सहायक हो। तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हारा कोई और सहायक नहीं। मनुष्य को बुद्धि मिली है, जिसके द्वारा वह अपनी उलझी सुलझा सकता है। बुद्धि ही युक्ति बताती है कि मनुष्य को किस परिस्थिति में क्या

करना चाहिए। फिर बुद्धि की अवहेलना करके मनुष्य किसकी सहायता ले। बुद्धि के अतिरिक्त मनुष्य को अन्य कोई त्राण देने वाला नहीं हैं। हमारे सभी संस्कारों सभी विचारों की निर्मात्री केवल बुद्धि है। उसके बल पर हम विचार स्थिर करते हैं, कर्म की प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

सामने सुन्दर सम्मोहक प्रकृति है जिसके वक्षस्थल में वैभव तथा शक्ति की निधि छिपी पड़ी है। किंतु इसको अनुसंधानों द्वारा प्रकट करने वाला कोई नहीं। तुम इसके मर्म को समझो, इसके रहस्य का उद्घाटन करो। इसमें परिश्रम करना होगा। तत्परता से कर्म करना होगा। प्रकृति के वक्षस्थल से शक्ति प्राप्त करो। इस प्रकार तुम सबका नियंत्रण कर सकोगे, सब पर आधिपत्य स्थापित कर सकोगे। इस प्रकार तुम्हारी शक्ति बढ़ेगी। तुम्हारी प्रभुता का विकास होगा। कहाँ तुम्हें भेदभाव से कार्य लेना चाहिए, कहाँ समता से, इसका निर्णय तुम्हें स्वयं करना है। विज्ञान ही (भौतिक-ज्ञान—प्रकृति की शक्ति का ज्ञान) द्वारा जड़ता में चेतनता उत्पन्न हो सकती है। यही एक सरल उपाय तथा सीधा साधन है। यदि तुम इस पर चलोगे, इस पथ का अनुसरण करोगे, तो तुम्हारा यश सारे संसार में फैलेगा। तुम यशस्वी बनोगे।

३०—शून्याकाश इड़ा की इस उक्ति को सुनकर हँस पड़ा। उसने देखा था कि उसकी छाया तले अनेक जीवधारियों के जीवन मृत्यु तथा दुःख के हाथों नष्ट-भ्रष्ट हुए थे। कितने हृदय प्रेम प्रवेग में एक दूसरे से मिले, किंतु फिर चकवा-चकई की भांति बिछुड़ कर, तड़पे, चिल्लाये, रोये।

'मनु ने संसार के नियमन का भार अपने शिर पर ले लिया। वे अपना उत्तर-दायित्व सँभालने पर उद्यत हुये। यह सोचकर कि मनु अपना राज-काज स्वयं संभालेंगे, उषा पूर्व दिशा में हँस पड़ी। मलयानिल की लहरें कौतुक देखने के लिये अपनी तन्द्रालस गुफाओं से निकल पड़ीं। प्रकृति प्रसन्न थी। उसके कपोल लज्जारुण हो रहे थे; जिसे देख कर तारागण मतवाला होकर गिर रहा था। बन में खिले कमलों से भौरों की छेड़ चल रही थी। संसार सारे शोक भूल गया था, चारों ओर प्रसन्नता छाई थी।

३१—मनु बोले तुमसे मिलने के पूर्व 'जीवन निशीथ का अंधकार वार पार फैला था।' मेरा जीवन निराशा के अंधकार में डूबा था। किन्तु जिस प्रकार उषा का मुख देख कर अंधकार क्षितिज के अंचल में मुख ढक लेता है, प्रच्छन्न हो जाता है। उसी प्रकार तुमको देखकर मेरी सारी निराशाएँ मिट गईं। तुम बड़ी उदार हो।

इड़े! जैसे उषा काल में सोये पक्षी जगकर मधुर ध्वनि करने लगते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे आगमन से मेरे मनोभाव गुनगुनाने लगे हैं। जैसे उषा काल में सुप्त लहरियाँ प्रसन्नता से नाचने लगती हैं, उसी प्रकार मेरा मन भी चाव भरी प्रसन्नता से नाच उठा है।

मैं ने सभी सहारे छोड़ बुद्धिपाद का आश्रय लिया और बुद्धि से आलोक प्राप्त कर अपने पथ पर अग्रसर हुआ। फलस्वरूप मैंने तुम जैसी साकार बुद्धि-प्रतिमूर्ति को प्राप्त किया।

अब तक मैं संदेह में था कि क्या करूँ क्या न करूँ। मन की वह संदिग्धता आज मिट गई। मैं अब अपना मार्ग निश्चित कर पाया हूँ। अब मैं ने कर्म करने की ठान ली है। जीवन अब 'कर्म' करने में ही बीतेगा। 'कर्मकरो' 'कर्म करो' का ही रव अब चारों ओर गूँजेगा। फलस्वरूप सुख का पथ प्रशस्त होगा।

स्वप्न

१०—स्वप्न

मनु के चले जाने के पश्चात् परित्यक्ता श्रद्धा, विरहिणी श्रद्धा, का जीवन नीरस होगया। उसकी इस दशा का वर्णन हमारे कवि ने इस सर्ग की प्रारंभिक पंक्तियों में किया है। रस को उद्दीप्त करने के लिये सध्या का चित्र प्रथम चार पंक्तियों में अंकित हुआ है। संहृत, अभिव्यञ्जना तथा मानवीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण सामने है।

१—[सूर्यास्त हो गया था। क्षितिज पर अंतिम प्रकाश की लाल-पीली रेखाएँ अवशेष थीं] संध्या को पता न था कि लाल कमल के समान प्रफुल्ल सूर्य कब कहाँ मुरझा कर गिर गया। वह उसे पाने में असमर्थ थी, अतएव वह उस लाल कमल रूपी सूर्य की केसर रूपी लाल पीली क्षीण प्रकाशयुक्त रश्मियों से ही अपना मन बहला रही थी। [भाव यह है कि श्रद्धा मनु को खोज निकालने में असमर्थ थी, केवल उसकी स्मृतियों से मन बहलाया करती थी]। [शनैः शनैः यह लाली भी मिट गई और अंधकार छा गया] क्रूर कालिमा ने प्रतीची के क्षितिज झील से सुहाग-सिंदूर की लालिमा भी मिटा दी कमल संकुचित हो चुके थे। कोयल मीठी तान सुना रही थी, किंतु कलियों के कान मुँदे थे अतएव उनको सुनने वाला कोई न था।

[सूर्यास्त हो गया -- अंधकार छा गया—चारों ओर सुनसान हो गया केवल कोयल व्यर्थ कल कूजन कर रही थी]।

२—पृथ्वी पर कामायनी उस फूल के समान पड़ी थी, जो अपनी पर्व सरलता खो चुका हो। वह ऐसे चित्र के समान थी जिसका रंग धुल गया हो, केवल रेखायें अवशेष रह गई हों वह प्रभातकालीन चन्द्रमा के सदृश थी, जिसकी चाँदनी का लेश मात्र अंश भी न रह गया हो। वह संध्या के समान थी जिसमें प्रकाश-पिण्ड का सर्वथा अभाव रहता है, न सूर्य, न चन्द्रमा, न तारे।

कामायनी पति वियोग में पीली पड़ गई थी। विवर्ण हो गई थी। कृशता के हाथों वह सूख कर काँटा हो गई थी। उसका शरीर केवल हड्डियों का ढाँचा था, न रक्त न माँस। उसकी स्वाभाविक कांति नष्ट हो गई थी। उसका जीवन अंधकारपूर्ण था।

३—श्रद्धा उस तालाब के सदृश थी जिसके लाल, नीले तथा श्वेत कमल अपने नालों पर मुरझा गये हों। वह उस बादल के समान थी, जिसमें न बिजली थी, न कालिमा। वह शिशिर उस पतले प्रस्रोत के समान थी, जो बर्फीली भूमि में जम गया हो।

लाल कमल-सा उसका मुख मुरझा गया था। नीले कमल सी उसकी आँखें आभा-हीन हो गई थीं। श्वेत कमल-सा उसका रंग फीका पड़ गया था। मनु उसे नीरस

समझकर स्वार्थी भौंरे की भाँति विलग हो गया था। जैसे मुरझाये कमल पर भौंरा नहीं मँडराता, उसी भाँति श्रद्धा को कोई पूछने वाला न था। काले बादल तथा बिजली की चमक दोनों बादल की सरसता के द्योतक हैं, जब बादल बरस चुकता है तब उसकी श्यामता समाप्त हो जाती है और बिजली की कौंध भी नहीं रहती। श्रद्धा की सरसता तथा उसकी स्फूर्ति चंचलता समाप्त हो चुकी थी। मनु के साथ रहने पर श्रद्धा में तरलता थी, गति थी, जीवन था, किंतु अब वह जड़ता को प्राप्त हो चुकी थी।

['रसकलस' में "व्याधि" तथा "जड़ता" का वर्णन रसनिरूपण के संबंध में द्रष्टव्य]। कवि ने इनका सफल वर्णन यहाँ उपस्थित किया है।

४—जैसे निर्जन नीरव स्थान, जिसमें झिल्ली की झनकार भी न हो, पूर्ण सन्नाटे से एक दुःखद परिस्थिति की सृष्टि करता हो, ठीक वही दशा श्रद्धा के जीवन की थी। उसका जीवन पूर्णतः वेदना से भरा था, उसमें सुलेशमात्र भी न था। श्रद्धा क्या थी मानों वसुधा के उपेक्षा की मूर्ति थी और वह उपेक्षा भी ऐसी जिसका कारण अज्ञात, अस्पष्ट हो। मनु ने उपेक्षा की किंतु क्यों? यह उपेक्षित श्रद्धा नहीं जानती थी। उसके मन में मनु के इस व्यवहार से एक कसक थी और कसक थी इसकी भी कि उसे अपने दोष का पता न था। श्रद्धा इस प्रकार उपेक्षा तथा कसक की मूर्ति थी।

जैसे हरे-भरे कुंज की छाया पृथ्वी पर पड़ी रहती है उसी प्रकार श्रद्धा विगत जीवन की स्मृतियाँ लिये पृथ्वी पर डोल रही थी। जैसे छाया में कुंज की सरसता नहीं होती उसी प्रकार श्रद्धा में पूर्व जीवन की सरसता न थी। जैसे छोटी नदी बाढ़ आने पर सीमाएँ खो देती है, उसी प्रकार श्रद्धा की विरह-वेदना निस्सीम हो गई थी।

५—सूर्य की किरणें नीले आकाश में चिड़ियों के छोटे बच्चों के समान उड़ते-उड़ते थककर स्वप्नलोक में नींद सेज पर सोने के लिये उसी भाँति लौट पड़ीं जैसे पक्षी बसेरा लेने के लिये। सूर्य की किरन भी विश्राम का मर्म जानती है, विश्राम करती है। विश्राम प्रकृति का सहज स्वभाव है, किंतु विरहिणी श्रद्धा को विश्राम कहाँ? उसे तो रात-दिन यातना में बिताने हैं।

जैसे बादल छाने पर बिजली कौंधती है, उसी प्रकार अँधेरा छाते ही उसके हृदय में स्मृतियाँ और तीव्र हो उठीं।

दिन कट गया फिराक का लो रात आ गई।

हम जिस से डर रहे थे वही बात आ गई—

पिय बिन नागिन काली रात आदि मननीय)।

६—संध्या रूपी नील कमल जो अंधकार रूपी श्याम पराग बिखेर रहे थे, वह श्याम पराग पहाड़ों की घाटियों के अंचल को धीरे-धीरे भर रहे थे। अर्थात् संध्या के पश्चात् धीरे-धीरे पर्वत की तलेटी में अंधकार छा गया। वहाँ पर्वत श्रेणियों के अतिरिक्त श्रद्धा के साथ संवेदना रखने वाला कोई न था। जैसे दुःख की कहानी सुन कर सुनने

वाले के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रद्धा की करुण कथा से पर्वत के तृण-गुल्म रूपी रोंगटे खड़े हो गये थे। श्रद्धा की साँसों की प्रतिध्वनि क्या थी, मानो पर्वत स्वयं श्रद्धा के साथ आहें भर रहे थे।

७—श्रद्धा गङ्गा तट पर थी। वह गङ्गा को संबोधित करके कहने लगी—"हे गंगे! क्या तुम बतला सकती हो कि जीवन में सुख की प्रधानता है या दुःख की? क्या तुम बतला सकती हो कि आकाश के तारों की संख्या अधिक है या समुद्र के बुलबुलों की? तुम में आकाश के तारों का प्रतिबिंब पड़ता है, अतएव तुम तारों के संसार से भी परिचित हो; तुम सागर से जाकर मिलती हो, अतएव तुम्हें सागर के बुल्लों का भी परिचय प्राप्त है। (तारा प्रकाश-पुञ्ज होने से सुख का प्रतीक है, बुदबुद गोला होने से दुःख का प्रतीक है) क्या तुम बतला सकती हो कि तारा और बुदबुद दोनों भिन्न अस्तित्व रखते हैं या ये दोनों हो किसी तीसरी वस्तु के प्रतिबिंब मात्र हैं? सुख दुःख वस्तुत: एक ही सत् के दो रूप विपर्यय तो नहीं है?

८—अंतरिक्ष के इस सूने पट पर नित-प्रति विभिन्न रंग के चित्र बनते-मिटते रहते हैं। इन चित्रों के विभिन्न रंग इन्द्रधनुष की सुषमाओं से ही निकले प्रतीत होते हैं। किंतु चित्रों की यह रंग भरी सृष्टि अस्थिर है। यही अणु, रंगों में डूबे अणु थोड़ी ही देर में पुन: अपना प्रकाश खोकर एक दूसरे से मिलकर एक व्यापक अंधकार की सृष्टि करते हैं जो वसुधा को ढक लेता है। सुख-दुख की विभिन्न रंगीनी इसी प्रकार समाप्त हो जाती है और अंत में वेदना की सृष्टि होती है, जो संसार को ढक लेती है। (आँसू के उत्तरार्ध की पंक्तियाँ भी ऐसे ही भाव से पूर्ण है)।

९—मेरा जीवन अमावस्या के अंधकार से पूर्ण है, जिससे करुण वातावरण की सृष्टि हो रही है। तारे रो रहे हैं, मैं भी मूक रोदन कर रही हूँ। मेरी साँसों में हृदय-ताप की उष्णता है, मेरा हृदय जल रहा है; किंतु मैं चाहती हूँ कि मैं इस जलन को व्यक्त न होने दूँ। मेरे मुँह से आह न निकले। जैसे दीपक अपना स्नेह जलाकर स्वयं जलता रहता है, प्रसन्न मन दूसरों को प्रकाश देते हुए, उसी प्रकार मेरा मन भी अपने स्नेह संबंध से स्वयं जलते हुए प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। मैं दुखी हूँ कि सूर्य की सन्ध्याकालीन रश्मियों की भाँति मेरे प्राणों का स्नेह संबंध युक्त प्रकाश कहीं बुझ न जाय। मैं चाहती हूं, मैं विरहाग्नि में इस प्रकार जलती रहूँ। मैं मिलन की परवाह नहीं करती। दीपक की लौ पर न्यौछावर होनेवाला परवाना नहीं, न हो, अकेले सुखपूर्वक दीपक का जलना ही भला है। मैं शाश्वत विरह में इस प्रकार प्रसन्न मुख उनके आने की प्रतीक्षा करती रहूँ, यह भी कुछ कम नहीं है।

१०—पतझड़ के आने पर फूलों से लदी डालियाँ सूनी हो जाती हैं। 'अब अलि रही गुलाब की अपत कँटीली डाल' का वातावरण उपस्थित होते ही वसंत की सारी रंगरेलियाँ समाप्त हो जाती हैं, न परागों का व्यापार रहता है, न भौंरों का गुञ्जार। केवल

पुन: वसंतागम की आशा तथा अपेक्षा रहती है। कोयल कू-कू करती है, किंतु उससे हृदयों में उल्लास नहीं होता। सुनने वाले उदासीन उसे सुनते हैं। वही दशा आज मेरे मन की है। अरमानों की दुनियाँ लुट गई। भावनाओं का संसार उजड़ गया, यातनाओं की शूली सामने है।

किंतु इससे क्या मुझे यह सब सहना है मौन, सुस्थिर, शांत। मुझे अपने दिल को पत्थर बनाना है। उसमें सब कुछ सह लेने की शक्ति उत्पन्न करके बिना हिचक-झिझक ये यातनाएँ झेलनी हैं।

११—जैसे पतझड़ के आने पर सघन निकुंज की एक-दूसरे से गुँथी डालियाँ विलग हो जाती हैं, और उनमें से पवन इस तीव्रता से बहता है कि ऐसा लगता है जैसे निकुंज दुःख के कारण आँहें भर रहा हो। पवन में मलयानिल का मंद स्वर वसंतागम का संदेश लिये हुए नहीं होता, वरन् झंझा का कर्कश स्वर केवल बीते की कसक लिये होता है। मेरी भी आज ठीक वही दशा है। वियोग-पीड़ित मैं उनकी स्मृतियों की टीस सँभाले जी रही हूँ। किसी ओर से भी मिलन का संदेश मुझे नहीं मिल रहा है।

मुझे ऐसा लगता है जैसे संसार मुझ से बिना किसी अपराध के रूठ गया है। वह रूठे, सारा संसार रूठ गया किंतु उनका रूठना अकारण, संसार का रूठना अकारण। मैंने कोई भी बात तो ऐसी नहीं की जो उनके या संसार की अप्रसन्नता का कारण होती। ऐसा लगता है उनके समान संसार भी अहंकार से पीड़ित है। अपनी अहंता में उसे इसके सोचने का अवसर ही कहाँ कि उसका रूठना यथार्थ है या नहीं। मैं उनके वियोग में आँसू बहा रही हूँ, किंतु क्या मेरा रोना व्यर्थ नहीं? यदि वह सामने होते तो मैं इन आंसुओं से उनके पैर पखारती किन्तु वे पैर मुझ से दूर हैं, फिर इन आँसुओं का क्या प्रयोजन?

१२—जब कोई निराश्रय असहाय विगत जीवन को बिखरी घटनाओं की स्मृतियों द्वारा शृंखला-बद्ध करके देखता है, तब विगत जीवन आँखों के सामने नाच उठता है। इस अभावात्मकता में भावात्मकता प्रतिबिंबित हो उठती है, जिस के कारण अभावमयी स्मृतियाँ दुखद होती हुई भी मधुर लगती हैं, सुख का हेतु बनती हैं। 'यार के बदले ख़याले यार से याराना होने पर फ़ुरक़त में सदमये फ़ुरक़त से दिल बेगाना हो जाता है।'

मैंने मनु को चिरसुन्दरता के कारण सत्य समझा था, ('तुम सत्य रहे चिर सुन्दर'—आँसू) किंतु मनु मेरे साथ न रह सके, कहीं जा छिपे। उनके अभाव में उनके स्मृति रूपी भाव में मेरे मन में सुख-दुख की लड़ियाँ उलझ गई हैं, अब इन का सुलझाना मेरे वश की बात नहीं।

टि० 'अपनी' का अर्थ न समझकर 'चिर-सुन्दरता में अपनी' का अर्थ "अपने प्रेम के सुन्दर जीवन को मैंने सत्य समझा आदि लगाया है जो भ्रम पूर्ण है। अन्वय करके देखें।

१३—विगत जीवन की बातें मैं भुला दूँ तो ही अच्छा। अब उनमें कोई तत्व नहीं। उनकी स्मृति से कोई लाभ नहीं। अब न प्रेम की जलन ही अवशेष है, न उसे शीतल करने का प्यार रूपी उपचार ही। प्रेम अपनी विकलता तथा उसका शांतिमय उपचार खो चुका है। आशाएँ, कामनाएँ जिनसे मुझे आनन्द मिलता था, सब विगत हो चुकीं। काल के हाथों उन सब का तिरोभाव हो गया। मेरे साथ निष्ठुरता का व्यापार करके प्रिय ने मोह का बंधन तोड़ दिया, मुझे छोड़ कर चले गये, इसमें वस्तुतः वे बिजयी बने, किंतु क्या इससे मेरी पराजय हुई ? नहीं, मुझे अपने प्रेम का गर्व था वह अब भी अक्षुण्ण बना है। (कर निबुकाये जात हो निबल जानिके मोहिं। हिरदे से जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहिं।)

१४—हम दोनों एकाकार हुए थे भुज-बंधन की मुद्रा में। आलिंगन ने हम दोनों को यों आबद्ध किया था, जैसे हम दोनों दो पृथक् वस्तु ही न हों; आलिंगन-बद्ध जो मुस्कान हमारे होंठों पर खेल उठी थी, उस में बिजली से अधिक प्रकाश था। किंतु आज वह आलिंगन न रहा, न वह हँसी ही रही। हमने विश्वास किया था कि हमारा यह सुख-संसार अमर है, अक्षय है, किंतु वह विश्वास भी असत्य निकला। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मोह के आवेश में हमने एक पागलपन का व्यवहार किया था। मन ने मोह में चेतना खोकर भ्रमपूर्ण विश्वास बढ़ाया। मैं अकिंचन थी, किंतु मैंने आत्म-समर्पण करके दानी होने का मिथ्याभिमान किया। आज मेरा जीवन वंचित है। मनु ने मेरे साथ वंचना की। अब तो मेरे आत्म-समर्पण की बात सत्य न रह कर केवल एक आनुमानिक तथ्य-सी लगती है।

टि०—(मानव की टीका में भ्रम-पूर्ण अर्थ किया गया है।)

१५—प्रेममय मनोभावों के बदले दूसरे से प्रेममय मनोभावों की प्रत्याशा करना एक भयङ्कर भूल है। प्रेम व्यापार में पारस्पर्य की अपेक्षा भयावह है। प्रेम में सर्वस्व समर्पण करना यथार्थ है, दूसरे से भी कुछ वैसा ही चाहना ठीक नहीं। ऐसा करने से मनुष्य दुखी होता है, यातनाएँ सहता है। बदले की कामना महत्वाकांक्षा नहीं, तुच्छ भावना है। बदले की प्रत्याशा कभी भी सफल नहीं होती। प्रकृति का व्यापार भी यही बताता है। संध्या सूर्य को देकर क्या पाती है ? बिखरे तारों की पाँत ही न !

(मैंने भी मनु रूपी सूर्य को खोकर स्मृतियों की तारावलियाँ पाईं !

१६—जैसे वसंत के कुछ दिन, पूर्वाकाश में स्थित उदयाचल पर हँसते हुए आकर अपनी मायावी हँसी की शक्ति से वसुधा का आँचल फूलों से भर देते हैं और कल कूजन से दिग्दिगन्त को उल्लास में डुबो देते हैं; किंतु जब किरनों की गुदगुदी से कलियाँ हँस पड़ती हैं, फिर कभी आने की बात कह कर धीरे से कहीं चले जाते हैं, ठीक वही घटना मेरे साथ भी घटी। मनु ने मेरे जीवनाकाश में उदित होकर मेरे

अरमानों की दुनियाँ में मधुमास बिखेर दिया, किंतु जब मेरी आशाओं को हँसी-सी आने लगी, अपनी सफलता पर; ठीक उसी समय वह यहाँ से चले गये।

१७—सिरसफूल की मधुर गंध से भरी मधुऋतु की रातें जगते ही बीततीं थीं। मधुरातें इसे अपना अपमान समझ कर रूठ कर मुख लाल किये लौट जाती थीं और उसके पश्चात् पक्षियों के कलकूजन के साथ दिन की विभाएँ आकाश में छा जाती थीं। दिन भर मैं विभिन्न स्मृतियों में उलझी विचार-निमग्न रहती थी, फिर रात आती थी तारों की पाँत सजाए। लगता था, आकाश में मेरे वे ही दिन के जगते-सपने जगमगा उठे हो।

१८—साँझ होते ही बन बालाओं के निकुञ्ज वेणु के मधुर स्वर से गूँज उठे हैं। उनकी पुकार सुनकर बाहर भटके पक्षी अपने नीड़ों में बसेरा लेने लौट आये हैं, किंतु मेरा परदेसी अब तक न लौटा। प्रतीक्षा में एक युग बीत गया। (ऐसा सोचकर कामायनी की आँखों से टप-टप आँसू टपक पड़े। हमारे कवि ने जिसे यों उपलक्षित किया है "रात की भींगी पलकों से ओस के कण झरने लगे)।

१६—जैसे मानस में कमल के खिलने से मरंद की घनी बूँदें झरतीं हैं (अथवा जैसे राधा-तत्व की उपलब्धि में रस की वर्षा होती है), उसी प्रकार स्मृति के कमल खिलने से आंखों में अश्रुकण गिरने लगे। (कमल का मिलन है, राधा तत्व की उपलब्धि भी मिलन है, विरह में स्मृति भी काल्पनिक-मिलन की दशा उत्पन्न करती है। अतएव विरह अभावात्मक-मिलन है। अश्रु विन्दु मोती के समान गोल-गोल हैं, किंतु उनकी भाँति ये घन नहीं वरन् तरल हैं, इनके आरपार देखा जा सकता है। मोती में भी अनेक प्रतिबिंब झलकते हैं, उसी भाँति ये आँसू भी अनेक घटनाओं के चित्र निज अङ्क में सँभाले हुए है।

इन अश्रु-कणों की समता सरल तरल विद्युत्कणों से की जा सकती है, क्योंकि विद्युत्कण तम को आलोकित करते हैं, उसी प्रकार ये अश्रु-कण विरह में नयनों के सामने अतीत के चित्र उपस्थित करते हैं। आँसुओं के सम्बल के सहारे प्राणपथिक अपने भावी जीवन-पथ को सफलतापूर्वक विजित करने की कल्पनाएँ करता है।

२०—(शृंगार का वीभत्स, करुण तथा शांत से विरोधी है। हमारे कवि का जीवन इतना विलासपूर्ण था कि उसकी लेखनी बहुधा अवचेतन मन की गति में डोलने लगी है। ऐसे चित्र 'कलाकार' की कुत्सा पर हमें विवश करते हैं। अगली चार पँक्तियों में ऐसा ही चित्र है।

कामायनी की रोई हुई आँखों का वर्णन हमारे कवि से कुछ न बन पड़ा।

(शोण=लाल) जैसे लाल कमल के लाल कोनों में ओस की नई बूँदें भरी हों, उसी प्रकार श्रद्धा की रोते-रोते लाल हो गई आँखों के लाल कोयों में नवीन आँसू की

बूँदें भरी हुई थीं। ये अश्रुकण टूटे मुकुर के छोटे-छोटे टुकड़ों के समान थे, जिनमें एक छवि की विभिन्न आकृतियाँ प्रतिबिंबित थीं।

(दिल का आईना टूटा उस से आसुओं की सृष्टि हुई। मन में समाई एक छवि आँसुओं में अनेक बनी, आदि।

प्रेम, हँसी और दुलार के ज्योतिर्मय दिन अंधकार में विलीन हो गये। विरह वर्षा की अमावास्या की रात में स्मृति रूपी जुगनूँ डरते-डरते चमक रहे थे। जैसे वर्षा की अमावस्या की महाभयानक रात्रि में जुगनूँ अपना दीपक कभी जलाता है, फिर डर कर बुझा देता है, वही दशा कामायनी की विरह के घोर निराशामय अंधकार में थी।

२१—जैसे नदी पर्वत के सुनसान रास्ते में सिंगीनाद के समान ध्वनि करती आगे बढ़ती है, उस में लहरें उठती हैं और अन्त में वह एक किनारे की गोद में एक रूप ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार श्रद्धा के एकाकी नीरस जीवनपथ से होकर दुःख की नदी मन में आकांक्षाओं की लहर उठाती बढ़ रही थी और निराशा के कूलों में आकार ग्रहण कर रही थी।

जैसे दीपक के जलने पर पतंगे उसकी ओर दौड़ते हैं किंतु उनकी रूप-पिपासा नहीं बुझती, उसी प्रकार रात होते ही तारों के दीप जले देख कामायनी की दृष्टि उस ओर दौड़ी। वह स्मृतियों के तारों पर न्योछावर हुई, रोई। उसके स्मृतिकण अश्रुबिन्दु तारा रूप में बिखरे, किंतु आँखों के जल से दिल की जलती ज्वाला न बुझ सकी।

(स्वप्न-सर्ग में विरह-वर्णन बौद्धिक विलास के आधार पर हुआ। आँसू के वर्णन से इसका अनेक प्रकार से चित्र साम्य है किंतु यहाँ वह बात कहाँ जो आँसू में है! इस संबंध में 'आँसू' का तुलनात्मक अध्ययन लाभकर होकर—इस निष्पत्ति की दृष्टि से उपर्युक्त वर्णन कुछ अच्छा नहीं बन पड़ा है। प्रबंध काव्य में भाव भाषा की अरबर शृंखला खलती है। फिर भी कवि की भी अपनी सीमाएँ हैं। "आर्ष-ग्रंथ" में किञ्चित् ही ऐसे देखने को मिले किंतु मानवीय प्रबंधों में तो ऐसा होना आश्चर्य की बात नहीं)

२२—इसी समय श्रद्धा को दूर से आता हुआ "माँ" शब्द सुनाई पड़ा और किलकारी की प्रतिध्वनि से श्रद्धा की सूनी कुटिया का कोना-कोना प्रतिध्वनित हो उठा।

आते बच्चे की बोली सुनकर श्रद्धा उसे लेने दौड़ी। उसके दुखी हृदय में दूना चाव भर गया 'माँ' शब्द से। बच्चे के लुटरे बाल खुले हुए थे, वह धूल में भरा हुआ माँ से आकर लिपट गया।

निशा में जगकर तप करनेवाली तापसी की बुझनी धूनी पुनः तीव्रता से जलने लगी। अर्थात् श्रद्धा को मर्मव्यथा और बढ़ गई।

२३—श्रद्धा ने कहा—"जैसे मेरा भाग्य भटकता फिरता है, किसी स्थान पर नहीं जा लगता; उसी प्रकार तू भी इधर-उधर घूम रहा था। तू बड़ा नटखट है। तेरे पिता ने मुझे अत्यंत सुख दिया, फिर घोर दुःख दिया; तू भी उन्हीं का प्रतिनिधि है। तू भी उन्हीं

की भाँति मुझे बहुत सुख-दुख देता रहता है। तू बड़ा चंचल है। नित्य हिरन की भाँति छलाँगें मारता इधर-उधर घूमा करता है। मैं तुझे रोकना चाहती हूँ, किंतु इसी भय से नहीं रोकती कि कहीं तू (भी) रूठ न जावे ! (मनु मना करने से ही तो रूठा था !)।

("मना" शब्द ने कवि को अनर्थ पर विवश किया। शब्दों से खेलना कहीं-कहीं बहुत खलता है।)

२४—"हाँ माँ, तूने बड़ी अच्छी बात कही। 'माँ मैं रूठूँ और तू मना'। मैं तो अब जाकर सोता हूँ। मैं तुझसे आज नहीं बोलूँगा। मुझे आज गहरी नींद आवेगी, पके फलों से मेरा पेट भरा हुआ है।" बच्चे की सरल स्नेह भरी बातें सुनकर श्रद्धा ने प्रसन्न हो उसको चूम लिया। किन्तु साथ ही उसका मन दुखी भी था कि यदि मनु यहाँ आज होते तो कितना आनन्द होता।

२५—विगत जीवन के सुखपूर्ण क्षण स्मृति के उदय होते ही ताप का कारण बन जाते हैं। जलने से छाले पड़ जाते हैं। स्मृतियों की जलन के कारण मन उदास हो जाता है, जिससे आँखों को खुला आकाश भी सूना-सूना लगता है और उसमें उगे तारे भी गगन-उर पर उभरे छाले प्रतीत होते हैं। [मानव अपना ही भाव-प्रतिबिंब बाह्य जगत में देखता है, अतएव यह बात असगत नहीं]। दिन का प्रकाश भी थक कर नीले आकाश में छिप गया और श्रद्धा का वह करुण स्वर वसुधा में गलकर व्याप्त हो गया। (आँसू की बूँदें धरा पर बिखर गईं।)

२६—प्रणय का बंधन किरण के समान होता है, मजुल, कोमल तथा उज्ज्वल। इसकी विचित्रता यह है प्रेम-बंधन खुलने पर और कस उठता है। अर्थात् वियोग काल में प्रेम में और तीव्रता तथा प्रबलता आ जाती है। वियोग में प्रिय आँखों से बहुत दूर किन्तु हृदय के बहुत निकट होता है। [मनु के वियोग में श्रद्धा की भी यही दशा है]। जैसे रात आने पर चाँदनी के प्रसार के साथ शशि अपना प्रतिबिंब मानस में छोड़ता है, उसी प्रकार नींद आने पर गतसुधि चेतनता के प्रसार में प्रेम-पात्र का चित्र सोने वाले के मन पर अङ्कित हो उठता है। [इस प्रकार निद्रा-निमग्न होकर कामायनी को स्वप्न में मनु के दर्शन हुए।]

२७—कामायनी ने अपने सारे सुखों को स्वप्नवत् देखा। उसने देखा कि उसके सारे सुख सपना बन गये। उसके सुखों की वास्तविकता छलना बन गई। उसे लगा जैसे वह युग-युग से इसी प्रकार दुखी तथा छली-हुई है। वह एक रेखा के समान है, जो लिख कर मिटा दी गई हो। सुख के भाव जो वसंत के समय फूलों की पंखड़ियों से पवन-पट पर लिखे होते थे, वे ही आज पपीहा की क्षीण पुकार बनकर नभ में एक रेखा खींच रहे हैं। अर्थात् सुख के मनोभाव, मिलनावस्था के मनोभाव आज दुःख में, विरह में परिवर्तित हो गये हैं। वह पपीहे की भाँति 'पी'-'पी' चिल्लाती है किन्तु उसका स्वर शून्य

आकाश में गूँज कर विलीन हो जाता है। संवेदना का स्वर कहीं से भी सुनाई नहीं पड़ता।

२८—श्रद्धा ने स्वप्न में देखा जैसे अग्नि-ज्वाला जल कर पथ प्रकाशित करती है उसी भाँति इड़ा प्रसन्नता-पूर्वक मनु का पथ प्रदर्शन कर रही है। जैसे नौका नदी को पार करने में सहायक होती है, उसी प्रकार इड़ा मनु के लिये विपत्ति से त्राण पाने में सहायक हुई। इड़ा मनु को उन्नति के शिखर पर ले जाने में सोपान का काम करती थी। उसी की सहायता से मनु नित्य प्रति संसार में उन्नति करने लगे। वह महानता तथा गौरव के पर्वत की चोटी थी। उसको पाकर मनु गौरववान बने, महामहिम हुए। थकने का वह नाम नहीं जानती थी—सतत कर्मनिरत रखती थी। वह उत्साह भरी प्रेरणा की नदी थी, जो मनु के समीप से बहती थी, अर्थात् जो मनु को कार्यपरता सिखाती थी तथा सर्वदा प्रोत्साहित करती थी।

२६—इड़ा सुन्दर प्रकाश-किरण के समान थी। जैसे किरण जिधर जाती है, उधर तम को चीरती हुई अन्धकार-पूर्ण पथ का आलोकित कर देती है, उसी प्रकार इड़ा की दृष्टि मन के रहस्यों के भेदन में समर्थ थी, वह जिधर उठ जाती थी, उधर अज्ञान-जन्य उलझनें मिट जाती थीं।

जैसे शुभ नक्षत्र के उदय होने से विजय-श्री प्राप्त होती है, उसी प्रकार मनु के जीवन में इड़ा के आने ने उनको सतत सफल बना रखा था। मनु की सफलता का एक मात्र कारण इडा थी। प्रलय के पश्चात् जनता दुखित एवं त्रस्त थी। वह आश्रय चाहती थी, मनु को पाकर जनता ने उन्हें अपनी सेवाएँ समर्पित कीं।

३०—श्रद्धा ने स्वप्न में देखा कि मनु ने सुन्दर नगर बसा रखा है। सभी जनता उनका साथ दे रही है। दृढ़ चहार-दीवारी के बीच एक मंदिर है, जिसमें अनेक द्वार हैं। वर्षा, गर्मी, शीत से त्राण पाने के सभी साधन वहां वर्तमान हैं। बाहर खेतों में किसान प्रसन्न होकर हल चला रहे हैं। परिश्रम के कारण उनके शरीर पसीने से लथपथ हैं।

३१—कहीं सोना, चाँदी आदि धातुएँ गलाकर आभूषण बनाये जा रहे हैं। कहीं नये अस्त्र बनाये जा रहे हैं। कहीं साहस करने वाले व्यक्ति शिकार करके मृगचर्म, कस्तूरी आदि वस्तुएँ ला रहे हैं ['अस्त्र' भी पाठ मिलता है] (पुष्पलावियाँ = मालिनें) कहीं फूल चुनने वाली रमणियाँ वन के फूलों की अधखिली कली चुन रही हैं।

लोध्र पुष्पों के पराग सुगंधित चूर्ण का काम दे रहे हैं। इस प्रकार भोग-विलास की सभी नई सामग्रियाँ एकत्र हैं।

३२—एक ओर लोहारों के हथौड़ों से रोषभरी प्रचंड ध्वनि आ रही है, तो दूसरी ओर रमणियों के कंठ से निकली मधुर ध्वनि हृदय में मूर्च्छना ढाल रही है। वहाँ की

जनता ने अपने को कर्मानुसार वर्ग में विभाजित कर लिया है और अपने वर्ग के अनुसार सभी श्रम करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार उनके मिल जुल कर काम करने की प्रणाली से नगर की शोभा निखर उठी है।

३३—नगर की प्रजा आलस्यहीन कर्तव्यपरायण है। तीव्र गति से कर्म में लगी है। अनेक अथक परिश्रम से उसने देश-काल दोनों को छोटा कर रखा है। यातायात के साधन द्रुतगामी हैं तथा कार्य संपादन के साधन भी ऐसे हैं जिनसे बड़े से बड़े कार्य अल्प समय में संपादित होते हैं। वे सभी आवश्यक सामग्रियों को एकत्र कर रहे हैं जिनसे उनका जीवन सुखी बन सके। परिश्रम और बल की अधिकता से उनके ज्ञान तथा व्यवसाय की संवृद्धि हो रही है। पृथ्वी के गर्भ जो कुछ छिपा पड़ा है, उसे भी बाहर निकाल लाने के प्रयत्न में मनुष्य लगे हैं।

३४—प्रलयकाल में मनुस्वरूप बचा हुआ सृष्टि-बीज अंकुरित हुआ, फूला, फला, जिससे चतुर्दिक हरियाली छा गई। चारों ओर उत्साह का साम्राज्य उपस्थित हो गया। मनु ने अपनी बुद्धि से एक व्यवस्थित समाज तथा राज्य की स्थापना की है। उसकी प्रजा सुखी तथा समृद्धिशाली है। आज का प्राणी अपनी शक्ति को पहिचानता है। वह ऐसी कल्पनाएँ करता है जो सफल होती हैं। वह स्वावलम्बी है। उसे अपना भरोसा है। उसे किसी का डर नहीं। वह प्रकृति के प्रकोप की भी चिंता नहीं करता। उसका आधार दृढ़ है।

३५—श्रद्धा ने स्वप्न में देखा, जैसे वह आँखों को आश्चर्यचकित करनेवाले उस विचित्र भूभाग में मलयानिल की भाँति स्वतंत्र घूमती हुई प्रहरियों की आँख बचाकर नगर के भीतर घुसी। उसने देखा कि ऊँचे खभोंपर छज्जेदार सुन्दर महल बने हुए हैं। घरों में धूप के धुएँ से सुगंधि फैली हुई है और उनमें प्रकाश हो रहा है।

३६—श्रद्धा ने देखा, जैसे भवनों पर सोने के कलश लगे हैं, जिससे भवन सुन्दर लगते हैं। उनसे सटे हुए बगीचे बने हैं। उन बगीचों में सीधे और चौड़े मार्ग बने हुए हैं। कहीं-कहीं लताओं के घने कुंज हैं। इन कुञ्जों में पति-पत्नी प्यार में डूबे एक-दूसरे के गले में हाथ डाले आनन्दपूर्वक विहार करते हैं। पास ही रसिक भौंरे पुष्पों का रसपान कर आनंदमग्न गुंजार कर रहे हैं।

३७—श्रद्धा ने देखा, जैसे देवदारु की लम्बी भुजाओं (शाखाओं) में वायु की लहर उलझकर रह जाती है। कहीं पक्षियों के बच्चे आभूषणों से निकली मधुर ध्वनि के समान मीठे बोल बोल रहे हैं। बनों से आती हुई स्वर की हिलोरों को बाँस के झुरमुट में आश्रय मिल रहा है। नाग-केसरों की क्यारी में और भी बहुत से विविध रंग के फूल खिल रहे हैं।

३८—श्रद्धा ने देखा, जैसे एक नवीन मंडप बना है। उसमें सिंहासन लगा है। उस सिंहासन के सामने एक ओर सुन्दर चमड़े से मढ़े सुख देनेवाले अनेक मंच रखे

हुए हैं। पहाड़ी अगरु जल रहा है जिसके धुएँ से मीठी सुगंधि फैल रही है। श्रद्धा को लगा जैसे कि वह वहाँ पहुँच गई हो और आश्चर्य-चकित हो सोच रही हो कि मैं यहाँ कहाँ आ गई।

३९—श्रद्धा ने देखा जैसे सामने मनु, यज्ञ के प्रेमी मनु, अपने सबल हाथों में एक प्याला दृढ़ता से थामे हुए हैं। उसका मुखड़ा संध्या की लाली जैसी आभा से पूर्ण था। मद-छकित होने से उसके मुख पर लाली छा गई है। उनके सामने मस्ती के भाव की साकार प्रतिमूर्ति-सी कोई बैठी है। वह बड़ी ही सुन्दर है, चित्र सी विचित्र है। इतनी आकर्षक है कि जीवधारी उसके दर्शन के लिए बार-बार जन्म लेना चाहेगा।

४०—श्रद्धा ने देखा जैसे इड़ा मनु के प्याले में ऐसी मदिरा ढाल रही थी जिसको पीकर कभी तृप्ति नहीं होती। प्यासा उसे पीकर फिर पीना चाहता है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि उसने वस्तुतः पिया है। चिर अतृप्ति, अक्षय तृषा भरी थी उस मदिरा में।

जैसे वेदिका पर अग्नि जलता है उसी प्रकार इड़ा उस मंच पर शोभित थी। जैसे बलिवेदिका पर 'सौमनस्य' (फूलों का कव्य) दिया जाता है, जिससे सुगंधि फैलती है, उसी प्रकार इड़ा प्रसन्नता (आनन्द) बिखेर रही थी। पूर्ण चेतना का साम्राज्य उपस्थित था। आलस्य, शिथिलता का नाम नहीं था।

४१—श्रद्धा ने स्वप्न में मनु को इड़ा से पूछते हुए सुना, "क्या और कोई कार्य करना शेष रह गया है?" इड़ा ने उत्तर दिया, "इतने में कहीं कर्म को विशेष सफलता मिलती है? क्या सुख-साधन की सभी सामग्रियाँ हमारे करतलगत हो चुकीं?" मनु ने उत्तर दिया, "नहीं, मैं अब भी अभाव का अनुभव कर रहा हूँ। यह ठीक है कि मैंने नव नगर का निर्माण किया—नया देश बसाया, किंतु मेरे मन का देश आज भी सूना है, उजड़ा है।

४२—मनु बोले, "तुम्हारा मुख सुन्दर है, तुम्हारी आँखों में आशा भरी है, किंतु तुम्हारे इस मुख और तुम्हारी आँखों को अपना कहने का किसे अधिकार है। तुम्हारी आँखों में प्रतिपदा के चन्द्रमा का टेढ़ापन भरा है, जिससे आभास होता है कि तुम रुष्ट हो, मानवती हो। तुम्हारी आँखों से कुछ यह भाव भी टपकता है कि कोई तुम्हें मनाए, तुम्हारा मान-मोचन करे। वे संकेत द्वारा अनुरोध करती हैं कि कोई तुम्हारा मान दूर करे। तुम मेरी चेतना शक्ति हो। मैं तुम्हीं से पूछता हूँ कि क्या मेरी चेतना अपनी नहीं, क्या तुम्हारे सुन्दर अंगज अनुभाव मेरे नहीं?"

४३—इड़ा ने उत्तर दिया, "मैं तो अपने को तुम्हारी प्रजा मानती हूँ। मैं तुम्हें सबका ही प्रजापति समझती हूं। हममें तुममें प्रजा, प्रजापति का सम्बन्ध है, फिर तुम्हें हमारे प्रति सन्देह क्यों? यह नया प्रश्न तुम्हारे मन में क्यों उठा।" मनु बोले, "तुम प्रजा नहीं हो, तुम मेरी रानी हो। मुझे अब अधिक भ्रम में न डालो। तुम

मेरी मानस-हंसिनी हो। मुझे विश्वास दिलाओ, अपने मुख से बोलो कि तुम मेरे प्रेम के मोती चुगने को तत्पर हो।

४४—मनु कहते गए, "मेरा भाग्य धुँधले आकाश जैसा है और तुम उसमें पूर्व दिशा के पट के समान हो जो सहसा खुल कर अपनी यशमयी छवि से प्रभा बिखेरने लगता है। मैं अभाव से पूर्ण हूँ, प्रकाश का भिखारी हूँ। तुम उषा के समान हो। बताओ, तुम्हारे मधुर अधरों का रसपान करके हमारे प्रेम की प्यास कब बुझेगी?

४५—भोग की सभी सामग्री उपलब्ध है। उसपर चाँदी जैसी उजली रातों की शीतल चाँदनी है। चारों ओर संगीत बह रहा है, मन में मस्ती भरी है। शरीर में शिथिलता व्याप्त हो रही है। (सारा वातावरण कामोपभोग के उपयुक्त है।) ऐसे में तुम प्रजा मात्र मत रहो। तुम मेरी रानी बन कर रहो। मनु ने उपर्युक्त बातें नर-पशु की भाँति आवेशपूर्ण गरजते स्वर में कहीं। उसी समय घने अंधकार के समान एक मस्त घटा-सी छा गई। (मनु के मन में तम का प्रसार हो गया)।

४६—मनु ने इड़ा का बलपूर्वक आलिंगन किया। जिससे डर कर इडा चिल्ला उठी। वह इस प्रकार काँपने लगी, जैसे पृथ्वी स्वयं काँप रही हो। मनु अतिचार करने पर तुल गया। मर्यादा-पथ का उल्लंघन करने को उद्यत हो गया। इधर इड़ा दुर्बल नारी थी। वह सोचने लगी कि उसे उस यातना से कैसे छुटकारा मिलेगा। इसी समय आकाश में भयंकर गर्जन सुनाई देने लगा। एक भयानक हलचल मच गई। इड़ा प्रजा होने के नाते पुत्री के समान है। अतः मनु का यह दुष्कर्म पाप की परिभाषा के अन्तर्गत आ गया। अतएव यह कर्म उसके लिए अशुभ फल देने वाला शाप सदृश हुआ।

४७—उधर आकाश में सभी देव-शक्तियाँ क्रोधित हो उठीं, उनके मन में इस दुष्कर्म से क्षोभ समा गया। अचानक रुद्र का तीसरा नेत्र खुल गया। सारस्वत नगर व्याकुलता से काँपने लगा।

जब स्वयं प्रजापति नियमों का उल्लंघन कर बैठे, तब देव वर्ग कैसे शांत रह सकता है? उसे अपना कल्याणकारी रूप बदलना ही पड़ेगा। इसी से शंकर ने बदला लेने की मनोवृत्ति से अपने अजगव नामी धनुष पर डोरी चढ़ा ली।

४८—श्रद्धा ने देखा जैसे पृथ्वी भयभीत हो उठी। प्रलयंकर ने जब प्रलयनृत्य के लिए अपने चंचल पैरों को उठाया, तब ऐसा लगा जैसे सारी सृष्टि लय हो जावेगी। सभी त्राहि-त्राहि करने लगे। शरण पाने के लिये व्याकुल हो उठे। स्वयं मनु के मन में सन्देह उत्पन्न हो गया कि उन्होंने पाप कर्म किया है। पृथ्वी इस भय से काँपने लगी कि फिर प्रलय का दृश्य उपस्थित होगा।

४९—सभी जीव-जंतु इस प्रलयंकारी क्रीड़ा से त्रस्त हो कर काँपने लगे। इस समय सभी को अपनी-अपनी चिंता हो गई। स्नेह का कोमल धागा टूट गया। किसी को

दूसरे की चिंता न रह गई। आज वह शासन समाप्त हो गया, जिसने सबकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया था। प्रजापति स्वयं अतिचारी बन बैठा! इसी हलचल में क्रोध और लज्जा भरी इड़ा को बाहर निकलने का अवसर मिल गया।

५०—श्रद्धा ने देखा, जैसे इड़ा ने बाहर निकल कर देखा कि क्षुब्ध जनता राजद्वार को घेरे खड़ी है। पहरेदारों का दल भी मन में अशुद्ध भावना लिये बढ़ता दिखाई पड़ा।

नियमों की शृंखला में बँधा शासन दबाव के आतंक से पीड़ित होता है। प्रजा केवल उसी दबाव से झुकी रही है। दबी वस्तु या तो टूट जाती है या बोझ को उतार फेंक कर ऊपर उठती है। वही प्रजा जो आज तक अनुकूल थी, अब अपने मन में कुछ और सोचने लगी।

५१—मनु के चारों ओर जब कोलाहल छा गया, तब वे चिंतित होकर एक स्थान में छिप कर बैठ गये और कुछ सोचने, विचारने लगे। प्रजा ने देखा, द्वार बन्द है, वह भयाकुल हो उठी। उसका धैर्य टूट गया। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूरी शक्ति से विद्रोह को उद्यत हो गया। शक्ति की तरंगों में आंदोलन भर गया। प्रलयंकर का क्रोध अपनी पराकाष्ठा पर था। इन सब के ऊपर शंकर के तीसरे नेत्र से निकलने वाली नीले और लाल रंग की ज्वाला नृत्य कर रही थी।

५२—मनु के राज्य में विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई थी। लोग हवा में उड़ते थे। प्रत्येक व्यक्ति महात्वाकांक्षा रखता था, वैभव-सम्पन्न, उन्नतशील होने का। कोई भी ऊपर उठने की अभिलाषा में नीचे मुड़ कर देखना नहीं चाहता था। प्रत्येक व्यक्ति के अनेक अधिकार नियत थे। उन अधिकारों का विकट मायाजाल था, जिस में लोग उलझे रहते थे। समाज का वर्गीकरण हुआ था, जिस से वर्ग-वर्ग के बीच ऐसी खाई बन गई थी, जो कभी भर नहीं सकती थी।

५३—श्रद्धा ने देखा जैसे अपने शासन की असफलता देख कर मनु-कुछ क्षुब्ध हो उठे और वह सोचने लगे कि सहसा यह कैसी बाधा उत्पन्न हो गई। उन की समझ में नहीं आया कि कौन ऐसी घटना हुई जिस से प्रजा ने उन्हें इस प्रकार घेर लिया है।

प्रजा ने पहले रक्षा के लिये प्रार्थना की, किंतु दैवयोग से देवताओं के रुष्ट हो जाने से, आज वही प्रजा विद्रोह पर उद्यत हो गई।

इड़ा को प्रजा वर्ग में देख कर उन्हों ने स्पष्ट अनुमान कर लिया कि उसने कुचक्र रचा है।

५४—श्रद्धा ने सुना जैसे मनु सेवकों को आज्ञा दे रहे हों, "द्वार बन्द करो। ये लोग भीतर न घुसने पावें। प्रकृति आज उत्पात करने पर उतारू है। ऐसी दशा में मैं सोना चाहता हूँ। तुम लोग मुझे जगाना मत।" सेवकों को यह आदेश देकर वे ऊपर

से क्रोध प्रदर्शित करते हुए किंतु मन में डरे हुए हानि-लाभ पर विचार करते अपने शयनागार में घुस गये।

५५—स्वप्न में यह सब देखकर श्रद्धा काँप उठी। उसकी आँखें खुल गईं। जगने पर वह सोचने लगी मैंने यह क्या देखा! वह इतना छल करने वाला कैसे हो गया? जिसके प्रति हम में प्रेम होता है, उसके लिए हमारे मन में अनायास अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती रहती हैं कि कहीं उसे कुछ हो न जाय श्रद्धा। इसी सोच में डूबने-उतराने लगी कि विद्रोह के पश्चात मनु पर क्या बीतेगी। इसी व्याकुलता में धीरे-धीरे रात ढलने लगी।

संघर्ष

११—संघर्ष

१—श्रद्धा ने स्वप्न में जो घटना घटित होती देखी (जिसका वर्णन स्वप्न-सर्ग में हुआ है) वह घटना सारस्वत नगर में वस्तुतः घटी। एक ओर इड़ा मनु के अतिचार से लज्जित थी और दूसरी ओर प्रजा में एक हलचल मची थी। भूचाल के कारण प्रजा-जन दुखी थे। व्याकुल होकर घबराकर राजा के यहाँ संश्रय पाने के लिये आये।

२—किंतु राजद्वार से उन्हें रक्षा न मिली, वरन् उनका अपमान हुआ, उनके साथ बुरा व्यवहार किया गया, जिसके कारण उनको मानसिक क्लेश हुआ और वे क्रुद्ध हो उठे।

इड़ा का पीला मुख देखकर जनता को और अधिक क्रोध हुआ। जिससे उनके हृदय में विद्रोह की भावना समा गई। प्रकृति की प्रलयंकरी लीला समाप्त नहीं हुई थी। वह भी अविरल चल ही रही थी।

३—महल के आँगन में बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो गई। भीड़ बढ़ने लगी, पहरेदारों ने द्वार बंद कर लिये और चुपचाप बैठ रहे। रात्रि घने अंधकार के परदे से अपने शरीर को ढके हुए थी। आकाश में बादल घिरे थे। रह-रह कर बादलों में बिजली अपनी वक्रगति में चमक रही थी।

४—मनु अपनी शय्या पर चिंता-निमग्न पड़े सोच-विचार में लगे थे। क्रोध और शंका के हिंसक जंतु उन्हें पीड़ा दे रहे थे, उनका रक्त चूस रहे थे।

मनु सोच रहे थे, मुझे इन लोगों को शासन-सूत्र में व्यवस्थित रूप से बाँध कर कितना संतोष मिला था। कोई भी यह नहीं कह सकता कि मैंने कभी भी इनके प्रति रोष प्रकट किया; सर्वदा इनके साथ प्रेम का मृदु व्यवहार रखा।

५—मैंने कितनी शीघ्रता से इनको व्यवस्थित किया। व्यक्ति-व्यक्ति के स्वार्थ अलग होते हुए भी मैंने इन्हें एक शासन, एक व्यवस्था के अन्तर्गत लाकर इनका एकीकरण कर दिया।

मैंने अपने बुद्धि बल से प्रयत्न करके इन सबको एक सूत्र में बाँधा। नियम बनाकर मैंने शासन-व्यवस्था चलाई।

६—किंतु क्या मुझे भी अपने व्यवस्थापित उन नियमों को मानना अनिवार्य है? क्या मुझे थोड़ी भी स्वतंत्रता नहीं? क्या मैं इन नियमों की तनिक भी अवहेलना नहीं कर सकता? क्या मुझे सदैव आँच पर तपना ही होगा? क्या मुझे सदैव नियमों की भट्ठी में स्वर्ण के समान गलना ही होगा? क्या मेरा अपना कोई व्यक्तित्व नहीं? क्या मुझे जनता की इच्छा के अनुकूल ही रहना होगा? अपने ही बनाये नियमों से

में स्वयं डरूँ ? क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं कि मैं कभी-कभी इन नियमों को शीश न झुकाऊँ, वरन् अपनी मनचाही करूँ ?

७—श्रद्धा का अधिकार था कि मैं उसे आत्मसमर्पण करूँ। किंतु मैंने ऐसा नहीं किया। मैंने अपनी स्वतंत्रता का विकास रुकने नहीं दिया और उसके विकास के मार्ग ढूँढ़ता रहा। इसी कारण मैं श्रद्धा के साथ न रह सका, उसे छोड़ कर इधर आ निकला।

और इड़ा मुझे नियमों के बंधन में बाँधना चाहती है। मेरी स्वतंत्रता का अपहरण करके मुझे परतंत्र बनाना चाहती है। नियमों में जकड़ कर मुझे स्वच्छंद नहीं छोड़ना चाहती है। वह मेरे अबाध अधिकार की सत्ता नहीं मानती। वह यह नहीं स्वीकार करती कि मैं परम स्वतंत्र हूँ। मेरे ऊपर किसी का बंधन नहीं। वह यह नहीं मानती कि मुझे अधिकार है कि मैं नियमों को स्वयं मानूँ या न मानूँ।

८—संसार की गति के देखने से पता चलता है कि विश्व-व्यापार किसी बंधन में बँधा नहीं है। इसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। सूर्य, चाँद, तारे आदि सभी इस परिवर्तन में रूप बदलते रहते हैं। पृथ्वी जल में डूब कर समुद्र बन जाती है। समुद्र सूख कर मरुस्थल बन जाता है। सागर में आग जलने लगती है।

९—सभी के भीतर अग्नि की धारा बहती है। इसी अग्नि के प्रवाह से बर्फ से ढका पर्वत गल कर सरिता के रूप में क्रीड़ा करता है। संसार का जीवन केवल चिनगारी का खेल है, क्षणिक है, दो क्षण जल कर बुझ जाता है, सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। यहाँ किसी में स्थिरता नहीं। यहाँ कोई भी चिरकाल तक नहीं टिकता।

१०—करोड़ों तारे शून्य अवकाश के बड़े खोखले के निचले भाग में लटके हुए एक साथ मिलकर कोमल नृत्य कर रहे हैं। हवा की परतों में कितनी ही लहरियाँ उठती हैं। अगणित प्राणी दुःख से कराह रहे हैं। चारों ओर बड़ी विवशता है।

११—[गान,वाद्य तथा नृत्य की स्वर संगति का नाम लय है। नृत्य के प्रारंभ में वाद्य होता है, गायन होता है, फिर नर्तक नाचना प्रारंभ करता है। जब तीनों का मेल हो जाता है तब नृत्य में विशेष गति आ जाती है जो अग्रतर होती ही जाती है। लय विलंबित, मध्यम तथा द्रुत तीन प्रकार की होती है। विलंबित से द्रुत तक पहुँचने का क्रम पदसंचालन की क्रियाओं से संबद्ध है]।

विश्व स्वयं एक (खुला) बंधन-विहीन नृत्य है। [खुला अवकाश उसमें अनेक पिण्ड अलग-अलग, असंबद्ध—सभी नाच रहे हैं] इस नृत्य में संचालन द्रुतगति से हो रहा है। यह गति अपने ही सृजित लय पर धीरे-धीरे अग्रतर, तीव्र होती चली जा रही है। अन्त में इस गति का लय हो जावेगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो नृत्य-मुद्रा एक बार बीत चुकी है, वही फिर आँखों के सामने लौट आती है। इसी 'पुनरावर्तन' को हम नियम की संज्ञा देते हैं। [पानी आग को बुझा देता है, हम फिर-फिर इस

घटना को देखकर नियम बना लेते हैं कि पानी आग बुझाता है] और अपने जीव को उसी नियम के अनुसार चलाने लगते हैं।

(नास्तिक दर्शन कारण-कार्य, ईश्वर आदि की सत्ता स्वीकार नहीं करता। क्रिया की सत्ता स्वयं क्रिया के साथ समाप्त होती है। क्रिया का स्वभाव स्वयं सत्ता है। मनु इसी दर्शन से प्रभावित है। यह पहले भी कहा जा चुका है)।

१२—पल भर की हँसी शीघ्र ही आँसू बन कर आँखों में छलछला उठती है। सैकड़ों प्राण अपनी विवशता का अनुभव कर यातनाओं से मुक्त होने का उपाय ढूंढ रहे हैं। जीवन यातनाओं, संकटों से पीड़ित होकर अभिशाप बन गया है। और यह अभिशाप आये दिन जला रहा है। संसार सचमुच नाशमय कौतुक है। देखने को सृष्टिक्रम हराभरा विकासोन्मुख लगता है, किन्तु वस्तुतः सृष्टि की गति में प्रलय पलता है !

१३—विश्व एक नियम के अधीन है यह बात स्वर-स्वर में गूँजी। इसके प्रचार से सब के मन में विश्वास दृढ़ हो गया कि 'नियम' अच्छी वस्तु है। प्रजा ने नियम को भली-भाँति देखा, परखा। उसके गुण-अवगुण पर विचार करके उसे अपनाया और उन्हीं नियमों क अधीन होकर प्रजा वर्ग ने सुखी रहने की सामग्रियाँ एकत्र कीं, उपाय निकाले। किन्तु यह नियम तो मैंने उन्हें दिये। मैंने नियमों की सृष्टि की। इनका नियमन करने वाला मैं नियामक बना। किन्तु मुझे यह कब स्वीकार हुआ कि मैं भी इन नियमों में बँध कर रहूँगा।

१४—मैं तो मानता हूं कि मेरी अपनी स्वतंत्र सत्ता है जो किसी बंधन में बँधी नहीं। मैं सर्वदा बंधन-हीन हूँ। मैंने तो दृढ़-संकल्प कर लिया है कि मैं सर्वदा मृत्यु की सीमा को भी लांघता हुआ चलूँगा। मुझे काल की भी सत्ता स्वीकार नहीं है। संसार महानाश की लीला है, इसमें प्रत्येक प्राणी अपनी क्षणिक सत्ता रखता है। यह क्षणिक सत्ता चेतनता के क्षणों से बँधी है। जब तक चेतना है (जो शरीर से अभिन्न है), तब तक उसी चेतना की तुष्टि, तृप्ति की जाय। चेतना के नाश के साथ अपनी सत्ता का भी नाश है। मृत्यु के पश्चात् सारा जगत् स्वप्न है।
(चार्वाक तथा बौद्ध दर्शन की छाप)

१५—इस प्रकार मन में प्रगतिशील चिंतन शैली में सोचते-विचारते मनु ने करवट ली। उनकी विचार गति रुक गई। उन्होंने देखा कि इड़ा अपना सर्वस्व लुट जाने पर भी फिर लौट आई है और सामने चुपचाप खड़ी है, कह रही है कि तुम गलत सोच रहे हो। यदि नियम बनाने वाला, नियमन करने वाला नियमों की उपेक्षा करता है, तो यह बात सुनिश्चित कि नियम मर्यादा स्वयं विनाश को प्राप्त होगी। कोई भी नियमों को नहीं मानेगा।

१६ —मनु ने सतर्कता से (रुष्ट होकर) पूछा, तुम फिर यहाँ किस प्रयोजन से लौटकर आ गई। तुमने प्रजा को विद्रोह के लिये भड़काया। अब क्या तुमने और कोई उपद्रव करने की ठानी है ? क्या इस विद्रोह से तुम्हारा मन तुष्ट नहीं हुआ ? तुम्हीं बताओ अभी और क्या करना शेष है ?

१७—इड़ा बोली—"मनु तुम चाहते हो कि प्रत्येक व्यक्ति तुम्हारे शासनाधिकार को माने। किंतु क्या उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे अपनी तुष्टि भी चाहें। आत्म-चेतना (स्वातंत्र्य-भावना) के त्राण का ही नाम है तुष्टि। कोई इस भावना को दबाकर तुष्ट कैसे रह सकता है ?

प्रजापति, यदि तुम ऐसा चाहते हो तो भूल करते हो। मुझे दुःख के साथ कहना पडता है कि ऐसा न कभी हुआ है, न आगे कभी होगा।

१८—"मनुष्य क्या है ? चेतना का विकसित रूप है। आवरणों (पर्दों) द्वारा एक विश्व का निर्माण हुआ है। प्रत्येक मनुष्य चिति-केन्द्र है। एक केन्द्र का दूसरे केन्द्र से संघर्ष हुआ करता है। एक-दूसरे के बीच स्पर्धा की भावना होती है। जिससे यह परिणाम निकलता है कि मनुष्य अपने को दूसरे से पृथक् समझता है। ऐक्य की भावना के विपरीत अनेकत्व की भावना का जन्म इस भाँति होता है।

१६—किंतु इस प्रकार एक-दूसरे से पृथक् एवं भिन्न लगने वाले प्राणी, यद्यपि इस बात को भूल चुके हैं कि वे वस्तुतः एक ही हैं, एक-दूसरे को पहचानते हुए से लगते हैं। इस मनोभाव को पहिचान के जगने पर मनुष्य एक-दूसरे के समीप आता है और इस प्रकार अनेकता में एकत्व की भावना जगती है। भेद से अभेद भावना की सृष्टि होती है।

फिर भौतिक द्वंद (संघर्ष) चलता है जिसमें एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है। जिसमें क्षमता होती है, शक्ति होती है, वही टिकता है, ठहरता है। उनका कर्तव्य है कि वे संसार का कल्याण करें और अपने आचार-विचार से शुभमार्ग स्थापित करें जिसपर उनके बाद आने वाले चलें।

२०—इस दृष्टि से व्यक्ति की आत्मचेतना स्वतंत्र नहीं है, परतंत्र है, क्योंकि उसपर समाज के कल्याण का उत्तरदायित्व है। इस प्रकार जब मनुष्य समष्टि के शुभचिंतन में लगता है, तब उसकी रागात्मिका वृत्ति जगती है, वह सबसे प्रेम करता है। मनुष्य परार्थी ही नहीं, स्वार्थी भी होता है। स्वार्थ सिद्धि के लिये वह द्वेष-बुद्धि से काम लेता है। [द्वेष कीचड़ के समान है जिसमें फँसकर मनुष्य दुःख उठाता है]। इस संकीर्णता के कारण मनुष्य को सामाजिक अभ्युदय पथ पर चलते हुये असफलताओं का सामना करना पड़ता है, वह ठोकरें खाता है, रुकता है, थक जाता है, हतोत्साह होता है। और फिर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ चलता है।

२१—जीवन की सार्थकता, उसका उपयोग यही है कि मनुष्य सर्वदा विकास मार्ग पर इसी भाँति चलता चले। बुद्धि की साधना भी यही है कि मानव पूर्णत: विकसित हो। सुख की प्राप्ति, सुख की सिद्धि भी यही है कि अपना परम कल्याण हो। यदि तुम्हारी आत्म-कल्याण की भावना की छाया में लोक को सुख मिले, लोक उसकी छाया में शरण प्राप्त कर सके, तब तुम्हारी आत्म-कल्याण की भावना सफल होगी। इसलिये राष्ट्र को काया तथा अपने को प्राण बनाओ। अपना कल्याण सामाजिक अभ्युदय में देखो। अपनी आत्मचेतना से समस्त राष्ट्र को जीवन प्रदान करो।

२२—देश की सृष्टि काल की किसी अवस्थिति पर होती है और उसका लय भी काल-परिधि के भीतर हो जाता है। 'कालो गुणव्यतिकर:'। अर्थात् स्थान और काल में काल अधिक थिर है। स्थान की कल्पना काल की सीमा में ही परिसमाप्त हो जाती है। स्थान का रूप काल में परिवर्तित हो जाता है। इस भाँति चेतन काल (गतिमान काल) का भी विसर्जन महाचेतना में हो जाता है। सृष्टि उसी अनंत चेतन सत्ता का महानृत्य है। वह अनंत चेतन मस्त होकर विसुध नृत्य कर रहा है, तुम भी भेदभाव भुलाकर अपने अहं को छोड़कर उस प्रकार नाचो। सृष्टि के कल्याण की भावना से महाचेतन नाच रहा है, तुम भी समाज के कल्याण की भावना से कर्म करो!

२३—तुम्हारी दृष्टि सीमित है क्षितिज की सीमा तक। इस सीमा को तोड़ दो। क्षितिज का पर्दा हटा कर आगे ब्रह्मांड के अवकाश में प्रवेश करो। वहाँ तुम्हें बादलों का संगीत गूँजता हुआ सुनाई पड़ेगा। तुम्हें ताल-ताल का ध्यान करके चलना है, जिससे तुम्हारी संगति लय के साथ बनी रहे और तुम अलग न हो जाओ। इस लय से स्वर मिलाकर ही तुम्हें गाना है। यदि तुम अपना संवादी नहीं वरन् पृथक विवादी स्वर छेड़ोगे, तो तुम्हें आनन्द न मिलेगा। सबके साथ मिलकर चलने में सब के कल्याण का चिंतन करने में सर्व-हित-रत रहने में ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है। व्यक्तिवाद की संकीर्णता में आनन्द कहाँ!"

२४—इड़ा की बातें सुनकर मनु बोले, "यह सब ठीक है। अब तुम्हें मुझे और समझाने की आवश्यकता नहीं। मैं यह जानता हूँ कि तुम में किसी को कार्य के लिये उद्यत करने की भारी शक्ति है किन्तु तुम तो मुझसे रुष्ट होकर चली गई थी। तुम्हारी हिम्मत फिर लौटने की कैसे हुई? तुम्हारे मन में क्या बात आ गई जो तुम लौट आई? यह रहस्य मेरी समझ में नहीं आ रहा है।"

२५—क्या मेरे प्रजापति होने का यही अधिकार है कि मेरी अभिलाषा कभी पूरी न हो, सदैव अपूर्ण रहे।

सर्वदा सबके लिये सुख-सामग्री बाँटते रहने का ही मैं अधिकारी हूं और यदि मैं कुछ पाने की इच्छा [illegible], तो वह पाप माना जावे।

२६—मैंने तुम्हें क्या कुछ नहीं दिया। उसके बदले में तुमने मुझे क्या दिया ? क्या तुम मुझे इस प्रकार ज्ञान का उपदेश देकर ही जीवित रह सकती हो।

यदि तुम में स्वयं त्याग की, समर्पण की भावना नहीं, तो तुमने त्याग की बात ही क्यों चलाई ? मैं जो चाहता हूँ उसे देना भी तो तुम्हारा कर्तव्य है।

२७—हे इड़े ! मैं अपनी प्रिय वस्तु चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम मेरी हो जाओ। मेरा तुम पर पूर्ण अधिकार हो जावे। यदि ऐसा नहीं होता तो मेरा प्रजापति होना व्यर्थ है। तुम्हें देख कर मर्यादा के सभी बंधन टूट गये। मुझे अब न शासन की इच्छा है, न अधिकार की। [तुम्हें प्रजा रूप देखना मुझे सह्य नहीं]।

२८—प्रकृति में रह-रह कर कंपन हो रहा है। यह भूचाल दुर्दमनीय है। किन्तु इस भूचाल में वह कंपन वह तीव्रता कहाँ, जो मेरे हृदय की गति में है। मैं इतने सबल हृदय का व्यक्ति हूँ कि मैं ने प्रलय के समय भी धैर्य नहीं खोया, किंतु उसी हृदय में आज यह भावना जाग चुकी है कि मैं अकेला हूँ। इस अभाव की भावना से मेरा सबल हृदय आर्द्र हो चुका है। आज उस में करुणा का आवास है।

२९—तुम कहती हो कि विश्व एक लय है, मुझे उस में अपना स्वर तल्लीन होकर मिलाना चाहिये। मुझे अपने व्यक्तित्व को सामाजिक चेतना में मिटा देना चाहिये। आनन्द की सृष्टि के लिये मुझे लोक कल्याण की भावना में निरत होना चाहिये। किंतु ऐसा करने में क्या सुख है।

मैं सामाजिक प्राणी बनकर नहीं रहना चाहता। मैं अपनी सत्ता का नाश नहीं करना चाहता। मैं दुःखी रह कर अलग रहना चाहता हूं। मैं अपना अलग आकाश चाहता हूँ, चाहे उस में मेरे दुःखमय क्रंदन के ही स्वर क्यों न गूजें। यदि इस विपन्नावस्था में भी मुझे तुम्हारे मिलन का सुयोग मिले, यदि तुम मेरी हो जावो, तो मेरी करुण परिस्थिति सुखमय वातावरण में परिवर्तित हो जावेगी और मैं बिहँस पड़ूँगा तुम को पाकर।

३०—चाहे फिर समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ कर तट को ढकने लगे, फिर आँधी तूफान आवे, आकाश से वज्रपात हो, फिर महाप्रलय का दृश्य उपस्थित हो, फिर मेरी नौका लहरों में डूबने-उतराने लगे। सूर्य चाँद सितारे चाहे फिर प्रलय दृश्य आश्चर्य चकित निर्निमेष देखने लगें।

३१—किंतु बालिके (इड़े !) मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। तुम मेरी हो मेरे पास रहो। मेरी भी कुछ सत्ता है, मेरे जीवन के साथ यों खेल करने का अधिकार तुम्हें नहीं। तुम मेरी उपेक्षा इस भाँति नहीं कर सकतीं।"

इस पर इड़ा बोली, "मुझे दुःख है कि तुम मेरी अच्छी बातों को नहीं समझ पा रहे हो. उनका तिरस्कार कर रहे हो। तुम जिसके अधिकारी हो जो तुम्हें मिलना चाहिये, वह भी तुम्हें तुम्हारे आवेश के कारण नहीं मिल रहा है।

३२—प्रजा दुःखी है, आंदोलित है। वह तुम्हारे द्वार पर आश्रय माँगने आई है, प्रकृति रह-रह कर देवताओं के आतंक से काँप रही है। मैं तुम्हें सावधान करने आई थी। मैं तुम्हारा शुभ चाहती हूँ। मैं इसीलिये तुम्हारे पास आई थी कि तुम को कल्याण पथ का निर्देश कर दूँ। मुझे जो कहना था, कह चुकी। मैं अब जा रही हूँ। अब मेरे यहाँ रहने का कोई प्रयोजन नहीं, कोई आवश्यकता नहीं।"

३३—"मनु बोले माया की पुतली, ! तुम समझती हो कि मेरे-तुम्हारे बीच लड़कों जैसा संबंध है। लड़के मिलकर खेलते हैं, कोई बात अरुचिकर हुई या खेलने का मन न रहा तो एक दूसरे से 'खुट्टी' करके विलग हो जाते हैं। तुम भी उसी प्रकार बातों-बातों में मुझ से नाता तोड़ कर छुटकारा पाना चाहती हो! ऐसा नहीं हो सकता !

तुम मेरे सामने अभिशाप की प्रतिमा बन कर आईं। तुम्हारा साथ पड़ने से ही मुझे 'संघर्ष' की भूमि के दर्शन हुए। [संघर्ष जिसमें व्यक्तिगत स्पर्धा के भाव जगते हैं, जिसमे व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से आगे बढ़ना चाहता है, जिससे मनुष्य अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझता है, जिससे विभिन्न स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हैं]।

३४—तुम्हारे ही निर्देश पर मैं ने पशु-बलि का महा भयंकर कृत्य किया जिस से बलिवेदियाँ रक्त से भर गईं। कितना वीभत्स था वह दृश्य ! दूसरी ओर यज्ञाग्नि जली जिसकी प्रखर लपटें भी उस रक्तालु वातावरण में कम भयावह न थीं।

(युग की छाप)—तुम्हीं से अनुशासन, प्रशिक्षा आदि की विधियाँ सीखकर मैं ने प्रजा को अपने आगे झुकाया। उन से श्रेष्ठता प्राप्त कर उनका स्वामी बना। प्रजापति आसन पर बैठ कर मैं ने जन-समुदाय को चार श्रेणिया में बाँटा। प्रत्येक श्रेणी का अपना कार्य नियत किया। प्रत्येक वर्ग अपने वर्णानुसार श्रम करके अपना नियत कर्म करने लगा। ऐसे यंत्र तथा ऐसे शस्त्र बने जिनकी कल्पना भी न की गई थी।

३५—आज का मनुष्य अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है। वह दिखाना चाहता है कि उस में कितना बल, कितना बुद्धि है। अब वह प्रकृति से डरता नहीं है। वह प्रकृति के रहस्यों को जान चुका है तथा प्रकृति को चुनौती देकर उस पराजित करने में लगा है।

ऐसी दशा में मुझे नियमों से न जकड़ो। नियम बाधा रूप हैं। इन में बँध कर मनुष्य परतंत्र हो जाता है। मैं अब हताश हो चुका हूं। मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर गया है। क्षण भर के लिये ही सही, मैं सुख चाहता हूँ। वह सुख तुम मुझे दे सकती हो। उसमें बाधा न डालो।

३६—मैं तुम्हारे कारण सारस्वत राज्य का राजा बना। महान् राष्ट्र का राष्ट्रपति हुआ। मैं तुम्हें अपनी रानी बना कर साश्वत राष्ट्र की रानी के पद पर तुम्हें बिठाना

चाहता हूँ और शासन की बागडोर तुम्हारे हाथों में सौंप कर, केवल तुम्हें अपनी प्राणप्रिया रूप में ग्रहण कर सन्तोष करना चाहता हूं।

यदि तुम्हें यह स्वीकार नहीं तो समझो कि यह सारस्वत देश अब नाश को प्राप्त होगा। तुम स्वयं वह अग्नि हो, जिस में यह देश भस्मसात् होकर धुआँ बन कर रह जावेगा।

३७—इड़ा ने उत्तर दिया, "मनु, तुम्हारी उन्नति के लिये मैं ने जो कुछ किया है, उसे इस प्रकार भूल जाने का प्रयत्न न करो। तुम्हें जो वैभव मिला है उस पर गर्व मत करो।

मैंने तुम्हें प्रकृति के साथ होड़ लगाने की शिक्षा दी। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का साधन बताया। मैंने ही तुम्हें सब का शिरमौर बनाया, तुमको केन्द्र बनाकर सब को तुम्हारे चारों ओर लगाया। सब तुम्हारे इङ्गित पर नाचने लगे। सूत्रधार तुम बने। इस प्रकार मैंने तुम्हारा कल्याण ही किया। मुझसे तुम्हारा कौन सा अहित हुआ!

३८—मैंने ही तुम्हें सारस्वत प्रदेश के विकीर्ण वैभव को पुनः सूत्र-बद्ध करके व्यवस्थित करके उन सब का अधिपति बना दिया। मैंने यह सब कुछ किस सरलता से बिना किसी बाधा-प्रतिरोध के संपादित कर दिया। और मेरे ही कारण तुम इन सब रहस्यों के गर्भ में प्रविष्ट हो सके, जिन रहस्यों को जानकर तुम अपने को अंतर्यामी समझने लगे हो।

किंतु मेरे सत्कर्मों, सद्भावनाओं की आज तुम उपेक्षा कर रहे हो, कृतज्ञ होने के स्थान पर मुझे दोषी ठहरा रहे हो, अपराधी बना रहे हो। मुझे पृथक् करके मुझ पर दोषारोपण कर रहे हो, अब स्थिति यह है कि यदि मैं तुम्हारी हाँ में हाँ न मिलाऊँ, तुम्हारी अच्छी-बुरी सभी बातों का समर्थन न करूँ, तो यह मेरा महान् अपराध है।

३९—मनु, देखो भ्रम उपजाने वाली मायामय रात अब बीत चली। (रात में रस्सी पर सर्प का भ्रम हो सकता है) और पूर्व दिशा में उषा की लाली फैल कर प्रकाश ला रही है, जिससे भ्रम उपजाने वाला अंधकार नष्ट हो रहा है।

इस प्रकृति-व्यापार से उपदेश ग्रहण करो। तुम भ्रम में हो, तम में हो, अंधकार में हो, अज्ञान में हो। समझ से काम लो, प्रकाश की उपेक्षा न करो, मैं तुम्हें प्रकाश देने आई हूँ! अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है। अभी समय है, सब बात बन सकती है। यदि तुम मेरा विश्वास करो, धैर्य से काम लो तो मैं सब कुछ तनिक देर में सुधार लूँ।"

४०—यह बात हो रही थी कि मनु पर फिर पागलपन सवार हुआ, वह कामातुर इड़ा की ओर बढ़े और इड़ा बाहर जाने के लिये पैर बढ़ाने लगी किंतु मनु ने उसे भुजबंध में भर कर रोक लिया। इड़ा निस्सहाय कातर नयनों से मनु को देखने लगी, विवश, दीन!

४१—मनु पुनः बोले—"अब मैंने समझा। सारस्वत प्रदेश की स्वामिनी वस्तुतः तुम हो। सारस्वत देश-वासी तुम्हारी प्रजा हैं और तुम उनकी रानी हो। तुमने मुझे

केवल अपना कार्य साधने का माध्यम बना लिया है। मैं तुम्हारे हाथों में अस्त्र के समान हूँ निमित्त मात्र हूँ। तुम मुझे अपनी इच्छा के अनुसार चलाकर मुझ से अपनी मन-चाही कराना चाहती हो।

मैंने तुम्हारे इस छल-युत व्यापार को जान लिया है। अब तुम्हारा छल पंगु हो गया। अब तुम्हारा छल नहीं चल सकता। और यह भी जान लो कि मैं अब तुम्हारे फंदे से बाहर निकल गया हूँ। अब तुम मुझे फाँस नहीं सकतीं। मैं सजग हूँ, चैतन्य हूँ!

४२—शासन जो अबतक अबाध गति से विकसित होता आया था, अब शिथिल हो जावेगा, पराभव प्राप्त करेगा, क्योंकि अब मैं तुम्हारा दास बन कर नहीं रह सकूँगा।

मैं स्वभावतः शासक हूँ। मुझे शासन करना आता है। मैं चिर स्वतंत्र हूँ। मैं काल के किसी अवस्थान पर परतंत्र नहीं रह सकता। मेरा जीवन तभी सफल होगा, जब मैं तुम्हें अपनी दासी बना सकूँ। समस्त प्रजा पर अधिकार रखने वाली तुम हो, तुम पर भी यदि मेरा अधिकार हो जावे, तो मैं अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकूँगा; कारण कि तुम पर अधिकार प्राप्त करने पर मेरे अधिकार की सीमा न रहेगी।

४३—यदि ऐसा न हुआ तो अभी थोडा ही देर में सभी राज-व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट होकर रसातल चली जावेगी।

मैं देख रहा हूँ एक ओर पृथ्वी रह-रह कर भय से काँप रही है और दूसरी ओर आकाश में भीषण चीत्कार सुनाई पड़ रहा है। प्रलय का दृश्य सामने है।

४४—किंतु मैं तुम्हें आज अपने भुजबंधों में बंदी बनाये हुए हूँ, अपनी छाती से लिपटाये हुए हूँ।" इड़ा आहें भरती रह गई, पर मनु ने उसे नहीं छोड़ा। उसी समय सिंह द्वार अर्राहट की ध्वनि के साथ टूट गया और जनता भीतर घुस पड़ी। इड़ा को देख कर जनता चिल्ला पड़ी—'मेरी रानी! मेरी रानी!'

४५—मनु अपनी दुर्बलता के कारण (काम-वासना के कारण) हाँप रहे थे। अविचार में स्खलन होगया, जिसके कारण उनके पैर काँप रहे थे।

["स्खलन" शब्द पर पर्दा डालने की चेष्टा अन्य टीकाकारों ने की है। चित्रण न होना चाहिये था किंतु 'प्रसाद' ने तथ्यानुसार इसे भी अङ्कित कर दिया है। अपना-अपना दृष्टिकोण। साहित्य मर्यादा के विपरीत ही ये दो पंक्तियाँ अवतरित हुई हैं। मैं यही मानता हूँ।]

प्रजा को देख कर मनु ने अपने हाथों में वज्र जड़े हुए राजदण्ड को उठा लिया और चिल्लाकर बोले, इस समय मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसे ध्यान से सुनो।

४६—मैंने तुम्हें संतुष्ट किया। तुम्हारे लिये सुख के सभी उपाय बताये। मैंने तुम्हारे सामाजिक अभ्युदय के लिये समाज का वर्गीकरण किया, प्रत्येक वर्ग के कर्म निर्धारित किये। प्रकृति हमारे साथ अत्याचार करती थी, करती है। किंतु अब हमलोग

साधन-विहीन नहीं, प्रकृति के प्रकोप को हमलोग रोक सकते हैं, उसका सामना कर सकते हैं, क्योंकि हम न कृत्रिम उपायों से अपना प्रतिरक्षण करना सीख लिया है।

४७—आज हम न बनैले पशुओं की भाँति अव्यवस्थित एवं साधनविहीन हैं और न जंगली मनुष्यों की भाँति निरुपाय और निस्सहाय ही। तुम्हें निस्सहाय स्थिति से निकालकर स्वावलम्बी बनाने का श्रेय मुझे प्राप्त है। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा उपकार किया है। किंतु क्या तुम मेरे इन उपकारों को भूल गये?

जनता अति उग्र मानसिक दुःख से पीड़ित थी। मनु की बातें सुनकर वह क्रोध से चिल्ला उठी और रोषपूर्ण शब्दों में कहने लगी, आज पापी स्वयं अपने मुँह से अपने पापों को स्वीकार करने लगा है।

४८—तुमने जो कुछ सिखाया उसमें "योग-क्षेम" की विधियाँ कम हैं। आवश्यकतानुसार संरक्षण तथा प्राप्ति का मनोभाव कम है। अधिकता है संचय करने वाली मनोवृत्ति की, लोभ के मनोभाव की। यदि हमने अपनी आवश्यकताओं की पूर्तिमात्र के लिए सामग्री एकत्र की होती, तो ठीक था; किंतु तुमने तो हमें लोभी बना दिया। स्वार्थों में जकड़ दिया। हमें अपनी संपत्ति, अपने अधिकारों के प्रति चिंतित करके हमें संकट में डाल दिया।

हमें तुम्हारी व्यवस्था में यही सुख मिला कि हमारे हृदय में दुःखानुभूति भर गई। हम अब वास्तविक दुःख से ही दुखी नहीं होते वरन् अनागत संकटों की कल्पना करके दुःखी होते हैं। हमारे ही निर्मित बनावटी दुःख हमारे लिये और भी कष्टप्रद हो गये।

४९—यंत्रों का आविष्कार कर तुमने हमारे जीवन को अस्वाभाविक बना दिया। हमारी स्वाभाविक शक्ति का इस प्रकार ह्रास हो गया। हम निर्बल हो गये। कृत्रिमता द्वारा तुमने हमारी स्वारसिकता नष्ट कर दी, हमें जीर्ण-शीर्ण बना दिया।

और इड़ा के साथ तूने यह कैसा अशिष्ट व्यवहार किया है? हमलोगों ने तेरी सहायता की, तुझे योगदान दिया, जिसके सहारे—जिसके बल पर तू जीवित रह सका। क्या हमलोगों ने तुझे यही दिन देखने के लिये जिलाया, आश्रय दिया?

५०—हमारी रानी, इड़ा को तूने आज यहाँ बंद कर रखा है। निराश्रय भिखमंगे हमने तुझे शरण दी, किंतु तूने हमारे ही साथ विश्वासघात किया। अब तुझे कहीं ठिकाना नहीं मिलेगा। तेरी अब कोई रक्षा नहीं कर सकता।

इस पर मनु बोले, इसका तो स्पष्ट अर्थ यह है कि आज जीवन के संग्राम में मेरा साथ देने वाला कोई नहीं है। मैं निरा अकेला हूँ। प्रकृति भी मेरे विपरीत है और प्रकृति के ही विरचित पुतले—मानव दल—भी मेरे विपक्षी हैं। बड़ी भीषण परिस्थिति है। किंतु इससे क्या, मैं अकेला ही सबका सामना करूँगा, सबसे लड़ूँगा।

५१—मैं कितना निर्मम, निर्दय तथा कठोर हूँ, मुझमें कितना बल, कितनी शक्ति है, इसका अनुमान तुम्हें नहीं। आज तुम्हें मेरे पुरुषार्थ का परिचय प्राप्त हो जावे।

राजदंड आज तक मेरे करों की शोभा था, बल, शक्ति और सत्ता का प्रतीक मात्र था। आज तुम्हें यह भी अनुभव हो जावे कि राजदंड सचमुच वज्र ही होता है अमोघ, अचूक !

ऐसा कहकर मनु ने अपना अस्त्र उठाया—अस्त्र जो भयंकर तथा विकराल था। मनु के राजदंड उठाते ही अग्निदेव प्रकुपित हो गये। और चारों ओर से विकराल लपटें उठने लगीं।

५२—जनता के धनुषों से तीखे नाकदार तीर छूटने लगे। आकाश में नीले-पीले रंग के पुच्छल तारे टूटने लगे। एक ओर प्रजादल बौखला उठा था और दूसरी ओर पवन। अंधड़, तूफान बढ़ने लगा। मूसलाधार वर्षा होने लगी, बिजली चमकने लगी। भयानक युद्ध होने लगा, जिसमें बिजली के समान अस्त्र चमकने लगे।

५३—परन्तु विध्वंस करने में समर्थ मनु प्रकृति तथा प्रजा के प्रहारों का प्रतिवारण करते हुए, जनता के प्राणों को अपने खड्ग से हरते हुये, आगे बढ़े।

रुद्र का तांडव नृत्य तीव्रगति से चल रहा था। अणु-अणु चंचल हो उठे। प्रकृति टुकड़े-टुकड़े हा रही थी। नियति प्रतिकूल थी। सभी जन त्रस्त हो उठे।

५४—उस घोर अंधकार में मनु अपनी तलवार घुमाते हुये ऐसे लग रहे थे जैसे कोई जलती हुई लकडी लेकर चारों ओर चक्कर काट रहा हो। मनु के निर्मम हाथों में रक्तस्नात खड्ग खून पीने, खून करने के पागलपन की भाँति नाच रहा था।

युद्ध की ललकारों से भैरव रव गूँज उठा। भयानक परिस्थिति उपस्थित हो गई। मनु के विपक्षियों का समूह चुपचाप उनकी ओर बढ़ा। राज्य-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। महाक्रांति की अव्यवस्था उत्पन्न हो गई।

५५—मनु घायल होकर पीछे हटे। एक खंभे का सहारा लेकर उन्होंने साँस ली। फिर उस धनुष को खींचा जो कठिन से कठिन लक्ष्यभेदन मे समर्थ था।

उस समय उनचास प्रकार के भयंकर वात तीव्रवेग से बहने लगे। प्रजा के लोगों के लिये वह मरण पर्व था। प्रजावर्ग का रणसंचालन आकुलि और किलात कर रहे थे।

५६—आकुलि और किलात ने ललकारते हुए कहा, "देखना इसे भागने न देना, कहीं ऐसा न हो यह जान बचाकर भाग निकले। पकड़ो, मारो !" किंतु मनु सजग थे। उनके पास पहुँचकर बोले, "हाँ लो पकड़ो !" और उनको संबोधित करके बोले, "कायरो, तुमको तो मैंने अपना समझकर अपनाया था और तुम्हीं दोनों ने विश्वासघात करके विद्रोह खड़ा कर दिया।

५७—अच्छा तो आज तक तुमने यज्ञ में पुरोहित का कार्य करके पशुबलि कराई, आज देखो कि रण में कैसी बलि दी जाती है। तत्क्षण आकुलि और किलात मनु के बाणों से आहत होकर भूमि पर जा गिरे। इड़ा इस बीच बराबर चिल्ला रही थी, "रण बंद करो ! रण बंद करो !"

५८—इड़ा कह रही थी—"दैवी प्रकोप से भीषण जन-संहार अपने आप हुआ करता है। फिर पागल मनुष्य, तुम जीवन नष्ट करने पर क्यों उतारू हो। ओ अभिमानी, इतना आतंक मत फैला। नाश करने की यह प्रगति रोक, रुक जा। सबको जीने दे और समष्टि के साथ तू भी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर!"

५९—किंतु रण-वेदी पर भीषण आग जल रही थी। इड़ा की बात कौन सुनता? ऐसा लगता था, मनु ने यज्ञ में पशुबलि के स्थान पर सामूहिक नरमेध की नई प्रथा निकाली थी। रक्त बहाने के पागलपन के आवेश में मनु का हाथ अब भी नहीं रुकता था। प्रजा-पक्ष भी हतोत्साह न था, वह भी वार पर वार किये जा रहा था।

६०—वहीं सारस्वत प्रदेश की रानी इड़ा खड़ी थी, इड़ा जिसका शीलघर्षण मनु ने किया था। प्रजा के लोग प्रतिशोध की भावना से पानी की भाँति अपना रक्त बहा रहे थे!

उसी समय रुद्र का एक भयंकर तीर पुच्छल तारे के समान चला। इस तीर की पूँछ में प्रलयंकरी ज्वाला थी।

६१—सहसा आकाश में किसी महाशक्ति की 'हुंकार' ध्वनि सुनाई पड़ी। सभी शस्त्रों की धारों में भीषण तीव्रता भर गई। सभी शस्त्र इकट्ठे मनु पर गिरे। मनु जहाँ खड़े थे वहीं मरणासन्न होकर गिर पड़े और रणस्थली पर रक्त की नदी बहने लगी!

निवेदन

१२—निर्वेद

१—सारस्वत नगर पर बीते हुये संघर्ष (जनक्रांति) के समय हुए भयावह कृत्यों ने विषाद का विषैला पर्दा तान रखा था। सारा वातावरण मलिन था। सहज प्रसन्नता का लोप हो गया था। चारों ओर सन्नाटा छाया था। सुनसान निर्जन-सा लग रहा था। कोई शब्द कहीं सुनाई नहीं पड़ रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि दुःख अवसाद से पीड़ित नगर मूक हो गया है।

२—रात का समय था। आकाश में ग्रह और तारे मशाल जलाकर टहलने वाले पहरुओं की भाँति घूम रहे थे। वे यह देख रहे थे कि पृथ्वी पर कौन-सी घटना घटित हो रही है, किसके कारण वसुधा के प्रत्येक अणु में एक हलचल मची हुई है।

३—जीवन में जाग्रतावस्था सत्य है। हमें इसे अपना कर चलना चाहिए अथवा जीवन का चरम-लक्ष्य सुषुप्ति है। हमें बहिर्दृष्टि रहना चाहिये या जग मे आँखें मूँद कर समाधि धारण कर लेना चाहिये। प्रवृत्ति मार्ग अपनाने में कल्याण है या निवृत्ति मार्ग ! अंतर से रह-रहकर यही ध्वनि आ रही है कि "संसार एक भयानक रात्रि है।"

४—इस प्रकार रात्रि में उठने वाले भयानक विचार मस्तिष्क में तीव्र गति से सर-सर उड़ने वाले पक्षियों की भाँति चक्कर लगा रहे थे। और सरस्वती नदी चुपचाप बही जा रही थी।

५—अभी घायल व्यक्ति कराह रहे थे, सिसक रहे थे। उनकी सिसकियों में मर्म-व्यथा भरी थी। रात सोती थी, सारा वातावरण सोता था, जगती थी आहतों की पीड़ा। रह रहकर उलूक की ध्वनि आती थी। (उलूक जो लक्ष्मी का वाहन है) ऐसा लगता था जैसे नगर की लक्ष्मी (अधिष्ठात्री-देवी) उलूक के रव में अपनी करुण कहानी कहती हो।

६—नगर में कहीं-कहीं दीपक जल रहे थे। जिनका प्रकाश अत्यधिक धूमिल था। वायु रुक-रुककर चल रहा था। उसकी गति में उदासीनता थी, शिथिलता थी।

७—नगर की उस करुण परिस्थिति का दर्शक केवल सुनसान वातावरण था जिससे भय उत्पन्न होता था। ऐसा प्रतीत होता था कि साकार मौन चुपचाप सर्वदा से चौकन्ना होकर उसका निरीक्षण कर रहा हो। अंधकार का नीला पर्दा दृश्य-जगत् को ढके हुए था।

८—मंडप की सीढ़ियाँ सूनी थीं। वहाँ और कोई नहीं था। केवल इड़ा यज्ञ भूमि में बैठी थी। पास में अग्नि की लौ वेग से उठ रही थी।

९—राजमहल राजकीय चिह्नों से सूना था और समाधि जैसा लगता था। कारण कि मनु का घायल शरीर उसमें पड़ा हुआ था।

१०—इड़ा को बड़ी ग्लानि थी। वह ग्लानि-पीड़ित बीती बातें सोच रही थी। कभी उसे मनु के व्यवहारों से उसके प्रति घृणा उत्पन्न होती थी, कभी उसकी घायल दशा पर उसके प्रति करुणा उत्पन्न होती थी। इस प्रकार घृणा-प्रेम के संकल्प-विकल्प में कई रातें बीत गईं।

११—इड़ा का हृदय नारी का हृदय था। नारी के हृदय में अमृत का सागर लहराया करता है। इड़ा भी नारी थी। उसका स्वभाव मृदुल था, उसके हृदय में करुणा का संचार था। जैसे बाड़व-ज्वाला से समुद्र का रंग सुनहला हो जाता है, उसी प्रकार घृणा की ज्वाला से उसका ममतामय हृदय पीला पड़ गया था। मनु के व्यवहारों से मन में घृणा के संचार से मनु के प्रति इड़ा के ममतामय व्यापारों में कमी आ गई थी।

१२—किन्तु जिस प्रकार समुद्र की पीली अग्निल-धारा (जलती धारा) शीतल लहरें शीतलता प्रदान करती रहती हैं, उसी प्रकार इड़ा के हृदय में घृणा प्रतिशोध का ज्वलन उत्पन्न करती थी किन्तु साथ ही करुणा उसे क्षमा करने पर विवश करती थीं। इस प्रकार इड़ा के हृदय में क्षमा और प्रतिशोध दोनों भावनाएँ अपना-अपना कौतुक कर रही थीं। एक प्रकार का द्वंद चल रहा था इड़ा के हृदय में!

१३—इड़ा सोचती थी, "मनु ने मुझे प्यार किया। किंतु उसके प्यार में अनन्यता न थी। मनु चाहते तो अनन्य को सहज प्राप्त कर लेते, यदि वह अपनी मर्यादों का उल्लंघन न करते। जिस अवस्था में थे उसी में पड़े रहते यदि वे!

१४—किंतु जब प्यार सामाजिक रुकावटों की परवाह न करके अमर्यादित हो जाता है, आचार की सीमा का अतिक्रमण कर बैठता है, तब वह प्यार अपराध बन जाता है। कारण कि वह नियमों की सीमा का उल्लंघन कर बैठता है।

१५—माना, मनु का अमर्यादित प्यार अपराध था, किंतु वह अकेले कितना भयंकर सिद्ध हुआ। मेरे प्रति मनु का व्यापार व्यक्तिगत जीवन की ऐकांतिक घटना थी। यह अपराध वैयक्तिक जीवन के एक कोने में हुआ था। किंतु उसका प्रभाव व्यापक बन गया, असीम हो गया।

१६—उपकार सहृयता की भावनाएँ क्या केवल छलमय व्यापार थीं? उनमें कोई भी सत्यता न थी?

१७—वह व्यक्ति जो एक दिन परदेशी के रूप में दुखी होकर आया, निस्सहाय,

निरुपाय, आश्रयहीन, अवलंबहीन, उसका जीवन निराशापूर्ण था। उसकी आँखों में सूनापन भरा था, संसार उसके लिए शून्य था।

१८—एक दिन ऐसा भी आया कि वही प्राणी शासन का सूत्रधार बना। नियामक, शासक तथा प्रजापति के पद पर आरूढ़ हुआ। उसने ऐसी व्यवस्था बनाई, समाज का इस प्रकार नियमन किया कि सारी दंड-व्यवस्था उसके हाथों में आई। वह दण्डधर बना, स्वयं दंड का साक्षात् प्रतिमा बना।

१६—जिस व्यक्ति ने जीवन के सभी उतार-चढ़ाव देखे। जो सागर की लहरों में विचरा और लहरों से त्राण प्राप्त करके जो पर्वत की चोटी पर जा पहुँचा, जो विपन्नावस्था से निकल कर वैभव के उच्चशिखर पर पहुँचा,

२०—वही व्यक्ति आज यों मरणासन्न पड़ा है। उसका सारा विगत वैभव आज सपना हो गया, निस्सार सिद्ध हुआ। जिसे सब अपना समझते थे, उसके सभी पराये हो गये।

२१—मनु ने मेरे साथ उपकार किया था, उसी ने मेरे साथ अपराध भी किया। जो व्यक्ति अपने गुणों से सब को लाभ पहुँचाता था, उसी ने प्रत्यक्ष इस प्रकार अपराध भी किया।

२२—ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि-अंकुर के भले-बुरे दो पत्ते हैं। दोनों एक-दूसरे से मिले हुए हैं। जहाँ अच्छाई समाप्त होती है, वहीं से बुराई प्रारम्भ होती है। जहाँ बुराई का अन्त होता है, वहीं से भलाई का प्रारम्भ होता है। भलाई की अति बुराई और बुराई की अति भलाई है। इस प्रकार भलाई-बुराई दोनों मिले हुए हैं। जगत् में प्रत्येक वस्तु में कुछ बुराई कुछ भलाई मिलती है। हमें चाहिये कि हम भलाई बुराई दोनों को प्यार करें।

२३—चाहे वह अपना सुख हो या दूसरों का, जहाँ वह बढ़ जाता है, वहीं वह दुःख का कारण बन जाता है। सुख साधन में किस बिन्दु तक बढ़ना चाहिए इसका पता किसी को नहीं। कोई नहीं जानता कि सुख किस सीमा के अतिक्रमण करने पर दुःख में परिवर्तित हो जाता है।

२४—प्राणी वर्तमान सुखों की उपेक्षा इसलिये करता है कि उसे भविष्य में सुख मिलेगा। इस प्रकार वह अपने ही मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करता कल्पित लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। ऐसा करने से वह वर्तमान के भी सुखों से वंचित हो रहा है!

२५—मैं मनु के समीप क्यों बैठी हूँ ? क्या मैं इसे दंड देने के लिये इसके निकट आई हूँ। प्रतिशोध के भावना से यहाँ आई हूँ ? अथवा मैं इसके क्षत शरीर की रक्षा के लिए यहाँ आई हूँ ? मैं स्वयं नहीं समझ पा रही हूँ कि इस समय मेरा कर्तव्य क्या है प्रतिशोध या दमा-क्षमा ? मैं एक विकट परिस्थिति में पड़ी हूँ। मेरी बुद्धि असमंजस

में है ! मैं इस समस्या को सुलझा नहीं पा रही हूँ। मेरे मन में बड़ी उलझन है, संकल्प-विकल्प के कारण !

२६—किंतु मेरे मन में यह कल्पना अवश्य जगी है कि मेरे यहाँ रहने का परिणाम सुंदर ही होगा। और मेरी यह कल्पना वास्तविकता से अच्छी है। मेरा विश्वास है कि मेरी कल्पना को सत्य का वरदान मिलेगा अर्थात् मेरी कल्पना सत्य सिद्ध होगी। मेरे यहाँ बैठने का परिणाम निश्चय ही अच्छा होगा।

२७—इड़ा अपने विचारों में निमग्न थी कि उसे नीरव रजनी में दूर से आती हुई ध्वनि सुनाई पड़ी। ध्वनि सुन कर वह चौंक पड़ी। उसे सुनाई पड़ा कि कोई स्त्री यह कहती हुई उसी ओर बढ़ी चली आ रही है--

२८—"अरे कोई दया करके यह बता दे कि मेरा परदेशी कहाँ है ? वह पागलपन में मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र चला गया। मैं उसी अपने उन्मादी प्रियतम को खोज रही हूँ ? क्या कोई मुझे उसका पता दे सकता है ?"

[नाटकीय ढंग से वर्णन हुआ है जैसे नेपथ्य से कोई ध्वनि आ रही हो।]

२९—"वह अपने अहंता के कारण मुझसे रुष्ट हो गया। मैं उसे अपना बनाने में असमर्थ रही। मै उसकी अहंता की तुष्टि करने में असफल रही, जिससे वह मुझसे विलग हो गया। मैं उसे सब प्रकार से अपना समझती थी। मैं समझती थी कि मुझमें उसमें कोई भेद नहीं, फिर मैं मनाती, तो किसे मनाती, मनाती तो तब जब उसे अपने से भिन्न मानती। अपने को अपने आप क्या मनाना !

३०—"किंतु ऐसा सोचकर मैंने भूल की। यही चूक आज मेरे मन में हूक बनकर काँटे चुभा रही है। मैं उसे फिर कैसे पा सकूँगी क्या कोई मुझे यह बता सकता है ?"

३१—इड़ा इस ध्वनि को सुनकर उठी। उसने देखा राजमार्ग पर एक धुँधली-सी छाया चली आ रही है। उसकी वाणी में करुण व्यथा भरी थी। ऐसा लगता था जैसे कोई अत्यन्त दुखियारी दुःख से पीड़ित होकर करुण स्वर में बोल रही है। उसका स्वर विकंपित था, मानो उसका दिल जल रहा हो और वह आह भरी पुकार कर रही हो।

३२—उसका शरीर थका हुआ था। उसके वस्त्र अस्तव्यस्त थे। उसके केश खुले हुए थे, जो पवन में हिलकर उसकी अधीरता का परिचय देते थे। वह एक मुरझाई कली के समान थी जिसके पत्ते टूट गये हों, जिसका रस समाप्त हो गया हो।

३३—उसका सहारा केवल एक कोमल किशोर था जो उसके साथ था। वह कुमार उस स्त्री को उँगली पकड़े, उसे आगे बढ़ा रहा था। वह अपनी माता का हाथ दृढ़ता से थामे हुए शांत सुस्थिर पैर बढ़ा रहा था, ऐसा लगता था जैसे वह स्वयं साकार धैर्य हो।

३४—वे दोनों ही पथिक, माँ-बेटे, थके हुए थे और वह उन्हीं भूले मनु को खोज रहे थे, जो घायल होकर पड़े थे।

३५—इड़ा के मन में आज पहले से ही करुणा व्याप्त थी। (वह मनु को क्षमा करने की, उस पर दया करने की, सोच रही थी, उसकी शोचनीय अवस्था के कारण)। उसने इन दोनों दुखिया माँ बेटे को देखा। उनके पास गई और उनसे पूछा, तुम्हें किसने भुलाया है ?

३६—भला तुम रात्रि के समय इस प्रकार भटकती कहाँ जावोगी ? आओ मेरे पास बैठो। आज मैं स्वयं अधीर हूँ। आओ मुझ से अपनी दुःख भरी कहानी सुनाओ।

३७—घबराओ नहीं धैर्य धारण करो। जीवन एक लंबी यात्रा है। पथ पर चलते-चलते वे पुनः मिल जाते हैं, जिनमे एक बार बिछोह हो चुका है। यदि प्राणी जीता रहे, तो वियोग के पश्चात् मिलन हो ही जाता है। इस प्रकार दुःख की रातें कट ही जाती हैं और सुख का प्रभात पुनः उदय होता ही है।

३८—श्रद्धा ने सोचा, कुमार थक गया है और यहाँ उसे विश्राम पाने का अच्छा स्थान मिल गया है। अतएव उसने इड़ा के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। वह इड़ा के साथ उस स्थान पर पहुँची जहाँ अग्नि-शिखा जल रही थी।

३९—यकायक वेदी की ज्वाला जल उठी, जिससे मंडप में प्रकाश छा गया। कामायनी को कुछ दिखाई दिया और वह उसके पास तीव्रता से पहुँची।

४०—उसने देखा, मनु सचमुच घायल पड़े हैं। उसने सोचा, तो क्या मेरा स्वप्न सत्य निकला ?

श्रद्धा मनु को देख कर बोल उठी, "आह प्राण-प्रिय, तुम इस करुण परिस्थिति में पड़े हो ? क्या कारण है जो तुम्हारी यह दशा हुई।" श्रद्धा का हृदय मनु की दशा देख कर दुखी हो उठा। उसका हृदय पानी बन कर आँसू के मिस आँखों से बहने लगा।

४१—इड़ा यह देख कर आश्चर्य में पड़ गई। श्रद्धा मनु के समीप बैठ कर उसको सहलाने लगी। उसके स्पर्श में अनुलेपन की मधुरता (ठंडक) थी। उसके छूते ही मनु की व्यथा दूर हो गई।

४२—मनु अभी तक मूर्छित अवस्था में चुपचाप पड़े थे। श्रद्धा के स्पर्श से उनमें कुछ चेतना आई। कुछ हिलना-डोलना प्रारंभ हुआ। उसकी आँखें खुलीं। और उसकी आँखों के चारों कोनों में आँसू की चार बूँदें छा गईं।

४३—उधर कुमार ऊँचे महल, यज्ञमंडप और वेदी को देखने में लगा था। वह चकित होकर सोच रहा था, यह सब क्या है ! ये सभी नयी तथा मन को लुभाने वाली वस्तुएँ हैं। ये हृदय को कितनी प्यारी लगती हैं।

४४—माँ ने कुमार को बुलाते हुए कहा, "बेटे, यहाँ आओ, देखो तुम्हारे पिता यहाँ पड़े हुए हैं।" कुमार ने साश्चर्य पूछा, "पिता ?" और 'लो अभी आया' कहता हुआ वह पुलकित हो उठा।

४५—कुमार बोला, "माँ, इन्हें जल दे। तू बैठी क्या कर रही है ? इनको प्यास लगी होगी।" उसकी इस बात से वह सूना मंडप गूँज उठा। इसके पहले ऐसी सजीवता वहाँ कहाँ थी ?

४६—उस घर में अपनेपन का भाव संचारित हो गया। उनका एक कुटुम्ब बन गया।

श्रद्धा का मधुर स्वर उस परिवार पर संगीत की मिठास लिये छा गया। श्रद्धा ने मीठे स्वर में यह गीत गाया

"क्रियायां कलहो दृष्टो दृष्टा प्रीतिरुपासने
ज्ञानेनात्मसुखं नित्यं दृष्टं निर्हेतुनिर्मलं"

—शिव संहिता (१८–४७)

४७—कर्म प्रधान विश्वास में तुमुल कोलाहल तथा कलह का डेरा है। इसमें फँस कर प्राणी अशांत तथा चिंतित हो जाता है। इसमें मै ज्ञान-मार्ग का संकेत करके आत्मसुख (हृदय की बात) दिलाने वाली हूँ। मनुष्य हृदय से शान्ति चाहता है, आनन्द चाहता है, श्रद्धा आनन्द द्वारा उसे उपलब्ध कराती है।

मनुष्य की चेतना (चित्त में स्थित बुद्धि) जब अपूर्णता और अभाव के अनुभव से दुखी होकर सतत चंचल रहने लगती है और क्रिया-कलह से थक कर सोना चाहती है, विश्राम चाहती है, तब मैं मलय पवन की गति बनकर उसे शीतलता प्रदान करती हूँ और उसके प्राणों को सुला देती हूँ। उसे शान्ति प्रदान करती हूँ।

४८—जैसे अंधकार में डूबे वन की कुसुमावलि नयनाभिरामता खो देती है, किंतु जब प्रात हो जाता है, तब फिर वन खिले फूलों से लद्‌बद् दिखाई देता, सुन्दर लगता है, उसी प्रकार व्यथा रूपी अंधकार में डूबा मन मेरे आगमन से पुनः प्रसन्न दिखाई देता है। चिरकाल से शोक-निमग्न मन तमाच्छादित होता है जैसे उषा की रश्मियाँ तम को चीर कर प्रकाश का सृजन करती हैं उसी प्रकार मैं शोक निमग्न मन में आशा की ज्योति भर देती हूँ।

४६—ग्रीष्म में मरुभूमि में कड़ी धूप के कारण ज्वाला जलती है। चातकी एक बूँद पानी के लिये तरसती है। किंतु वर्षाकाल आने पर घाटियों से जल भरे बादल उठकर बरसते हैं और अपनी सरसता से मरु में भी जीवन भर देते हैं, चातकी को तृप्त करते हैं। उसी प्रकार मैं चिर अशान्त, चिर पिपासित को शांति देती हूँ, तृप्त करती हूँ।

५०—जब पानी वाष्पित होकर संकुचित होकर पवन की प्राचीरों में बन्द हो जाता है, किन्तु झुलस देने वाले दिन के 'उपरांत' जब मधु-रात आती है, तब फूल खिल उठते हैं, उसी प्रकार शोषण से पीड़ित दग्ध प्राणी मेरे आगमन से प्रसन्न हो जाते हैं।

ग्रीष्म के पश्चात् वसन्त की कल्पना !

५१—आंसुओं के तालाब में जब घनी निराशा के बादल प्रतिबिंबित होते हैं, तब भी मैं उस में उस सरल कमल के समान खिलती हूँ, जिस पर मधुप गुञ्जार करते हैं। अर्थात् घोर निराशा में विकट परिस्थितियों में भी मेरा स्वाभाविक आनन्दोल्लास अपनी सहज सरसता नहीं खोता।

(गीता ३–३१। ७–४७। ४–३६–४० "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः। ६–३.)

५२—श्रद्धा के गायन की स्वरलहरी के प्रत्येक अक्षर संजीवन-रस बनकर मनु के अन्तर में व्याप्त हो गये। श्रद्धा के गीत ने मनु में नये जीवन का संचार कर दिया। रात बीत गई, सबेरा हो गया। मनु की मुँदी आँखें खुल गईं।

५३—श्रद्धा ने उन्हें सहारा दिया और मनु श्रद्धा के प्रति कृतज्ञता अपने हृदय में भरकर प्रसन्न होकर उठ बैठे और प्रेममयी वाणी में यों बोले :—

५४—"श्रद्धा तू आ गई। बहुत अच्छा हुआ। किन्तु क्या मैं अभी यहीं पड़ा हूँ। वही घर, वही खम्भा, वही वेदी ! जिधर दृष्टि डालता हूँ, उधर घृणास्पद वस्तुओं को देखता हूँ। चारों ओर घृणा ही घृणा है !

५५—यह कह कर मनु ने दुःख से आँखें बंद कर लीं और बोले—मुझे यहाँ से निकाल कर कहीं दूर ले चल। कहीं ऐसा न हो कि इस स्थान के भयानक तम भरे वातावरण में मैं तुझे फिर खो बैठूँ। (कहीं ऐसा न हो कि लोग फिर आक्रमण करें और मेरा तेरा फिर वियोग हो जावे)।

५६—मेरा हाथ पकड़ ले। मैं स्वयं चल सकता हूँ। मुझे यही सहारा चाहिए, जिसके अवलम्ब से मैं खड़ा हो सकूँ, पैर बढ़ा सकूँ। (इड़ा की ओर देख कर वह बोले) उधर कौन खड़ी है ? श्रद्धे, उससे दूर हट जा तू ! उसे मत छू ! श्रद्धे ! मेरे निकट आ। तेरे निकट आने से मेरा मन प्रसन्न होगा, फूल की भांति मेरा हृदय विकसित हो जावेगा।

५७—श्रद्धा चुपचाप बैठी मनु के सिर को सहला रही थी। जैसे अपनी आँखों में विश्वास भरकर वह कह रही हो कि "तुम मेरे हो। तुम्हें अब किसी प्रकार का डर क्यों हो रहा है ?"

५८—श्रद्धा ने मनु को जल पिलाया। तब वह कुछ स्वस्थ हुए और क्षीण स्वर में कहने लगे, "मुझे यहाँ से निकाल। मैं यहाँ की छाया से भी दूर जाना चाहता हूँ। मुझे यहाँ मत रहने दे !

५९—"मुझे इस भवन की आवश्यकता नहीं। खुले आकाश के नीचे या किसी गुफा में चलकर हम लोग वास करेंगे। इसकी कोई चिंता नहीं। मैं तो जन्म से ही कष्ट सहता आ रहा हूँ, आगे भी जो संकट आवेगा, उसे किसी प्रकार झेल ही लूँगा।"

६०—श्रद्धा बोली, "तनिक अपने भीतर शक्ति का संचार होने दो। तुममें जहाँ बल आया कि मैं तुम्हें शीघ्र ही यहाँ से लिवा चलूँगी।" तदनंतर उसने इड़ा से पूछा—"क्या जब तक यह स्वस्थ नहीं हो जाते, तब तक तुम इन्हें यहाँ न रहने दोगी?"

६१—लज्जित इड़ा वहीं खड़ी थी। श्रद्धा की बातें सुनकर 'ना' न कर सकी। उन्हें उनके वहाँ ठहरे रहने के अधिकार से वंचित न कर सकी। श्रद्धा स्थिर भाव से वहाँ बैठी रही; किंतु मनु चुप न रह सके, वे बोले—

६२—"एक समय था जब मेरे जीवन में साध भरी थी। उत्कट इच्छाओं का सञ्चार था। मेरे हृदय में ऐसी कामनाएँ थीं जिनकी परितुष्टि के लिए मैं दुराग्रह कर बैठता था। इस प्रकार अनुरोध करता था कि मेरा अनुरोध उच्छृङ्खलता की सीमा छू आता था। मेरे मन में अनेक इच्छाएँ, चाहें भरी थीं। और यह भी बोध था सन्तोष था कि मेरा कोई अपना भी है।

६३—"मैं था और मेरे जीवन के वसंत के दिन थे। मैं सुन्दर फूलों की सघन सुनहली छाया में विचरता था। मेरे चारों ओर मलयानिल की लहरें उठ रही थीं। चारों ओर उल्लास का सम्मोहक वातावरण था।

६४—"जैसे उषा सूर्य रूपी प्याले में लाली भर लाती है, वैसे ही उषा-सी सुन्दरी मेरी प्रेमिका मुझे प्रेम-रस का रागारुण प्याला पिलाती थी। और मेरा यौवन उसके सुरभित उच्छ्वासों की छाया में उस प्याले को सुख से आँखें बन्द किये मुग्ध मन पीता था।

६५—"शरदऋतु के प्रभात काल के समान जीवन के उन उज्ज्वल क्षणों में हरसिंगार रूपी मन से प्रेम के नवीन रस-पुञ्ज पुष्प झरते थे।
जब संध्या अपनी सुन्दर घुँघराली अलकें खोले आती, तब सुख की वर्षा होने लगती थी।

६६—"अकस्मात् क्षितिज से अंधकार की तीव्र आँधी उठी। संसार हल-चल से संक्षुब्ध हो गया। जैसे आँधी के चलने से सरोवर की लहरें उछलने लगती हैं, उसी प्रकार मेरे मन में भी उथल-पुथल हुई।

६७—"हे देवि, जब तुमने मेरे जीवन में आकर अपनी मंगलमयी मधुर हँसी बिखेर दी, तब उस विषादपूर्ण वातावरण में मेरा व्यथित हृदय उसी प्रकार प्रसन्न हो उठा जैसे नीले नभ में आकाश-गंगा की छटा लहर उठती है।

६८—"मेरे हृदय रूपी कसौटी पर एक नवीन सुन्दर स्वर्ण-रेखा-सी अङ्कित हो गई। तुम्हारी देव-तुल्य अलौकिक अमर अमिट छवि मेरे मानस में स्थायी रूप से रंगरलियाँ करने लगी।

६९—"मनु को मुग्ध करने वाली, मोहने वाली तुम्हारी नवीनमूर्ति, नवीन छवि मेरे मन-मंदिर पर इस प्रकार शोभित हुई, जैसे अरुणाचल पर उषाकालीन प्रभा-रश्मियाँ खेलती हैं। तुमने मुझे सुन्दरता की कोमल महत्ता से परिचित कराया और

तुमसे ही मैंने सीखा, जाना कि सुन्दरता कितनी स्नेहमयी होती है। तुम सुन्दर थीं, महान् थीं, स्नेहमयी थीं।

७०—"हमें उसी दिन पता चला कि सुन्दरता क्या वस्तु है और उसी दिन यह भी निश्चयपूर्वक जान सका कि संसार के प्राणी किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सुख-दुःख भोगते जीवन व्यतीत करते हैं।

७१—"जवानी के दिन थे। जीवन ने यौवन से प्रश्न किया, अरे मतवाले यौवन, मन की मस्ती में खोए यौवन, तूने संसार में आकर कुछ देखा! यौवन ने उत्तर दिया, 'पूछताछ की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार जीता चल। सौन्दर्य की छाया में जीवन-यात्रा के लिये कुछ सम्बल जुटा ले, प्राप्त कर ले।'

७२—"मेरा हृदय सीपी के समान प्यास से मुँह खोले था। तुमने स्वाती की बूँद बनकर उसे तृप्त किया। जैसे कमल मकरंद को प्राप्त करके खिल उठता है, मस्ती से झूमने लगता है, उसी प्रकार मेरे कमल रूपी हृदय में तुम मकरंद के समान छा गईं और मेरा हृदय एक मस्ती का अनुभव करने लगा।

७३—"पतझड़ में जैसे हरियाली नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार चिंताग्रस्त मेरा जीवन रसहीन था, प्रसन्नताहीन था। तुम्हारे आने से मेरा नीरस जीवन सरस हो गया। तुमने मुझे इतना स्नेह दिया कि मैं तृप्त ही नहीं हुआ, वरन् अतिरेक से तृप्ति मादकता में परिवर्तित हो गई। मैं प्रेम मदिरा छक कर मतवाला हो उठा।

७४-७५—"विश्व जिसमें दुःख की आँधी आती है, पीड़ा की लहरें उठती हैं, जिसमें मैंने जीवन में मृत्यु का अनुभव किया, जिसमें बुलबुले के समान प्राणियों को मैंने बनते-मिटते देखा, वही विश्व मुझे शांत, उज्ज्वल तथा मंगलमय दिखाई देने लगा। मुझे विश्वास हो गया कि जीवन अभिशाप नहीं वरदान है। वर्षा काल में जैसे कदंब का वन हरा भरा हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे आगमन से संसार मुझे उल्लासपूर्ण दिखाई देने लगा।

७६—"हे समस्त-श्रीमण्डिता, अखिल ऐश्वर्य-सपंन्ना देवि! मन को मोल लेने-वाली तुम्हारी सुन्दरता के पर्वत से ऐसी पवित्र मधुधार बही, जिसकी अमर छवि के सामने अमृत भी फीका था। उस मधुधार में यह क्षमता थी कि उससे धुल कर जीवन का सभी कलुष, सभी अपवित्रता नष्ट हो जावे।

७७—"मैंने अपने अंधकारमय जीवन में तुम्हें प्राप्त करके अपने जीवन को मधुर कामनाओं के प्रकाश से भर दिया। मेरी ही कहानी संध्या समय आकाश में ताराओं के मिस खिल उठती थी। दिन भर का थका व्यथा-पीड़ित मैं रात्रि में चैन की नींद सोता था।

७८—"तुम्हीं मेरे सकल कुतूहल और कल्पना का केन्द्र बन गईं। मेरा मन तुम्हारे ही चरणों में लग गया। तुम्हीं मेरी पूजा आराधना की प्रतिमा बन गईं। तुमको देख

कर मैं विचित्रता का अनुभव करता, तुम्हारे ही साथ रहकर मैं सुखमय भावी जीवन की कल्पना करता ! मेरे जीवन के खिले हुए सुमनों की आभा से मण्डित मेरे जीवन के वे मधुर क्षण धन्य थे !

७९—"तुम्हारी हँसी में मधु पूर्णिमा की छवि छहरती थी; श्वासों में पारिजात वन के विकसित सुमनों की मादक गंध आती थी। तुम्हारी गति मलय पवन की मंद गति के समान थी, जिस प्रकार सौरभ-भार से बोझिल मलय वात चलता है, उसी प्रकार रूप-भार से लदी तुम चलती थीं। तुम्हारा स्वर वंशी से भी मधुर था।

८०—"जैसे दूर से आती हुई वंशी की ध्वनि पवन के कंधे पर सवार होकर संसार की गुफा में नई अलौकिक रागिनी भर देती है, वैसे ही तुमने मेरी साँस-साँस में समाकर मेरे जीवन को आनन्द के संगीत से भर दिया।

८१—"मेरे जीवन-रूपी समुद्र के गर्भ में जो मोतियों के समान उज्ज्वल गुण (सात्विक विचार) छिपे थे, वह बाहर निकल पड़े, प्रस्फुटित हो गये।

"जब मैं जग का कल्याण करने वाले तुम्हारे गीत गाता तो हर्ष से मेरी रोमावलि खड़ी हो जाती थी ! ऐसा लगता जैसे हर्ष से खड़े मेरे रोंगटे स्वयं खड़े होकर तुम्हारे कल्याणकारी गीत गा रहे हों।

८२—"सूर्य की किरणें जब मानसरोवर पर पड़ती हैं, तब उससे बादल बनते हैं; ठीक उसी प्रकार आशा की किरणों के मेरे मानस पर पड़ने से एक छोटी मोहमयी भावना की सृष्टि हुई। इस मोहमयी भावना के बादल को तुम्हारे रूप की चाँदनी ने घेर लिया।

८३—"जैसे काले बादल में प्रकाशमयी बिजलियाँ झूमती हैं, वैसे ही मेरी मोहमयी भावना में तुम्हारी छवि चमकने लगी। बिजली-बादल जिस प्रकार वर्षा करके बन को हराभरा कर देते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे संयोग से प्रेम का बादल धीरे-धीरे बरसा जिससे मेरा मन आनन्दपूर्ण हो गया।

८४—"तुमने हँस-हँस कर मुझे बताया कि संसार एक खेल है, जब तक जीवित रहो, हँसते हुए खेलते चलो। संसार में न लीन होने की आवश्यकता है, न उससे विरक्त होने की। तुमने मुझसे मिलकर मुझे शिक्षा दी कि सबसे मिलकर रहना चाहिए। सबसे मित्र भाव रखना चाहिए।

८५—"अपने चञ्चल बिजली के समान हावभाव से तुमने मुझे यह भी संकेत किया कि जहाँ तक मन का संबंध है, उस पर हमारा अधिकार है इसे जब और जिसे देने की इच्छा हो, उसी क्षण उसी को हम दे सकते हैं।

८६ -"तुम सौभाग्य की अविरल बरसात हो, जो बिना रुके लगातार सरस बूँदें बरसती है। तुम्हारे कारण मेरा सौभाग्य निरंतर अभिवृद्धि को प्राप्त होता रहा। जैसे वसंत-ऋतु की रात सुहानी लगती है और सरस मादकता बिखेरती है, उसी प्रकार

तुम्हारे मधु स्नेह ने मेरे जीवन को सरस बनाया और मेरे मन में मस्ती भरी। मेरा जीवन चिर-अतृप्ति के समान था, तुम्हारे आने से मैं संतुष्ट हो गया। मेरी अतृप्ति, मेरी अशांति, मेरे अभाव की समाप्ति हो गई।

८७—"तुमने मेरा बड़ा उपकार किया। तुम्हें पाकर मेरी सात्त्विक-प्रेम-भावनाओं को सहारा मिल गया। तुम्हारे ही सहारे मेरा हृदय भावनाओं, अनुभूतियों से भर गया। इसके लिए भी मैं तुम्हारा अत्यधिक आभारी हूँ।

८८—"किंतु मैं महा नीच हूँ। निर्लज्ज कामचारी हूँ, मैं न समझ सका कि तुम कल्याणकारी माया का प्रसार करना चाहती हो। मैं तुम्हारे कल्याणमय-जननी-रूप को न पहचान सका। मैं न समझ सका कि तुम नाना-भाव-विभाविनी सृष्टि-इन्द्रजाल-प्रसारिणी हो। मैं न समझ सका, तुम मुझे आनन्द की उपलब्धि कराना चाहती थीं। आज भी मैं उसी भ्रम में पड़ा हूँ। अस्तित्वहीन छाया के समान हर्ष-शोक के पीछे मैं अब भी दौड़ रहा हूँ। सुखानुशयी राग—दुखानुशयी द्वेष से मेरा मन आज भी उलझ रहा है। यद्यपि यह जानता हूँ कि हर्ष-शोक अपने ही मन के प्रतिबिम्ब हैं।

८९—मुझे ऐसा लगता है जैसे मेरे सारे विभव, सारे सुख-साधन, सारे प्रयत्न के मूल में क्रोध-मोह ही उपादान-कारण रूप कौतुक कर रहा था। मैं विषयानुरक्त हूँ और काम-क्रोध-मोह भ्रम-राग-द्वेष में मैं जकड़ा हुआ हूँ। (गीता २-६० से ६७)। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि मैं अब तक अज्ञान में पड़ा हुआ हूँ। ज्ञान की किरणों ने मुझे छुआ तक नहीं। अभी तक मेरी बुद्धि तम-ग्रसित है, नास्तिक है, मेरी श्रेष्ठ बुद्धि का-आस्तिक बुद्धि का लोप हो गया है, जिससे मैं ज्ञान के प्रकाश से वंचित हूँ।

९०—"मेरा जीवन वरदानहीन शापयुत् है। शाप-ताप से मेरे जीवन से जीवन-रस निकल गया है। मज्जामेद-रहित जैसे अस्थिपंजर भयावह लगता है, उसी प्रकार मेरा जीवन दुःखमय है। मैं इसी 'कंकाल' के चक्कर में फँसा हूँ। इसी को भ्रमवश सब कुछ समझ बैठा हूँ। शरीर के परे भी कुछ है, इसका मुझे भान नहीं। निस्सार शारीरिक सुख खोखली वस्तु है, उसमें कोई सारतत्व कहाँ है? किन्तु मैं भ्रमवश उसी खोखली-वस्तु में कुछ पाने की आशा रखकर बार-बार टटोलता हूँ और सोचता हूँ कि अब कुछ मिला, अब कुछ मिला। [असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता—ईशावास्य० ३]

९१—"कामोपभोग को ही जीवन का परम ध्येय मान कर विषयों में आसक्ति रखने वाला मैं अज्ञान तथा क्लेश के महान् अंधकार से घिरा हुआ हूँ। किन्तु 'प्रकृति' मुझे अपनी ओर खींच रही है। मैं मोहमयी प्रकृति की ओर स्वभावतः आकृष्ट हो रहा हूँ। चिर परिवर्तनमय, निरन्तर परिणामशील, सुख दुःख की भीषण तरंगों वाले भवसिन्धु की बहिरंग विभा मुझे अपनी ओर खींच रही है। कभी छायावान् की ओर दृष्टि न जाने से मुझे तत्व का बोध नहीं हो रहा है और मैं अज्ञान-ग्रसित भ्रमवश सबसे रुष्ट होता हूँ, सभी पर बनता बिगड़ता हूँ, क्रोध करता हूँ। कभी-कभी मुझे स्वयं अपने पर भी क्रोध आता है।

९२—"मुझे, तुम जो कुछ देना, जिस प्रकार देना चाहती थीं, वह मैं नहीं पा सका। मेरा पात्र छोटा है, तुम उसमें अत्यधिक मधु भरना चाहती थीं। तुम्हारे ढालने में मधु की मोटी धार फूटती थी, जो मेरे छोटे प्याले में समा नहीं सकी।

९३—"मेरा हृदय तुम्हारे प्रेम से तृप्त नहीं हो सका, क्योंकि मेरे हृदय में तर्क और बुद्धि के दो भेद हो गये थे, जो तुम्हारे द्वारा मेरे हृदय के संतुष्ट किये जाने में बाधक हो रहे थे।

जो प्रेम, मैं श्रद्धा द्वारा हृदय में संचित करता था, बुद्धि और तर्क, उसे उसके बाहर निकाल फेंकते थे। हृदय की विशुद्धानुभूति का नाम ही श्रद्धा है। यह अनुभूति भावना-प्रधान होती है न कि बुद्धि-प्रधान। किंतु मैं बुद्धि-प्रधान हूँ जिसके कारण मेरा हृदय प्रेम की सच्ची अनुभूति से वंचित है।

९४—"यह कुमार मेरे जीवन का श्रेष्ठ अंश है, कल्याणकारी रूप है, यह मेरे माया मोह की प्रतिमा है। मैं इसे देख कर ललचा उठा हूँ, मोहित हो गया हूँ। मेरा हृदय जब स्नेहिल हो उठा, तरल भावनाओं से द्रवित हो उठा, तब कहीं इसकी सृष्टि हुई। आज इसे देखकर मेरा हृदय स्नेह से भर गया है।

९५—यह कुमार सुखी रहे। मेरी कामना है कि तुम सब सुख से रहो। मैं अपराधी हूँ, मुझे अकेला छोड़ दो।"

श्रद्धा देख रही थी कि मनु के मन में आँधी उठ रही है। उसकी भावनाएँ उग्र रूप धारण कर रही हैं।

९६—दिन बीत गया। आलस्य और नींद लिए हुए रात्रि आई। इड़ा कुमार के समीप लेटी थी। उसका हृदय कुछ कहना-सुनना चाहता था, किंतु वह अपने उमड़ते मन को दबाए हुए थी।

९७—श्रद्धा कुछ दुखी थी, चिंतित थी, थक-सी गई थी, अतएव वह भी हाथ का तकिया लगाए लेटी हुई कुछ सोच रही थी। मनु भी सभी अभिशाप मन ही में छिपाए शांत लेटे थे।

९८—मनु सोच रहे थे :—

क्या जीवन सुख का नाम है ? क्या जीवन में सुख है ? नहीं। यह जीवन स्वयं एक पहेली है। इसका समझना कठिन है। यह जीवन सुख का नाम है या दुःख का, यह निश्चय करना संभव नहीं। मनु, छोड़ इस जंजाल को, भाग जा तू यहाँ से। यह सब माया का खेल है, तुझे छलने के लिए इन्द्रजाल की रचना है। तू ने इसी सब में फँस कर तो आज तक इतना दुःख उठाया है।

६६—श्रद्धा प्रभात की सुनहली किरन-सी झलमल-झलमल करती चंचल धूप-सी है। यह पुण्यात्मा है। और मेरा शरीर, मेरा मुख पाप से काला है। मैं क्या मुँह लेकर श्रद्धा के सामने जाऊँ।

१००—इसे छोड़ कर सभी मेरे शत्रु हैं। सभी उपकार को भुलाने वाले कृतघ्न हैं। इनका मैं कैसे विश्वास कर सकता हूँ। मेरे भीतर प्रतिहिंसा-प्रतिशोध की भावना है। मैं इसे दबा कर नहीं रह सकता। ऐसा करने से तो मैं जीते ही मृतक के समान हो जाऊँगा। मैं इस प्रकार चुप रह कर मरना नहीं चाहता।

१०१—श्रद्धा के रहते हुए यह संभव नहीं कि मैं बदला ले सकूँ। तो फिर मुझे वहीं चलना चाहिये, जहाँ मेरे मन को शान्ति मिले जहाँ मैं अपनी मनचाही कर सकूँ।

१०२—सबेरे सब लोग जगे तो उन्होंने देखा की मनु वहाँ नहीं हैं। कुमार 'पिता कहाँ' कह कर अधीर हो उठा। चारों ओर मनु को खोजने लगा।

१०३—इड़ा सोचने लगी, 'सबसे अधिक दोषी मैं ही हूँ।' कामायनी चुप-चाप बैठी इस उलझन में पड़ी थी कि यह क्यों और कैसे हुआ और उसे अब क्या करना है।

दर्शन

१३—दर्शन

"यह सर्ग जगत् में चित् शक्ति के लहराते हुए आनन्द का काव्यमय निरूपण ।"—श्री गुलाब राय

१—अमावस्या की रात थी। चन्द्रमा पूर्णतः तिरोहित हो गया था। उसकी कोई कला शेष नहीं रह गई थी। प्रभामय प्रात उस अमा की गोद में सोया था, विश्राम कर रहा था। [ऐसा भान होता था कि रात के बीतने पर शुभ्र प्रात के पुनः दर्शन होंगे]। (डाक्टर फ़तेह सिंह पृष्ठ ४० कामायनी-सौंदर्य पर लिखा है "एक चन्द्रहीन रात का सबेरा था" जो सर्वथा भ्रांतिमय है।) शुभ्र झलमलाते तारों का प्रतिबिंब नदी के उर में पड़ रहा था। सरस्वती की धारा में झलमलाते तारे प्रतिबिंबित हो रहे थे। सरस्वती की धारा चञ्चल थी, गतिमान थी; किंतु तारों का बिंब अपने स्थान पर स्थिर था। पवन के बंद स्तर धीरे-धीरे खुल रहे थे। पवन में धीरे-धीरे गति आ रही थी। वृक्ष-पंक्ति चुपचाप खड़ी थी, ऐसा लगता था जैसे वह सावधान होकर कोई रहस वार्ता सुन रही हो।

२—सामने धुँधली छायाएँ घूम रही थीं। धाराएँ वृक्षों की छाया में पड़ रही थीं, जो धूमिल थीं। लहरों के प्रवाह में ये छायाएँ घूमती हुई दिखाई पड़ती थीं। सरस्वती की लहरी श्रद्धा के पैरों को चूम रही थी।

कुमार ने कहा, 'माँ तू इधर बहुत दूर निकल आई है। संध्याकाल व्यतीत हुए देर हुई। यह निर्जन सुनसान स्थान है। तुझे यहाँ कौन सुन्दरता दिखाई पड़ रही है, जो तू यहाँ अभी तक टिकी है। चल घर चलें, अब और यहाँ मत ठहर। देख मेरे घर से गंधपूर्ण धुआँ उठ रहा है।" श्रद्धा ने कुमार की भोली बातें सुनकर उसका चुम्बन किया।

३—कुमार पुनः बोला—"माँ, तू इतनी उदास क्यों है ? मैं तो तेरे पास ही हूँ, फिर तुझे क्या चिंता है, क्या दुःख है ? तू कई दिन से इस प्रकार मौन रह कर किस सोच-विचार में पड़ी है ? कुछ कह तो सही, तुझे किस बात की चिंता है, तू क्या चाहती है ? तुझे कौन आधि-व्याधि घेरे हुए है, जिससे तेरा शरीर जला जा रहा है, गला जा रहा है। तेरे मन में कौन-सी आग लगी है, जिससे तू जलते उसास लिया करती है। तेरे श्वास-प्रतिश्वास की गति में समता नहीं है। तू भारी साँस खींच कर फिर धीरे-धीरे उसे छोड़ती है, ऐसा लगता है जैसे तू अत्यधिक हताश होती जा रही है।"

४ – श्रद्धा ने उत्तर दिया— 'देखो सामने नीला अनन्त आकाश फैला है। उसमें जल भरे बादल लटके हुए हैं। इस आकाश के नीचे सुख-दुख आते जाते हैं। स्थान का निर्माण होता है, उसका लय होता है। समय पल-पल करके वर्तमान होता है, भूत बनता है। इसी के नीचे वायु बच्चे के समान क्रीड़ा करता है। इस आकाश में तारावलियाँ चमकती हैं। ऐसा लगता है, आकाश स्वयं रात्रि हो और ये चमकते तारे उसमें जगमगाते जुगनूँ हों।

यह संसार बड़ा उदार है। इसका द्वार कभी किसी के लिए बन्द नहीं होता, सर्वदा खुला रहता है। जो चाहे आवे और इसमें शरण ले। मेरा सच्चा घर तो यही है।

५—"दृष्टिगोचर होने वाला संपूर्ण लोक तथा संसार के सत् प्रतिभासित होने वाले सभी असत् हर्ष और शोक भाव के समुद्र से अनुभूति की किरणों के सहारे बनते रहते हैं। जैसे सूर्य की किरण से बादल की सृष्टि होती है, जो स्वाती कण बरसा कर पात्र और स्थान के अनुकूल विष और अमृत की सृष्टि करता है। उसी प्रकार यह संपूर्ण लोक भाव के समुद्र से अनुभूति की किरणों द्वारा लोक की सृष्टि करता है और यह लोक केवल आनंद-कणों की वर्षा करता है किंतु वही आनंद-कण अपने-अपने मन अपनी अपनी भावना के अनुसार सुख-दुःख बनता है। जैसे पहाड़ की गोद में खेलते हुए झरने कभी ऊँचे उछलते हुए कभी नीचे झुकते हुए अविरल बहते हैं, उसी-प्रकार मन से प्रवाहित जीवन सुख दुःख की ऊँची-नीची घाटियों से होकर निरंतर बहता रहता है। जैसे झरना टेढ़े-मेढ़े सुन्दर रास्तों से होकर जाता है, उसी प्रकार जीवन भी उलझनों में पड़ जाता है किन्तु यह उलझन मीठी होती है, इससे गति में बाधा नहीं आती, वरन् तीव्रता आती है। यह सब भगवान् की छेड़छाड़ है, लीला है। (है विश्व कौतुकमय रंगशाला)

६—"अंतरिक्ष एक बड़े सरोवर के समान है इसमें हंस की भाँति सकल-लोकमय सृष्टि प्रतिष्ठित है जो आकार में बहुत बड़ी तथा देखने में बड़ी सुन्दर है।

नादविन्दूपनिषद् में ऊँकार की 'हंस' रूप में कल्पना की गई है। जैसे प्राणी सोने के पश्चात् जब जागता है, तब उसकी आँखों में लाली छाई होती है और जब सोता है तब उसके लिए सब कुछ अज्ञात हो जाता है, उसी प्रकार अरुणोदय की लाली के साथ सृष्टि जागती तथा रात्रि में तम की चादर ओढ़े सोती है। जैसे इन्द्रधनुष अनेक रंगवाला होता है, उसी प्रकार यह सृष्टि भी विविध रंग धारण करती है। नाश-सृष्टि, पतन-विकास सभी इसके विविध रंग हैं। सृष्टि की सुषमा झलमल करती हुई अधिक सुन्दर लगती है। जैसे आकाश में तारावलियाँ खिलतीं और झर जातीं हैं, उसी प्रकार नाश और सर्जन की गति में इस सृष्टि की शोभा भी शोभनीय दिखती है।

७—"इस सृष्टि के प्रत्येक पहल में सुस्थिर शांति भरी हुई है। इसमें अथाह शीतलता भरी है। प्राणी व्यर्थ ही इसमें ताप की झूठी प्रतीति रखता है। वास्तव में

यह उसके मन की भ्रांति है, ताप का कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह सृष्टि शाश्वत मङ्गलकारिणी है, मङ्गलमयी है ! इसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है, जिसमें यह चिर नवीन दिखाई पड़ती है। नवीनता में सुख और सुख में मंगल है (पल्लवित पुष्पित नवल नित संसार विटप नमामहे ।)

इस सृष्टि की गोद में समस्त भाव आनंद से परिपूर्ण है। यह सुख की हँसी ओठों पर सजाये है। इसमें जो धूम मची है, वह भी आनंदमय है। इसके अंतर में अमित उल्लास (प्रसन्नता, प्रसाद) की राशि सिंचित है।

यह सृष्टि मधुरता तथा सुन्दरता से भरी है। मेरे रहने का यही स्थान है। यह उस घोंसले के समान है जिसमें सुख देने वाली शांति निवास करती है।

८—श्रद्धा की उपर्युक्त बातें सुन कर कोई पीछे से बोला—"माता ! यदि जो कुछ तुमने कहा सत्य है तो फिर संसार से इतनी विरक्ति क्यों, उदासीनता क्यों ? तुमने मुझे अपना स्नेहपात्र क्यों नहीं बनाया" ? श्रद्धा ने पीछे मुड़कर देखा तो उसे पता चला कि मधुर शब्द इड़ा के मुख से निकले थे। उसकी छवि की स्वाभाविक प्रभा धुँधली हो गई थी। ऐसा लगता था जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो। विषभरे विषाद की छाया उसके मुख पर सुस्पष्ट थी।

इड़ा का भाग्य कुछ दिनों जाग कर फिर सो गया था। उसने त्याग किया था किंतु आज उसका त्याग दीन था, अकिञ्चन था, और कुछ पाने (ग्रहण करने) का इच्छुक था।

९—श्रद्धा ने उत्तर दिया, 'तुमसे विरक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। जीवन स्वयं बिना सोचे विचारे तुमसे प्यार करता है, तुमसे अनुराग बढ़ाता है। तुमने मुझसे बिछुड़े हुए मनु को सहारा दिया। उसका जीवन बचाया। तुम आशाओं को हृदय में जगाती हो। तुम्हारे प्रति आकर्षण कभी कम नहीं होता।

जल से भरे हुए बादल के समान झुक झूम कर तुम रस की वर्षा किया करती हो। मनु के मस्तिष्क को तुमने सदैव अतृप्त रखा। तुम बिजली की वह शक्ति हो जो प्राणी को उत्तेजित किया करती है, कभी शांत नहीं रहने देती। क्रिया में लगा कर चंचल बनाये रखती है।

१०—तुमने मनु के लिये जो कुछ किया उसका मोल मैं कैसे चुका सकती हूँ ! प्रति-उपकार में मैं केवल अपनी प्रेम-भावनाएँ अथवा विनीत वाणी ही दे सकती हूँ। मेरे पास इनके अतिरिक्त और है ही क्या !

मैं सुखानुभूति से हँसती हूँ, दुःख पड़ने पर रोती हूँ। मैं लाभ-हानि के चक्कर में पड़ी हूँ। अभी पाया, अभी खोया। एक से लेकर, दूसरे को दे देती हूं। मुझ पर यदि दुःख भी पड़ता है, तो मैं उसे सुखपूर्वक झेलती हूँ। इस प्रकार दुःख को सुख में बदल देती हूँ।

मैं ऐसा मधुर घोल हूँ जिसमें अनुराग भरा है। मैं बेसुध अपनी सारी परिस्थितियों को चिर विस्मरण कर इधर-उधर भटक रही हूँ। मेरा जीवन सामान्य प्राणी का जीवन है। उसमें कोई असाधारण-सा नहीं, कोई विशेषता नहीं।

११—तुम्हारा सुन्दर छविमय मुख देख कर मनु ने स्वयं एक बार चेतना खो दी थी। नारी में मोह-माया की शक्ति भरी है। वह प्रेमिणी होती है। उसके स्वभाव में स्नेह भरा है। वह तप्त हृदय को अपनी स्वाभाविक शक्ति से शीतल छाया प्रदान करती है, शांति देती है। फिर जिस नारी के अस्तित्व से वसुधा धन्य हुई, उसके अतिरिक्त विशुद्ध भाव से क्षमा करने की शक्ति और किसमें है। नारी ही अपने अपराधी को बिना छल-कपट के क्षमा करने की क्षमता रखती है। अतएव तुम मनु के इस अपराध को क्षमा करोगी। मेरा ऐसा विचार है और मैं इनके विपरीत सोचने की अधिकारिणी भी नहीं। (मैं इस विचार को साधिकार कैसे छोड़ूँ ?)

१२—इड़ा ने कहा, अब मुझ से चुप नहीं रहा जा रहा है, अतएव मैं कुछ कहना चाहती हूँ। तुम्हारा कहना यथार्थ है, किंतु यहाँ कौन अपराधी नहीं ? संसार में ऐसा कोई भी नहीं जो अपराध न करता हो।

संसार में सभी सुख भी उठाते हैं, दुःख भी भोगते हैं। किंतु वे केवल सुख की ही चर्चा करते हैं। सुख का ही श्रेय लेते है। किंतु दुःख का कारण कौन है, यह सभी भूल जाते हैं। उसका उत्तरदायित्व कोई भी ग्रहण नहीं करता। अधिकार पाकर प्राणी अंधा हो जाता है, उसी से वह मर्यादा-विमुख कार्य कर बैठता है। शिष्टता की सीमा उल्लघंन कर जाता है। ठीक वैसे ही जैसे बरसात में छोटे-छोटे से झरने भर कर अपने तटों को डुबा देते हैं और स्वयं अपनी सीमाएँ खो बैठते हैं। ऐसे प्राणी की कौन रोक-थाम सकता है ? जो भी उन्हें समझाना चाहते हैं उन सभी को वे अपना शत्रु समझते हैं।

१३—मेरे राज्य में फूट बढ़ती जा रही है। हमने जो सीमाएँ अपने ही बनाये नियमों द्वारा बनाई थीं, वे सभी नष्ट-भ्रष्ट हो रही हैं। हमने श्रम की सुविधाओं के लिये समाज को विभिन्न भागों में बाँटा था, किंतु हमारा श्रम-विभाग वर्गों में परिवर्तित हो गया। आज प्रत्येक वर्ग अपने को सामाजिक इकाई का अंग नहीं मान रहा है, वरन् एक-दूसरे को अपने से भिन्न जानता है। प्रत्येक वर्ग अपने निजी बल का गर्व कर रहा है। जिन लोगों को सामाजिक कल्याण की व्यवस्था करनी थी, जिन्हें नियम बनाकर उसके अनुसार समाज को चलाना था, वे ही आन्दोलनों, उत्पातों का तूमार खड़ा करके विप्लव करना चाहते हैं।

सभी इच्छाओं, आकांक्षाओं की मदिरा पीकर मतवाले हो उठे हैं। मैं यह सब देख कर अधीर हो गई हूँ।

१४—एक दिन था जब मैं जनपद का कल्याण करनेवाली नाम से प्रसिद्ध थी। आज वही मैं अवनति का कुत्सित कारण समझी जा रही हूँ। मैंने सामाजिक कर्मानुसार

लोक-कल्याण की भावना से समाज का जो सुन्दर विभाजन किया था, वही विभाजन आज सामाजिक विषमता का कारण बन गया है। अतएव ये विभाजन अब टूट रहे हैं। समाज का कर्मानुसार-विभाजन अब समाप्त हो रहा है। और अब नित्य ही नये-नये नियम बन रहे हैं।

विभिन्न स्थानों में विभिन्न नियमों की घटा घिरती है, फिर बिखर कर ओलों के समान अनर्थों की वर्षा करती है, जिससे खेती के समान समाज की क्षति हो रही है।

इस क्रांति की ज्वाला में इतनी समिधा पड़ चुकी है, वह इतनी प्रज्वलित हो गई है कि उसे बड़ी से बड़ी आहुति की आवश्यकता है।

१५—'तो क्या मैंने जनपद के कल्याण की जो व्यवस्था निकाली थी, वह वस्तुतः अकल्याण की ही जन्मदात्री थी! क्या मैं सर्वथा भ्रम में थी? क्या हम सचमुच संहार में मारे जाने योग्य हैं, असहाय हैं, सभी प्रकार दबे हुए हैं? क्या प्राणी चुपचाप इस प्रकार शक्तिहीन होकर विनाश के मुख में चला जाय और किसी प्रकार इस विनाश का प्रतिरोध करने में असमर्थ रहे? क्या प्रकृति के साथ संघर्ष करने तथा नित्य क्रियाशील होने में कोई शक्ति नहीं, हम लोगों ने झूठ मूठ ही उसे संघर्ष और कर्म को बल समझ रखा था? क्या शक्ति के ये सारे उपकरण अस्त्र-शस्त्र-मन्त्र आदि व्यर्थ ही हैं? क्या इनसे प्रकृति की पराजय नहीं होगी? क्या यज्ञ कर्म द्वारा दैवी शक्तियों को प्रसन्न रखने की कल्पना में भी कोई सार न था? क्या यज्ञ कर्म भी निष्फल ही सिद्ध होगा?

क्या हमने भय द्वारा प्राणियों को झुका कर जो शासन व्यवस्था की थी, वह भ्रम-पूर्ण थी? क्या हमारे इस विनियमन में शांति नहीं, वरन् अशान्ति ही बसती थी?

'अभय की प्रार्थना—अभय जीवन व्यतीत करने के वैदिक उपदेश द्रष्टव्य हैं। 'प्राणमा विभे, सूक्त तथा अथर्वेद १६-१४-१. ऋ० ८६१-१३. ऋ० ६-४७-१२. या० ३६-२२.

('भय की उपासना में विलीन' की बात पहले आ चुकी है)—इड़ा सर्ग।

१६—"और इसी विफल भ्रांतिपूर्ण शासन-व्यवस्था के लिए मैंने तुम्हें मनु से वियुक्त किया। तुम्हारा सौभाग्य-सिन्दूर लुटा। तुम्हारे शुद्ध देवोचित अनुराग में बाधा उत्पन्न की। यह सब सोच कर मैं अपने को दीन हीन अवस्था में पा रही हूँ। ऐसा लगता है मेरा सर्वस्व लुट गया है, मेरे पास अपना कुछ नहीं है। स्वयं मुझे आज अपने अस्तित्व में अनुरक्ति नहीं रह गई। मुझे फिर अन्य कोई क्योंकर स्नेह की दृष्टि से देखेगा। मेरा स्वर क्षीण हो गया है, मैं शक्तिहीन हूँ। मैं जो कुछ भी सुहावनी बातें करती हूँ, मधुर गीत गाती हूँ, वह स्वयं मुझे सुनाई नहीं देता। दूसरे मेरे मधुर भावों की गुनगनाहट कैसे सुन सकते हैं? इस प्रकार मैं आत्मग्लानि में पड़ी हूँ।

देवी अपराधिनी मैं हूँ। तुम मुझे क्षमा करो मुझे अपनाओ। मेरे प्रति उदा-

सीनता का भाव न रखो। तुम्हारे ऐसा करने से मेरे निरुत्साह, मेरी शिथिलता, मेरे विषाद का नाश हो जायेगा और मैं फिर चेतना प्राप्त करके सजीवता प्राप्त कर सकूँगी।

१७—श्रद्धा ने उत्तर दिया, "चारों ओर भयंकर अंधकार छाया है, जिससे पता चलता है कि रुद्र का क्रोध अब भी शान्त नहीं हुआ है। विप्लव के बादल आज भी मँडरा रहे है।

इड़ा तू बुद्धि के बल पर ही टिकी रही, तुझमें प्रेमानुरक्ति का अभाव रहा। इससे तुमने आधिपत्य प्राप्त किया किंतु जनता का प्रेम प्राप्त न कर सकीं। तेरी लीला अपूर्ण है, अशान्तिमय है! तेरी एकांगी क्रिया-शीलता में चेतन का सुखमय अपनापन खो गया। यह चेतना कि सभी चेतन वस्तुओं में अपनत्व का सम्बन्ध है, ममत्व का नाता है, नष्ट हो गई। जिससे सुख नहीं मिल सका। सुख तो एक आत्मा के दूसरी आत्मा के प्रति संवेदनशील होने में है, किन्तु तुम में बुद्धि वृत्ति के अनुसार हृदय की उपेक्षा करते हुए कार्य करने में यह सुखानुभूति न जग सकी।

परिणामस्वरूप वास्तविक अभ्युदय का प्रकाश तुम्हें न मिल सका। ज्ञान की प्रभाओं से तुम वंचित रहीं। इसी से तुम्हारे प्रत्येक विभाजन, श्रम-विभाजन, कर्म-विभाजन आदि सभी भ्रमपूर्ण रहे। सभी लोग तुम्हारे नियमों के अधीन जीवन-पथ पर चले अवश्य, किन्तु थकावट का अनुभव करते हुए, विवशता तथा पराधीनता की यातना भोगते हुए।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्नया

(अ० ३-३०-१)

[इस श्लोक में मन और हृदय के एक होने की बात आई है और बताया गया है कि द्वेषभाव का नाश होकर परस्पर प्रीति तभी बढ़ेगी, जब मन और हृदय का मेल होगा। वहीं एक दूसरे से ऐसी प्रीति करने का उपदेश है जैसी गाय अपने सद्यःप्रसूत बछड़े के साथ करती है। श्रद्धा के उपर्युक्त संबोधन में यही बात दुहराई गई है]।

"अपनापन चेतन का सुखमय : खो गया, नहीं आलोक उदय :" को समझने के लिये "येन देवा न वि यन्ति नो च विद्विषते मिथः।

यत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानम् पुरुषेभ्यः॥ अ० ३-३०-४ मननीय है। "जिस से व्यवहार-कुशल विद्वान् वियुक्त नहीं होते और न परस्पर बैर ही करते हैं, उस एकता का बोध कराने वाले ज्ञान को तुम्हारे घर में (हृदय में) तुम पुरुषों के लिये हम उदय करते हैं"।

१८—"यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्। आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः" अथर्ववेद १-३२-३ में बताया गया है कि समुद्र की ओर जाने वाली महानदियों के समान वह समस्त संसार का मूल कारण रूप आज के समान सब कालों में

सदा भरा-पूरा रहता है, जिसमें से सदा गतिशील है द्यौलोक और भूमि, आप दोनों अपनी सत्ता या चेतना का अनन्त भण्डार प्राप्त करते हो।

जीवन एक सतत प्रवहमान सन्दुर धारा है। यह एक वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले अविरल सुख देने वाले अगाध प्रकाश के समान है। जीवन माया नहीं, मिथ्या नहीं (त्यत् नहीं) वरन् उसका वास्तविक अस्तित्व है। इस की गति निर्बाध निरंतर एवं शाश्वत है। अनादि और अनन्त है। इसमें ज्योति भरी है। यह अथाह है, कोई इस को यथार्थतः जान नहीं सकता, कोई इसकी थाह नहीं पा सकता। यह सुख देने वाली है, आनन्दमयी है।

तू तर्क प्रधान है। तू इसके मूलोद्गम के रहस्यों को अपने तर्क द्वारा सिद्ध-असिद्ध करना चाहती है। तू तर्क द्वारा इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहती है। तू अपने तर्कों द्वारा इस धारा की केवल लहरें गिनती है। धारा के अस्तित्व का यथार्थ ज्ञान कहीं लहरों के गिनने से हो सकता है ? तुम अंश-अंश करके संपूर्ण का ज्ञान प्राप्त करना चाहती हो, यह भ्रांतिमय विधि है। वस्तु को समझने के लिये उसे उसकी समग्रता में देखना चाहिए, टुकड़े-टुकड़े करके नहीं।

धारा में प्रतिबिंबित होने वाले तारों को पकड़ कर ही तू रुक जाती है, छायावान् पर दृष्टि नहीं जाती, तू केवल छाया को ही छायावान् समझ लेती है। तू प्रत्येक वस्तु को संदेह की दृष्टि से देखती है। तू प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण करने लगती है। उसके पूर्वापर होने से विचार करने में सारा दिन बिता देती है।

यह जड़ता की स्थिति है। तू भूलकर इसे ही चेतना मान बैठी है, यह तेरा अज्ञान है किन्तु तू इसे विज्ञान समझती है। धूप और छाँह दोनों के ही होने से मधुरता की सृष्टि होती है। केवल धूप असह्य स्थिति उत्पन्न करेगी, और केवल छाया भी। किंतु धूप-छाँह का सरस मेल शाश्वत सुख देता है। सुख-दुःख की भी यही स्थिति है। सुख-दुख के मेल से ही जीवन आनन्दमय है। किन्तु तुम इस जीवन-दर्शन को न समझ सकीं। तुमने सुख दुःख का समीकरण नहीं सीखा। इस प्रकार तुम जीवन यात्रा का सरल पथ भूल गईं और व्यर्थ की उलझनों में फँस गईं।

१६—चेतना वस्तुतः अखण्ड है, एक है। तुमने इस चेतना के भौतिक विभाग कर दिए। व्यक्ति-व्यक्ति का स्वार्थ पृथक् कर दिया। समष्टि की भावना का इस प्रकार लोप हुआ, जिसके कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के हित की उपेक्षा करने लगा, परिणाम-स्वरूप आपस में अप्रेम बढ़ने लगा। एक व्यक्ति दूसरे के हित के सम्बन्ध में उदासीन हो गया।

यह अनादि और अनन्त जगत् (व्यक्त प्रपंच तथा उसके स्तरों में निहित अव्यक्त) केवल "चिति" का स्वरूप है। यह संसार निरंतर परिवर्तनशील है। चिन्मयकण पञ्चमहाभूतों से परिवेष्टित होकर विभिन्न रूप धारण किया करते हैं, ये कण कभी संयुक्त

होते हैं, कभी वियुक्त। यही संसार की विरह-मिलन लीला है। प्रत्येक दशा में नर्तक कण अपनी नर्तन-लीला जारी रखते हैं। जिससे संसार की उल्लास एवं आनन्दपूर्ण गति निर्बाध चलती रहती है। संसार में केवल एक राग पूर्ण उल्लास के साथ गूँज रहा है, जिससे यह झंकार उठ रही है "जागो, जागो"।

(ब्रह्म की परमा शक्ति "चिति" है। वही जगत् की बीज है। वही प्रपञ्च का कारण बनती है। परम तत्त्व शिव है। शक्ति के स्फूर्ति रूप धारण करने पर शिव ने उसमें तेजस्-रूप से प्रवेश किया, तब बिन्दु का प्रादुर्भाव हुआ। शिव में शक्ति के प्रवेश से नारी-तत्त्व – नाद व्यक्त हुआ। इन्हीं दोनों तत्त्व ने मिलकर काम तत्त्व (अर्ध-नारी नटेश्वर रूप) की सृष्टि की। "शिवाद्वैत" तथा "शक्तिदर्शन" की ये बातें इस संबंध में मननीय हैं।)

२०—"मैं संसार की अग्नि में सर्वदा तपती रहती हूँ और प्रसन्न मन तथा प्रशांत बुद्धि से उसमें आहुति दिया करती हूँ। संसार को दुखी देखकर मैं स्वयं बेचैन हो जाती हूँ और उसके दुःख को दूर करने के लिए तप त्याग से काम लेती हूं। दूसरों का दुःख दूर करने के लिए मैं स्वयं कष्ट उठाती हूं और उसके लिए समुचित त्याग भी करती हूं। तू मुझे क्षमा प्रदान न कर सकी. उलटे मुझसे कुछ पाने की इच्छुक है। तेरा हृदय जल रहा है। मेरे पास जो विधि है (कुमार) उसे तू ले ले। मुझे अपने रास्ते जाने दे। मेरे लिए और कोई उपाय नहीं।

हे बेटे ! तुम यहीं इनके साथ रहो। मैं चाहती हूँ कि यह प्रान्त तुम्हारे लिए सुख देने वाला हो। इड़ा तुझसे परिवर्तन (विनिमय) करना चाहती है। कुछ लेना चाहती है, कुछ देना। तू इड़ा के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर राजा बन और सुन्दर कर्म द्वारा राज्यशासन सँभाल।

२१—तुम दोनों राष्ट्र-नीति देखो। राष्ट्र की अभिरक्षा, उसके कल्याण, उसके अभ्युदय के प्रयत्न में लगे। शासन प्रशासन की बागडोर सँभालो, किन्तु शासन करने में जनता को आतङ्कित न करो, उनके संकट का कारण न बनो।

मैं अपने मनु को खोजने जा रही हूँ। नदी, मरुस्थल, पहाड़, कुंज, गली सभी स्थानों पर उन्हें खोजूँगी। स्वभाव से वे भोले हैं। इतने छली नहीं कि मुझसे फिर-फिर छल करेंगे। मुझे विश्वास है कि वे कहीं न कहीं मुझे मिल ही जाएँगे। मैं उनके प्रेम से ही जी पाई हूँ, मैं उनके प्रेम में पगी हूँ। फिर मेरा प्रेम क्यों विफल होगा ? फिर मैं आकर तुम्हारी राज्य-प्रणाली देखूँगी और देखूँगी तुमने कैसी व्यवस्था चलाई है। तुम मनु के पुत्र हो। मैं शुभकामना करती हूँ कि संसार में तुम्हारी कीर्ति स्थापित हो, जनता तुम्हारा यश गान करे।

(आ तिष्ठन्तं परि विश्व अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः महत तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ)। ऋग्० ३-३८-४।

आदि मंत्रों में राष्ट्र नीति का उपदेश मिलता है। "अमृतानि" यश, नाम और प्रतिष्ठा की ओर संकेत करता है।

२२—कुमार ने कहा : माता ! इस प्रकार तू मुझसे ममता-संबंध का विच्छेद न कर। इस प्रकार मुझसे मुँह मत मोड़। मैं चाहता हूँ कि मैं तेरी आज्ञा का पालन करते हुए सर्वदा तेरे लाड़-प्यार का सहारा पाते हुए जीता रहूँ या मर जाऊँ, किन्तु मेरा प्रण किसी प्रकार न छूटे। मेरा जीवन मंगलकारी हो, वरदान बने। तुम मुझे यों छोड़ कर जा रही हो। मेरी इच्छा है कि तुम्हारी गोद मुझे फिर मिले।

"भर रहा अंक श्रद्धा का मानव उसको अपनाकर"—आनन्द सर्ग।

२३—कामायनी ने उत्तर दिया—

संबोधन करने का शब्द "सौम्य" है।

"हे सौम्य ! (अच्छे बच्चे) माना मुझसे बिछुड़ते हुए तुम्हें कष्ट हो रहा है, किंतु इड़ा का शुद्ध पवित्र स्नेह तुम्हारे इस बोझ को हल्का करेगा, तुम्हारे दुःख को दूर करेगा। इड़ा तर्क-प्रवीण है, बुद्धि-प्रधान है, तुम श्रद्धामय हो, तुम्हारी आस्तिक बुद्धि बलवती है। तुममें विश्वास की प्रधानता है। साथ ही तू मनन-शील भी है। (श्रद्धा के कारण श्रद्धामय और मनु के कारण मननशील)।

अतः तू अभय होकर कर्म कर। शासन प्रशासन कर। इड़ा को विप्लव के कारण बहुत दुःख पहुँचा है। इसके दुःख-समूह को तू अपने सुकर्म द्वारा नष्ट कर। भगवान् करे तेरे कार्यों से मानव-समाज अभ्युदय प्राप्त करे, उसका भाग्योदय हो।

पुत्र ! माता यही चाहती, यही माँगती है कि तुम प्रजा में "समरसता" का प्रचार करो। सभी को समान बनाओ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ ऋ० १०।१९१।३०

(विचार, विचार सभा, विचार साधन तथा विचार का फल समझ कर सबकी धारणा एकसी होनी चाहिए। मैंने (भगवान् ने) तुम सबको एक ही मन्त्र दिया है और तुम्हारे लिए एक भोग सामग्री दी है)।

(समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासतिः) ऋ० १०–१९१–४

[तुम्हारी संकल्प शक्तिलक्ष्य दृष्टि, एक-सी हो। तुम्हारे हृदय एक से हों, तुम्हारा मस्तिष्क एक समान हो, जिससे तुम्हारा बल (सामर्थ्य) उत्तम प्रकार का होवे]।

आदि इस संबंध में मननीय हैं।

२४—इड़ा ने उत्तर दिया, "देवि ! तुम्हारे मीठे बोल विश्वास से भरे हैं। मैं चाहती हूँ कि ये सर्वदा मुझे स्मरण रहें मैं इन्हें कभी भी न भूलूँ। इन्हीं को लक्ष्य बनाकर मैं सारे कर्म करूँ।

देवि ! परमात्मा करे कि तुम्हारा प्रगाढ़ स्नेह हम लोगों के लिए शाश्वत कल्याण का उद्गम बने। जैसे घन जल बरस कर संसार की जलन दूर करता है, उसी प्रकार तुम्हारा 'आकर्षण' (स्नेह जो हम लोगों के प्रति है) हम लोगों को सुखी करे।"

इतना कह कर इड़ा ने श्रद्धा के चरणों में झुककर चरण-रज ली और कोमल फूल के समान कुमार के हाथ को पकड़ लिया !

२५—वे तीनों ही एक क्षण तक मौन खड़े रहे। ऐसा लगता था जैसे वे सर्वथा भूल बैठे हों कि वे कौन हैं और कहाँ हैं ? आत्म-विस्मृति की इस अवस्था में यों तो देखने में इनके बीच बाहरी अंतर था, किंतु बाहरी अंतर होते हुए भी तीनों के हृदय आलिङ्गन-बद्ध थे, मिलकर एक हो गए थे। यह मिलना भी कितना मधुर था। जल की बूँदें आघात के कारण बिखर कर मिल जाती हैं, लहरों का जीवन यही बताता है।

इनमें से दो अर्थात् इड़ा और कुमार चुपचाप नगर की ओर लौटे। जब वे वहाँ से विलग हो गये, दोनों में अपनत्व की ऐसी भावना जगी के वे दो नहीं रह गए, एक हो गए।

२६—आकाश में सन्नाटा छाया था। कहीं से कोई स्पन्दन-कंपन न था। दिशाएँ भी शांत थीं। ऐसा लगता था जैसे आँखों के सामने सीमा-हीन अवकाश का मनहर सुन्दर चित्र उपस्थित हो। इस असीम के उर पर कुछ शून्य विन्दु (तारा रूप) दिखाई देते थे। ऐसा लगता था वे थकी हुई रात्रि के शरीर से श्रम के कारण निकली हुई पसीने की बूँदे हों। ये पसीने की बूँद देर से झलमल कर रही थीं, किंतु नीचे चू नहीं पड़ी थीं। पृथ्वी पर भी तमःपूर्ण अंधकारमय गंभीर छाया फैल रही थी।

नदी के किनारे का वह भाग जहाँ पृथ्वी और आकाश मिलते दिखाई पड़ते थे। केवल विषादमय अंधकार का प्रसार हो रहा था।

२७—सैकड़ों तारों से शोभित आकाश फूलों के गुच्छों से प्रफुल्ल वसंत का दृश्य उपस्थित कर रहा था। ऊपर का लोक हँसता हुआ दीख पड़ा। तारों के क्षीण प्रकाश (मंद हास) से आकाश का उर भर गया। ऊपर माया की सरिता (आकाश गङ्गा) बह रही थी। जिसमें किरणें लोल लहर का रूप धारण किए बहती हुई प्रतिभासित होती थीं। किंतु नीचे वाले भाग पर दूर न होने वाली छाया फैली थी जो क्षण भर में छाती थी और क्षण भर में हट जाती थी।

२८—नदी का निर्जन तट था। हवा के झोंके एक ओर से दूसरी ओर इस प्रकार आ जा रहे थे जैसे पवन स्वयं झूला झूल रहा हो। लहरों का समूह किनारे से टकरा-टकरा कर विलीन हो रहा था। पानी की छप्-छप् की ध्वनि रह-रह कर आती थी। जल में प्रतिबिंबित बहता प्रकाश लहरों के आलोड़न से काँपता-सा दिखाई पड़ता था। सारा

संसार अपने में खोया था, बेसुध था। वह उस खिले हुए फूल के समान था, जिसकी महक निकल गई हो।

२९—सरस्वती जिस प्रकार उच्छ्वासपूर्ण ध्वनि करती हुई बह रही थी, वैसी ही उसास लेकर श्रद्धा ने इधर-उधर देखना प्रारंभ किया। उसे चमकती हुई दो खुली आँखें दिखाई पड़ीं। वे आँखें देखने में ऐसी लगती थीं जैसे किसी शिला में दो अन-गढ़े रत्न लगा दिए गए हों। उसे 'सन्‌सन्' की ध्वनि सुनाई पड़ी। उसने सोचा, इस अंधकार में यह ध्वनि कहाँ से आ रही है। यह नदी की धारा का ही शब्द तो नहीं है? नहीं पास जो लता से ढकी गुफा है, उसमें कोई प्राणी साँस ले रहा है।

३०—नदी का वह निर्जन किनारा एक अतीव सुन्दर तथा पवित्र चित्र उपस्थित करता था। वहाँ पर खड़ा पर्वत की चोटियाँ कुछ ऊँची थीं किन्तु श्रद्धा का शिर उनसे ऊँचा था। जैसे अग्नि में तप कर गल कर स्वर्ण की प्रतिमा बनती है उसी प्रकार श्रद्धा लोक की यातनाएँ सहकर लोक के रूप में ढल कर (संवेदनशील होकर) कान्तिमती बन गई थी।

मनु सोचने लगे यह कैसी विचित्र नारी है। इसमें माता की भावनाएँ भरी हैं, यह जगत का कल्याण करने वाली है।

३१—मनु ने कहा—"तुम रमणी नहीं हो। तुम्हारा मन रमण का इच्छुक नहीं है। तुम भोग की प्यासी नहीं हो। तुम्हारा हृदय लालसाओं से भरा हुआ नहीं है। तुमने अपना सब कुछ त्याग कर प्रेम से वंचित होकर, रो-रोकर, जो वस्तु पाई थी, उसे भी उन लोगों को दे आईं, जिनसे जान छुड़ा कर मैं भागा था। क्या तुम्हारे हृदय में तनिक भी दया नहीं है। क्या तुम्हारा हृदय ऐसा करते समय लेशमात्र भी दुखी न हुआ। तुम्हारे मन की गति विचित्र है।

टि०—'मुझको खोज निकाला' ('मानव' ने यह अर्थ किया है जो शब्दों से नहीं टपकता)।

३२—"हिंसक जानवरों की भाँति सारस्वत प्रांत की जनता हत्या करने वाली है। और मेरा वीर बालक कोमल शावक (बच्चे) के समान है। मैं हृदय को शीतल करने वाली उसकी वाणी सुनता था। उसमें कितना प्यार भरा था, उस में कितनी पवित्रता थी। वह कितना निष्कपट था। किन्तु तुम्हारा हृदय कितना कठोर है। इडा तुम्हारे साथ भी छल करने में सफल हो गई। उसने छल कर के तुम से कुमार को ले लिया। और तुम फिर भी धीरज धारण किए हुए हो। किन्तु अब तो जो होना था, हो चुका। हाथ से निकल कर तीर कहाँ लौट सकता है?"

३३—श्रद्धा ने उत्तर दिया, "हे प्रिय! तुम्हारा हृदय अब भी शंका से भरा हुआ है। अब भी तुम भ्रम और भय से पीड़ित हो। कोई कुछ दे देने से दरिद्र नहीं हो जाता। मैंने कुमार के बदले में कोई वस्तु नहीं ली, उससे अदला-बदली नहीं की। वरन् कुमार

को देकर हमने सारस्वत प्रदेश को ऋणी बनाया है। यह तुम्हारी स्थायी-निधि है जब चाहोगे ब्याज सहित लौटा लोगे। तुमने अपराध किया, जिसके कारण तुम बन्धन-मुक्त हो गए। तुम अब राज्य से निर्वासित हो गए हो। जिन्हें तुम अपना समझते थे, उनसे तुम्हारा साथ छूट चुका है। फिर तुम्हें क्यों कष्ट पहुँच रहा है? स्पष्ट बात यह है कि अब तुम्हें प्रसन्न मन के आदान-प्रदान करना चाहिए।"

३४—मनु ने कहा, "देवि, तुम स्वभाव से ही अत्यंत उदार हो। तुम सबके प्रति ममता का भाव रखती हो, तुम सभी को क्षमा करना चाहती हो, तुम सभी पर दया करती हो। तुम्हारी उदारता के ये लक्षण बताते हैं कि तुम साकार मातृत्व हो। तुम में कोई विकार नहीं, तुम्हारी सृष्टि सात्विकी है। हे सब का कल्याण करने वाली! तुम महती हो। तुम सब के दुःख स्वयं सहने पर तत्पर रहती हो। सब के दुःख को अपना दुःख समझती हो। दूसरे के दुःख से त्राण दिलाने के निमित्त स्वयं कष्ट सहती हो। तुम सब से ऐसी ही बातें करती हो, जिससे उनका कल्याण हो। तुम क्षमा के घर में रहती हो, तुम क्षमामयी हो। मैंने कभी अपने विचार के छोटेपन में तुम्हें केवल नारी (भोग्य-सामग्री) समझने की भूल की थी। सचमुच यह मेरा विचार कितना भ्रमपूर्ण था, कितना नीच!

३५—मैं इस सुनसान नदी के किनारे अधीर-सा घूमता, भूख, पीड़ा, वायु के शरीर में घुसने वाले झोंकों को सहन करता, भावों की चक्की में पिसता हुआ, बराबर अपनी धारणा के अनुसार आगे ही बढ़ता गया। किन्तु जैसे मेरे मनोविकार शून्य में विलीन हो गए, उसी प्रकार आज मेरी अपनी सत्ता भी मिट गई। मेरी अहंता का नाश हो गया है। तुम मेरी क्षुद्रता पर विचार न करो। मेरा उर चीर कर देखो। उस में पश्चात्ताप का तीर चुभ गया है। मुझे अपने विगत व्यवहारों पर दुःख है। मैं उनके लिए लज्जित हूँ।"

३६—श्रद्धा बोली—"प्रियतम! यह झुकी हुई स्थिर सूनी रात बीती बात की याद दिला रही है। ['मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप' से "विकल हो प्रान" तक की वासना सर्ग की पंक्तियाँ दोहराइए]।

जब मन में प्रलय, शांति तथा कोलाहल एक साथ उद्भासित हुए थे। मैंने विशुद्ध निष्कपट भाव से तुम्हें अपने जीवन का सर्वस्व अर्पित किया था और सब प्रकार तुम्हारी हुई थी। ["आह मैं दुर्बल कहो क्या ले सकूँगी दान!]। माना मैं दुर्बल हूँ किन्तु मैं इतनी दुर्बल नहीं कि मैं अपने आत्मसमर्पण की इन मधुर घड़ियों को भूल जाऊँ। मैं चाहती हूँ कि हम दोनों ऐसे स्थान पर चल कर रहें, जहाँ शान्ति का प्रातः उदय हो। जहाँ शान्तिमय नव-जीवन का प्रारंभ हो। सत्य बात तो यह है कि मैं सर्वदा तुम्हारी ही हूँ। काल के किसी अवस्थान पर मुझे अपने को तुम से पृथक् समझने का अधिकार नहीं। (**बनेगा चिर बंध नारी-हृदय हेतु सदैव**)।

३७—"देव जाति के पिता-माता से उत्पन्न यह मानव सारी भूलों को सुधार लेगा। संसार में जो विषमता का भीषण विष फैला है, उसे मानव अपने श्रेष्ठ कर्मों द्वारा दूर करके समता का प्रचार करेगा, जिससे असंयमित जीवन का भ्रमपूर्ण सिद्धांत हट जावेगा और सभी प्राणी संयम को अपना कर, स्वतंत्र रहकर अभ्युदय प्राप्त करेंगे। 'संयम' ही मानव जीवन के अभ्युदय का मुख्य रहस्य होगा। मानव यह जानकर कि 'संयम' के अनुपालन से कल्याण की उपलब्धि होगी, ऊँचे कर्म करेगा और इससे ही संसार में समता तथा स्वतंत्रता फैलेगी। कुरीति, असत्य आदि का इस प्रकार नाश हो जावेगा। (कर्म द्वारा ही संचित संस्कारों का नाश होता है)। चलने से ही पुराना पथ मिटकर नया पथ बनता है। संयम के अपनाने से असंयम की जो बान पड़ गई है वह अपने आप धीरे-धीरे छूट जावेगी।"

३८—सामने सूना अंतरिक्ष था जिसके एक छोर से दूसरे छोर तक सुनसान फैला था, शून्य परिव्याप्त था। इस शून्य को चाहे असत् (अभाव) कहो या अंधकार समझो। बाहर से यह अंधकार कुछ कम गहरा था किन्तु भीतर से यह गहरा था। ऐसा लगता था जैसे सामने अंजन का बड़ा पर्वत खड़ा हो। यह धुंधला चिकना वातावरण एक दृश्य की भूमिका (पृष्ठभूमि) बन गया। मनु टकटकी लगाकर देख रहे थे। वह अंधकार इतना व्याप्त, इतना निस्सीम था कि उसके दूसरी ओर दिखाई नहीं देता था।

३९—सहसा अंधकार के पर्दे की गाँठें खुल गईं। वह अंधकार का पर्दा हट गया। असत् का तिरोभाव हो गया और उसके स्थान पर सत्ता का स्पन्दन होने लगा। कोई वस्तु डोलती-फिरती दिखाई पड़ी। 'जैसे समुद्रमंथन से अमृत का प्रादुर्भाव हुआ उसी प्रकार उस अंधकार से ज्योति की नदी फूट चली। उसमें शोभित था ज्योतिपुरुष, जो चेतन का मंगलमय रूप है। जो उज्ज्वल जीवन की प्रतीक है और जिसका शरीर चाँदी के समान गोरा है।

(इस संबंध में नासदीय सूक्त पर मनन लाभप्रद होगा। "सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषी)

[सगुण ब्रह्म (शिव) के अवतरण तथा 'शिवतत्व' की प्राप्ति का सुन्दर चित्रण सामने है]।

सामने प्रकाश ही नाच रहा था, क्रीड़ा कर रहा था और सामने ठंढी ज्योति की की धारा बह रही थी !

४०—उस आलोक पुरुष का सारा शरीर (जो बहुत बड़ा था) ज्योतिर्मय लगता था। जैसे उसका सर्वाङ्ग ज्योति-विनिर्मित हो। अंधकार उसकी अलकों के रूप में परिणत हो गया था। शून्य को चीर कर प्रकट होनेवाली उस चेतन सत्ता के भीतर, से एक प्रकार का 'निनाद' फूट रहा था। स्वयं नटराज (शिव) नाच में लगे थे

जिससे अंतरिक्ष हँस रहा था, प्रकाश पूर्ण था तथा उसमें भी ध्वनि के मुखर गुञ्जन सुनाई पड़ रहे थे।

स्वर एक लय में बंध कर ताल दे रहे थे। जिससे दिशा और काल अस्तित्व-हीन हो रहे थे।

४१—प्रभापुञ्ज अपनी चिति शक्ति से सम्पन्न परम प्रसन्न थे अपनी नृत्यमयी लीला से आह्लाद आनन्द का स्पंदन उत्पन्न कर रहे थे। उनका ताण्डव सुन्दर तथा आनंद-पूर्ण था। उनके नृत्य-श्रम से थके शरीर से उज्जवल पसीने की बूँदें झर रही थीं। इन्हीं बूदों से तारा, चाँद, सूर्य की सृष्टि हो रही थी। उनकी उड़ती हुई पगधूलि के कणों से पहाड़ों का निर्माण हो रहा था। इस प्रकार प्रलय और सर्जन के दोनों चरण चल रहे थे। एक ओर विनाश होता था दूसरी ओर सृष्टि। अनाहत नाद भी साथ-साथ सुनाई पड़ रहा था।

४२—अगणित गोल-गोल ब्रह्माण्ड बिखरे दिखाई दिए। त्याग, भोग दोनों का समन्वय हो रहा था। जिस ओर शिव की बिजली के समान तीव्र दृष्टि पड़ जाती थी उधर ही सृष्टि काँप उठती थी। अनन्त चेतन कण बिखर कर एक आकार ग्रहण करते, फिर क्षण भर में ही विलीन हो जाते थे।

सारा संसार एक बहुत बड़े झूले में झूल रहा था और उसमें परिवर्तन पर परिवर्तन हो रहा था।

४३—शक्ति-संयुक्त उस सगुण शिव का प्रकाश पाप-शाप का विनाश करके नृत्य में तल्लीन था। उस छवि के समुद्र में प्रकृति गल कर घुल-मिल गई थी और फिर उसने एक दूसरा ही सुन्दर रूप धारण किया था।

इसके कारण ताण्डव का भीषण नृत्य कमनीय बन गया था। शिव के साथ प्रकृति का हिमधवल हास ऐसा लगता था जैसे हीरे के पहाड़ पर बिजली खेल रही हो।

४४—मनु ने जब नटराज को इस प्रकार नाचते हुए देखा, तब वे बेसुध तन्मयता में यों पुकार उठे—

"श्रद्धे, यह क्या है? मुझे सहारा देते हुए उन चरणों तक ले चलो, जहाँ पहुँचने पर सभी पाप-पुण्य जल-जल कर निर्मल तथा पावन बन जाते हैं, ज्ञान के मात्र चिन्ह भी असत्य की भाँति मिट जाते हैं, केवल समरस अखंड आनन्द का स्वरूप ही सामने रहता है।

संक्षिप्त नारद पुराण (पृष्ठ ५६६) में तांडव का वर्णन है।

रहस्य

१४—रहस्य

पूर्व सर्ग में "देखा मनु ने नर्तित नटेश" की बात आई है। "चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम्" तथा "तथाहि नृत्याभिनय क्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकस्" (कुमार संभव ५–७९) आदि की ओर इङ्गित करते हुए इसकी व्याख्या करते हुए बताया जा चुका है कि "समस्त अखंड आनन्द वेश" में मनु को "नृत्यनिरत नटराज" के दर्शन हुए। नारद पुराण में बताया गया है कि पाशबन्धन का विच्छेद दीक्षा से होता है।

'बन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।' तुलसी, बालकाण्ड–मंगलाचरण ॥

गुरु के स्वरूप में स्थित होकर भगवान् शिव सब पर अनुग्रह करते हैं। मनु के हृदय में सत्ता खोकर दीनता का भाव जग गया। उनका हृदय अनुशय से पीड़ित हो उठा। श्रद्धा की बातें इस अवस्था में मंत्र रूपिणी बन गईं। उन्हें बोध होगया कि "शिवत्व" क्या है। विद्या के प्रसाद से उन्हें "शिवतत्त्व" के साकार दर्शन हुए इससे मनु के मन में शिव के प्रति अनुराग जग गया और वह शिव के साक्षात् दर्शन को लालायित हो उठे। उन्होंने श्रद्धा से कहा, "मुझे शीघ्र उन चरणों में ले चलो"।

श्रद्धा मनु को हिमगिरि पर 'शिव तत्त्व' की उपलब्धि के लिए ले चली। रहस्य सर्ग में "शिवतत्त्व" की उपलब्धि का ही वर्णन है या यों कहिए कि इस सर्ग में शिव तत्त्व के परम रहस्य का उद्घाटन किया गया है।

हिमालय-पर्वत पर "तपोवन" में जाकर मनु ने शिवत्व किस प्रकार प्राप्त किया, इसी का विशद वर्णन इस सर्ग में है। "आश्रम" के विवेक की दृष्टि से यह वानप्रस्थ-आश्रम का वर्णन है। वानप्रस्थ में अपनी अग्नि तथा स्त्री ले जाने की विधि है, इसलिये श्रद्धा का साथ होना संगत है।

१—(१) ऊर्ध्व—ऊपर की ओर। "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख" से "उत्क्रमणे भवन्ति" कठोपनिषद् ०-३-१ से १६ मननीय। पिण्डगत शरीर में यही 'मूर्धा' है। बाह्य जगत् में यही कैलास है।

(२) नील-तमस्—गगन का बोधक है। घोर अंधकार। गगन-विचुंबी चोटियों की ओर संकेत है।

(३) तुलनात्मक दृष्टि से 'कुमार सम्भव' प्रथम सर्ग में हिमालय वर्णन द्रष्टव्य।

(४) लीन—विश्राम करना, छिप जाना, खोजाना, श्लेष है पथिक विश्राम करता है, पथ खोजता है।

"काले अंधकार से घिरे उस ऊँचे प्रदेश में हिमराशि जड़वत् अपने स्थान पर इस प्रकार स्थिर पड़ी थी कि हिलने-डोलने का नाम तक नहीं लेती थी। ऊपर बढ़ने का मार्ग सिमटते-सिमटते खो गया था। लगता था, वह भी पथिक की भाँति थक कर किसी कोने में विश्राम कर रहा था। शिर ऊँचा किए हुए पर्वत अपने चारों ओर देख रहा था, मानों उसे यह गर्व था कि कोई उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, वह सबसे ऊँचा है, सभी उससे नीचे हैं!"

[भारतीय संस्कृति में प्रत्येक नदी, भूधर आदि में 'चेतन' अधिष्ठाता की कल्पना की गई है—'देख रहा था' में मानवीकरण के तत्व हैं]।

[पथ का भी मानवीकरण हो गया है]

२—दोनों पथिकों (मनु और श्रद्धा) ने बहुत पहले यात्रा प्रारम्भ की थी। प्रतिदिन उत्तरोत्तर ऊँचे चढ़ते चले जा रहे थे। श्रद्धा पथ प्रदर्शिका बनी आगे चल रही थी, मनु उसके पीछे जा रहे थे, उसका अनुसरण कर रहे थे। श्रद्धा साक्षात् 'साहस' मूर्ति थी, किसी प्रकार की विघ्न-बाधा से वह घबराती नहीं थी, मनु भी उत्साह की मूर्ति बने श्रद्धा का अनुसरण कर रहे थे। श्रद्धा के साहस से उन्हें भी उत्साह हो रहा था।

["उत्साही-साहस" अर्थात् उत्साहपूर्ण साहस लिए दोनों ऊपर चढ़ रहे थे। शब्दों से केवल इसी अर्थ का प्रवहन होता है। उपर्युक्त अर्थ-व्यञ्जना ध्वनित होती है इसलिये उपर्युक्त अर्थ किया गया है]।

३ - ऊपर से वायु के झोंके नीचे को ढकेल रहे थे। प्रतिकूल वायु के झोंके मानो मनु से कह रहे थे कि ऐ बटोही! ऊपर मत बढ़, नीचे लौट जा। तू मुझे चीरकर आगे बढ़ने का व्यर्थ प्रयास मत कर। यदि तू मेरे प्रतिरोध का उल्लंघन करने का साहस करेगा तो तुझे प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। क्या तुझे अपने प्राणों का तनिक भी मोह नहीं है?

४—पहाड़ उत्तरोत्तर ऊँचा ही होता जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था मानों पहाड़ की ऊँचाई आकाश छूने के लिए ही हठ कर बैठी हो। इस प्रयास में ऊँचाई के अङ्ग क्षत-विक्षत हो गए थे जिसके सुस्पष्ट चिह्न डरावने खड्ड और भय उत्पन्न करने वाली खाई के रूप में वर्तमान थे।

५—सूर्य की किरणें हिम के टुकड़ों पर पड़ कर उनमें ज्योति भर रही थीं, ऐसा लगता था जैसे अनेक चन्द्रमा चमक रहे हों। पवन बड़ी तीव्रता से गोलाकार पथ पार करके फिर अपने स्थान पर पहुँच आता था।

चन्द्रमा सूर्य की किरणों से ही प्रकाशित होता है।

६—गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्र संपातहेतोः क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः। अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं खद्योतालीं विलसितनिभां विद्यु-दुन्मेषदृष्टिम्॥ (मेघ० उत्तर २१)

(२) (कुमार संभव १–५) "आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य। उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः"

"हिमालय की कुछ चोटियाँ इतनी ऊँची हैं कि मेघ भी उनके बीच तक ही पहुँच कर रह जाते हैं उनके ऊपर का भाग मेघों के ऊपर निकला रहता है।"

(३ आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं। वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ (मेघ० पूर्व २)

नीचे जल भरे बादल हवा में तीव्रता से चक्कर काट रहे थे। उन पर सूर्य की किरणें पड़कर उन्हें इन्द्रधनुष से इस प्रकार विमण्डित कर रही थीं, लगता था जैसे बादलों ने इन्द्रधनुष की माला पहन ली हो। जैसे हाथी के छोटे बच्चे कंठ प्रदेश में आभूषण पहन कर इठलाते हुए भले लगते हैं उसी प्रकार बिजली की छटाओं से विभूषित नव जलधर के टुकड़े पवन की लहरों में क्रीडा करते हुए भले लग रहे थे।

७—उसके नीचे वाले प्रदेश में सैकड़ों शीतल झरने बह रहे थे। ऐसा लगता था जैसे बहुत बड़े ऐरावत के गण्ड प्रदेश से मधु की धाराएँ फूट रही हों।

(१) हिमालय हिम के कारण श्वेत है।

(२) गजराज ऐरावत श्वेत है। "श्वेत" शब्द की आवश्यकता न थी।

(३) "समुद्रमंथन" नामी काव्य में ऐरावत का वर्णन द्रष्टव्य "त्वरित चूलिका से होती थी **मदकल-मद** की धारा"

(४) नानामलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः
रमण विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम्—श्रीमद्भागवत ४–६–११
(वहाँ निर्मल जल के अनेक झरने बहते हैं और बहुत सी गहरी कन्दराएँ हैं। आदि)

८—पर्वत शिखर के नीचे के समतल जिनकी हरियाली उभरी हुई थी, देखने में चित्रपटी के सदृश लगते थे और उनसे होकर तीव्र गति से बहने वाली बड़ी नदियाँ ऐसी लगती थीं जैसे वे चित्रों की बाहरी स्थिर रेखाएँ हों।

(१) ऊँचाई से बहाव की तेजी दिखाई नहीं पड़ती थी वरन् धारा स्थिर दिखाई देती थी।

(२) प्रतिकृति—चित्र।

हिमालय का उपर्युक्त वर्णन **प्रकृति-चित्रण** की दृष्टि से अतीव सुन्दर बन पड़ा है। कालिदास ने कुमार-संभव के प्रथम सर्ग में हिमालय का वर्णन प्रस्तुत किया है। कुमार-संभव में आठवें सर्ग में भी पहाड़ का वर्णन है। हमारे कवि का वर्णन उससे संक्षिप्त है। यहाँ केवल चढ़ाई-ऊँचाई का वर्णन है। हिमालय के वातावरण का वर्णन आनन्द सर्ग में दिया है। उत्सुक पाठक वृन्द हमारे कवि के वर्णन को कालिदास के वर्णन के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखें। साथ ही श्रीमद्भागवत में कैलास-वर्णन तथा शिशुपाल-

वध में 'पर्वतक' का वर्णन पढ़ें। हमारे कवि के वर्णन में "उक्ति वैचित्र्य" की अच्छी भाँकी है। प्रकृति का मानवीकरण उपर्युक्त पंक्तियों में बड़ी चातुरी से किया गया है। यह कहना कि कवि ने कालिदास का अनुकरण किया है सर्वथा भ्रान्ति-मूलक है। हमारे कवि का कोई वर्णन ऐसा नहीं जिसमें मौलिकता की छाप न हो। कालिदास की एकाध पंक्तियाँ व्याख्या करते हुए उद्धृत की गई हैं। "कुंजर कलभ सरिस इठलाते "चमकाते चपला के गहने" "हिमकर कितने नये बनाता" "सुरधनु माला पहने" में उक्ति-वैचित्र्य के साथ कितनी मनोज्ञता और सरसता है, इसका आस्वाद भावुक ही कर सकते हैं। प्रसाद की काव्य-रचना का प्रधान अङ्ग नारी-सौन्दर्य है। जगत् की सारी स्त्रियाँ देवी-स्वरूपिणी हैं, यही आर्य मान्यता है। प्रकृति देवी का व्यक्त रूप है। अतएव प्रसाद का प्रकृति-प्रेमी होना स्वाभाविक है। "प्रकृति वर्णन" के विभिन्न अंगों की ओर यथास्थान व्याख्या करते हुए संकेत किया गया है। विद्वानों का कहना है कि विश्व-साहित्य में शेक्सपियर अन्तर्जगत् का सर्वश्रेष्ठ कवि है और कालिदास बाह्य जगत् का। हमारे कवि में दोनों विशेषताएँ व्यापकता से वर्तमान हैं। प्रसाद के प्रकृति-वर्णन में कालिदास के प्रकृति-वर्णन की 'सजीवता, रमणीयता, भव्यता एवं स्वाभाविकता बहुत अंशों में विद्यमान है।

६—इन पंक्तियों में अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत् के वर्णन का अनुपम सामञ्जस्य है। मनु ने पर्वत-शिखर की ऊँचाई से देखा कि नीचे पृथ्वीतल की सभी वस्तुएँ छोटी दिखाई पड़ रही हैं और ऊपर गोलाकार महाशून्य (आकाश) छाया हुआ है।

धीरे-धीरे चढ़ाई उसी भाँति समाप्त होने को आई, जैसे सबेरा होने पर रात्रि समाप्त हो जाती है।

(१) शब्दों की व्यञ्जना से यह भी ध्वनि आती है कि जब मनुष्य स्वार्थमय परि-स्थितियों से ऊपर उठता है, जब उसकी प्रवृत्तियाँ ऊर्ध्वगामिनी हो जाती हैं। तब उसे संसार के सभी पदार्थ क्षुद्र प्रतीत होने हैं। और जैसे रात्रि की कालिमा मिटकर प्रातः प्रकाश के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तियाँ ऐसे स्थान पर पहुँचती हैं, जहाँ से आगे कोई राह नहीं रह जाती। इस दशा में उसके मोह-अज्ञान का नाश हो जाता है और वह ज्ञान का प्रकाश पा जाता है।

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" (छान्दोग्य० ७-२४-१) में बताया है कि अल्प में सुख नहीं है। इसी 'अल्पता' का परिज्ञान 'लघुतम' में व्यञ्जित है।

[कूपमंडूकत्व में पड़ा हुआ प्राणी विशाल बाह्य जगत् में घबरा उठता है। अपनी ही 'अहं भावना' के संकुचित वातावरण में चक्कर काटने वाले मनु के लिए यह दृश्य कितना आश्चर्यमय रहा होगा तथा उससे प्रेरित चेतना कितनी भयावह होगी, इसका वर्णना करना संभव नहीं !]

१०—"श्रद्धे ! बस तू ले चल उन चरणों तक" का प्रस्ताव करने वाला मनु हिमालय की ऊँचाई-चढ़ाई से उकता गया। उसने श्रद्धा से कहा—

"श्रद्धे ! तुम मुझे कहाँ ले जाना चाहती हो ? अब मुझसे चला नहीं जाता, बढ़ा नहीं जाता। मैं बहुत थक गया हूँ। साहस ने मेरा साथ छोड़ दिया है। मैं सर्वथा निस्सहाय हूँ। मेरी सभी आशाएँ टूट चुकी हैं।"

११—आओ हम पुनः नीचे की ओर लौट चलें। इस घूमती हुई विकराल आँधी से लड़ना संभव नहीं है। मैं बहुत दुर्बल हूँ। इस ठण्डी हवा में मेरा दम घुट रहा है। साँस रुक रही है। मैं इस वातावरण में जीवित नहीं रह सकता।

१२—मैं जिनसे रुष्ट होकर इधर आया, वे सब मेरे थे। बहुत दूर नीचे छूट गये हैं, किन्तु मैं उन्हें भूला नहीं हूँ, मुझे उनकी रह-रह कर याद आ रही है—

(१) समुद्रमंथन में "दो पंछी थे नील गगन में" द्रष्टव्य : "आओ घर की ओर पुन: हम मन की बागें मोड़ें" की स्थिति है।

(२) योग मार्ग में "विक्षेप सहभू" नाम की बाधाओं का वर्णन तथा "कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्" में पर्यङ्क विद्या मननीय है।

१३—(१) श्रद्धा सर्ग में बताया गया है कि श्रद्धा अपने आप में सदा अविचल होती है—यह इसका निजी स्वभाव है; क्योंकि श्रद्धा सत्य में प्रतिष्ठित है—

(२) "पतिव्रताभिः सर्वत्र पावितस्थानमुत्तमम्। यति सेवनशीलाभिः विमुखाभिः कुधर्मत:" शिवपुराण में त्रिपुर नगरों के धर्म और चरित्र का वर्णन करते हुए उपर्युक्त श्लोक अङ्कित हैं। पतिव्रता का आभूषण उसकी पतिसेवा है।

(३) श्रद्धा के "जड़ चेतन की है गांठ वही
सुलझन है भूल सुधारों की,
वह शीतलता है शान्तिमयी
जीवन के उष्ण विचारों की।"

रूप पर फिर मनन कीजिए।

(४) श्रद्धा प्रेम-त्याग और तितिक्षा की प्रतिमूर्ति है। मनु के दुर्व्यवहारों को ध्यान में न लाकर वह सतत मनु का कल्याण करती आई और आज जब शक्ति-साहस-हीन मनु पुण्य मार्ग पर आगे बढ़ने में अपने को असमर्थ पा रहा है, वह सहारा देकर उसे आगे ले जाने को तत्पर है।

(५) निश्छल—स्वाभाविक, सरल। यदि निश्चल होता तो दृढ़ता या स्थिरता का बोध कराता यह 'श्रद्धा' का स्वाभाविक गुण भी है।

(६) श्रद्धा की 'स्मिति' का उल्लेख अन्यत्र भी आया है। यह उसका स्वभावसिद्ध गुण है।

"मनु की बात सुनकर श्रद्धा के मुख पर स्वाभाविक मंद हँसी की रेखाएँ झलकने

लगीं, जिससे उसके हृदय के दृढ़ विश्वास का आभास प्रकट हो रहा था। अपने साथी के उलटे पाँव लौटने के प्रस्ताव पर उसे हँसी आई, क्योंकि उसे विश्वास था कि वह उसे सहारा देकर ऊपर ले जाने में अपने को समर्थ समझती थी। उसे विश्वास था अपनी मानसिक शक्ति पर। उसके कोमल हाथ मनु की बातें सुनकर उसकी सहायता करने के लिए ललक उठे।

१४—श्रद्धा अपने विकल साथी मनु को सहारा देते हुए मीठे स्वर में यों बोली, "हम लोग घर से बहुत दूर आगे निकल आये हैं। अब लौटने की बात ठिठोली के ही सदृश लगती है। यह अवसर आगे बढ़कर लक्ष्य सिद्ध करने का है, न कि ठिठोली करने का।

१५–१६ (१) **निराधार है:—"निरालम्ब योग** वह है जिसमें समस्त नाम-रूप-कर्म को अत्यन्त दूर से छोड़ कर, समस्त कामनादि अन्तःकरण की वृत्तियों के साक्षी रूप से, उसके (अन्तःकरण की किसी भी वृत्ति) के आलम्बन से शून्य रहकर भावना की जाय। यही भावनाहीन स्थिति में स्थित होना निरालम्ब योग है।

बातों-बातों में हमारा कवि किन-किन दार्शनिक भूमिकाओं को सरलता से तिर जाता है, इसका अनुभव करके उसकी विलक्षण कला की भूरि-भरि प्रशंसा करनी पड़ती है। "दिशा विकम्पित" आदि में "वैन्दव जगत्" का वर्णन है। वैष्णवों का भगवद्धाम यही है। यहाँ केवल शुद्ध सत्व कार्य करता है! यहाँ सभी कुछ अनंत है। यहाँ मायिक देह का संसर्ग नहीं, केवल भाव-देह शुद्ध भाव-देह, की ही लीला होती है।

तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति (श्रीमद्भागवत १०-१४-२२),

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपिकष्टः (श्वेता० ६–५)

" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं" (६–१४) आदि मननीय

"हम लोग अब उस स्थान पर हैं जहाँ दिशाएँ काँपती-सी दिखायी दे रही है। यह स्थिर नहीं किया जा सकता कि कौन दिशा किधर है। पल भी अब किसी सीमा में बँधे नहीं हैं। यह निश्चय करना कि कौन बेला है, संभव नहीं है। ऊपर कुछ सीमा-हीन सा दिखाई दे रहा है। तुम स्वयं बताओ कि क्या तुम्हें अनुभव हो रहा है कि तुम्हारे पैरों के नीचे पहाड़ है, या अब हम पहाड़ से भी ऊँचे पहुँच चुके हैं? बाह्य जगत् की सीमाएँ परिसमाप्त हो चुकी हैं। **अब हम अन्तर्जगत् में हैं।**

यह ऐसा स्थान है जहाँ आश्रय पाना संभव नहीं। कहीं कोई आधार नहीं दिखाई दे रहा है, फिर भी आज हमें इसी स्थान पर विश्राम करना है। अब 'नियति' का खेल देखने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं हैं। हमें अब अपने को 'नियति' पर छोड़ देना चाहिए और इसी स्थान पर ठहर जाना चाहिए।

(१) नियति: नारद पुराण (संक्षिप्त) पृष्ठ ३४३ ।

(२) "सचमुच भूधर है"—हिम के कारण पैर भी तो संज्ञाहीन थे ।

(३) मानव ने अपनी टीका में 'अन्तर्जगत्' की स्थिति नहीं समझी । अन्तर्जगत् ऊँचे लोकों का ही नाम है ।

१७—नीचे की ओर देखने से जो मन में भय से सिहरन उत्पन्न होती है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह तुम्हें ऊपर बढ़ने का सङ्केत कर रही है । पवन के प्रतिकूल होने का भय क्या ? इसकी प्रतिकूल गति से मन की उमंग, हृदय वा उत्साह, इष्ट प्राप्ति की धुन बढ़ेगी । इस प्रकार हम इस प्रतिकूल पवन के धक्के सहने में समर्थ होंगे ।

१८—जैसे पक्षी पाँखों के शिथिल होने पर आँखे मूँद कर विश्राम कर लेता है, उसी भाँति हम दोनों आँख बंद कर के यहाँ टिक रहें । शून्याकाश और पवन ही हमारी पाँखें बन कर हमें सहारा दें ।

१९—मनु के मन में विभिन्न विचार चक्कर काट ही रहे थे कि श्रद्धा ने मनु से कहा, कोई घबड़ाने की बात नहीं । आँखें खोलो, देखो हम लोग कहाँ पहुँच गए हैं । देखो अब हम समतल भूमि पर स्थित हैं । मनु ने आँख खोल कर देखा, उन्हें लगा जैसे उनके कष्ट कुछ अंश तक समाप्त हो गये । उन्हें सचमुच कुछ अंश तक यातनाओं से मुक्ति मिल गई ।

इन पंक्तियों में श्रद्धा के चमत्कार का उल्लेख है । वर्णन का ढंग नाटकीय एवं मनोरम है । श्रद्धा बातों-बातों में मनु को आँखें बन्द करने और खोलने को कहती है । आँख खोलते ही मनु की आँखें खुल गईं । उसने अपने को एक नई एवं विचित्र स्थिति में पाया । आँखों के बन्द करने और खोलने में "न त्वं मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्' (गीता ११-६) की स्थिति है । प्राकृतनेत्र भगवान् का रूप देखने में निःसंदेह समर्थ नहीं है, इसके लिए दिव्य-दृष्टि चाहिये । श्रद्धा ने मनु को इस प्रकार दिव्य दृष्टि प्रदान की, यही ध्वनि उपर्युक्त पंक्तियों में छिपी है । यह गुरु का प्रभाव है "सुमिरत दिव्य-दृष्टि हिय होती" । [अतएव नारी पुरुष की उसी प्रकार गुरु है जिस प्रकार पुरुष अपने को नारी का गुरु कहता आया है । यही हमारे कवि की स्थापना है] । स्त्री 'ऋचा' रूपिणी है जो "स्वस्त्ययनीः" है, उत्तम अवस्था प्राप्त कराने वाली है । ऋचाओं से आनन्द प्राप्त होता है—"पावमानीः स्वस्त्ययनीस्तामर्गच्छति नान्दनम् । पुण्यांश्च भक्षान् भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति" । आदि (सामवेद) मननीय ।

२०-२१—यही 'रहस्य' की भूमिका है । (१) "जहाँ न राति न दिवस है, जहाँ पौन न पानि । तेहि बन सुअटा चलि बसा, कौन मिलावै आनि" ।

(२) "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (कठो० २-२-१५) में अलौकिक सर्वोपरि आनन्द रूप भगवद्रूप का वर्णन है ।

(३) सचेतनता— "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामानाम्" (कठो० २-२-१३)।

(४) "यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासाञ्छिव एव केवलः" श्वेताश्वतरोपनिषद् ४-१८।" जिस समय अज्ञान रूप अन्धकार का सर्वथा अभाव हो जाता है उस समय न दिन है, न रात्रि है और न सत् है न असत् है. केवल एक मात्र विशुद्ध शिव' ही है। वह सर्वथा अविनाशी है, वह सूर्याभिमानी देवता का भी उपास्य है तथा उसी से अनादि काल से चला आया ज्ञान फैला।

(५) "वेदान्ते परमं गुह्यम्" "श्वेतावतरो० (५-२२) से जिस रहस्यमय ज्ञान को उपनिषदों में वर्णित किया गया है, उसी का वर्णन इन पक्तियों में है।

(६) "घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" (श्वेता ४-१६)मननीय।

मनु ने वहाँ, उस स्थिति अथवा अवस्था में, एक नई गर्मी, नई स्फूर्ति का अनुभव किया। संध्या का समय था दिन रात मिल रहे थे। जिससे ग्रह, तारा, नक्षत्र डूबे हुए थे। इनमें से कोई भी दिखाई नहीं दे रहे थे। कोई भी चल नहीं रहे थे। सभी स्थिर थे। अर्थात् वहाँ दिवा-रात्रि के ज्ञान कराने वाले सभी साधन विलीन थे।

ऋतुओं के विभाजन (क्रम) मिट चुके थे। उनका तिरोभाव हो गया था। पृथ्वी का गोला दिखाई नहीं देता था। शून्य में स्थित उस महादेश में एक नवीन चेतना का संचार हो रहा था।

२२—[पिण्डगत जीवात्मा की पाँच अवस्थाओं का वर्णन उपनिषदों में मिलता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय। "ब्रह्मलोक का आनन्दरूप ब्रह्मात्मा, भूलोक का अन्नमय भूतात्मा, जीवात्मा की केवल येही दो अवस्थाएँ नहीं हैं। इन दो अन्तिम अवस्थाओं के बीच प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय, अवस्थाएँ हैं (तैत्तिरीय० २ ३)। इन पिण्डगत अवस्थाओं के अनुरूप ब्रह्माण्ड में भी वैसे ही लोक हैं। जीव जिस प्रकार पिण्डगत सूक्ष्म अवस्थाओं में से होकर ऊपर जाता है, उसी प्रकार वह सूक्ष्म लोकों से भी होकर ऊपर जाता है। श्रद्धा ने मनु को इन्हीं तीनों लोकों का दर्शन कराया]।

मनु को तीन दिशाओं में तीन सूक्ष्म लोक दिखाई पड़े, जो परस्पर अलग थे। ये तीनों प्रकाशविन्दु रूपी लोक त्रिभुवन के प्रतिनिधि रूप थे। वह परस्पर अलग होते हुए अपने-अपने स्थान पर सजग थे क्रियाशील थे।

२३—मनु ने पूछा, "श्रद्धे! ये कौन से नए ग्रह हैं? मैं पृथ्वीतल से उठकर किस लोक में पहुँच गया? मुझे तो ये सभी दृश्य मायावी ऐन्द्रजालिक दिखाई पड़ रहे हैं। मैं घबरा रहा हूँ। श्रद्धे, मेरी रक्षा करो!

२४—श्रद्धा ने उत्तर दिया, 'मनु, तुम इस महाशक्ति एवं सामर्थ्य-सम्पन्न प्रकाश-

विन्दुओं के मध्य में स्थित हो। इन तीनों विन्दुओं को शान्त चित्त होकर देखो, ये तीनों बिन्दु इच्छा, क्रिया और ज्ञान लोक हैं।

[इच्छा, ज्ञान और क्रिया जीव की सहज प्रवृत्तियाँ हैं। इच्छा से कर्म, कर्म से वासना, वासना से उनके फल पुनर्जन्म, आयु और भोग होते हैं। वासनाएँ, हेतु (अविद्या); फल (पुनर्जन्म, आयु और भोग); आश्रम (चित्त ; आलम्बन (विषय) द्वारा संगृहीत होती हैं। (पातञ्जल योग-दर्शन)]।

२५—[सर्व प्रथम कवि "इच्छा लोक" का वर्णन करता है। "त्रैगुण्यम्" (सांख्य तत्त्व समास) के अनुसार गुण तीन हैं—सत्त्व, रजस् और तमस्। सत्त्व का रंग श्वेत, रजस् का लाल, तथा तमस् का काला माना जाता है। हमारे कवि की मान्यता के अनुसार 'इच्छा' रागारुण अर्थात् लाल है। "त्रिविधो बन्धः" का कारण मन ही है।]

"पहले अनुराग के रंग के समान लाल, ऊषा के गेंदे के समान (उगते सूर्य के समान) उस सुन्दर लोक को देखो। इसका मनोहर शरीर छाया (कांति, सुन्दरता) का ही बना है। इसमें स्थूलता नहीं है, सूक्ष्मता है। इस मन्दिर में केवल भावमयी सूक्ष्म मूर्ति प्रतिष्ठित है।"

[छायामय : "न बिनाभावैर्लिङ्गं न बिना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः" के अनुसार भाव और लिंग में अन्योऽन्याश्रित सम्बन्ध है। संस्कार से ही भाव की सृष्टि है, जो कर्मों की छाया मात्र हैं]।

२६—(१) "शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध" पाँच तन्मात्राओं की सृष्टि का वर्णन विष्णु पुराण अध्याय २ प्रथम अंश में द्रष्टव्य। तामस अहंकार के विकृत होने से इनकी सृष्टि हुई है। हमारे कवि ने रस के पश्चात् रूप को रखने में क्रमभंग कर दिया है। ऐसा उसे पंक्ति को काव्यमय रूप देने के लिए करना पड़ा। इन पंच तन्मात्राओं को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ तैजस अथवा राजस अहंकार से उत्पन्न हुईं।

(२) 'नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षः"

(३) सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः (श्री मद्भागवत १०–१४–५७)

(४) "भाव पेते चाय रूपेर माझारे अङ्ग रूप पेते चाय भावेर माझारे छाड़ा"

(५) तितिलियां—I have watched you how a full half hour self-prised upon that yellow flower little butterfly ! (Wordsworth).

इस लोक में शब्द, स्पर्श, रूप, गंध की सुन्दर स्वच्छ आकृतियाँ, जिनके आर-पार देखा जा सकता है, रूपवती रंगीन तितलियों की भाँति नाचा करती हैं।

"शब्दस्पर्शरूपरसगंधानां गुणानां स्थानं स्त्री" के अनुसार "स्त्री" का भावात्मक रूप ही सामने है। (विशेष बोध के लिये नारी अङ्क (कल्याण १२८)।

२७—(१) 'इस' यदि 'रस' होता।

जैसे वसंत ऋतु के उपस्थित होने पर वन खिल जाता है और फूलों की लाल-लाल

उड़ती धूलि की छाया में तितलियाँ सोती, जगती तथा इठलाती हैं, उसी प्रकार भाव-लोक के यौवन वसन्त में ये रंगीन पारदर्शिनी पुतलियाँ भी अपने विकसित भावों की रागात्मिका माया की छाया में विराम करती दिखाई पड़ती हैं।

२८—जब इन पुतलियों के संगीतमय स्वर में थिरकन उत्पन्न होती है, उनका स्वरोदय होता है, तब उसके प्रकंपन से एक लहर-सी उत्पन्न होती है, जो अपने आकाश को रस-सिक्त कर देती है।

[इन पंक्तियों में "शब्द" का वर्णन है।]

(१) स्वर स्पन्दन रूप शब्द, से लहर उत्पन्न होती ही है।

(२) संगीतात्मक ध्वनि—सङ्गीत के स्वरों का आधार "मध्यमा वाक्" है।

(संक्षिप्त नारदपुराण में "शिक्षानिरूपण द्रष्टव्य"

२६—ये पुतलियां एक-दूसरे को अंक भरना चाहती हैं। छूना चाहती हैं इसी स्वाभाविक मधुर रुचि से प्रेरित होकर एक पुतली दूसरी पुतली को छूने पर एक सिहरन-सी अनुभव होती है। जिस प्रकार नई छुईमुई खुलती है, किंतु छूते ही सिकुड़ जाती है, लजा जाती है, इसी प्रकार स्पर्श की नई प्रेरणा सिहरन उत्पन्न करके लज्जा में परिवर्तित हो जाती है और संकोच छा जाता है।

(इन पंक्तियों में 'स्पर्श' की भावात्मक रूपरेखा खींची गई है)

(१) नारी का नाम "स्त्री" लाज के ही कारण बड़ा। "स्त्रियः स्त्यायते पत्रपण-कर्मणः" (निरुक्त ३-२१-२).

(२) "स्त्रिया अशास्यमनः" (ऋ० ८-१३-१७) मननीय। नारी की मानसिक उड़ान का लोहा वैदिक ऋषि भी मानते हैं।

३०—यह जीवन की मध्य-भूमि है। **यौवनावस्था** है। इस भूमि में रस की धारा बहा करती है जैसे नदी में लहरें उठती रहती हैं, उसी प्रकार इस रस धारा में लालसा की लोल लहरियाँ उठा करती हैं।

(इन पंक्तियों में 'रस' का वर्णन है। "रसावस्थः परं भावः स्थापितां प्रतिपद्यते" जो भाव रस-व्यवस्था को प्राप्त होते हैं, वे ही स्थायी भाव हैं।)

नोट—मध्य-भूमि की संगति "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्त-निधनान्येव तत्र का परिदेवना," (गीता २-२८) से भी बैठती है।

३१—रस की इस नदी के किनारे बिजली के कणों के समान मन को आकर्षित करने वाले रूप अपनी छाया के समान सुन्दरता में खोए हुए मस्त बिचरा करता है। (इन पंक्तियों में 'रूप' का वर्णन है। रूप = प्रेमी के भाव की छाया है। "जीव के भाव-राज्य में अवतरित होकर तत्त्व राज्य में विराजमान भगवान् अपने नित्य परिपूर्ण जीवन-यौवन को वैचित्र्यमय भाव-विलास के आकार में आस्वादन करते हैं .... तत्त्व के राज्य में विशुद्ध प्रकाश का खेल है। भाव के राज्य में प्रकाश और छाया का

खेल है। प्रकाश आवरण एक दूसरे को आलिङ्गन करके भाव राज्य के शोभा सम्पत् तथा सौन्दर्य-माधुर्य को विचित्र आकार प्रदान करता है·········रूपातीत का आत्म-स्वादन भाव-राज्य में रूप धारण करता है।"

× इस सम्बन्ध में कल्याण २६–६ पृ० १०६५ पर अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय-कृत "रूप-रहस्य" निबन्ध द्रष्टव्य है।

३२—"फूलों से भरी भूमि के छिद्रों से भीनी-भीनी मीठी सुगन्ध निकलती रहती है। इस गंध से वाष्प के समान फुहारे छूटा करते हैं, जिससे इसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म रस की बूँदें झरा करती हैं।"

(इन पंक्तियों में गंध का वर्णन है। पञ्च तत्त्वों के गुणों का वर्णन कुसुमाकर की छाया में किया गया है। यही है वसन्त का "आध्यात्मिक-रूप" देखिए कल्याण वर्ष २५—अंक १२ पृष्ठ १४८०)

३३—पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन। प्रकृतेर्विभुत्वयोगाद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्" (सांख्य शास्त्र कारिका ४२) में इन्हीं "चलचित्रों" की व्याख्या है।

माया—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" माया द्वारा परमेश्वर अनेक रूपों में दृष्ट होते हैं।

• "माया पाश" का वर्णन नारद पुराण संक्षिप्त ३४२ द्रष्टव्य।

"विद्या के स्वामी भगवान् शिव जीव के कर्मों को देखकर अपनी शक्तियों से माया को क्षोभ में डालते और जीवों को भोग के लिए माया के द्वारा ही **शरीर एवं इन्द्रियों को सृष्टि करते हैं**। इस प्रकरण में शक्तियों को कारण एव माया को उपादान माना गया है। वह नित्य, एक और कल्याणमयी है। उसका न आदि है, न अन्त। वह माया अपनी शक्ति द्वारा मनुष्यों और लोकों की उत्पत्ति का सामान्य कारण है। माया अपने कर्मों द्वारा स्वभावतः मोहजनक होती है। उससे **भिन्न परामाया है** जो सूक्ष्म एवं व्यापक है।" इस प्रसंग में परामाया का वर्णन नहीं वरन् माया-पाश की माया का है, क्योंकि ऊपर "ज्ञानेन्द्रियों" की सृष्टि का क्रम बताया गया है। **माया का आवरण सृष्टि भी है।**

(२) **चलचित्रों की संस्टति छाया**—जैसे चलचित्र जगत् में 'पट' पर रूप आते जाते हैं उसी प्रकार यहाँ भी "अदर्शनादपतिताः पुनरदर्शनं गताः" के अनुसार सभी कुछ अदर्शन से दर्शन और दर्शन से अदर्शन अवस्थाओं को प्राप्त होता है। "छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा" भी मननीय।

(३) **घूम रही** आवागमन अथवा पुनर्जन्म का द्योतन कर रहा है। छान्दोग्योप-निषद् (५-१०-६), गीता ४ ५; तथा २, २७ आदि मननीय।

(४) **घेरे**—श्वेताश्वतरोपनिषद् में "तमेकनेमि' त्रिवृतं षोडशशांत" आदि में

अव्याकृत प्रकृति को ही "नेमि" कहा गया है। क्योंकि वही इस जगत् का मूल अथवा आधार है।

"नेमि" उस गोल घेरे को कहते हैं जो चक्र के अरों और नाभि आदि सब अवयवों को वेष्टित किए रहती है।

"आवागमनमय सांसारिक जीवन का सूक्ष्म दृश्य इस लोक में चलते-फिरते चित्रों की भाँति आया-जाया करता है। इस प्रकाश विन्दु को घेरे हुये माया बैठी हुई मंद-मंद हँसती रहती है।

[हसंती—हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह। श्रीमद्भागवत १०-२२-(६-१०)]

३४—(१) "काममय एवायं पुरुष इति समथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्य कुरुते तदभिसंपद्यते" (बृहदारयकोपनिषद्) 'अकामस्य क्रिया' मनु० २-४ बिना इच्छा के कर्म नहीं होता।

(२) मानव के हृदय में वासना रूप से भाव सदा उपस्थित रहते हैं। "रसावस्थाः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते" जो भाव इस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं वही स्थायी भाव हैं। मन स्थायी भाव रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य, निर्वेद हैं। शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शांत यही इनके अनुरूप क्रमशः नव रस हैं।

(३) वासनाएँ चित्त के आश्रय से संगृहीत होती हैं। (कैवल्यपाद० ८-६-१०)।

(४) चक्रवाल—नेमि का ही दूसरा नाम है।

"यह आलोक विन्दु माया के चक्रवाल से घिर कर एक चक्र (पहिया) बन गया है। यह पहिया 'भावमय' है। इसे "भाव-चक्र" कहते हैं। इस पहिए की रथ-नाभि "इच्छा" है। इस नाभि से नव रस की धाराएँ निकली हैं जो (कँपती हुई) आश्चर्यपूर्ण ढंग से चक्रवाल से प्रेमपूर्वक मिलती हैं।

३५—(१) मनोमय—मनोमय कोष का दूसरा नाम लिङ्ग देह या वासना देह है। इसे मानस शरीर भी कहते हैं। जब तक मोह भङ्ग नहीं होता, माया का तिरोधान नहीं
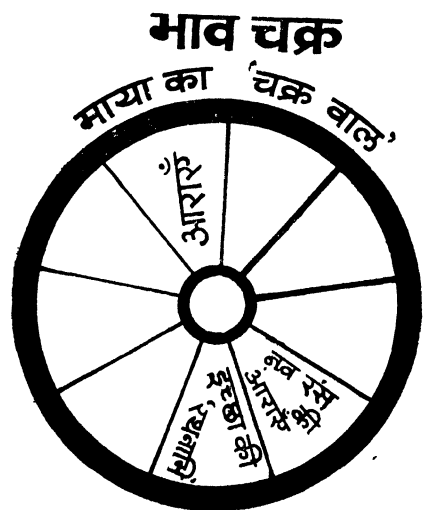
होता, तब तक लिङ्ग शरीर का नाश नहीं होता। "इसी लिङ्ग शरीर के शीर्षस्थानीय मन-बुद्धि-अहंकार के छाया-लोक के आसन पर बैठी है निर्गुण निर्विकार की चञ्चल छाया-मूर्ति। पातञ्जल योग २-२०।

"भोगमात्रं साम्यमंलिङ्गम्" मननीय। तैत्तिरीयोपनिषद् में "मनोमय" को ही "आत्मा" कहा है जो प्राणमय पुरुष से भिन्न है।

(२) राग—माया से काल तथा नियति की सृष्टि होती है। नित्या माया 'कला' को जन्म देती है। कला दृढ़ वज्र लेप के सदृश राग को उत्पन्न करती है। जिससे उस वज्र-लेप-रागयुक्त पुरुष में भोग्य वस्तु के लिए क्रिया की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसी लिए इसका नाम "राग" है, "सुखानुशयी रागः" सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाले क्लेश को 'राग' कहते हैं (याता यो ० २–७) राग का रंग लाल माना जाता है। "राग" राजस है। "रागा कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः"। गीता (१८–२७)

(३)—अंतः करण मन, अहंकार तथा बुद्धि से बनता है। यह केवल मन का वर्णन है। "संकल्प करना मन का कर्म है। ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ मन के अधीन विषयों में प्रवृत्त होती हैं" सांख्य कारिका २७। मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है। (मनुस्मृति)

(४)—जीव के भोग के लिये ही शरीर एवं इन्द्रियों की सृष्टि होती है। शैव दर्शन में जीवों को 'पशु' कहा गया है। जब तक स्वरूप के अज्ञान को सूचित करने वाले मोहादि से सम्बन्ध बना रहता है, तबतक जीवों को पशु की संज्ञा दी जाती है।

(५)—माया द्वारा द्रष्टा-दृश्य-संयोग, या जड़-चेतन ग्रन्थि की सृष्टि होती है जिससे चेतन में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही आसक्त जीव रागरुण चेतन है।

(६)—मायाराज्य! "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति: यत्तु दृष्टि पथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्" मननीय।

मायेय पाश का वर्णन ऊपर आया है।

(७)—जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ का ही नाम पशु है। पशु उसे कहते है जो पाशों द्वारा बँधा हो। जीव भी पाशों द्वारा बँधा है इसी से उसे पशु कहते हैं। "आत्मनो विभु-नित्यता" के अनुसार आत्मा नित्य है, व्यापक है। किंतु जीव दशा में यह परिच्छिन्न है, सीमित है। यहाँ "मायेय मल" का वर्णन है।

(८)—योग वाशिष्ठ में मनोमय रथ पर बैठकर विषयों की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों का उल्लेख है।

"इस माया से घिरे लोक में मन की प्रधानता है। संकल्प और इच्छा वाला मन काम-भोग-वासना में लगा है। यहाँ बद्ध जीव की उपासना चलती है। बद्ध जीव चेतन होते हुए भी अपना रूप भूल बैठा है आसक्तियों के कारण। इस लोक में माया का

राज्य है जो दृश्य तथा भोग की सृष्टि करके जीव को बंधन में जकड़े हुए है। इसी कारण वह "बँध्यो कीर मर्कट की नाईं" नाँचा करता है।

३६—(१) अशरीरी-रूप—"सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः। महदादि तच्च कार्यं प्रकृति सरूपं विरूपं च"। सूक्ष्मता से उसका अप्रत्यक्ष है, अभाव से नहीं, क्योंकि कार्य से उसका ज्ञान होता है। वह कार्य महतादि है जो प्रकृति के समान रूप भी है, विरूप भी। अतएव जो शरीरी है, प्रत्यक्ष है, वह 'रूप' है, यह धारणा ठीक नहीं। 'सूक्ष्म' का भी रूप है, किन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता। "नील अरुण रश्मियाँ अतिद्रुत गति से तरङ्गित होती हैं। अति क्षिप्र, अति तीव्र होती हैं। इनकी अपेक्षा अधिक द्रुत-तरङ्गित रश्मि तथा उसके द्वारा प्रकाशित पदार्थ हमें दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका नाम ultra-violet है। रक्त रश्मियाँ अति मृदु तरंगित होती हैं, दीर्घ तरंगित होती हैं, कोमल प्रवाह होती हैं। मृदु तरतरङ्ग की रश्मि तथा उसके द्वारा प्रकाशित पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका नाम है Infra Red जो अति वृहत् है, विशाल है। उनको हम पूर्णतया देख नहीं पाते।" "छाया रूपी चल चित्रों" की बात ऊपर आई है।

"मनोमय विश्व के ये रूप स्थूल नहीं सूक्ष्म हैं। ये फूल-से कोमल हैं इनकी रचना वर्ण और गंध से हुई है। सुन्दर अप्सरियों की भाँति ये हिंडोले झूलते (आन्दोलित) प्रतीत होते हैं और उनसे मधुर ध्वनि निकलती है।

(२) "रूपरहस्य" समझने के लिये कल्याण २९–६ पठनीय।"

३७—(१) "सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः" (श्रीमद्भा० १०-१४-४७) रूप मात्र की पृष्ठ-भूमि में भाव शक्ति है। "न विना भावैर्लिङ्गं" की बात ऊपर आ चुकी है।

(२) मन ही मनुष्यों के बंधन और मोक्ष का कारण है। संकल्प करना मन का धर्म है। संकल्प से काम तथा काम से कर्म का संबंध है। पाप पुण्य अशुभ तथा शुभ कर्मों का ही नाम है। (सांख्य कारिका २७—मनुस्मृति; "चञ्चल हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्" आदि गीता अध्याय ६ मननीय)। "मन सदा ही सत्य को आच्छन्न करके नाना प्रकार की विकृत भावनाओं—धारणाओं के तथा संस्कारों के पर्दे बनाया करता है। यही प्रधान व्यवधान है।"

(३) **स्वभाव**—"ततस्तद्विपाकानुगुणा" (योग ४-८) : स्वभाव की सृष्टि संस्कारों से होती है।

(४) मधुर-ताप—"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते"; तथा "विषयेन्द्रिय"—गीता १८-३८ मननीय। "इच्छा लोक की यही भाव-भूमिका पापपुण्य की जननी है। इच्छा लोक की इसी भोग-प्रवृति से शुभ अशुभ कर्म होते हैं, जिन्हें पुण्य-पाप कहा जाता है। जिस प्रकार आँच तपा कर धातु से मूर्ति बनती है, उसी प्रकार 'मधुर-

ताप"—राजस् सुख—की ज्वाला में गलकर भाव **स्वभाव** की प्रतिभा में ढलता है।
"परिणामताप संस्कार" योग : (२-१५)। ताप दुःख से संस्कार दुःख की सृष्टि होती है।

३८-३६—(१) नियम—नियमों की श्रृंखला उलझनों से भरी होती है। मानव मन में उलझन उत्पन्न करती है। **नियम** स्वाभाविक गति को रोकते हैं।

(२) **आशा:** "आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्" (श्रीमद्भा० ११-६-४४)

(३) आकाश बँवर पेड़ों को सुखा देती है। स्वयं फूलती नहीं।

(४) (अ) आचार्य अक्षयकुमार वन्धोपाध्याय ने कल्याण १५-१२ में वसन्तोत्सव के आध्यात्मिक रूप का वर्णन किया है और बताया है "कि विश्ववैचित्र्य की सृष्टि में भगवान् के अक्षय यौवन का परिचय मिलता है। एकत्व में से बहुत्व का विस्तार करना जैसे सृष्टि कार्य है, वैसे ही बहुत्व का एकत्व में विलीन करना संहार कार्य है। ये दोनों ही कार्य अनादि और अनन्त हैं। बहुत्व को ऐक्य के सूत्र में संग्रथित करके संपूर्ण जगत् के एकत्व को अक्षुण्ण बनाये रखना स्थिति है।" संसार द्वंद्वों की लीला है। "इस द्वन्द्वमय जगत् में द्वंद्व की तीव्रता और व्यापकता से क्रमोत्कर्ष की साधना का विधान होता है।"

"भाव के राज्य में प्रकाश और छाया का खेल है। सभी प्रकाश और छाया के आलिङ्गन और संघर्ष के भीतर एक भावतीत आनन्द ही दोलायित होता है। यह भाव का राज्य तत्व और बहिः प्रकृति के बीच में अवस्थित है। प्रकाश आवरण एक दूसरे को आलिङ्गन करके भावराज्य के शोभा सम्पत् तथा सौन्दर्य माधुर्य को विचित्र आकार प्रदान करता है। कितने वर्णों में, कितने गन्ध में, कितने गगन में, कितने छन्द में रूपातीत का आत्मस्वादन भावराज्य में रूप धारण करता है।"

(ब) "पल्लवित पुष्पित नवल नित संसार विटप नमामहे"—मननीय !

(५) अमृत हलाहल—विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेमृतोपमम्
परिणामे **विषमिव** तत्सुखं राजसम् स्मृतम्"

जैसे लताओं की उलझन में वृक्ष के घिरने से वन के लिये एक समस्या उपस्थित हो जाती है, उसी प्रकार नियमों की उलझन के भाव को परिवेष्टित करने से जीवन के लिए एक समस्या खड़ी हो जाती है। (अपूर्ण को पूर्णता किस प्रकार प्रदान की जावे यही समस्या का रूप है) और जैसे वन में नभ-कुसुमों का खिलना असंभव है उसी प्रकार जीवन में आशा का विकसित होना भी। इस इच्छा लोक में द्वंद्वों की लीला चलती है। एक ओर चिर वसंत रहता है दूसरी ओर पतझड़ होता है। यहाँ सुख दुःख अमृत और हलाहल एक में बँधे, गुंथे-से लगते हैं !

४०—मनु ने कहा, 'यह इच्छा लोक जिसका तुमने मुझे परिचय दिया है, बड़ा सुन्दर है। किन्तु इस श्याम देश का क्या नाम है, उसकी क्या विशेषताएँ हैं। कामायनी मैं अब इस दूसरे लोक को परिचित होना चाहता हूँ और जानना चाहता हूँ कि इसमें क्या विशेष रहस्य छिपा है।"

४१—इच्छा लोक का वर्णन करते हुये "तन्मात्राओं" का परिचय दिया गया है। "तन्मात्राण्य विशेषाणीअविशेषास्ततो हि ते। न शान्तानापि घोरास्ते न मूढाश्चा-विशेषण" : तन्मात्राओं में विशेष भाव नहीं इसलिये उनकी अविशेष संज्ञा है। वे अविशेष तन्मात्राएँ शान्त घोर अथवा मूढ़ नहीं हैं। अर्थात् उनका सुख दुख या मोह रूप से अनुभव नहीं हो सकता। आकाशादि पञ्च महाभूत विशेष हैं (विष्णु पुराण १–२–४६–५)।

(१) "क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्यवेदनीयः के अनुसार क्लेशमूलक कर्म संस्कारों का समुदाय वर्तमान और भविष्य में होने वाले दोनों प्रकार के ही जन्मों में भोगा जानेवाला है। कर्मों के संस्कारों की जड़ में पञ्चपर्वा अविद्या (राग, द्वेष, अस्मिता, अभिनिवेश तथा अविद्या) कार्य करती हैं। अविद्यादि क्लेश ही कर्माशय का निर्माण करते हैं। जब इनसे रहित निष्काम कर्म होते हैं तो कर्माशय का नाश होता है (गीता ४।२३)

(२) कर्म का मूल ही 'अविद्यादि' हैं। अतएव कर्म लोक "श्यामल" है। अंधकार पूर्ण है ! "असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः" ("ईशावास्य" मननीय) अविद्या की उपासना करने वाले ("अन्धं तमः प्रविशन्ति") अन्धकार में प्रवेश करते हैं (ईशा०=६)।

(३) 'धूम्रधार' यज्ञों की ओर संकेत करता है। "अवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञ रूपा अष्टा दशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो यऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति" (मुण्डकोपनिषद् १–७) के अनुसार यज्ञ रूपी नौकाएँ अदृढ़ हैं। "सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:" (गीता १८–४८) "क्योंकि धूएँ की अग्नि के सदृश सब ही कर्म किसी न किसी दोष से आवृत हैं"।

श्रद्धा ने उत्तर दिया 'मनु यह श्यामवर्ण वाला लोक 'कर्म-लोक' के नाम से जाना जाता है। यह लोक कुछ-कुछ अंधकार से भरा है देखने में यह धुँधला-सा लगता है। यह देश धुएँ की धार के समान प्रकाशहीन है और यह अंधकार धीरे-धीरे गहरा होता जा रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है, यह रहस्य किसी को भी अभी तक ज्ञात नहीं है।

(शब्दों से "अविज्ञात" देश का विश्लेषण है। किंतु ध्वनि से उपर्युक्त अर्थ का प्रवहन होता है)।

नोट—इस संबंध में गीता अध्याय १८ मननीय।

४२— १) "सुखमापतितं सेव्यं दुखमापतितं तथा। चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि"।

(२) कर्म-विज्ञान पर मनन करने वाले बताते हैं कि वासनाएँ अनादि हैं। पुण्य कर्म, पापकर्म तथा पाप-पुण्य मिश्र कर्म के संस्कार अन्तःकरण में संगृहीत रहते हैं।

प्रारब्ध, क्रियमाण तथा संस्कार के भेद से कर्म तीन प्रकार के हैं। वासनाओं से जब तक निवृत्ति नहीं होती, तब तक पुनर्जन्म, आयु, भोग की शृंखला चलती है। हमारा कवि इसी पृष्ठभूमि में कर्मलोक का परिचय दे रहा है। नियति कर्म तथा उसके फल भोग का नियमन करती है। क्रियमाण से सञ्चित तथा सञ्चित से प्रारब्ध की सृष्टि 'नियति' गति है। जन सामान्य इसी को 'भाग्य' कहता है।

(३) "अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्रपञ्चमम् (गीता १८–१३) 'आधार, कर्त्ता, करण, चेष्टा तथा दैव' को समझने के लिए मननीय।

(४) "चक्र" (ब्रह्मचक्रः श्वेताश्वतरो० ६–१)।

"यह गोलक, नियति प्रेरणा बन, कर्म-चक्र-सा घूम रहा है। सब के पीछे कोई नई व्याकुल एषणा लगी हुई है"—

कर्म लोक को नियति प्रेरित करती है। कर्म घूमते हुए पहिये के समान है। जैसे नियति प्रेरणा से कर्म-चक्र घूमता है, उसी प्रकार वासना (कर्म की इच्छा) तथा भोग प्राप्ति की कामना से प्रत्येक प्राणी प्रेरित होता है। यही 'एषणा' उसे कर्म करने में लगाती तथा विकल रखती है।

४३—(१) इन पंक्तियों में "क्लेश मूलः कर्माशयो" की विवृति है। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"; "सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" जबतक कर्माशय रूपी बीज नाश नहीं होता तब तक उसके फलस्वरूप जीव को शरीर धारण करने पड़ते हैं।

(२) "यह महान दृश्य है,
चल रहा मनुष्य है।

अश्रु-स्वेद-विन्दु से लथ् पथ् लथ् पथ् लथपथ्"—बच्चन

कर्म चक्र एक महान मन्त्र है, जो कोलाहल मचाता, भ्रम कराता, दुःख पहुँचाता अशान्त बनाता चलता रहता है। प्राणी इस कर्मचक्र की गति को बनाए रखने के लिए चिल्लाता, शोर मचाता, दुःख झेलता, विकलता का अनुभव करता, कार्य करता ही रहता है। इसलोक में क्षण भर भी विश्राम नहीं मिलता। जब तक वासनाएँ है तबतक कर्म-बंध अनिवार्य है। प्राण कर्म के बंधन में बँधा हुआ है। क्रिया तंत्र (कर्म तथा उस से सबंद्ध वासनाएँ) मनुष्य को फल भोगानुसार कर्म कराता ही रहता है। प्राणी इस दिशा में स्वतन्त्र नहीं है। स्वभाव-प्रेरित कार्य करने ही पड़ते हैं।

४४—प्राणी अपने भाव (विचार) के अनुसार जिन भोगों को सुखदायक समझ कर उनमें प्रवृत्त होता है, वे सभी काल्पनिक-सुखमय-भोग परिणाम-स्वरूप दुःखदायक बनते जा रहे हैं। मन के सभी संकल्प कर्मलोक (अहंकार जगत् ने) विपर्यय को प्राप्त

होते हैं। ये क्षुद्र प्राणी जिनका अस्तित्व अणु के समान लघु है, अपने अस्तित्व के अभिमान में अकड़े हुए घूमा करते हैं। उन्हें अस्तित्व बल पौरुष बुद्धि धन का बड़ा गर्व होता है। वे अपना मस्तक ऊँचा किए हुए हिंसा द्वारा विजय प्राप्त करके, विजय की माला पहने हुए अपने को सर्वशक्त समझकर फूले नहीं समाते। किंतु वे भूलते हैं कि हिंसा द्वारा प्राप्त की हुई विजय सचमुच उनकी हार है। परपीड़न, शोषण, अनाचार, अत्याचार से वैभव प्राप्त करके प्राणी अपने को सुखी अनुभव करता है, किंतु वस्तुतः यह उसके दुःख का कारण है।

(१) अकड़े अणु : { में "अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" से मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष, मैं कर्ता हूँ ऐसे मान लेता है। मननीय !

(२) "पापाय पर-पीड़नम्"

४५—(१) दण्डः मनुस्मृति ७: १४ से २५।

(२) राष्ट्र—"ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु"; ब्रह्मचर्येण तपसा (अथर्व १६-४१-१)

राजा राष्ट्रं विरक्षति (अथर्वेद ११-३-५); "पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एक राष्ट्र" आदि मननीय। "सर्वे भवन्तु सुखिनः" ही राष्ट्र की कल्पना का आदर्श है। अधर्ममूलक राष्ट्र में प्रवृति पर बल और निवृत्ति का निरोध होता है।

(३) "यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्त न लिप्यते" (गीता १८-१७) "मैं कर्ता हूँ" यही अहं भावना है।

'ये प्राणी अपने पाञ्चभौतिक शरीर द्वारा कोई न कोई कार्य करके किसी प्रकार इस कर्म लोक में जीवित रहना चाहते हैं। भाव जगत् में जिन नियमों द्वारा लोक कल्याण तथा अनुरंजन की कल्पना की जाती है, वे ही नियम कर्मलोक में 'दण्ड' का रूप धारण करते हैं। जिससे सभी प्राणी नियम परिचालित न रह कर विवश प्रपीड़न का अनुभव करते हुए दुखी रहते हैं और व्यथा भार से कराते हैं।

४६—(१) कशाघातः "अधिकारों के कशाघात से ही पीड़ित मानवता" कोड़े लगाना (मदालसा)।

(२) संतोषः 'संतोषादनुत्तमसुखलाभः'। "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति" भोग से तृष्णा शांत नहीं होती।

"प्राणी कर्म करते हैं, किन्तु उन्हें संतोष नहीं है। ऐसा लगता है जैसे कोई उनको कोड़े मार कर कर्म में प्रवृत्ति किए हुए है, कार्य ले रहा है। वे निरंतर बिना एक पल विश्राम किए हुए डर से विवश होकर कँपते हुये कार्य करते रहते हैं। (कर्मजगत् की यह विचित्र लीला है")

(३) "जीवन जगत का अभिनय सरीखा
है विश्व कौतुकमय रंगशाला
करणीय निज कृति प्रति कौतुकीको
हँस के करे या रो के करे वह"—मदालसा

४७—(१) जिस प्रकार इच्छालोक में "रागारुण चेतन उपासना होती है, उसी प्रकार कर्मलोक में 'पाञ्चभौतिक शरीर' की उपासना चलती है। इस कर्म चक्र को "नियति" (नियमन करने वाली शक्ति) चलाती है। 'नियति' **तृष्णाजनित-ममत्व-वासना** का ही दूसरा नाम है। लाभ की प्रबल इच्छा, विषय सुख की प्यास ने, अहं भाव (अभिमान) रूपी 'मैं–मेरा' की सृष्टि की है। प्रत्येक प्राणी विषय सुख के लिए आसक्तियों के बन्धन में पड़कर अपनाने, अपना बनाने में लगा रहता है। हाथ-पैर वाले, पाञ्च भौतिक-शरीर-धारी पुतलों की यहाँ पूजा होती है। प्राणी देह में आत्म-बुद्धि रख कर शारीरिक सुखों के एकत्र करने में लगा है। कामोपभोग में लीन है।

(१)—क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता प्रियाप्रिये ये भवतः सुरागिणः
धर्मेतरा तत्र पुन: शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भव."
इस संबंध में मननीय।

(२)—महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्चेन्द्रियगोचरा:
इच्छाद्वेष: सुखं दु:खं संघातश्चेतना धृति:
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्—गीता (१३–५–६) मननीय।

४८—(१) **अंधकार**: अविद्या, अज्ञान का द्योतक है।

(२)—त्याग, अनासक्ति, परार्थ की भावना न होने पर स्वत्वों तथा मनोवाञ्छाओं में संघर्ष अनिवार्य है।

(३)—बुद्धि का स्थिर न होना, विकल होना ही मतवालापन है।

यहाँ सतत एक दूसरे के स्वत्व आपस में टकराया करते हैं। एक प्राणी दूसरे से आगे निकल जाने की भावना से प्रेरित होकर कार्य निरत होता है। एक प्राणी दूसरे से द्वेष करता है। किंतु इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। प्राणी की कामनाएँ, इच्छाएँ सफलता प्राप्त करने के बदले विफल होती हैं। सभी संघर्ष में लीन कर्म निरत केवल शोर मचाते हैं। ऐसा लगता है ये सभी अज्ञान पीड़ित हैं। सभी अंधकार में दौड़ रहे हैं, किसी को पता नहीं कि कहाँ जानता है केवल स्वार्थ की मदान्धता में वे सभी कार्य कर रहे हैं। जैसे अंधकार में दौड़ने वाले एक दूसरे से टकराते हैं, शोर मचाते हैं किंतु लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते, ठीक वही दशा इन प्राणियों की है।

टि०—(पूर्व सर्गों में जिन बातों का स्थूल चित्र दिया गया है उन्हीं का भावात्मक चित्रण रहस्य सर्ग में है।

४९—(१) "स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थतत्त्व इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से योगी पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त करता है" (विभूतिपाद ४४) "स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजय: स्थूल: ।" जिस रूप में हम इनको अपनी इन्द्रियो द्वारा अनुभव करते हैं। इसे ही गीता में इन्द्रियगोचर कहा है। गीता १३-५ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। इनके जो लक्षण है वही स्वरूपावस्था है मूर्ति, गीलापन, उष्णता-प्रकाश; गति-कंपन, अवकाश। सूक्ष्म गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द। पाँचों भूतों में जो तीनों गुणों का स्वभाव है, वही अन्वय अवस्था है। इनका प्रयोजन "भोग" ही अर्थवत्त्व अवस्था है।

सभी लोग सूक्ष्मता को त्याग कर स्थूलता में ढलते जा रहे हैं। चेतन जड़ बनता जा रहा है। यह परिवर्तन (रूपावविर्मय) कर्मों का ही भयंकर परिणाम है। आकांक्षा (विषयानुरक्ति) बड़ी उत्कंट प्यास है, जो तृप्त नहीं होती। ममता (स्वार्थ तथा अहंकार की भावना) वैयक्तिक भावना की गति बड़ी कठोर है। विषयानुरक्ति विषय-वासना, कुछ होने, कुछ पाने की इच्छा मनुष्य को स्वार्थ से इतना अंधा बना देती है कि वह अपने सभी सात्विक भाव (दया, क्षमा- करुणा) आदि खो बैठता है। (उपर्युक्त प्रकरण में पञ्चदेवी अविद्या का रूप वर्णित है : अस्मिता, अभिनिवेश, राग, द्वेष, अविद्या का शब्द-चित्र है।

५०—राजा विजय के मद से चूर्ण अपनी जय घोषणा शासनादेश की घोषणा के रूप में कहते हैं। राजा अपनी शासन-व्यवस्था केवल अपनी "अहं" भावना पर आधारित करता है। वह चाहता है कि उसके आदेश माने जावें और इस प्रकार लोक उसे विजयी समझे, लोक पर उसकी स्वत्ता स्थापित हो। भूखों, दलितों के कल्याण की कोई व्यवस्था नहीं। जिसके कारण भूख से पीड़ित, युगों से वैभव के पैरों से रौंदे व्यक्ति बार-बार वैभव संपन्न के पैरों में शीश नमाकर कुछ पाने के इच्छुक रहते हैं। भूख की ज्वाला शांत करने के लिए भूखों को अपना स्वाभिमान खोकर पैसे वालों को भगवान् मानना पड़ता है।

५१—यहाँ कर्म का दायित्व प्राणी पर है। प्रत्येक प्राणी अपने कर्म, अकर्म तथा विकर्म के लिए उत्तरदायी है। इसी विश्वास एवं कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित होकर प्राणी यहाँ कर्म करता है; किंतु उन्नति की धुन में वह पागल होकर कर्म-निरत होता है, जिस से स्वयं जलता है और दूसरों को भी] जलाता है। परिणाम-स्वरूप चारों ओर कष्ट ही कष्ट दिखाई देता है। चारों ओर समाज इस प्रकार पीड़ित दिखाई पड़ रहा है। जैसे छाले के फूट कर वह जाने से, घाव के खुल जाने से, व्यक्ति पीड़ित होता है।

५२—यहाँ अधिक से अधिक मात्रा में समाहृत (एकत्रित किया हुआ) विभव संचिति मरीचिका की भाँति भ्रमपूर्ण मायाजाल-सी लगती है। प्राणी परिश्रम करके वैभव की सामग्री एकत्र करता है, किंतु वह उसे कुछ ही क्षण भोग कर कालकवलित

हो जाता है और उसकी सभी सुख-सामग्री यहीं धरी रह जाती हैं। फिर भी उनके बाद की पीढ़ी फिर उसी गोरख-धन्धे में लग जाती है। (वे, ये का इशारा विभव तथा भाग्यवान् की ओर होने से अर्थ होगा कि विभव नष्ट हो जाते है और ये पुनः उनको प्राप्त करने में संलग्न हो जाते हैं।

५३—यहाँ प्राणी के मन में 'सुयश' कमाने, नाम करने, ख्याति पाने की प्रबल इच्छा होती है। और इस इच्छा की तृप्ति के लिए प्राणी अपराध करना भी अङ्गीकार करता है। यद्यपि प्रारम्भ कर्म की प्रेरणा से ही प्रेरित उनके सभी कार्य होते हैं, फिर भी वह अपने को उन सभी कार्यों का कर्ता मानता है। अहंकार की भावना ही उसे यह सोचने पर विवश करती है कि "मैं ने यह किया"। इस प्रकार प्राणी कर्म में अपने को स्वतन्त्र मानता है किन्तु है वह "गर्व-रथ में घोड़े के समान जुता हुआ"।

(ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।—कैवल्य पाद—४ पर मनन कीजिये)।

५४—शरीर के जीवन का आधार "प्राण" है। (क्रिया-भेद से उसके प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान पाँच नाम हैं)।

"अष्टप्रकृति, षोडश विकार तथा पुरुष" (सांख्य) पर मनन करने वालों से छिपा नहीं कि चेतन पुरुष के संयोग से ही जीव-जीवन की उपलब्धि होती है। इस प्राण-तत्व की सूक्ष्म साधना ही "ओंकार रूप" परमात्मा की उपासना है (छान्दोग्योपनिषद् प्रथम अध्याय द्वितीय, खण्ड)।

किंतु कर्म-लोक में प्राण-तत्त्व की "सघन" साधना होती है। शरीर में आत्मबुद्धि रखकर शारीरीक अधिक भौतिक सुखों से प्राण को सुखी बनाना चाहता है, जिसके कारण जीवन अपनी सरलता अपनी तरलता खो देता है। जैसे पानी अपनी तरलता खोकर हिम की चट्टान बन जाता है, उसी प्रकार मानव अपनी सरसता खोकर निमर्म हो जाता है। उसकी सात्विक वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। जैसे हिम-उपल की वर्षा से व्यक्ति घायल होता है, शस्य जल जाता है, प्यासे की प्यास नहीं बुझती, उसी प्रकार प्रारम्भ की सघन-साधना से लोक कष्ट उठाता, दुःख सहता, यातनाएँ झेलता हुआ नाश हो रहा है। किंतु बेबसी यह है कि जितने दिनों उसे साँस लेना है, उतने दिन वह घृणित अपमानित जीवन से मुक्ति भी नहीं पाता। जीवन का ऐसा लोभ है कि प्राणी इतने दुःख उठा कर भी जीता ही रहता है।

५५—नील-लोहित ज्वाला (तम-रज मिश्रित कर्माग्नि) वासनाओं के प्रारब्ध अंश को जलाकर, संस्कारों में क्रियमाण तत्व सम्मिश्रित करके, वासनाओं को नित नवीन रूप दिया करती है। चोट सह कर जिस प्रकार धातु का नाश नहीं होता, वरन् उसका रूप-

परिवर्तन हो जाता है, उसी प्रकार मृत्यु के आघात सहन कर प्राण-तत्व का नाश नहीं होता, वरन् उसे नया जीवन, नया रूप मिलता है।

५६—जैसे वर्षा-काल में बादल उमड़-घुमड़ कर बरसते हैं और उनका जल प्राप्त करके नदी अपने कूलों को तोड़ती-फोड़ती बन कुञ्जों को अपनी बाढ़ में डुबोती समुद्र की ओर जाती है। उसी प्रकार प्रबल वासनाओं के उमड़ने पर मनुष्य कर्म का बल प्राप्त करके, संघर्ष में रत होकर, अपनी राह के रोड़ों को मिटाता हुआ, सभी पर अपनी सत्ता स्थापित करता हुआ, अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिये अग्रसर हो रहा है।

५७—कर्म लोक का दिग्दर्शन करके मनु घबरा गए उन्होंने श्रद्धा से कहा, "अब मैं इसे देख चुका, अब और देखना नहीं चाहता। कर्म जगत् सचमुच भयंकर है, भयावह है !

श्रद्धे ! मुझे अब यह बताओ कि यह तीसरा चाँदी के पिण्ड समान चमकता हुआ यह शुभ्र जगत् क्या है ?"

५८—श्रद्धा ने उत्तर दिया, 'प्रियतम ! यह तो "ज्ञान-क्षेत्र" है। यहाँ सुख-दुख के प्रति उदासीनता का भाव रहता है। प्राणी सुख अथवा दुःख में लिप्त नहीं होता। यहाँ निर्मम-न्याय का प्रवर्तन होता है। सभी बात का निश्चय, निर्णय, समता की बुद्धि से होता है। यहाँ किसी प्रकार की दुर्बलता नहीं है। यहाँ केवल बुद्धि-चक्र चलता है।

(अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम्। (सांख्यकारिका २३)—

५६—यहाँ के 'अणु' अपने तर्क यथा युक्ति से अपने स्वतंत्रविचार स्थिर करते हुए असत् और सत् में विभेद करते हैं। मूर्त, मर्त्य, यत् और त्यत के विपरीत अमूर्त, अमृत, स्थित तथा सत् की बात बुद्धि और युक्ति द्वारा स्थिर करते हैं। ये किसी से संबंध नहीं जोड़ते, सहज विरागमय होते हैं। इनमें स्वभावतः आसंग लिप्सा नहीं होती। किन्तु फिर भी इन कणों का 'मुक्ति' से तो कुछ संबंध होता ही है, वे मुक्ति का विधान करके उससे संबंध जोड़ ही लेते हैं। मुक्ति की इच्छा उनमें होती है।

६०—यहाँ साधन के आधार पर जिसे जो मिलना चाहिये, मिलता है। फिर भी इस लोक में तृप्ति नहीं मिलती।

बुद्धि द्वारा साधना के विभेद से ऐश्वर्य मिलता है (अणिमादि विभूतियां प्राप्त होती हैं) किंतु ये विभूतियाँ बालू के समान शुष्क हैं। परिणाम-स्वरूप जैसे ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती उसी प्रकार बुद्धि द्वारा तृप्ति नहीं मिलती।

६१—न्याय, तप तथा ऐश्वर्य से युक्त ये प्राणी चमकदार लगते हैं। आकर्षण-युत होते हैं। किन्तु इनकी चमक उन बालू के कणों की चमक के समान होती है जो मरुभूमि के किसी सूखे सोते के तट पर ग्रीष्म काल में चमकते हैं।

६२—इनके कार्य-कर्म मनोभाव के अनुसारी होते हैं। ये दत्त-चित्त होकर अपनी बुद्धि द्वारा निश्चय किये गये कार्यों को ही करते हैं। अर्थात् वे भली भाँति सोच विचार कर कार्य का संकल्प करते है और सकल्प के अनुसार कर्म करते हैं। जैसे न्यायासन पर बैठा निस्पृह न्यायाधीश वित्त से विचलित नहीं होता उसी प्रकार इस लोक के प्राणी को कामसंपदा बाधा नहीं पहुँचाती (विभूतिपाद ४५। ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कार्यसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च)।

६३—ये अपना छोटा पात्र जीवन रस से भरना चाहते हैं। आनन्द की उपलब्धि करना चाहते हैं, तृप्त होना चाहते हैं। किंतु वे बुद्धि के निर्झर के किनारे बैठे हैं जिससे आनन्दकण कभी-कभी बूँद-बूँद टपकते हैं। उन्होंने कल्पना कर ली है कि हम अजर हैं, अमर हैं और इसी धारणा से वे ज्ञान-सरि के किनारे बैठे तृप्ति चाहते हैं, सोचते हैं बूँद-बूँद करके सही कभी तो पात्र भरेगा ही। इस प्रकार वे अपनी साधना में अडिग हैं।

६४—धर्म की तुला पर तोल करती ही यहाँ अधिकारों की व्याख्या होती है और उसी के अनुसार सिद्धियों का बँटवारा भी होता है। प्राणी जितना धर्म करता है, उसी के अनुसार वह फल पाता है, ऐश्वर्य प्राप्त करता है। ज्ञानी इच्छारहित अवश्य होता है किन्तु जब तक उसे कुछ नहीं मिल जाता तब तक उसकी साँसें सामान्य गति से नहीं चलतीं। कुछ पाकर ही उसे शांति से मिलती है।

६५—इन प्राणियों की विशेषता इनकी उत्तमता है। जैसे कमल तालाब के जल के ऊपर खिला रहता है, उसी प्रकार ये सांसरिक विषयों से ऊपर उठे रहते हैं। निर्लिप्त बने रहते हैं। जैसे मधुमक्खियाँ दूसरों के लिये मधु संचय करती हैं उसी प्रकार ये प्राणी दूसरों के लिये जीवन-रस संचित करते हैं।

६६—जैसे रात्रि के तम के परदे को चीर कर शरद् की शुभ्र चाँदनी छा जाती है, उसी प्रकार अज्ञान तम का नाश करके ज्ञान की ठंढी विभाएँ फैलती हैं। किन्तु जैसे चाँदनी और अंधकार ऐसा मेल है कि सर्वदा इनका आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान का भी आविर्भाव-तिरोभाव होता है। कोई भी एक अवस्था पर नहीं रहता। इसी प्रकार ज्ञान द्वारा की गई शांति-व्यवस्था नष्ट हो जाती है और फिर मन को अशांति घेर लेती है। (यहाँ अनवस्था पारिभाषिक शब्द नहीं है)

६७—देखो यहाँ के प्रणीयों तो चन्द्रमा की भाँति सुन्दर है आभा-संपन्न है किंतु वे सभी दोषों से इसी भाँति इंगित रहते हैं जैसे राहु से चन्द्रमा। वे दोष दोषी को शंका की दृष्टि से देखते हैं। वे दूसरों को अपनी भौंहें चला कर परितोष दिलाने के बहाने अपने मन का दंभ ही प्रदर्शित करते हैं।

"आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानं" (शाकुंतल)

६८—इस लोक में जीवन-रस का केवल संचय किया जाता है, उसका उपभोग नहीं

किया जाता। उनके पल्ले केवल इतना ही पड़ा है कि सब कुछ असत्य है। विषयभोग से वंचित रहना ही उनका कर्तव्य है। इच्छाओं की तृप्ति नहीं करना चाहिये।

६९—ये लोग औचित्य की स्थापना करके विभिन्नता में सामञ्जस्य की भावना भरना चाहते हैं। समता का भाव उत्पन्न करना चाहते हैं किंतु उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। शांति के स्थान पर अशांति तथा समता के स्थान पर विषमता ही उत्पन्न होती है, क्योंकि इनका मूल सिद्धांत ही कुछ और है। इनकी दृष्टि में मूलतत्त्व भिन्न है। इच्छाओं को ये तृप्त नहीं करना चाहते। उन्हें मिथ्या मानते हैं।

७०—कोई उनकी दशा का परिशीलन करे तो पता चलेगा कि ये ज्ञानी अथवा बुद्धिवादी लोग स्वयं अशान्त है, किंतु बाहर से शान्त होने का दंभ करते हैं। सर्वदा ये शास्त्र की बात करते हैं और शास्त्र की रक्षा शास्त्र से करते हैं। इनके अनुशासन स्वयं विज्ञान पर आधारित हैं और जिस प्रकार विज्ञान परिवर्तनशील है, उसी प्रकार इनके अनुशासन भी बदलते रहते हैं।

७१—ये जो तीनों इतने चमकते हुए ज्योति से भरे विन्दु तुमने देखे हैं, इन्हीं का नाम "त्रिपुर" है। इन तीनों लोकों में सुख-दुःख की अपनी स्वतन्त्र व्यवस्था हैं। इनमें किसी प्रकार की समता नहीं, ये सब प्रकार एक-दूसरे से इतने दूर हैं, इतने विलग कि इनको एक केन्द्र पर लाना संभव नहीं।

७२—जीवन की यही विडम्बना है। यहाँ ज्ञान, क्रिया और इच्छा में कोई सामञ्जस्य नहीं। ज्ञान निवृत्ति की ओर खींचता है। कर्म प्रवृत्ति की ओर। ऐसी दशा में मन की इच्छा का पूरा होना कैसे संभव हो सकता है ?

७३-७४—(१) "ओमिति ब्रह्म" की व्याख्या करते हुए उपनिषदों में अकार मात्रा को "अग्नेयी" कहा है। "ज्वाला" शब्द में यही भाव अंकित है। उकार मात्रा को वायव्या कहा है। वह वायुमण्डल सदृश रूप वाली है। "विषय वायु" में उसी प्रकार का वर्णन है। "ज्वाला सुनहली" सूर्यमण्डल का परिचय देती है। यही मकार नामक उत्तर मात्रा है।

(२) 'ओमित्येतदक्षरमिदम्' की व्याख्या करते हुए माण्डूक्योपनिषद् में जागरण, स्वन तथा स्वाप का वर्णन किया गया है। तथा वहीं "अमात्रश्चतर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एव वेद य एवं वेद" की बात भी आई है।

"इसी भाँति मात्रारहित प्रणव ही व्यवहार में न आने वाला प्रपञ्च से अतीत कल्याणमय अद्वितीय पूर्ण ब्रह्म का चौथा पाद है। वह आत्मा अवश्य ही आत्मा के द्वारा परस्पर ब्रह्म परमात्मा में पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है। जो इस प्रकार जानता है।"

"परब्रह्म परमात्मा और उन के नाम की महिमा अपार है। इस प्रकरण में उन

असीम परमात्मा के चार पादों का वर्णन है। स्थूल सूक्ष्म कारण इन तीन सगुण रूपों और निर्गुण निराकार की एकता दिखाने के लिए तथा नाम-नामी की सब प्रकार से एकता दिखाने के लिए एवं उनकी सर्वभावेन सामर्थ्य रूप की अचिन्त्य शक्ति है। वह उन से सर्वथा अभिन्न है, यह भाव दिखाने के लिए की गई है।

श्रद्धा की स्मिति को यहाँ "महा ज्योति-रेखा" कहा है। उपनिषदों में अनेक स्थान पर ब्रह्म को "ज्योतिः" कहा है। "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" छा० ३, ३-१३-७। "रेखा" शब्द शक्ति का परिचायक है। इसी पृष्ठ-भूमि में इसका मनन करें। "बहृवृचोपनिषद्" में "रहस्यरूपा" देवी का वर्णन है। "वे ही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों पुरों तथा स्थूल सूक्ष्म कारण—इन तीनों प्रकार के शरीरों को व्याप्त कर बाहर और भीतर प्रकाश फैला रही हैं", की बात भी वहीं आई है। इसी का वर्णन उपर्युक्त पंक्तियों में है।

७३—श्रद्धा यह कह कर मुस्कुरा पड़ी। उसी मुस्कान से एक महाज्योति की रेखा फूटी, जिस से ये तीनों लोक आपस में जुड़ गये और उससे अग्नि ज्वाला का प्रकाश फूट चला।

७४—विषम वायु के चलने से वह ज्वाला नीचे ऊपर लहराती हुई धधकने लगी। महाशून्य में सुनहरी ज्वाला 'नहीं-नहीं' का शब्द करती हुई सुनाई पड़ी, जैसे वह रोक रही हो, वर्ज रही हो।

७५-७७—(१) त्रिपुर का आध्यात्मिक रूप जानने वाले इसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बद्ध करते हैं जिसका उल्लेख ऊपर है (कल्याण भाग २६-६ १९८८)। तीनों पुरों के एक साथ नाश हो जाने से मुक्ति या अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है।" जिसका वर्णन अगले सर्ग में है।

(२) शिवपुराण में वर्णित आख्यायिका मननीय है।

"समाज से धार्मिक भावना जैसे ही समाप्त होती है आस्तिकता का विनाश हो जाता है; आस्तिकता नष्ट हो जाने पर आचार नष्ट होता है, समाज में चरित्र-बल की कमी हो जाती है। चरित्र-बल की कमी होने से विलास और वासना का नग्न नृत्य समाज को अस्तव्यस्त और लक्ष्यहीन बना देता है। ऐसे समाज का शिवत्व उसे छोड़ कर दूर हट जाता है।" समाज का उत्थान-पतन स्त्रियों के पातिव्रत्य और पुरुषों के जितेन्द्रियत्व पर निर्भर करता है, इस पर उपर्युक्त आख्यायिका में बल दिया गया है। हमारे कवि के वर्णन में ये सभी तत्व व्यापकता से विद्यमान हैं।

(३) झुनतकार अनहद घनघोरं। त्रिकुटी भीतर अति छवि जोरं ॥
जानत योगी इह रस बाता। सोऽहं शब्द अमी रस राता ॥

(४) फल के कारण फूली बनराए,
फल भया तो फूल बिलाये।

ज्ञान के कारण कर्म अभ्यास,
ज्ञान भया तो कर्म नाश ।
(५) नमो उग्र दन्ती अनन्ती सवैया,
नमो जोग-जोगेश्वरी जोग मैया ।
नमो ज्योति ज्वाला तुम्हें वेद गावे,
सुरासुर ऋषीश्वर नहीं भेद पावे ॥

७५—उस त्रिकोण में प्रलयाग्नि की शक्ति की लहरें व्यापकता से फैल गईं । सारे संसार में शृङ्ग और डमरू के स्वर गूँजने लगे ।

७६—चितिमय चिता निरंतर जलने लगी । वासनाओं का आश्रय-स्थान चित्त चिता बन गया । सारी वासनाएँ जलने लगीं । महाकाल प्रलय नृत्य कर रहा था । विश्व के स्थान पर ज्वाला भर गई थी और भयंकर कृत्य सामने था ।

७७—स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो गये । जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्ति सभी अवस्थाओं का नाश हो गया । इच्छा, क्रिया और ज्ञान सभी लोक लय हो गए । केवल एक अनाहत नाद सुनाई देता था जिसको मनु और श्रद्धा दोनों तन्मयता से सुन रहे थे ।

इच्छा-क्रिया ज्ञान : (त्रिगुणातीत होने की बात बताता है । (त्रिगुणातीत सत्ता का नाम ही 'ब्रह्म' है) । स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरसे स्वप्न स्वाप जागरण का संबंध समझने के लिए मांडूक्योपनिषद् द्रष्टव्य । नादबिन्दूपनिषद् में—

"योगी के सिद्धासन से बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान के भीतर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) को सदा सुनते रहने की बात आई है । वहीं यह भी बताया गया है कि "इस प्रकार अभ्यास में लाया हुआ नाद बाह्य ध्वनियों को आवृत कर लेता है । इस प्रकार एक पक्ष अर्थात् अकार को जीत कर दूसरे पक्ष उकार को जीते और क्रमशः सम्पूर्ण प्रणव पर विजय प्राप्त कर तुर्यपद अर्थात् आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करे । सर्ग की अंतिम पंक्तियों में इसी का उल्लेख है ।

(नारद परिव्राजकोपनिषद् उपदेश ५ भी मननीय) है ।

मनु की "तुरीय" अवस्था का वर्णन है ।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति प्रभृति सारी अवस्थाओं से मुक्त हुआ तथा संसारी चिंताओं को त्यागकर जो योगी मृतवत् रहता है वह मुक्त है।·········वही ब्रह्ममय प्रणव के अन्तर्वर्ती तुरीय—तुरीय स्वरूप नाद में स्थित है । महोपनिषद् पञ्चम अध्याय भी देखें ।

समुद्रमंथन में "योग युक्त मन बायव्या में हो तिष्ठित आह्लादित लगा चूमने वायु-वेगिनी के सुस्फुरित किनारे ।" की बात देखिये । जो तीनों अवस्थाओं से अतीत हो गया है उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।

"आह्लादिनी शक्ति" रूप श्रद्धा मनु के साथ थीं ।

श्रीराधोपनिषद् में 'राधा' तत्व ही आह्लादिनी शक्ति है ।

आनंद

१५—आनंद

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद के
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

रहस्य सर्ग की उपर्युक्त अन्तिम पंक्तियों की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि मनु श्रद्धा-संयुक्त मनु—अर्धनारी-नटेश्वर की प्रतिमूर्ति बने त्रिगुणातीत होकर 'आनन्दमय कोश' में प्रविष्ट हो गए। देहतत्त्व विज्ञान के मर्मज्ञ जिस प्रकार पिण्डगत अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञान तथा आनन्दमय अवस्थाओं की बात बताते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता ब्रह्माण्ड में भी पिण्डगत अवस्थाओं के अनुरूप लोकों की कल्पना करते हैं। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" की ओर पहले भी बार-बार सङ्केत किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नमय आदि पुरुष का वर्णन करते हुए—

•"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचनेति तस्यैव एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य" की बात आई है। "जहाँ से मन के सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष कभी भय नहीं करता आदि।" इस प्रकार आनन्दानुभूति इन्द्रियातीत है, उसका वर्णन करना संभव नहीं। आनन्दोपलब्धि की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करते हुए इसी उपनिषद् में बताया गया है कि जो यह जान लेता है कि सर्वभूत में एक ही अन्तर्यामी परमात्मा परिव्याप्त है, वह आनन्द रूप परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। कैवल्योपनिषद् में बताया गया है कि "इस समस्त प्रपञ्च का आधार आनन्द स्वरूप अखण्ड बोध है।" तैत्तरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली के षष्ठ अनुवाक में "आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्" की बात आई है। वहीं बताया गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है इस प्रकार निश्चयपूर्वक जानो। ये समस्त प्राणी आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं आनन्द से ही जीते हैं और आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।" कवि ने इस सर्ग में इसी आनन्द रूप-ब्रह्मात्मा अथवा ब्रह्मलोक का परिचय देने का स्तुत्य प्रयास किया है।

१—[सारस्वत नगर-निवासियों की (जिसका संकेत आगे मिलेगा) 'अखंड आनन्द की खोज में कैलास-यात्रा के वर्णन से इस सर्ग का प्रारंभ होता है। श्रद्धामय मानव और तर्कमयी इड़ा के योग से राज्य में धर्म-बुद्धि का जागरण होता है और वे शांत तपोवन में संत समागम के लिए जाते हैं]

यात्रियों की बड़ी टोली अपना पाथेय लिए पहाड़ी रास्ते से नदी का मनोरम तट पकड़े धीरे-धीरे जा रही थी। [स्पष्ट है कि यह टोली "सरस्वती" के किनारे-किनारे चल रही थी। ऋग्वेद (७-६५-२) तथा (३, ३३, २) में सरस्वती का उल्लेख है। "हिमालय का पश्चिमी प्रदेश जहां 'मानसरोवर' स्थित है किसी समय ब्रह्म प्रस्रवण प्रदेश के नाम से विख्यात था। कहा जाता है कि इस प्रदेश में कल्पवृक्ष था और देवता लोग रहते थे। शारदा, गंगा और यमुना अन्तः सलिला होकर उसी से निकलती हैं"।

२—(१) "सोमलता" महौषधि है। निघण्टु के अनुसार यह सर्वरोग नाशक रसायन है। "मूर्च्छा आदि मानसिक रोगों, अयोग्य हीन दृष्टि, और दूषित वाणी को ठीक करती है। खानपान में से कृमि दोषों को दूर करती है। स्त्री के अति प्रसंग से हुए उरःक्षत-राज-यक्ष्मा को दूर करता है। क्षेत्रिय अर्थात् माता पिता से प्राप्त या जन्म के रोगों को नष्ट करती है" (अथर्वेदीय-चिकित्सा शास्त्र पृष्ठ ३३)। यज्ञकालीन भारत में "सोम यज्ञ,' होता था। यह सात प्रकार की होती थी "अग्निष्टामः अत्यग्निष्टोमः उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्रः आप्तोर्याम इति सोम संस्थाः"। द्रव्य, देवता और त्याग यज्ञ के मुख्य अंग हैं। यज्ञ में विहित दस द्रव्यों में सोमलता एक है। "अपाम् सोमममृता" (ऋ० ८-४८-३) में सोमपान करके अमृत्व पाने की बात मिलती है। यज्ञ कर्म का प्रतीक है अतएव 'सोमलता' भी कर्म की प्रतीक है। यज्ञ "भोग" की अभिवृद्धि करते हैं (मुण्डकोपनिषद्)।

(२) 'वृष': "वृषो हि भगवान्धर्मस्यस्य यः कुरुते ह्यलम्। वृषलं तं विदुर्देवास्त-स्माद्धर्मं न लोपयेत्। मनुस्मृति ८-१६" तथा "धर्म भाव प्रतिमूर्ति वृषभ का लेकर तनिक सहारा" (समुद्र मंथन)। धर्म की अनेक परिभाषाएँ विभिन्न आचार्यों तथा ऋषियों ने की हैं। सबका भावार्थ यही है कि जिसमें प्रजा के धारण करने की शक्ति हो, वही धर्म है। जिससे अभ्युदय की प्राप्ति हो, वही धर्म है। प्रतीकवाद की भाषा में पृथ्वी का प्रतीक 'गो' है।

जिस प्रकार गो और वृष के संयोग से हमारा कल्याण होता है। उसी प्रकार पृथ्वी और धर्म के संयोग से "वृष" शिव का वाहन है। शिव कल्याण का ही दूसरा नाम है।

(३) घंटा "स्नाने धूपे तथा दीपे नैवेद्ये भूषणे तथा। घंटानादं प्रकुर्वीत तथा नीराजनेऽपि च" के अनुसार भगवान् के पूजन में घंटा बजाने की विधि है। मंदिर खोलने के पहले घण्टा बजाने की विधि है। शिव मन्दिरों में घण्टानंदी के ऊपर रहता है। अनुसंधान करने वालों का मत है कि कौटिल्य ने जानवरों के गले में घंटा बाँधने का विधान किया।]

उनके साथ धर्म का प्रतीक श्वेत रंग का बैल था। वह सोमलता से ढका था।

उसकी चाल मंद थी। उसके गले में घंटा बँधा हुआ था, जो उसकी मंद चाल के कारण ताल में सधा हुआ बज रहा था।

(व्यंजना यह है कि धर्म के प्रतीक बैल पर 'शिव' आसीन नहीं थे वरन् उस पर 'कर्म' का कृत्रिम भार था। कामोपभोग की सामग्री थी)।

३—[(१) रज्जु इसका दूसरा नाम तन्त्री है। इसमें यह व्यञ्जना है कि धर्म का संचालन 'राजा' के हाथों में था। धर्म राज-कृत था और 'कुमार' उस धर्म का संचालन 'बलपूर्वक' करता था।

(२) त्रिशूल—शिव का आयुध है। यह सत्व-रज-तम इन तीन गुणों से निर्मुक्ति का सूचक है। वह धूम्रवर्ण है और शैवों द्वारा विशेष समादृत चिन्ह है। शैव साधु लोहे के बने त्रिशूल को दण्ड के समान लेकर चलते हैं]

मानव (कुमार) बायें हाथ में उस बैल की रस्सी पकड़े था और उसके दूसरे हाथ में त्रिशूल शोभा पा रहा था। मानव के मुख पर असीम तेज छाया हुआ था, जिससे उसके संयत होने का आभास मिलता था।

(शुक्रोसि भ्राजोसि। अथर्व० २-११-५. अनेक वैदिक मंत्रों में इस तेज का वर्णन है)। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा। मनु ७-१. राजा अपने तेज से सब प्राणियों को अपने वश में कर लेता है।

४—(१) केहरि-किशोर "सिंह प्रतीको" (अथर्वेद संहिता २२-७) में राजा को उपदेश किया गया है कि हे राजन् तू सिंह के समान होकर समस्त प्रजाओं का भोग कर"। 'किशोर' शब्द अल्पवय की ओर सङ्केत कर रहा है।

(२) प्रस्फुटित—अंग-अंग के विकास का सूचक है। काम का उद्भेद ही शृंग है।

(३) यौवन—यौवन शृंगार युत अवस्था का ही दूसरा नाम है। रूप यौवन सम्पन्न तेजस्वी धीर गंभीर स्थिर प्रकृति, महान् चेता आदि 'धीरादोत्त'। नायक के गुण उसमें आ गये थे।

(उसके अङ्ग-अङ्ग सिंह के नये बच्चे के समान विकसित हो चुके थे, यौवन की गंभीरता उसमें आ गई थी। इस गंभीरता में कुछ नये भावों का संचार हो चुका था। गंभीरता के साथ उसमें उदारता, विनय, दृढ़ता आदि भी आ चुके थे)।

५—गैरिक-वसना-संध्या कल्याणभाग ८।६ पृ० ११०८ पर बताया गया है कि "ऐसा कोई विधान नहीं कि गृहस्थ गैरिक वस्त्र न पहने। किंतु यह विधान अवश्य है कि संन्यासी वल्कल, मंजिष्ट में रँगे वस्त्र या गेरू में रंगे वस्त्र ही पहने। 'इड़ा' गेरू में रँगा वस्त्र पहने थी।

कुमार-संभव १-४ तथा ८-५३ में गैरिकवसना संध्या का दृश्य मिलेगा। हिमा-

लय की चोटियाँ रंग-विरंग की हैं। कुछ गेरु के रंग की हैं। संध्या गैरिक-वसना होती भी है।

[इड़ा भी इसी बैल की दूसरी ओर चुपचाप चल रही थी। वह संध्या के समान गेरू के रँग में रंगा वस्त्र धारण किये थी। उसकी सभी मनोवृत्तियाँ उसी प्रकार शांत थीं जैसे संध्या समय पक्षियों का कलरोर शांत हो जाता है])

६—यात्रियों की उस बृहत् टोली में विभिन्न ध्वनियाँ गूँज रही थीं, जिससे वह टोली मुखर लगती थी। युवक वृंद हर्षध्वनि करता था। छोटे बच्चे मीठी बोली बोलते थे। स्त्रियाँ मंगल सूचक गाने गा रही थीं।

७—(१) चमर हिरण जिन की पूँछ के चँवर बनते हैं।

हिरनों पर बोझ लदे थे। वे घनी पंक्ति बनाकर चल रहे थे। उन पर कुछ छोटे बच्चे भी बैठे थे जो स्वयं ही कुतूहल बने थे अथवा अपने आप कुतूहलपूर्ण प्रश्न पूछ रहे थे। (मानव स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है।" इस तथ्य की ओर संकेत है। जिज्ञासा का प्रथम स्फुरण ही कुतूहल है)

८—माताएँ हरिनों पर बैठे उन बच्चों को पकड़े हुए उनसे बातें करती हुई चल रही थीं। बच्चे माताओं से पूछते थे कि "हम लोग कहाँ चल रहे है" और माताएँ पूरे बिस्तार के साथ सुबोध भाषा में उन्हें बताती थीं कि वे सब कहाँ जा रहे है।

(उपर्युक्त पंक्तियों में "मातृत्व" की व्याख्या भी निहित है। माता ही हमारी सभी उलझनें सुलझाती है, हमारे प्रत्येक प्रश्न का सुबोध उत्तर देकर हमें लौकिक तथा पारलौकिक ज्ञान देती है। संसार-यात्रा क्यों? इस प्रश्न का समाधान भी माता के द्वारा ही हो सकता है। यही स्थापना इस छंद में है। बृहद्धर्मपुराण पूर्व खण्ड अध्याय २ श्लोक ३३ से ४७ तक व्यास-जावालि संवाद में माता को ही सर्व श्रेष्ठ गुरु बताया है।

["पितुरप्यधिका माता गर्भधारणपोषणात्

अतो हि त्रिषु लोकेषु नास्ति मातृसमो गुरुः"] आदि

९—(१) जैसा कि आगे के कथानक से प्रकट होगा सारस्वत निवासी 'मानस' तीर्थ की ओर जा रहे हैं। "मानसरोवर" के समीप ही मनु-श्रद्धा थे। पुराणों में "सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह सर्वभूत दया, सत्यवादिता, ज्ञान तथा सात मानस तीर्थों का वर्णन है"। चित्त वृत्ति को योग द्वारा शुद्ध करने से ही ये मानस तीर्थ सुलभ होते हैं। 'मानसरोवर' के तट पर पहुँचकर वहाँ के शुद्ध वातावरण में ये सभी तीर्थ आप ही आप सुलभ हो जाते हैं।

(रामचरित-मानस में 'मानस' के रूपक से कथा का माहात्म्य बताया गया है)।

"जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ,

तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ।" आदि।

[तीर्थ: घाट, नदी में उतरने का स्थान; पवित्र स्थान; सिद्ध पुरुष]

स्कन्दपुराण में बताया है कि पृथ्वी के अद्भुत् प्रभाव, जल के विलक्षण तेज, तथा मुनियों के निवास स्थान होने से तीर्थ पुण्यस्वरूप माने जाते हैं ।

एक बच्चा अपनी माता से कह रहा था, 'माँ, तू तो यह बात कब से कह रही है कि अब हम उस स्थान पर पहुँचा ही चाहते हैं, तूने दिखाया भी कि वह स्थान बिल्कुल समीप है किंतु दूरी काटे नहीं कट रही है ।

१०—तू आगे बढ़ती ही चली जा रही है और अब तक उस स्थान पर न पहुँच पाई । तू बिना रूके उत्सुकता से बिना रुके तेजी से जिस तीर्थ की ओर चली जा रही है, वह तीर्थ कहाँ है ?"

११—(स्कन्दपुराण में धर्मारण्य तीर्थ से सरस्वती के निकलने की बात है । "धर्मारण्य महानन्दमय, दिव्य, एवं पावन से भी पावन है । वहाँ किसी से भी किसी को वैर नहीं होता")

माता ने उत्तर दिया कि आगे जो भूमि दिखाई दे रही है, जिस पर देवदारु का जंगल है, वहीं चलना है । इन्हीं देवदारु के पत्तों से ओस की बूँदे पान करके बादल अपने पात्र भरा करते हैं ।

१२—बस आगे वाले ढालू रास्ते को समाप्त करना है । इसके समाप्त होते ही वह समतल मिलेगा । वहीं वह अतिपवित्र तीर्थ मिलेगा जो सत्त्वप्रधान है, जहाँ किसी प्रकार का मल तथा कलुष नहीं है ।

१३—वह बालक इड़ा के समीप गया और उसने इड़ा से रुकने का आग्रह किया । लड़का था ही, उस तीर्थ के बारे में कुछ और जानने के लिए हठ कर बैठा । कहने लगा, जब तक सभी बातें न बता दोगी आगे न बढ़ने दूँगा ।

१४—इड़ा अपने पैर के अगले भाग पर टकटकी लगाए सबकी अग्रणी बनी हुई सावधान दत्तचित्त धीरे-धीरे आगे पैर बढ़ा रही थी ।

१५—उसने बच्चे से कहा, हम लोग जहाँ चल रहे हैं वह संसार का एक पवित्र स्थान है । वह किसी सिद्ध का स्थान है । वहीं पर वह संत साधना में लगा है । वह तपोवन है, जो अत्यंत शांत एवं शीतल है । वहाँ पहुँच कर पाप-ताप शमन होता है । वहाँ किसी प्रकार की जलन का अनुभव नहीं होता ।

[पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्य्येषि विश्वतः । अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत । ऋ० ९-८३-१ में बताया गया है कि परमेश्वर सर्वव्यापी है । मनुष्यों के शरीर को भी वह चारों ओर से घेरे हुए है । किंतु शारीरिक तपःशून्य उस ज्ञानमय आनन्द को नहीं प्राप्त करता है । परिपक्व महात्मा ही उस आनन्द को धारण करते हुए अवश्य उसे भली प्रकार प्राप्त करते हैं । तप और त्याग की महिमा से प्राचीन भारतीय साहित्य भरा पड़ा है । तप त्याग की पहली सीढ़ी है । तप अभ्यास का परिणाम है । नैतिकता तप सिखाती है और धर्म त्याग आदि ।

प्राचीन भारत में 'तपोवन' की बहुलता थी। बाल्मीकि, कालिदास, बाण, दण्डी, भवभूति आदि महाकवियों ने 'तपोवन' की मनोरम झाँकी उपस्थित की है। आधुनिक काव्य 'मदालसा' में भी तपस्थली का सुन्दर वर्णन हुआ है। कवीन्द्र रवीन्द्र ठाकुर ने "तपोवन" शीर्षक लेख में तपोवन सम्बन्धी साहित्य पर विशद विवेचन किया है। उसका अनुवाद कल्याण वर्ष २५ अंक—१०-११ में प्रकाशित हुआ है। उन्होंने लिखा है कि शेक्सपियर का "ऐज यू लाइक इट" बनवास कहानी है और "मिड समर नाइट्स ड्रीम" भी अरण्य काव्य है, किंतु उन काव्यों में मनुष्य के प्रभुत्व और प्रवृत्ति की लीला ही एकान्त रूप से दिखाई गयी है। **उनमें वर्न के साथ सौहार्द नहीं दिखाई देता। वनवास के साथ मनुष्य के चित्त का सामञ्जस्य उसमें नहीं हुआ।** मिल्टन के "पैराडाइज लास्ट" काव्य में आदि मानव दम्पति क स्वर्गारण्य का वर्णन एक ऐसा विषय है जिससे उस काव्य में अति सहज स्वाभाविक भाव से मनुष्य के साथ प्रकृति का मिलन सरल प्रेम के संबंध में विराट् और मधुर रूप में प्रकट होना चाहिये था। कवि ने प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन किया है। जीव जंतु वहाँ हिंसा त्यागकर एक साथ रहते हैं, यह भी कहा है; परन्तु मनुष्य के साथ उनका कोई भी सात्विक सम्बन्ध नहीं। यह जो निखिल के साथ मनुष्य का विच्छेद है, इसकी जड़ में एक गम्भीरतर विच्छेद की कहानी है। इसमें "ईशावास्य" की वाणी का अभाव है।

बाल्मीकि में 'दण्डकारण्य' का वर्णन "शरण्यं सर्वभूतानां"। वह ब्राह्मी-लक्ष्मी द्वारा समावृत था" आदि द्रष्टव्य।

तपोवन में किस प्रकार मानव प्रकृति साथ घुल मिलकर समरसता का जीवन बिताता तथा दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। इसका वर्णन आगे आवेगा। तपोवन की शीतलता का वर्णन बाल्मीकि ने अनेक स्थलों पर किया है और बताया है कि तपोवन के प्रभाव से राम को अयोध्या छोड़ने का तथा सीता का विरह भी दुःखदायी नहीं हुआ।

१६—इड़ा की बात सुनकर बालक का कुतूहल और तीव्र हो उठा। उसने इड़ा से कहा कि मुझे स्पष्ट विस्तारपूर्वक बताओ कि वह क्यों शीतल है, क्यों शांत है?

इड़ा विस्तारपूर्वक पूरी कथा बताना नहीं चाहती थी, कारण कि उससे उसकी जीवन गाथा सम्बद्ध थी फिर भी बच्चे को हठ करने पर वह संकोच का अनुभव करती हुई बालक से यों कहने लगी :—

१६ अ—अर्धांङ्गिनी—भारतीय विचारकों ने पति-पत्नी में आधे-आधे अङ्ग की कल्पना की है। इससे उत्तम कल्पना विश्व की किसी संस्कृति में नहीं है। "अर्ध-नारीश्वर" की कल्पना में इसी सम्बन्ध को उत्तम रीति से प्रकट किया गया है।

१६ (ब)—शतपथ ब्राह्मण५-२-३-१० में "अर्धो ह्वा रूप आत्मनो यज्ज्योति" व्यास-संहिता "यावन्न विन्दते जायां तावदर्धो भवेत् पुमान्"; बृहदारण्यक उपनिषद् १,

४, ३ इस संबंध में २।१४ मननीय है। [माघ, मुरारि, मयूर संस्कृत कवियों ने इसका सुन्दर वर्णन किया है]

१७ —मनस्वी जिसका विचार ऊँचा हो। जिसकी आत्मा निर्मल हो।

"सुनती हूँ यहाँ एक दिन एक मनस्वी आया था। वह संसार की ज्वाला से जल गया था, झुलस गया था, और अत्यंत पीड़ित था। विकल था।

१८—उसकी वह भीषण जलन पहाड की तलहटी में फैल गई। उसकी जलन से शांत बन में भी दावाग्नि प्रकट हो गयी, जिसकी प्रखर लपटों से घने वन में अशांति उत्पन्न हो गई।

१६—(स) फिर उसे खोजती हुई उसकी पत्नी आई और उसकी यह दशा देखकर उसकी पत्नी इस प्रकार रोई जैसे वर्षा का बादल बरसता है।

२०— उसकी पत्नी के वे आँसू जगत के लिये वरदान सिद्ध हुए। उससे जगत् का बड़ा कल्याण हुआ। वन में जो जलन फैली हुई थी वह शांत हो गई और वन में फिर सुख का शीतलता छा गई।

२१—पहाड़ पर झरने फिर उछलने दिखाई पड़े। फिर चतुर्दिक् हरियाली छा गई सूखे पेड़ों में लाल-लाल पल्लव निकलने लगे, जिससे प्रतीत होता था कि वृक्ष हँस रहे हैं।

२२— युगलः (शक्ति समन्वित पुरुष का रूप)। बृहदारण्यक उपनिषद् १-४-३ में इसी युगल रूप का उल्लेख है। यही सृष्टि का मूल मंत्र है। कल्याण उपनिषद् अंक पृष्ठ १२८ इस संबंध में मननीय)।

संसृति की सेवा में "जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ" की झाँकी है। शिव-दर्शन से विद्या, श्री, सौख्य, कीर्ति, मोक्ष सभी मिलता है। संत में भी शिवत्व प्राप्त करके ऐसी क्षमता आ जाती है ऐसा हिन्दू-विचारकों का मत है।

वे पति-पत्नी अब उसी वन में बैठे संसार की सेवा कर रहे हैं। जो सांसारिक दुःख से पीड़ित होकर, पाप ताप से संतप्त, उनके पास आता है, उसे वे संतोष तथा सुख देते हैं।

२३—वहाँ निर्मल जल से भरा हुआ एक बड़ा सरोवर है। उसका पानी मन की तृष्णा का शमन करता है। उसके पानी से भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक पिपासा भी बुझती है। उस सरोवर को 'मानस' कहते हैं। वहाँ जाने वाले सभी प्राणियों को सुख मिलता है।

महाह्रद—पिण्डगत 'हृदय' भी मानस है। "हृदये चित्तसंवित्" पा० यो० विभू० ३४। (तेतु ब्रह्महृदं १०-२८।१४-१६ श्रीमद्भा०)

"मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौ एहिं सर परई॥"

आदि राम-चरित-मानस में द्रष्टव्य।

२४—बालक ने फिर इड़ा से पूछा, "बैल यों ही कोतल क्यों ले जा रही है ? तू व्यर्थ पैदल चलकर अपने को थका रही है, इस पर बैठ क्यों नहीं जाती ?"

२५—इड़ा ने उत्तर दिया "हम सारस्वत नगर के निवासी तीर्थ-यात्रा करने यहाँ आये हैं। हमारा उद्देश्य यह है कि इस तीर्थ-स्थान के दर्शन करके हम लोग अपने सांसारिक जीवन घट में आनन्दामृत भरें। हमारा जीवन रूपी घड़ा रिक्त है इसमें कुछ भी नहीं है। हमारा जीवन-प्रसार ही निरर्थक है। हम उसे सार्थक एवं सारयुत् बनाना चाहते हैं। इस यात्रा से हमारा यह उद्देश्य पूरा होगा।

२६—इस तीर्थ में हम धर्म के प्रतीक इस वृष को देवताओं के लिए छोड़ देंगे, शिवार्पण कर देंगे। अपना सारा अधिकार इससे उठा लेंगे। हम चाहते हैं आज से यह 'वृष' स्वतंत्र तथा सुखी रहकर संसार में निर्भय विचरे ! (हमारा धर्म भी इसी प्रकार बंधन-विहीन होकर लोक-कल्याण का कारण बने। और इस प्रकार हमारे धर्म को किसी प्रकार का भय न रह जावे। वृष तथा धर्म दोनों को अभय पद मिले)।

(१) [पद्मपुराण पाताल खण्ड में तीर्थ यात्रा की विधि बताते हुए सवारी से तीर्थ यात्रा करने का निषेध किया गया है। बैलगाड़ी पर जाने वाले को गोहत्या का भागी ठहराया है। तथा वहीं बताया है कि

"स हरिर्ज्ञायते साधुसंगमात् पापवर्जितात्
येषां कृपातः पुरुषा भवंत्यसुखवर्जिताः
ते साधवः शान्तरागाः कामलोभविवर्जिताः
ब्रुवन्ति यन्महाराज तत्संसारनिवर्तकम्"

भगवान् का ज्ञान होता है साधु संग करने से। साधु वे ही हैं जिनकी कृपा से मनुष्य संसार के दुःख से छुटकारा पा जाते हैं। महाराज ! काम और लोभ से रहित तथा वीतराग पुरुष जिस विषय का उपदेश देते हैं वह संसार की निवृत्ति करने वाला होता है]

(२) वृषोत्सर्गः श्राद्ध के समय साँड़ छोड़ने की विधि है। (तीर्थों में भी वृषोत्सर्ग सं० स्कन्द पुराण ८१०) 'धर्मातीत' होने की बात कठोपानिषद् २-१४ में द्रष्टव्य। "धर्मोहं वृषरूपधृक्" भा० ११-१७-११ में भगवान ने बताया है कि तप, शौच, दया और सत्य नाम के चार पैरों वाले वृष का रूप धारण करने वाला धर्म स्वयं हूँ। अतएव "अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः" की भाव-धारा में जो धर्म समस्त धर्मों का अविरोधी है वही सच्चा धर्म है। 'भगवत्सत्ता' का बोध इस दृष्टि से परम धर्म है। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" की बात इस संबंध में मननीय है।

(३) स्कन्दपुराण में 'धर्माश्रय' के साथ 'मुक्तारण्य' की गाथा द्रष्टव्य !

२७—सभी यात्री एकाएक सजग हो गये, कारण कि आगे का रास्ता ढालू था। उस ढालवें से उतर कर जिस घाटी में जाना था उस पर हरियाली छाई थी।

२८—वहाँ पहुँचते ही रास्ते की थकन, जलन तथा श्रम सभी क्षण भर में दूर हो गए। सभी ने देखा कि सामने शुभ्र हिमालय अपनी विशालता एवं उच्चता से गौरव-शाली बना स्वर्णप्रभा बिखेर रहा है, चम-चम चमक रहा है। ऐसा लगता था मानो उसके सम्पूर्ण शरीर से अपनी महानता के कारण तेज फूटा पड़ रहा हो।

[कामायनी का प्रारम्भ इसी हिमगिरि से हुआ किन्तु वहाँ उसके उत्तुंग शिखर के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा गया है। हिमालय वर्णन—

"सामने विराट धवल नग
अपनी महिमा से विलसित"

से प्रारम्भ होता है। कुमार-संभव में "देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः" से हिमालय वर्णन प्रारम्भ होता है। जिस 'हिम' को संकेत करके कालिदास ने 'यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपिजातम्' कहा है वही 'हिम' तो हिमालय का सब कुछ है। हमारे कवि ने "धवल" शब्द के प्रयोग से सात्त्विक वातावरण की ओर संकेत किया है। 'विराट्' शब्द तो 'विराट्' स्वरूप भगवान् की ही प्रतिच्छाया उपस्थित कर रहा है। 'देवतात्मा' से विराट् शब्द की भाव-व्यञ्जना तथा अर्थ-बोध अधिक व्यापक हैं। 'विलसित' शब्द ने मानवीकरण कर दिया है। कालिदास का हिमालय जड़ शिलाओं की प्रस्तर-राशि ही रह जाता है। पार्वती के पिता **हिमवान्** का ऐसा निर्जीव वर्णन यदि उपमाओं से अलंकृत न होता तो उसकी काव्य की दृष्टि से कोई भी महत्ता न रह जाती। 'कुमार-सम्भव' में हिमालय-वर्णन पढ़कर तुलनात्मक अध्ययन करना इस संबंध में श्रेयस्कर होगा।

२६—हिमालय पर्वत की तलहटी अपनी हरी घासों तथा हरे वृक्षों के कारण मनोहर लगती थी। उसमें लताओं के नये कुंज, गुफाओं के सुन्दर घर तथा सरोवर स्थित थे, जिससे उस पर निराली छवि छिटक रही थी।

३०—वन के वृक्ष मंजरियों से इतने लदे थे कि चारों ओर केवल मंजरियाँ ही दिखाई देती थीं। इन मंजरियों की आभा लाल, पीली तथा हरी थी। डालियों के प्रत्येक पर्व (अंग) में फूलों का गुच्छा इस प्रकार शोभित था कि डालियाँ दिखाई तक नहीं देती थीं।

३१—यात्रियों ने रुक कर मानसरोवर की अद्भुत छटा का दर्शन किया। वहाँ एक रम्य दृश्य उपस्थित था। वहाँ एक छोटा-सा शुभ्र संसार था, जिसमें सात्त्विक प्रवृत्तियों का साम्राज्य था, जिसके कारण वहाँ पक्षी तथा आखेट के जानवर मृग सुखपूर्वक निर्भय विचरते थे।

३२—उस हरियाली के बीच निर्मल नीर से भरा मानसरोवर ऐसा लगता था जैसे वह प्रकृति रानी के मुख देखने के लिए छोटा-सा मुकुर हो। जल प्रशांत उज्ज्वल

तथा प्रकाशपूर्ण था। लगता था, पूर्णिमा स्वयं लट छिटकाये सो रही हो। (प्रतिबिंबों का चित्रण है)।

३३—सूर्य इस समय पर्वत के पीछे छिप गया था और आकाश पर चन्द्रमा चढ़ रहा था। सन्ध्या की प्रभा में "कैलास"-शिखर शांत सुस्थिर दिखाई पड़ता था, मानों वह किसी के ध्यान में निमग्न हो।

३४—सन्ध्या वल्कल वसन धारण किये सरोवर के निकट आई थी। आकाश के जगमग तारे सन्ध्या की अलकों में गुँथे आभरण से थे। शृंखलाबद्ध कदंब के फूल ऐसे लगते थे, जैसे ये सन्ध्या रानी की करधनी हों।

३५—पक्षियों का समूह सुखपूर्वक चहचहा रहा था, राजहंस मधुर कूजन कर रहे थे। इन चहचहाहट तथा कूजन की प्रतिध्वनियाँ इस प्रकार गूंजती थीं, जिस से आभास होता था कि किन्नरियाँ नई-नई तानें छेड़ रही हों।

[सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं। नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।

ननन्द हृष्टो मृगपक्षिजुष्टां जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात्] – वाल्मीकीय रामायण।

"भारत प्रकृति को आत्मानुभूति का क्षेत्र समझता आया है। इसी लिए उसे वह पुण्य स्थान मानता है। विश्वप्रकृति के साथ पवित्र सम्बन्ध के द्वारा ही भारत ने अपने को विशाल बना कर सत्य रूप में जाना है। भारत के तीर्थ इस बात की घोषणा कर रहे हैं।" कवीन्द्र रवीन्द्र के ये शब्द इस सम्बन्ध में मननीय हैं]।

[भारत ने योग द्वारा ही विश्व-उपलब्धि का प्रयास किया है। मानस तीर्थों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। हमारे कवि ने तबोवन में मानस का जो चित्र उपस्थित किया है वह 'योग' के अनुकूल ही है। "बैठा किसी लगन में" समाधि की याद दिलाता है। संगीतमय वातावरण भी विराग की साधना ही को बलवती करता है। नारदीय पुराण में "शिक्षा" अध्याय इस सम्बन्ध में मननीय है]

३६—[तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् : जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्ति का एकतार चलना 'ध्यान' है। जब ध्यान में केवल 'ध्येय' मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब वही ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है। संन्यासी के नियम का वर्णन करते हुए पद्मपुराण में।

"ध्याननिष्ठस्य सततं नश्यते सर्वपातकम्।
तस्मान्महेश्वरं ध्यात्वा तस्य ध्यानपरो भवेत्।
यद् ब्रह्म परमं ज्योतिः प्रतिष्ठाक्षरमव्ययम्।
योऽन्तरात्मा परं ब्रह्म स विज्ञेयो महेश्वरः।
एष देवो महादेवः केवलः परमः शिवः।
तदेवाक्षरमद्वैतं सदा नित्यं परं पदम्।
तस्मिन्महीयसे देवे स्वधाम्नि ज्ञानसंज्ञिते।

आत्मयोगात्मके तत्त्वे महादेवस्ततः स्मृतः।
एकमेव परं ब्रह्म विज्ञेयं तत्त्वमव्ययम्।
स देवस्तु महादेवो नैतद् विज्ञाय विध्यते।
तस्माद् यतेत नियतं यतिः संयतमानसः।
ज्ञानयोगरतः शान्तो महादेवपरायणः।"

की बात आई है। "आनन्द सर्ग" में मनु के संन्यासी रूप का वर्णन है। संन्यासी के लिए स्त्री का साथ वर्जित है, किन्तु 'वानप्रस्थ' में अपनी अग्नि तथा स्त्री को साथ ले जाने की विधि है। मोह त्यागकर संयत मानव स्त्री की सेवा इस स्थिति में भी स्वीकार कर सकता है। कुमार-सम्भव द्वितीय सर्ग में, शिव ने कन्या पार्वती की सेवाएँ स्वीकार कीं, ऐसा वर्णन मिलता है।

मनु ने तप द्वारा आत्मस्वरूप शिव-तत्व को प्राप्त कर लिया था और "ब्राह्मी स्थिति" (जिसका उल्लेख गीता २-७२ में है) प्राप्त कर चुके थे। "मनु तन्मय बैठे उन्मन" में "एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति" की ही बात है।

२-४६। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होने पर आनन्द के लिये वेदों की आवश्यकता नहीं।

मनु ध्यान निमग्न निर्मल जल से भरे मानसरोवर के किनारे समाधि लगाये बैठे थे और पास ही श्रद्धा फूलों की अंजलि भरकर खड़ी थी।

३७—१—शतशत भ्रमरों = कल्याण संस्कृति अंक पृष्ठ ४२७।

[उन्मन = उन्नमन् ही होना चाहिये, अथवा 'अनमन' होना चाहिये। नाद-विन्दूपनिषद् में लिखा है, "जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति प्रभृति सारी अवस्थाओं से मुक्त हुआ तथा सारी चिन्ताओं को त्याग कर जो योगी मृतवत् रहता है वह मुक्त है। वह शङ्ख, दुन्दुभिनाद को कदापि नहीं सुनता। जिसमें **मन अमन** हो जाता है।" आदि।

श्रद्धा ने पूजा की पुष्पाञ्जलि चढ़ा दी और मन्द स्वरों में स्तुति करने लगी। उसके मुख से निकलते स्वर ऐसे लगते थे जैसे सैकड़ों भ्रमर गुंजार कर रहे हों। श्रद्धा के स्वरिल गुञ्जन नभ में गूँज उठे। एक सम्मोहक वातावरण की सृष्टि हो गई। फिर भी मनु अपने ध्यान में लगे रहे क्योंकि उनका मन अमन हो गया था। उनके रागद्वेष की सुख-दुःख की भूमिका ही समाप्त हो चुकी थी। (गीता २—५६ से ७२ तक मननीय)

[इस संबंध में कुमार-संभव तृतीय सर्ग में शिव-समाधि का वर्णन तुलनात्मक दृष्टि से मननीय है। पहले भी "**सुना मनु ने यह मधु गुञ्जार**" की बात आई है।]

३८—सब लोगों ने देखते ही मनु को पहचान लिया। अतएव वे उत्सुकता से उनकी ओर बढ़े। मनु-श्रद्धा का दिव्य युगल-रूप (देव-देवी की वह जोड़ी) ब्रह्मानन्द की अन्तर्ज्योति से द्युतिमान् था। मुख और शरीर से दिव्य ज्योति निकल रही थी। सब लोग उन्हें देखते ही भक्ति-भावना से विवश हो उठे और उनके चरणों में प्रणाम करने को झुके।

[अंतःकरण में हरिः ॐ तत्सत् मुखरित हुआ था। इस भांति जिससे मुख तेज चमका रवि-रश्मियों-सा तन में समाईं शशि की प्रभायें—मदालसा]

३६—उस समय सोमवाला वृषभ घण्टा-ध्वनि कर रहा था और मानव इड़ा के पीछे डग भरता हुआ अग्रसर हो रहा था।

४०—इड़ा को अपनी भूल का भास हो गया किंतु उसका हृदय क्षमा-याचना नहीं कर रहा था। वरन् वह अपनी दोनों आँखों के भाग्य सराह रही थी कि उसे यह दृश्य देखने को मिला।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्। मनुस्मृति १।१२१—

यात्रियों ने अभिवादन किया—"प्रणति में झुकते" में माथा टेक कर प्रणाम करने की बात है]

४१—(१) शक्ति-दर्शन की मान्यताओं के अनुसार "पराशक्ति त्रिपुरसुन्दरी से ही शब्द एवं वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। परमतत्व शिव है। शक्ति के स्फूर्ति धारण करने पर शिव ने उसमें तेजस्-रूप से प्रवेश किया, तब विन्दु का प्रादुर्भाव हुआ। शिव में शक्ति के प्रवेश से नारी तत्व 'नाद' व्यक्त हुआ। ये ही दोनों तत्व (नाद-विन्दु) मिलकर अर्ध-नारीश्वर हुए। यही कामतत्व है। दोनों से 'कला' की उत्पत्ति हुई। इस काम एवं कला तथा विन्दु के योग से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है"। काश्मीरी शैव दर्शन के अनुसार "ईश्वर निर्विकल्प एवं निर्विकार है। परन्तु उसमें शक्ति का स्पन्दन है।"

"विश्वरूपमयी काली शिववक्षोविलासीनीम्।
शिवशक्तिं शिवाभिन्नां मातरम् प्रणामाम्यहम्॥"
"गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।"
"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। आदि"

"उपनिषद् के दिव्य दृष्टिसम्पन्न ऋषियों ने जहाँ विषय के चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय देश-काल-अवस्था-परिणाम से सर्वथा अनवच्छिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप को देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्म को ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्ति के द्वारा अपने को अनन्त विचित्र रूपों में प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वह समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामों के अन्दर छिप हुआ अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की, अपनी नित्य सत्ता की, चेतना और आनन्द की मनोहर झाँकी दे रहा है।

"शिवः शक्त्यां युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न च देवं देवी न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।"

"सर्वशाक्तमर्जीजजनत्"

चिरमिलित में जन्मान्तरीय संबंध भी है।

(२) **पुरुष पुरातन** : परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः। (परब्रह्म का प्रथम रूप पुरुष है)

विष्णु० १–२–१५.

पुरुषं पुराणं (विष्णु का पर्यायी है– नारपरिव्राजकोपनिषद्)
पुरुषं पुराणाः (माघ १६-८१)। "पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय। (रहीम)

(३) **आनन्द अबुंनिधि**—'आनन्दं ब्रह्मणो' की बात ऊपर आई है।

(४) **तरगांयित**—"जल बीचि सम" की बात है। विवर्तवाद की पृष्ठि-भूमि में "मनु और श्रद्धा एक दूसरे के साथ इस प्रकार मिलकर बैठे थे, जैसे पुरातन चेतन पुरुष अपनी शक्ति प्रकृति के साथ शाश्वत मिला हुआ रहता है, जैसे प्रशांत समुद्र में शोभा-शाली लहरियाँ उठती हैं।

४२—मानव अपनी माता श्रद्धा की गोद में बैठ गया। इड़ा का शीश श्रद्धा के चरणों पर झुका था। उसे परम प्रसन्नता थी। सुख से उसे रोमाञ्च हो आया था। आह्लाद से भरे हुए स्वर में वह यों बोली—

४३—मैं भूल से यहाँ आई। यहाँ पहुँच कर मैं कृतार्थ हो गई। देवि, तुम्हारे प्रति जो मेरी ममता थी, वही मुझे विवश करके यहाँ ले आई है।

४४—हे भगवति ! अब मेरी समझ में आ गया कि मैं बड़ी अज्ञ थी। मुझे केवल दूसरों को भ्रम में डालने तथा अज्ञान के अंधकार में रखने का ही अभ्यास था। मैं सचमुच 'अविद्या' रूपी हूँ। मैंने 'भेद दृष्टि उत्पन्न की। मैंने ही प्राणी-प्राणी में ईर्ष्या-द्वेष की बुद्धि उत्पन्न की।

४५—हम सब अब इस भेदभाव को मिटा चुके हैं। हम सभी एक कुटुम्ब के सदस्य हैं। हम सब के अधिकार समान हैं। समत्व-बुद्धि की प्रेरणा से हम लोग इस तपोवन में तीर्थ-यात्रा करने आये हैं। हमने सुना है कि इस तपोवन में आने पर सभी पापराशि नष्ट हो जाती है और प्राणी समाप्त कलुष होकर शिव-तत्व प्राप्त कर लेता है।

[(१) **भगवती**—भगवान् की परमाशक्ति। "प्रकृतिं विद्धि मे पराम्"—गीता। यही 'योग-माया' है विद्या-रूपी। मारकण्डेय पुराण में आया है, "यही मातृ-शक्ति भगवती उपासना द्वारा समाराधित भोग-स्वर्ग-मोक्ष-दात्री होती है।

इड़ा अपने को 'अविद्या' रूपिणी मानती है। 'विद्या-अविद्या' के लिए ईशावास्य, ६, १०, ११, मननीय।

एक "आंतरिक बोध" है तो दूसरी "बाह्यचेतना-जन्य बोध"—

[एक बुद्धि तो दूसरी श्रद्धा।]

(२) जब बुद्धि अपनी पराजय स्वीकार करती है, तभी भक्ति-भावना अथवा श्रद्धा जगती है। "हुई बुद्धि कुण्ठित जहाँ साधना की, वहीं पर हुए दिव्य दर्शन तुम्हारे !"

(३) 'वैयक्तिक जीवन की संकुचितता से ऊपर उठ कर समष्टि के साथ व्यक्ति के तादात्म्य का अनुभव होना समाज के व्यावहारिक जीवन में वास्तविक सुख और शांति का निर्माण करता है।"

(४) सब अघ छुट जाये—यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः (पूर्व मेघ ५६—शिवचरण की छाप हिमालय पर)

गौतम १६-१४ में यह बात आई है कि पर्वतों, नदियों, पवित्र सरोवरों, तीर्थों, ऋषि-आश्रमों, गोशालों, देवमन्दिरों में जाने से पाप राशि नष्ट हो जाती है।

४६—मनु ने स्वागत सम्मान की बात न की। उन्हें इड़ा की बातों से पता चला कि अभी इड़ा को तत्व का बोध नहीं है। आज भी वह समूचे राष्ट्र को एक कुटुम्ब का रूप देकर शांति की कामना कर रही है। आज भी उसकी दृष्टि में 'आध्यात्यिक-समत्व' की भावना नहीं। क्या कुटुम्ब में भाई-भाई में द्वेष नहीं। द्वंद्व की लीला तो कुटुम्ब में भी दिखाई देती है। अतएव वे (संन्यासी के लिये जैसा उचित है) उपदेश करने लगे। (परिव्राजकोपनिषद् उपदेश ४) द्रष्टव्य।

मनु ने इड़ा को 'कैलास' की ओर देखने को कहा और बोले, "देखो यहाँ कोई भी अन्य नहीं है।

४७—यहाँ पर केवल हमारी सत्ता है यहाँ हमारे अतिरिक्त और कोई भी नहीं है जिसे हम अपना कुटुम्बी बता सकें। यहाँ जितने भी प्राणी हैं वे सभी मेरे अंग-अंश हैं। मैं शरीरी हूँ और तुम सभी मेरे ही शरीर के अवयव हो। यहाँ संपूर्णता का विलास है। कहीं भी किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है।"

(कैलास-वर्णन मेघ पूर्व ६२-६७ से-मेघ पूर्व ११—कुमार-संभव ६-३६ से ४४ द्रष्टव्य) कैलास ही शिवलोक का प्रतीक है।

जब योगी के मन में सर्वत्र व्यापक आत्म-चैतन्य का अपरोक्ष अनुभव होने लगता है तब वह स्वयं परमात्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में समाधि का फल "जब समाधि में स्थित पुरुष परमात्मा से एकीभूत होकर अपने से भिन्न किसी भी भूत को नहीं देखता, तब वह केवल परमात्मा स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

नारद परिव्राजकोपनिषद् नवम उपदेश में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन तथा आत्मवेत्ता संन्यासी के लक्षण दिये हैं। वहाँ यही बताया गया है कि, 'वत्स ! ब्रह्म और क्या है अपना स्वरूप ही तो है। यह आत्मा ब्रह्म ही है। सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म

वह द्विविध या त्रिविध बताया जाता है। वास्तव में भेद-दृष्टि अज्ञानमूलक है। जो इस प्रकार जानकर निरन्तर अपने स्वरूपभूत ब्रह्म का ही चिंतन करता है उस तत्वदर्शी ज्ञानी को वहाँ क्या शोक, क्या मोह! "ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म; ॐ अहं ब्रह्मास्मि, ॐ अयमात्मा ब्रह्म; तत्त्वमसि।" इस सम्बन्ध में मननीय। "मैं ब्रह्म हूँ यों जानकर निश्चय ही मनुष्य ब्रह्म हो जाता है—(ब्रह्मविन्दूपनिषद्)।

४८—**समरस**—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म; आत्मैवेदं सर्वम्; ब्रह्मैवेदम् सर्वम्; ऐतादात्म्यमिदं सर्वम्; नेह नानास्ति किञ्चन" आदि सूक्तों में अद्वितीय अखंड ब्रह्म सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। जीव अपने वास्तविक अद्वितीय अखण्ड स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर शान्ति प्राप्त करता है। यही जीव का परम पुरुषार्थ हैं।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः" (ईशा० ७) सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।" (गीता ६ – ३१)

उपर्युक्त समत्व-बुद्धि ही आध्यात्मिक समाजवाद की आधार-शिला है। जब समाज में इस बुद्धि की प्रबलता होती है, तभी "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" की कल्पना सार्थक बनती है, सफल होती है। "मनुष्य के अन्तर्जीवन, बाह्यजीवन, व्यष्टि जीवन और समष्टि जीवन के सब विभागों में सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित कर मनुष्य की आत्मा के चरम 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूप की उपलब्धि को लक्ष्य में रखकर इस जगत् में ही सर्वाङ्ग सुन्दर मानव-जीवन सुख शान्तिमय मानव-समाज विश्व-कल्याण-व्रती मानव-राष्ट्र का निर्माण करना ही "**समरसता**" है। "आत्मनो मोक्षार्थं च जगतो हिताय च" पर ही यह समरसता आश्रित है।

"सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः अन्यो अन्यमभिहर्यत् वत्सं जातमिवाघ्न्या।
अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः
जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु" (अथर्वेद ३-३०)

उपर्युक्त "साम्य साधक" स्तोत्र में जिस स्थिति का उपदेश है। वही दृश्य हमारे

कवि के सामने उपस्थित है। "अखण्ड मानवता" के लिये 'ऐकमत्य', 'समत्व बुद्धि' आवश्यक है।

संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्

देवभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते (ऋ० १०–१६१–२)

"एक साथ चलो, एक साथ बोलो, तुम्हारे मन एक सा जानें। व्यवहारकुशल कर्तव्यनिष्ठ ज्ञानी एकता को जानते हुए कर्तव्य का सेवन करते हैं"

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्

समानं मन्त्रमभिन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि। ऋ० (१०–१६१–३)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः

समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति—ऋ० १०–१६१–१३।

आदि इस संबंध में मननीय हैं।

"यह वह स्थान है जहाँ कोई भी शापयुत नहीं। कोई पाप-ताप पीड़ित नहीं। यहाँ की भूमि समतल है। यहाँ का जीवन समता का जीवन है। यहां जो कुछ भी, जहाँ कहीं भी, है, 'समरस' है। ["रसो वै सः" परब्रह्मरस है, रस ब्रह्म रूप ब्रह्म है] [यहाँ केवल भगवत्सत्ता का विस्तार है। यही है जनता का जनार्दन रूप]।

४६—भगवत्सत्ता की कल्पना अनन्त चेतन के रूप में की जाती है।

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो॥"

"तथा नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदाति कामान्।

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः"

श्वेताश्वेतर-उपनिषद् में कारणेश्वर ब्रह्म को 'चेतन' की संज्ञा दी है। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्—छान्दोग्यो० ६–१–४ में कारण ही को कार्य बताया है। विकार को वाणी का विलास मात्र कहा है। यही एक बहुत होकर जीवन की लीला का विस्तार करता है। (एकं रूपं बहुधा यः करोति। कठोप० २-२-१२) "इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते" - माया द्वारा परमेश्वर अनेक रूपों में दृष्टि होते हैं।

(२) 'समुद्र'—संसार की 'भव सागर' की कल्पना 'आप' तत्व के कारण है जिसका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। "तव रूप वारिधि में चराचर उर्मियों-सा खेलता।" (समुद्र मंथन) "कुलज्मे मव्वाज़ है अपनी जगह मुस्तकिल। [वन के मिटा करती है मौज की चीने जबीं" [सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्] "सामुद्रो हि तरंग क्वचन समुद्रो न तारङ्गः" जैसे समुद्र में जल भरा होता है और उसमें लहरें उठती-गिरती रहती हैं, किन्तु लहर समुद्र से भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार महान् चेतना रूपी समुद्र में व्यक्ति का जीवन है। जिसकी कुछ निजी छाप होती है, अपना व्यक्तिगत स्वरूप भी होता है। किन्तु जिस प्रकार ऊर्मि समुद्र का ही अंग-अंश है, उसी प्रकार

व्यक्तिगत जीवन समष्टि का ही अंग है। वस्तुतः उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं। जैसे लयोन्मुख तथा विकासोन्मुख ऊर्मियों का आविर्भाव-तिरोभाव निरन्तर होता रहता है, उसी प्रकार व्यक्ति-जीवन का भी।

५०—जैसे चाँदनी रूपी समुद्र में तारे बुदबुद-सा आकार धारण किये अपनी पृथक् सत्ता का भान कराते हैं, किंतु जैसे बुदबुद टूटकर समुद्र में विलीन हो जाते हैं और तारे चाँदनी में समरस हो जाते हैं।

५१—उसी प्रकार अभेद के समुद्र में जीवात्मा की स्थिति है भगवत्सत्ता ही सब में घुली मिली है, सबको एक ही रस से परिव्याप्त किए हुए है।

[सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छान्दोग्यो० ३।१४।१। सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः। आदि मननीय]।

[(१) चिति—देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माणा उत वीरुधाः। चीतिं ते विश्वे अविदन् भूम्यधि" (अथर्वेद संहिता २-६-४) में चीति, शरीर के परमाणुओं के संग्रह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं 'चिति' पाठ भी मिलता है। चिति का अर्थ शुद्ध शक्ति भी है। कोई-कोई "चित्त" को ही संसार मानते हैं "चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्" (मैत्रेयी ५-७)।

"प्रत्यवमर्शात्मासौ चितिः स्वरसवाहिनी परावग्या।
आद्यन्त प्रत्याहृत वर्णगणसत्यहन्ता सा"

'विरूपाक्ष पञ्चाशिका' में चिति पराकला के रूप में वर्णित है। पराकला का ही नाम "पूर्ण अहंता" है। भगवान् शङ्कराचार्य ने 'आनन्द लहरी' नामक रहस्यमय स्तोत्र में अहंता-रूपिणी कला की साकार मूर्ति का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। सूक्ष्म तथा वासनामय रूपों की जानकारी के लिये आनन्द-लहरी की विभिन्न टीकाएँ देखी जा सकती हैं।"

चिति परब्रह्म की परिच्छिन्न-संकुचित शक्तियों की संघटना मात्र है। एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति, एकोहम् बहुस्याम, इन्द्रोयाभिः पुरु रुप ईयते" आदि में बताया गया है कि एक ही सत्ता अनेक रूप धारण करती है। भगवान् की एक से बहुत होने की इसी शक्ति का नाम चिति है। **विश्व प्रपंच की बीज-स्वरूपा** चिति शक्तिमान ब्रह्म से अभिन्न है। "नासते विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" पर मनन करने वाले जानते हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती। कार्य में कारण विद्यमान रहता है। इसी आधार पर शक्ति-मान में शक्ति के विद्यमान होने की कल्पना की जाती है। "मत्स्थानि सर्वभूतानि" तथा "ईशावास्य" आदि बताते हैं कि सारा जगत् ब्रह्म में अवस्थित है। गीता २-६४, ३-६, १८-४६ में विश्वरूप ब्रह्म की बात आई है।

सृष्टीशक्ति तथा सृज्य शक्ति में चिति सृज्य शक्ति है। सांख्य सूत्र ८ इस संबंध

में द्रष्टव्य है । बुद्धि या चिति ही लिङ्ग मात्र है (कठो०१-३-१०)। यह महत्तत्व है। यही समष्टि बुद्धि है। (योग दर्शन-साधन पाद १६)।

(२) "मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे" मूर्त-अमूर्त दोनों ब्रह्म के रूप हैं।

(३) विराट्-अथर्वेदीय त्रिपाद्विभूतिनारायणोपनिषद् में 'विराट्' का वर्णन है। "निरतिशय आनन्दमय अनन्तविभूति के समुदाय से सम्पन्न विश्वरूप परमात्मा का ही दूसरा नाम "विराट्" है।

उसी उपनिषद् में अवयवयुक्त साकार को उपाधियुक्त साकार कहा है। तथापि उपाधि रहित अथवा निरुपाधिक साकार को तीन प्रकार का बताया है। ब्रह्मविद्या साकार आनन्द साकार, उभयात्मक साकार। इत्यसर्ग को पूर्णत: समझने के लिये उपर्युक्त सभी बातें पठनीय एवं मननीय हैं]।

"ॐ तस्माद् विराटजायत विराजो अधिपूरुष:। स जातो अतिरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुर:।" उन्हीं आदि पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ। वे परम पुरुष विराट् के अधिपुरुष—अधि देवता (हिरण्यगर्भ) हुए। वह हिरण्यगर्भ उत्पन्न होकर अत्यन्त प्रकाशित हुआ। पीछे उसी ने भूतादि उत्पन्न किये।"

'गीता' तथा रामचरित-मानस में 'विराट्' का वर्णन द्रष्टव्य।

"समष्टि-पुरुष समष्टि प्रकृति का अवलम्बन करके विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर होते हैं।"

श्रीमद्भागवत (--६) भी द्रष्टव्य। "मंगल" शिव का ही दूसरा नाम है।

कवि उपर्युक्त जटिल दार्शनिक विचारों को अत्यंत संहृत करके इन चार पंक्तियों में वर्णन करता है—

मनु कहते हैं, यह साकार जड़-चेतनमय विश्व-प्रपंच जो अपने सुख से सुखी तथा दु:ख से दुखी दिखाई देता है, वह वास्तव में सर्व शक्तिमान् ब्रह्म का कल्याणकारी शरीर है, जो सत्य है, सुन्दर है। सत्य, ऐसा जो नित्य साकार आदि-अन्त-हीन सनातन एवं शाश्वत है; सुन्दर ऐसा जो क्षण-क्षण नवीनता धारण करता है। काल के किसी अवस्थान पर मलिन नहीं होता।

"पल्लवित पुष्पित नवल नित संसार विटप" का वर्णन रामचरित-मानस में द्रष्टव्य। यह संसार सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का ही प्रतिरूप है. अतएव यह मिथ्या नहीं, घृणित नहीं, वरन् इसके विपरीत है।

५३—(१) छान्दोग्योपनिषद् ७-२४-१ में बताया गया है कि भूमा वह है जिसमें अन्य को नहीं देखता, अन्य को नहीं सुनता, अन्य को नहीं जानता। वह अल्प है जो इसके विपरीत है। तथा ७-२३-१ में "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" में बताया है कि 'भूमा ही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। तथा ७-२५-२ में बताया है कि 'भूमा'

स्वयं अपना आधार है। यदि इस भूमा को 'मैं' कहो तो सारा विश्व प्रपंच 'मैं' ही हो जावेगा।

हमारा कवि मनु को इसी दार्शनिक भूमि पर स्थित कराकर उसके मुख से कहला रहा है—

"अतएव सर्वभूतहित रहकर सबकी सेवा करना अन्य की सेवा करना नहीं है; वरन् अपने ही सुख की सृष्टि करना है। प्राणी जब यह अनुभव करता है कि अणु-अणु कण-कण अपना ही रूप है, कोई भी उससे भिन्न नहीं है, तब राग-द्वेष की भूमिका समाप्त हो जाती है और विश्वोपलब्धि के साथ ब्रह्मोपलब्धि संभव बनता है। सच तो यह है कि 'द्वयता' भ्रम है, तथ्य को भूलना है।

"यत्र हि द्वैतमिव भावति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत् तत् केन् कं दृश्यते।" जब तक द्वैत रहता है, तब तक एक-दूसरे को देखता है और जब सारे पदार्थ आत्मरूप हो जाते हैं तब कौन किसको देखता है?" (इस संबंध में "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति" मननीय)

५४-५७ (१) एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति"
अवर्ण का नाना वर्णों में उपस्थित होना आदि मननीय।

(२) हम करेंगे द्वेष किससे।
हम पुरुष हैं—कर्म तप हैं
आत्मबल है योग जप है
जब हमीं हम हैं जगत में व्यर्थ राग विशेष किससे

(३) "निज प्रभुमय देखहि जगत, केहि सन करहि बिरोध"

(४) "ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।"

(१) "किसी भी अन्य आचार में आसक्त न होना ही संन्यासी का अपना आचार है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में वह एक रूप रहता है। जाग्रत काल में वही विश्व, स्वप्नकाल में तैजस, और सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ कहलाता है। अवस्था-भेद से उन अवस्थाओं के स्वामी में भेद होता है। कार्य-भेद से ही कारण-भेद माना जाता है। जाग्रत आदि अवस्थाओं में चौदह कारणों (पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार) की जो बाह्य वृत्तियाँ और अन्तर्वृत्तियाँ हैं, उनका उपादान कारण एक है। आन्तरिक वृत्तियाँ चार मानी गई हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। उन-उन वृत्तियों के व्यापार-भेद से पृथक्-पृथक् आचार-भेद होता है"—नारद परिव्राजकोपनिषद्। मनु ने "भिन्न परिस्थितियों" की बात उपर्युक्त दार्शनिक पृष्ठिभूमि में कही है।

चित्तोरप्रतिसंक्रमा : (कैवल्यपाद २२) यद्यपि चेतन शक्ति (पुरुष) क्रिया से रहित और असङ्ग है, तो भी तदाकार हो जाने पर अपनी बुद्धि का ज्ञान होता है। किंतु "द्रष्टृदृश्योः परक्तं चित्तं सर्वार्थम्" द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों में रँगा हुआ चित्त सर्व अर्थ वाला जाता है।

(३) द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना "कैवल्य" है (कैवल्यपाद ३४)

(४) रात्रिसूक्त में "सानो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविन्नहि। वृक्षे न वसतिं वयः।" 'वे रात्रि देवी इस समय मुझ पर प्रसन्न हों, जिनके आने पर लोग अपने घरों में सुख से सोते हैं, जैसे रात्रि के समय पक्षी वृक्ष पर बनाये हुए अपने घोंसलों में।

(५) जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं को प्रकाशित करते हुए तुरीय रूप में जिसकी स्थिति बताई गई है वह तुरीय स्वरूप अविनाशी परमात्मा मैं ही हूँ, यों जानकर जो प्रत्येक अवस्था में विषय से विलग रहता है, केवल द्रष्टा रूप रहता है, वह जीवन्मुक्त है।

(६) "यह मैं हूँ" यदि पुरुष आत्मा को "यह मैं हूँ" इस प्रकार से विशेष रूप से जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ किस कामना से शरीर के पीछे सन्तप्त हो ?

"आत्मानं चेद्विजानीयाद् यास्मीति पुरुषः। (वृहदारण्यक० ४-४-१२) किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्"

५४—मेरी ही अहम् भावना, जो मेरे 'मैं' की चेतना का स्वरूप है, सर्वभूतों को स्पर्श करती हुई विभिन्न परिस्थितियों की मदिरा पीकर मधु छकित पड़ी हुई है।

५५—मेरा चित्त ही संसार रूप में प्रतिष्ठित है। ऊषा के आँख मलते हुए जगने पर मेरी चेतनता ही संसार रूप में जगती है। रात आने पर आँखें बन्द करके पलक ढाँप कर, मेरी ही चेतनता सोती है और रात्रि में सुन्दर उलझन उत्पन्न करने वाले स्वप्न भी मेरी चेतना ही देखती है।

५६—विश्व का सारा कौतुक चिति की लीला है। किंतु जैसे मैं इन में लीन नहीं, इस से भिन्न, विकारहीन हूँ; उसी प्रकार मेरा ही अंग अंश मानव विभिन्न परिस्थितियों में विचरण करता ज्ञान कर्म भोग में लीन रहता हुआ निर्विकार बना रहे। संसार में लिप्त न हो। इस प्रकार वह आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए अधिक मननशील होता हुआ आत्मातत्व में उत्तरोत्तर और डूबता जावे। और इस प्रकार आत्म-स्वरूप के दर्शन की सामर्थ्य प्राप्त करे।

५७—इस प्रकार जब सारे भेदभाव (द्वयता) मिट जाते हैं और सुख-दुःख दृश्य मात्र रह जाते हैं, तब मानव यह कह उठता है कि यह सारा विश्व मेरा ही आभास है। यह सब कुछ मैं ही हूँ। इस प्रकार समष्टि में उसका व्यक्तित्व खो जाता है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब यह संसार दुःखमय न रह कर घोंसले के समान शांति-प्रद हो जाता है। और 'दुनिया रैन बसेरा' का तथ्य मुखर हो उठता है।

यदि संसार का प्रत्येक मनुष्य इस भाव की सिद्धि कर ले तो आध्यात्मिक साम्यवाद के चरमोत्कर्ष से विश्व-शान्ति सुगम बन जावे।

[उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि अब मनु सामान्य संन्यासी नहीं रह गये थे वरन् 'अवधूत' हो गये थे; क्योंकि यहाँ 'अहम् ब्रह्मास्मि' का उपदेश वह कर रहे हैं। 'तत्वमसि' आदि महामन्त्रों के उपदेश का अधिकारी तुरीयातीत अवधूत तथा परमहंस ही होते हैं। (परिव्राजकोपनिषद् उपदेश ७)

५८-५६— (१) "या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता"

(२) कला—किसी वस्तु का छोटा अंश।

"समस्त ज्ञेयांशों का अतिक्रमण कर के ज्ञान-स्वरूपा "वैन्दवी कला" चरणों के आक्रमण को न सहने वाली उत्तरोत्तर गामिनी सिर की छाया के सदृश ज्ञेय के अभाव में भी सर्वदा वर्तमान रहती है। जीव और जगत् के अन्तर तट में सतत निरन्तर जाज्वाल्यमान तथा अनन्य आश्चर्यमयी मरीचि-मालाओं की विकास-भूमि रूपी वैन्दवी कला ही सुप्रसिद्ध संविग्नि है, जिसमें योगी लोग पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त २६ तत्त्वमय विश्व का हवन करते हैं।

(सौभाग्य भास्कर)

(३) इस सम्बन्ध में "वह मूल शक्ति थी प्रेम कला," "उस ज्योतिमयी को देव कहो कैसे कोई नर पाता है," (काम सर्ग); तथा,

और उस मुख पर वह मुसक्यान,
रक्त किसलय पर ले विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान,
अधिक अलसाई हो अभिराम।"
"महा ज्योति की रेखा बनकर श्रद्धा की स्मित दौड़ी इनमें।"
आदि मननीय।

(४) "चेतनाश्रितत्वे सति निश्चेतना कला"

(५) 'विशोका वा ज्योतिष्मती:' शोकरहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मन को स्थिर करने वाली होती है। (समाधिपाद ३६)।

(६) श्रद्धा को मनु की बात सुन कर प्रसन्नता हुई। वह मुसकुरा पडी। अंहकार की विकृति से मनु ने अपनी सत्ता के सामने अन्य सत्ता स्वीकार न की। वह स्वार्थपरायण हो कर जिन परिस्थितियों में पड़ा, उसका वर्णन पहले आ चुका है, आज वही 'अहम्' व्यापक बनकर कैवल्य की अवस्था तक पहुँचा हुआ है और उसका मात्र कारण 'श्रद्धा' है।

(ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" मननीय)।

५८—मनु की बातों को सुनकर श्रद्धा के मृदुल होंठों पर मुसुकान की हल्की-

हल्की आभाएँ खेलने लगीं। ऐसा लगता था जैसे अनुराग में डूबी लाल किरणें खेल रही हों।

५६—जगत् की एक मात्र मंगल चाहने वाली कामायनी मानस के तट पर फूलों से भरी नववेलि के समान चमक रही थी। अर्थात् प्रसन्न मुद्रा में थी और उसकी स्मित की द्युति चारों ओर फैल रही थी।

६०—(१) त्वमादिः कामानां जननि कृतकन्दर्पविजये।
सतां मुक्तेर्बीजं त्वमसि परमब्रह्ममहिषी॥ (आनन्द लहरी)

(२) योऽकामो निष्काम आप्त काम आत्मकामो न तस्य प्राण उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (बृहदारण्यक ४।४।६): जो अकाम, निष्काम आप्तकाम, और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। वह ब्रह्म ही रह कर ब्रह्म को प्राप्त होता है।

(३) देवस्यैष व स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा।

(४) मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। महत्तत्व ही 'योनि है।

जैसे किसी बड़े गहरे सरोवर में स्वच्छ तथा महिमावान् जल भरा हो और वह शांत सुस्थिर दिखाई देता हो, उसी प्रकार कामायनी में विश्व-चेतना सिमट कर भर गई थी और वह इतनी प्रसन्न थी कि उसे देख कर ऐसा प्रतीत होता था जैसे उसकी सभी कामनाएँ पूरी हो गई हों। अथवा यों कहिये कि जग की समस्त-कामनाएँ परितृप्त होकर "कामायनी" में मूर्तिमती हो गई थीं। "कामायनी" इस प्रकार 'प्रकृति' रूपा बन गई थी।

६१—१-राग—"तदनन्तर 'कला' दृढ़ लेप के सदृश राग को उत्पन्न करती है। जिससे उस वज्र लेप-राग युक्त पुरुष में भोग्य वस्तु के लिए क्रिया-प्रवृति उत्पन्न होती है, इसीलिये इसका नाम "राग" है। इन सब तत्वों से जब यह आत्मा भोक्तृत्व-दशा को पहुँचाया जाता है, तब वह पुरुष नाम धारण करता है (संक्षिप्त० नारद पुराण पृ० ३४३)।

२—"अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वंशब्देन भासते" (वाक्यपदीय) के अनुसार प्रत्येक ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होता है। तथा "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञेवाचरत्" के अनुसार वाक् से समस्त विश्व उत्पन्न हुआ। शब्द दो प्रकार के होते हैं। (१) वर्ण-रूप (२) गति-रूप। भाषा और संगीत इस प्रकार एक ही विद्या के दो रूप हैं। शब्द और अर्थ का अटूट सम्बन्ध है। स्वर-श्रुति आदि का एक स्वाभाविक अर्थ है जिससे रस उत्पन्न होता है। स्वरों का स्वाभाविक अर्थ होना 'राग' का कारण है।

३—मुरली—"वंशी विभूषित करान्नवनीरदाभात्" कृष्ण की वंशिका शक्ति रूपिणी है ऐसा सभी जानते हैं।

४—आकाश का गुण शब्द है। शब्द का सम्बन्ध 'सुषुम्णा' से है।

"जैसे मुरली-ध्वनि से सम्पूर्ण वातावरण संगीतमय होकर अनुराग उत्पन्न करता

है, उसी प्रकार कामायनी के सुस्वर हँसने से सारे विश्व को वाक् प्राप्त होता था। लगता था जैसे वही समस्त विश्व की स्वर हो। समस्त विश्व ने उसी से चेतना प्राप्त की हो।"

["मुरली बजती निर्जन में" की बात आँसू में भी आई है। "त्रिमात्रा रूपी जो प्रणव उसका भी स्वर तुम्हीं" : मदालसा।]

६२—पल भर में ही विश्व कमल की सभी कर्णिकाएँ और ही रूप में दिखाई पड़ीं। विश्व-कमल खिल गया। जैसे महाभाव (भक्ति) विकास से अष्टदल कमल विकसित होता है, उसी प्रकार श्रद्धा की उपलब्धि से विश्व-कमल खिल उठा। संसार के सभी प्राणी आनन्दित दिखाई पड़े, जैसे कमल के खिलने पर पीला पराग उमड़ने लगता है, उसी प्रकार विश्व में आनन्द का अमृत रस छलकने लगा।

६३—सुगंध की बूँदों से सिंचा सुगंधित वायु बह रहा था। कमल केसर का मुख-स्पर्श करके पवन उसकी रज से रँगा हुआ लौट आया (रूपक मैथुन का है)।

६४–६५—(१) कालिदास ने कुमार-संभव तृतीय सर्ग २१ में "दिग्दक्षिणा गंध-वहं मुखेन" की चर्चा की है। कवि ने "गंधवह" को विरहिणी दक्षिण दिशा की साँस कहा है। यह वर्णन वसन्तोपम नहीं है। मेघदूत छठा सर्ग (२) में "पवनः सुगन्धिः" की बात आई है और (३५) इसे कामदेव को जगाने वाला रसायन कहा गया है जो अधिक सुन्दर है। "मलयपवनविद्धः कोकिलाय रम्यः। सुरभिमधुनिषेकाल्लब्धगन्ध-प्रबन्धः" आदि इस संबंध में पठनीय।

६४—गंधवह (पवन) मंदमंद बह रहा था। उसकी गतिविधि देखकर लगता था कि वह अगणित कलियों को खिलाकर, उनमें मस्ती भर कर आया हो। लगता था, उसने कलियों के अक्षत होंठों को जी भर चूमा हो।

६५—वह इठलाता हुआ रुक-रुक इस प्रकार चल रहा था जैसे वह कोई बात भूल गया हो। नये पलाश के फूलों की रज में सना पवन मकरंद के बादल की भाँति उमड़ रहा था।

(१) "नवपलाशपलाशवनं पुरः" से ही शिशुपाल वध में (सर्ग ६) वसन्त वर्णन प्रारम्भ हुआ है। ऋतुसंहार सर्ग ६–२१ भी द्रष्टव्य। कुमारसंभव ३–२६।

६६—पीले पराग में सना पवन बह रहा था। लगता था, वन-लक्ष्मी ने स्वयं केसर-रज बिखेर दी हो अथवा हिम के जल में हेमकूट की परछाईं पड़ रही हो।

(१) मेघ पूर्व ६६ में मान सरोवर में 'सुनहले कमलों' का उल्लेख है "हेमाम्भोज-प्रसविसलिलं मानसस्याददानः"।

(२) लक्ष्मी—जहाँ सत्त्व होता है वहीं लक्ष्मी का निवास होता है, ऐसी बात विष्णु पुराण में देखें।

(३) "मधुश्री यों बहुरंगी होकर कण-कण में ललचाई"—मदालसा।

६७—विलास और सम्भोग की आकांक्षाएँ साकार पक्षियों का रूप धारण करके आकाश में उड़ने लगीं। उनके कलकूजन बहुत मधुर थे, लगता था कि वे नवीन मंगल गा रही हो।

६८—(१) बाँसों के छेदों में हवा भरने से स्वर गुञ्जन की बात कुमार-संभव १–८ में है। "यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन"।

(२) शिव का आनन्दमय स्वरूप जो उनके नृत्य में अभिव्यक्त होता है सारे विश्व में व्याप्त है। इस सर्ग में नृत्य का उल्लेख 'नर्तित नटेश' की याद दिलाता है। नृत्य जगत् में व्याप्त ईश्वरीय साम्य का प्रतीक है।

(३) वेणु के स्वरों का वर्णन संक्षिप्त नारद पुराण 'शिक्षानिरूपण' में द्रष्टव्य। पवन के मंद झकोरों से लताएँ नाचती हुई प्रतीत होती थीं। उनके नृत्य के कारण पवन की हिलोरो में उन लताओं की सुगन्ध लहर के समान चारों ओर फैलती हुई दिखाई दीं। इस मादक वातावरण में वेणु के स्वरों में संगीत के गुञ्जन भर गये।

६९—मदमस्त भंवरों की गुञ्जन की ध्वनि नूपुर ध्वनि के समाम सुहानी लग रही थी। भ्रमरों की गुञ्जन पवन वृत्तियों में घुल कर ऐसी लगती थी जैसे वाणी की वीणा की झंकार चारों ओर परिव्याप्त हो गई हो।

(१) परिव्राजकोपनिषद् में नारद का अपनी वीणा से वैराग्यबोधक स्वर विशेष के झंकृत करने का उल्लेख है।

(२) सरस्वती ब्रह्म विचार की परम सार है।

(३) लक्ष्मी और सरस्वती का उल्लेख हो चुका।

(४) "मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम्; प्लावितैरक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्त्रिणाम्" भागवत ४–६–१२।

७०—वासन्ती मदमस्त मलयपवन के झोंके गिरते-पड़ते आ रहे थे; लगता था, मलयनिल पीकर आया हो। कोयल की कूक सुगन्ध भरे पवन में गूँज रही थी; लगता था काकली ने सुगन्ध में स्नान किया हो। फूलों की वर्षा हो रही थी।

७१—(१) **कौशेय वसन**—रेशमी वस्त्र: स्त्रियों के कटिप्रदेश से नीचे का वस्त्र।

(२) पुरुष के भोग और अपवर्ग के निमित्त जब प्रकृति की रचना शक्ति उद्बुद्ध होती है उस समय उसकी साम्यावस्था में **'विक्षोभ'** उत्पन्न होता है, यही कंपन, स्पंदन भी कहा जाता है। यह आनन्दोल्लास तथा सर्ग का बोधक है।

(३) **"एषाविश्वमोहिनी"**—संपूर्ण सृष्टि में एक नशीला हल्का प्रकंप छाया हुआ था, मानो विश्व-सुन्दरी प्रकृति की रेशमी साड़ी में सिकुड़नें पड़ गई हों।

७२—सुख के साथ अभिनय करने वाला दुःख अपना परिहासपूर्ण अभिनय समाप्त कर चुका था और जैसे अभिनेता अपना कृत्य करने के पश्चात् पर्दे के पीछे जा बैठता है उसी प्रकार दु;ख भी अपना कौतुक समाप्त कर चुका था और वह विस्मृति के पर्दे के पीछे जा बैठा था, उसे फिर रंगमंच पर आने का भय न रह गया था।

७३—डालियों में मधुपूर्ण कोमल कलियाँ झालर की भाँति टँकी हुई दिखाई पड़ती थीं, अधिक खिले हुए फूल रस-भार से बोझिल होकर धीरे-धीरे चू रहे थे।

७४—बर्फ के टुकड़ों को सूरज की किरणें इस प्रकार सुशोभित कर रही थीं मानो मणि-दीप प्रकाश बिखेर रहा हो। उन बर्फ के टुकड़ों से टकराता हुआ समीर बह रहा था जिससे मृदङ्ग की-सी ध्वनि उत्पन्न हो रही थी।

७५—यह वातावरण मन को लुभाने वाले ऐसे संगीत की सृष्टि कर रहा था जिससे जीवन की वंशी बजती हुई सुनाई देती थी, जो आन्तरिक इच्छा का परिचय देते हुए **मिलन** की दिशा बतलाती थी।

(१) "निगमतरोः प्रतिशाखं मृगितं मिलितं न तत्परं ब्रह्म। मिलितं मिलितमिदानीं गोपवधूटीपटाञ्चले नद्धम्"। ओह ! कितना परिश्रम किया था, वेदान्त-वृक्ष की प्रत्येक शाखा ढूँढ़ ली थी, वह परब्रह्म नहीं मिला। पर देखो, देखो, मिल गया वह गोप-सुन्दरी के अञ्चल से नद्ध होकर।"

२—"नाना मणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः," श्री मद्भागवत (४-६-१०) कैलास-वर्णन।

(३) मुरली बजती जीवन की—

"वृंदाबन बंसी बट जमुना तट बंसी रट,
रास में रसिक प्यारो खेल रच्यो बन में।
राधा माधो कर जोरैं, रवि ससि होत भौरैं,
मंडल मैं निर्तत दोउ सरस सघन में।
मधुर मृदंग बाजै, मुरली की ध्वनि गाजै,
सुधि न रही री कछू सुर मुनि जन में।
'नंद दास' प्रभु प्यारो रूप उजियारो अति
कृष्ण क्रीड़ा देखि भये थकित जन मन में॥"
शब्द-ब्रह्ममय बेनु बजाय सबै जन मोहै।
सुर नर गन गंधर्व कछु न जानैं हम कोहैं।
"प्रीतम-सूचक सब्द सुनत जब अति-रति बाढ़ै।"
आदि, नंददास की 'रास पंञ्चाध्यायी' में द्रष्टव्य।

(४) "तैसेहि ब्रज की बाम काम रस उत्कट करिकै। शुद्ध प्रेममय भईं लईं गिरि-धर उर धरिकै", में जिस 'प्रेम' का उल्लेख है, वही मिलन की दिशा संकेत करता है।

कर्म-धर्म की रूढ़ियों का परित्याग करके सांसारिक विषय-वासना को त्याग कर भगवान् से प्रेम बढ़ाना ही 'मिलन' है।

"रास पंचाध्यायी" मननीय।

सृष्टि स्वयं नाद-विन्दु से होती है, यह अन्यत्र बताया गया है। सृष्टि ही मिलन है।

७६—(१) "विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।

सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः (प्रश्नोपनिषद् १-७)

"इस सूर्य तत्व को जानने वालों का कहना है कि यह किरण जल से मंडित एवं प्रकाशमय तपता हुआ सूर्य विश्व के समस्त रूपों का केन्द्र है। सभी रूप (रंग और आकृतियाँ) सूर्य से उत्पन्न होते हैं। यही सविता सबका उत्पत्ति स्थान है और यही सबकी जीवन-ज्योति का मूलस्रोत है। यह सर्वज्ञ सर्वाधार है। वैश्वानर अग्नि और प्राण शक्ति के रूप में सर्वत्र व्याप्त है और सबको धारण किए हुए है। समस्त जगत् का प्राण रूप एक ही है। इसके समान इस जगत् में कोई दूसरी जीवन-शक्ति नहीं है। यह सहस्रों किरणों वाला सूर्य सैकड़ों प्रकार के व्यवहार सिद्ध करता हुआ उदय होता है। जगत् में उष्णता और प्रकाश फैलाना सबको जीवन प्रदान करना ऋतुओं का परिवर्तन आदि करना आदि हमारी सैकड़ों प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टि का जीवन-दाता प्राण ही सूर्य रूप में उदित होता है"।

"शून्याकाश में किरणें अप्सराओं के सदृश नाच रहीं थीं और अपना रंगमंच सुगन्ध के कणों का ही बना रही थीं।"

"बिखरी सुगन्ध की लहरें" की बात ऊपर आई है।

(२) अप्सरियाँ—श्रीमद्भागवत में "जुष्टं किंनरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा" की बात कैलास-वर्णन में आई है। हमारे कवि ने उसका प्राकृतिक वर्णन रश्मियों को अप्सरियों का रूप देकर किया है।

(३) परिमल—'गंध' पृथ्वी का गुण है। इसमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस सभी गुण हैं, कारण कि आकाश के विकार से वायु, वायु के विकार से अग्नि, अग्नि के विकार से जल, जल के विकार से क्षिति की सृष्टि है।

७७—(१) मांसल—शरीरी होने का भाव। मोटा, बलिष्ट।

(२) लास तथा रास नृत्य के ही भेद, सृष्टि और स्थिति के बोधक हैं।

१—रास = "अतिमात्रं तथा सार्द्धं रासेशो रासमण्डले
रासोल्लासेषु रहसि रासक्रीड़ा चकार ह।"

"रास" नृत्य विशेष—जिसमें अनेक स्त्री-पुरुष मिलकर मंडलाकार नृत्य करते हैं।

'रस' का अर्थ आस्वादन करना, प्रेम करना तथा शब्द करना, अतएव विलास-पूर्ण कोलाहलमय शृंखलाबद्ध नृत्य 'रास' है।

"सच्चिदानंदमय विषयहीन अलौकिक चमत्कारपूर्ण रसों का समुच्चय ही रास है," आदि बातें "रासपञ्चाध्यायी" में द्रष्टव्य।

२—"प्रथमे वर्तते पश्च कृतिस्स्यात् सृष्टिवाचकः। सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता"—ब्रह्मवैवर्त। सृष्टि से पहले जो देवी वर्तमान थी वही है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और सृष्टि का प्रधान कारण है।

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामाङ्गः प्रकृतिस्मृतः॥
गुणे प्रकृष्टसत्वे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतौ।
मध्यमे रजसि कृश्च तिशब्दस्तमसि स्मृतः॥
त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता।
प्रधानं सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते॥
नहि क्षमं तथा ब्रह्म सृष्टिं स्रष्टुं तया विना।
सर्वशक्तिस्वरूपा या तया च शक्तिमान् तदा॥
गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मीः सरस्वती।
सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृतिः॥

हमारे कवि के वर्णन में पञ्चशक्तियों का वर्णन आया है। गोपनीय "राधा तत्व" की ओर संकेत मात्र हुआ है। "रास" और "प्रेम ज्योति" से।

"रासक्रीड़ाधिदेवी च कृष्णस्य परमात्मनः।
रासमंडलसंभूता रासमंडलमंडिता।
रासेश्वरी सुरसिका रासावासनिवासिनी॥"

राधा प्रेम की अधिष्ठात्री देवी तथा पंच शक्तियों की प्राण-स्वरूपिणी है।

हिमाच्छादित प्रकृति जो पाषाण के समान जड़ थी आज इस वातावरण में सजीव हो गई थी और आनन्दोल्लास की इस नृत्यमयी सुख-सृष्टि में विह्वल होकर हँसती हुई प्रतीत होती थी। जैसे देवी के हँसने से कल्याण का संकेत मिलता है उसी प्रकार प्रकृति की प्रसन्नता से कल्याण (शिवत्व) का आभास मिलता था। प्रकृति स्वयं कल्याणी बन कर आनन्द बिखेर रही थी।

७८ (अ)—मानसरोवर की शुभ्र लहरें नाच रही थीं। चन्द्रमा को अपने मस्तक पर किरीट के समान धारण करने वाला भूधर—हिमालय—की परछाईं मानस में पड़ रही थीं जिससे वह कँपता हुआ दिखाई देता था। जैसे पुराण पुरुष अच्युत होते हुए भी क्षोभ को प्राप्त होता है उसी प्रकार अचल हिमालय भी कँपता हुआ दिखाई देता था। जैसे परम-पुरुष द्रष्टा रूपा अपनी प्रकृति की लीला देखता है। उसी प्रकार पर्वत लहरों की लीला देखता है। मनु भी आज उसी अवस्था में थे।"

७८ (ब)—(१) नगः—(१) नारदपरिव्राजकोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया है कि "वह कवि, पुराण पुरुष तथा सबसे उत्तम पुरुषोत्तम है। वही सबका ईश्वर तथा सम्पूर्ण देवताओं द्वारा उपासना करने योग्य है। वह आदि, मध्य, अन्त से रहित है। उसका कभी विनाश नहीं होता। वही शिव, विष्णु तथा कमल-जन्मा ब्रह्मारूपी वृक्षों को प्रकट करने वाला महान् **भूधर** (पर्वत) है।

(२) त्रिपदाद्विभूति नारायणोपनिषद् में "नारायण मन्त्र का वर्णन करते हुए "बोधानन्द-पर्वत" का उल्लेख है।

स्पन्दित—"अद्भुत ब्राह्मण में—देवतायतनानि कम्पन्ते, देवप्रतिमा हसन्ति, गायन्ति, नृत्यन्ति" आदि द्रष्टव्य।

"स्त्री-पुं शक्ति से उत्पन्न दो दुर्निरीक्ष्य अणु कब और कहाँ सम्मिलित होते हैं, कोई नहीं जानता। प्रथम प्रसूत अण्ड-कणिका के अधिष्ठान का संधान कौन रखता है? तृतीय अध्याय में इस अण्डकण को प्रथम **प्राण-स्पन्दन** का लेश प्राप्त होता है। अतएव "स्पन्द" चेतना अथवा सर्ग का बोधक है।

पुरुष के भोग और अपवर्ग के निमित्त जब प्रकृति की रचना शक्ति उद्बुद्ध होती है उस समय उसकी साम्यावस्था में **विक्षोभ** उत्पन्न होता है। यह विक्षोभ स्पन्द है।

(३) कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् में मिलता है—"मानसी (प्रकृति) उनकी प्रिया है। वह मन की कारणभूता अथवा मन को आनन्दित करने वाली होने से ही 'मानसी' कहलाती है।

(४) **गौरी**—"गौरीमिमां सलिलानि तक्षति"—ऋग्वेद।

(५) वीर्य की ऊर्ध्व गति से चन्द्रमा की सृष्टि है। चन्द्रबीज के बिना देह-रचना नहीं। पारद शिववीर्य है। विशुद्ध होने पर ही वह "शिवबिन्दु" बनता है। अर्ध-चन्द्राकार परकोटा" का उल्लेख कौषीतकि उपनिषद् में है। (चन्द्रलेखां च बिभ्रतम्-) भागवत ४–६–३६)।

७६—(१) **ज्योति**—गीतोपनिषद् में "ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः" (१३-१७) की बात आई है। ज्योति से ही प्रकाश होता है।

(२) "भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।"

यही "भक्ति" प्रेम अथवा श्रद्धा रूपिणी है। जिसका वर्णन श्रद्धा सर्ग में है।

"भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत्" श्रीमद्भागवत-माहात्म्य ३–६७"।

(३) "पुरुषे षोडशकलेऽस्मिन् तामाहुरमृतां कलां"। (१५ कला देह + १ कला आत्मा)। सब में एक ही 'आत्मतत्त्व' के सन्निहित होने का भाव है।

(४) सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ॥

आदि मननीय ।

(५) "प्रथमहिं प्रनऊँ प्रेममय परम ज्योति जो आहि ।
रूप उपाव न रूपनिधि नित्य कहत कवि ताहि ।"
सुद्ध प्रेममय रूप पंच भूतन तें न्यारी
तिनहि कहा कोउ करै ज्योति सी जग उजियारी—नंददास

उस विमल प्रेम-ज्योति का दर्शन कर सभी आँखें सफल मनोरथ हो गईं। लगता था जैसे सभी अपने ही अंश हों ।

८०—(१) "एकः सत्ता पूरितानन्दरूपः
पूर्णो व्यापी वर्त्तते नास्ति किञ्चित्"
शिव संहिता १-६१ ॥

(२) जड़ या चेतन—काव्य के प्रारंभ में "कहो उसे जड़ या चेतन" द्रष्टव्य ।

"जब समाधि में स्थित पुरुष परमात्मा से एकीभूत होकर अपने से भिन्न किसी भी भूत को नहीं देखता, तब वह केवल परमात्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है ।" (जाबाल दर्शनोपनिषद्)

आत्मा में नानात्व अज्ञ बुद्धि कल्पित है वस्तुतः वह शुद्ध और एक ही है ।
जड़ और चेतन का भेद भी अविद्या है ।
चित् अचित् दोनों एक ही हैं (गीता ७·५) ।

(३) समरसत्ता-"ये हिताः सर्वजन्तूनां",
आत्मवत् सर्वभूतानि ये पश्यन्ति नरोत्तमा !"
"सर्वभूतमयो विष्णुः परिपूर्णः सनातनः
इत्यभेदेन या बुद्धिः समता सा प्रकीर्तिता ।"
आदि अनेक सूत्रों में समरसता का वर्णन मिलता है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि,
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः

"शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम्" की बात श्री मद्भागवत २–७–४७ में इसी अर्थ में है । परमात्मा का वास्तविक रूप एक रस, शांत, अभय एवं केवल ज्ञान-स्वरूप है ।

(४) साकार—"दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्" आँखों में ज्ञानाञ्जन लगा कर संसार को ब्रह्ममय देखना चाहिए । इस प्रकार दृश्यमान् जगत् भगवान् का साकार रूप है ।

ब्रह्म सत्ता का वर्णन श्रुतियों में निषेधात्मक है । (बृहदारण्यक ३-८-८) "वह न

स्थूल है न अणु" आदि। किंतु समत्वबुद्धि रखनेवाले, जगत् के कण-कण में उसी को देखनेवाले को वह "साकार" है।

"किस जगह जलवा नहीं उस बुते हरजाई का।
गर नजर आये न तो नुक्स है बीनाई का॥"

निर्गुण, निराकार है, पर है। सगुण, साकार है, अपर है। दोनों का ज्ञान ही योग है। अभेद बुद्धि ही विद्या है। विशेष बोध के लिए त्रिपादाद्विभूतिनारायणोपनिषद् में साकार-निराकार परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण द्रष्टव्य।

"उपनिषद् के दिव्य दृष्टि-सम्पन्न ऋषियों ने जहाँ विश्व के चरम और परमतत्व एक, अद्वितीय, देश-काल-अवस्था-परिणाम से सर्वथा अनवच्छिन्न सच्चिदानन्द-स्वरूप को देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्म को ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्ति के द्वारा अपने को अनन्त विचित्र रूपों में प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों और समस्त परिणामों में अंदर छिपा हुआ अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूप की, अपनी नित्य सत्ता, चेतना और आनन्द की मनोहर झाँकी कर रहा है"। "विश्वातीत तत्त्व ही विश्वकृत्, विश्ववित् तथा विश्व है।" "एकोहम् बहुस्याम्" (छा० ६-२) मननीय!

(५) **सुन्दर**—(कामदेव का एक नाम): विश्वरूपमय है, दृश्यमान है, सुन्दर है। "सत्यं शिवं सुन्दरम्", में सुन्दरम् का सम्बन्ध 'दृश्य' से है। सुन्दरता रूप का अंग है। रूप का संनिवेश कार्य में है न कि कारण में।

"अतीवसुन्दरं रूपं बिभ्रतं सुमनोहरम् किशोरवयसं शांतं सर्वकान्तं परात्परम्" मननीय—

(६) **चेतनता**—ऊपर लिखा जा चुका है कि "चित्त" ही संसार है। "चिति का विराट वपु मंगल" ही जगत् है। "चेतनश्चेतनानाम्"

(७) **एक**—एकं सद् विप्रा बहुधाव दन्ति।

(८) **आनन्द**—"आनन्दात्मचिदात्मकं च तदिदं स्वेनैव सम्पादितम्"
शुद्धं यद्यपि कार्यजातमखिलं नो कारणाद्भिद्यते
लीलोपाधि तथापि भिन्नमभवत्तेषां स्वभावोदयात्
सोऽनिर्वाच्यतयाद्भुतः परमभूत् सर्गोविसर्गोत्तमः"(श्री वृन्दावन चम्पू

मननीय। (स्थूल शरीर = अन्नमय, सूक्ष्म शरीर रजोमय अंश पाँच।

प्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—प्राणमय; सूक्ष्म शरीर के सात्विक अंश तथा मन = मनोमय; निश्चयात्मक बुद्धि एवं ज्ञानन्द्रियाँ = विज्ञानमय। कारण शरीर "आनन्दमय"]

(९) **अखण्ड**—ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" का प्रतिरूप।

"अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्ये न लक्ष्यते"।

(त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् अध्याय ६ में "मोक्ष मार्ग का स्वरूप-वर्णन" तथा "महानारायण" मन्त्र का वर्णन द्रष्टव्य है ।)।

"प्रकृति-पुरुष के एकत्व (शक्तिसमन्वित-मनु) की एक दिव्य झाँकी उपस्थित थी। जड़ या चेतन का भेद शेष न था। (जैसे पृथ्वी आदि के अधिष्ठाता देवता अपने पृथ्वी रूपी भौतिक शरीर एवं देव शरीर दोनों से युक्त है, वैसे ही सर्वात्मक ब्रह्म जड़ और चेतन दोनों में समान रूप से विद्यमान था)। इस प्रकार निराकार ब्रह्म साकार हो गया था। निराकार साकार का भेद भी मिट गया था। सभी देश काल अवस्था परिणाम में एक-मात्र चेतनता का विलास था। एक ही, केवल एक ही चेतना सभी में परिव्याप्त थी। इस प्रकार समष्टि से एकीकरण होने पर बोधानन्द की कैवल्यावस्था प्राप्त हो गई थी।

[कैवल्योपनिषद्—"इस समस्त प्रपञ्च का आधार **आनन्दस्वरूप अखण्डबोध** है। जिसमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर रूपी तीनों पुर लय को प्राप्त होते हैं] ।

इस प्रकार 'कामायनी' की परिसमाप्ति आनन्दोल्लास के साथ होती है। "क्षणभर में सब परिवर्तित" से वसन्त वर्णन होता है। भारतवर्ष में वैदिक काल से ही वसन्त ऋतु का विशेष समादर होता आया है। "वसन्ते ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृत्ता: स्तुता:। रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः" (यजु० २१–२३) आदि मंत्रों में कृतपरक एवं सृष्टिपरक भाव-व्यंजना के साथ वसन्त का वर्णन मिलता है। वसंत ऋतु प्राण और बल का संचरण तथा तेज का द्योतन करता है। इसीसे भगवान् ने गीता में 'ऋतूनां कुसुमाकर:' की बात कही है। वसंत काम का सखा है। वसंत को 'कल्पपर्व' कहा जाता है। कारण कि सर्गसृष्टि इसी काल से प्रारम्भ होती है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में ही सूर्य-चन्द्र की सृष्टि हुई। "वसन्त में सृष्टि बसाने वाला तत्त्व प्रादुर्भूत होता है।" संसार में रस, चेतन, जीवन, जागरण का संचार इसी वसंत काल से होता है। हमारे कवि ने इस मूलतत्व की ओर जिस कुशलता से संकेत किया है, ऐसा प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी उपलब्ध नहीं है। यजुर्वेद भाष्य १३–२७–२८ से "द्रुमा: सपुष्पा सलिलं सपद्मं" तक पढ़ने पर कहीं भी सृष्टिपरक अभिव्यंजना उतनी मुखर नहीं मिलती जितनी हमारे कवि के वर्णन में।

वसन्त के आध्यात्मिक भावों का वर्णन तो किञ्चित् ही और कहीं मिले। कवि ने श्रीमद्भागवत के कैलास वर्णन की भाँति परिगणन नहीं किया है, वरन् सजीव संद्भव व्यञ्जनाओं से मनोहर वर्णन उपस्थित किया है।